भारतीय शिक्षा की सामयिक समस्याएँ

[राजस्थान तथा अन्य विश्वविद्यालयों के बी० एड० के
नवीन पाठ्यक्रमानुसार]

अनुपूरक

लेखक

रामखेलावन चौधरी

राधावल्लभ उपाध्याय

प्राध्यापक

लाल शिक्षण-संस्थान, अजमेर

विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

अनुक्रमणिका

अध्याय १
अध्यापक-शिक्षा

महत्त्व १, अध्यापक-शिक्षा का बदलता हुआ अर्थ २, शिक्षा के विभिन्न स्तरो पर अध्यापको की तैयारी ४, अध्यापक-शिक्षा मे सगठनो का योगदान १६, विशेष समस्याएँ १८, अभ्यासार्थ प्रश्न २६ ।

अध्याय २
उच्च शिक्षा

ब्रिटिश-काल मे उच्च शिक्षा २८, कोठारी आयोग ३४, उच्च शिक्षा का वर्तमान स्वरूप ३७, महाविद्यालयो का वर्गीकरण ३७, विश्व-विद्यालयो का वर्गीकरण ३८, विश्वविद्यालय तथा शासन का प्रबन्ध ३६, सगठन ३६, प्रशासनात्मक संस्थाएँ ४०, उच्च शिक्षा की समस्याएँ ४१, विश्वविद्यालय एव महाविद्यालयों की सूची ४६, अभ्यासार्थ प्रश्न ४७ ।

अध्याय ३
स्त्री-शिक्षा

ऐतिहासिक रूपरेखा ४८, आधुनिक युग ४६, स्त्री-शिक्षा की राष्ट्रीय समिति ५२, विद्यालयों मे बालिकाओ का प्रवेश ५३, प्राथमिक शिक्षा ५४, निम्न माध्यमिक स्तर ५६, माध्यमिक स्तर, ५६, स्त्री-शिक्षा की समस्याएँ ५७, समस्याओ का समाधान ६१, विशिष्ठ पाठ्यक्रम का स्वरूप ६४, अभ्यासार्थ प्रश्न ६६ ।

अध्याय १

अध्यापक-शिक्षा

महत्व

दुर्भाग्य से भारतीय शिक्षा-पद्धति मे अध्यापक-शिक्षा को वह महत्त्व नहीं प्राप्त हो सका है, जो उसे मिलना चाहिए। लगभग दस वर्ष पूर्व इंगलैंड मे अध्यापक-शिक्षा के विशेष महत्त्व को स्वीकार करते हुए पी० गरे ने (एजूकेशन एण्ड ट्रेनिंग आफ टीचर्स) कहा था कि—"अध्यापक प्रशिक्षण का दायित्व केवल प्रशिक्षण महाविद्यालयो पर नहीं है; जनता को इस ओर ध्यान देना चाहिए।" वास्तव मे वे राष्ट्र की सेवा मे अपना कर्त्तव्य-पालन कर रहे हैं और राष्ट्र को अधिकार है कि वह इस बात की जाँच करे कि उसके अध्यापक भलीभाँति शिक्षित हैं—शिक्षक जितने अच्छे होगे, उतना ही मूल्यवान उनका कार्य होगा।" यदि अध्यापक की शिक्षा पर्याप्त नहीं है, तो समस्त शिक्षा के उद्देश्यो की प्राप्ति सभव नहीं हो सकती। इसलिए हमे यह देखना होगा कि अध्यापको की तैयारी, उनका दृष्टिकोण और प्रत्यक्ष अनुभव जिसके बल पर वे अध्यापन का कार्य भविष्य में करने जा रहे हैं, कितने अच्छे हैं।

वर्तमान दशक मे अध्यापक-शिक्षा की ओर भारत मे सरकार का ध्यान आकृष्ट हुआ है। भारतीय शिक्षा-आयोग (कोठारी आयोग) ने अपने प्रतिवेदन के चौथे अध्याय में अध्यापक-शिक्षा के महत्त्व का उल्लेख इस प्रकार किया है—

"शिक्षा के गुणात्मक विकास के लिए अध्यापको की व्यावसायिक शिक्षा का ठोस कार्यक्रम होना अत्यत आवश्यक है। अध्यापक-शिक्षा पर धन लगाने से बहुत अधिक लाभ मिल सकता है, क्योंकि करोडो लोगो की शिक्षा मे होने वाले लाभ और उन्नति को देखते हुए अध्यापक-शिक्षा पर होने वाला व्यय नगण्य है। दूसरे प्रभावों (ट्रेनिंग) के अभाव मे एक अध्यापक उसी प्रकार पढ़ाने का यत्न करता है जिस तरह वह अपने प्रिय अध्यापको द्वारा पढ़ाया गया है और इस प्रकार वह शिक्षण की पुरानी परम्परागत विधियो को स्थायी बनाता जाता है। आज की परिस्थिति मे जब नयी

और प्रगतिशील शिक्षण-विधियों की आवश्यकता है, इस प्रकार दृष्टिकोण प्रगति के मार्ग में बाधक है। इस परिस्थिति में एक प्रभावशाली अध्यापक-शिक्षा द्वारा परिवर्तन लाया जा सकता है, जो अध्यापक को अध्यापन में होने वाले क्रान्तिकारी परिवर्तनों का महत्त्व समझा सके और उनकी भावी व्यावसायिक क्षमता के विकास की नींव डाल सके।"

स्पष्ट है कि उपेक्षित अध्यापक-शिक्षा किसी भी राष्ट्र की शिक्षा-पद्धति की आधार-शिला है और उसकी ओर अविलम्ब ध्यान देने की आवश्यकता है। अध्यापक-शिक्षा अध्यापकों को केवल कुछ कुशलताएँ ही नहीं प्रदान करती वरन् उसके द्वारा उनके दृष्टिकोण और अभिवृत्ति में परिवर्तन होता है, उनमें व्यावसायिक ईमानदारी बढ़ती है और वह अपने कुशल हाथों द्वारा ऐसे नागरिक तैयार करने में सफल होते हैं, जो देश का भविष्य बना सकते हैं।

अध्यापक-शिक्षा का बदलता हुआ अर्थ

भारत में अध्यापक-शिक्षा की प्रक्रिया न तो नयी है और न कहीं बाहर से आयात की हुई है। यदि सच पूछा जाय तो अध्यापक-शिक्षा का विचार भारत से यूरोप को निर्यात हुआ और उसका परिमार्जित रूप वापस आया, ठीक उसी प्रकार जैसे भारत का कच्चा माल इंग्लैंड जाता था और वहाँ से उसी माल से तैयार बढ़िया वस्तुएँ भारत में उपभोक्ताओं के लिए आती थीं।

भारत में अध्यापक-शिक्षा का अर्थ तीन सोपानों से होकर विकसित हुआ। सर्वप्रथम, अध्यापक-शिक्षा 'शिष्य अध्यापक' के रूप में, द्वितीय सोपान में यह 'अध्यापक प्रशिक्षण' के रूप में और तृतीय सोपान में 'अध्यापक-शिक्षा' के रूप में स्वीकृत हुई।

(क) शिष्य-अध्यापक परम्परा—बहुत प्राचीन काल में भारतीय गुरुकुलों ने इस परम्परा को जन्म दिया था। वहाँ जो छात्र वरिष्ठ होते थे और शिक्षा के मार्ग में काफी आगे बढ़ चुके थे, उन्हें कुलपति के आदेश से नवागत छात्रों को पढ़ाना पड़ता था; जब कुलपति, गुरु और उपाध्याय पाठन के लिए चले जाते थे, तो अध्यापन का दायित्व इन वरिष्ठ शिष्यों को सौंप दिया जाता था। इस प्रकार 'शिष्य-अध्यापक' की परम्परा पड़ी जिसमें एक छात्र शिक्षा प्राप्त करते हुए अध्यापक बनने का प्रशिक्षण प्राप्त करता था। आज भी ट्रेनिंग कालेजों में प्रशिक्षणार्थी को शिष्याध्यापक (स्टूडेन्ट टीचर) कहते हैं क्योंकि वह विद्यार्थी की हैसियत से अध्यापन का काम करता है।

हजारों वर्षों तक शिष्य-अध्यापक की परम्परा इस देश में चलती रही। १८वीं शताब्दी में जब विदेशियों के पैर भारत की भूमि पर जमे, तो उन्होंने यहाँ की शैक्षिक परम्पराओं का अध्ययन किया। डा० ऐण्ड्रू बेल ने १७८९ ई० में [illegible] की शैली की इस परम्परा के साथ [illegible] मद्रास के एक सैनिक शिविर में इस पर एक प्रयोग किया। उस प्रयोग के आधार पर लिखा गया उसका एक लेख इंग्लैंड

पहुँचा जहाँ उसे पढ़कर तहलका मच गया। अध्यापकों की तैयारी में इसका प्रयोग किया जाने लगा। वही पद्धति मॉनीटोरियल सिस्टम, बेल-लंकास्टर प्रणाली, शिष्या-ध्यापक प्रणाली तथा ग्लासगो प्रणाली आदि के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसके विकास का वर्णन श्री एम० सत्यानन्दन के शोध ग्रन्थ—'हिस्ट्री आफ एजूकेशन इन मद्रास प्रेसीडेंसी' में पढ़ा जा सकता है।

शिष्याध्यापक परम्परा में अध्यापक की शिक्षा का एकमात्र अर्थ यह था कि नया अध्यापक उस शिक्षण-विधि का अभ्यास करे जो उसके गुरुजनों ने इस्तेमाल की थी। एक शब्द में, अध्यापक शिक्षा 'अनुकरण-मात्र' थी। इस प्रकार का अर्थ अत्यन्त संकुचित कहा जा सकता है।

(ख) अध्यापक-प्रशिक्षण—अपने दूसरे दौर में अध्यापक-शिक्षा का अर्थ हुआ, अध्यापक को नाना प्रकार की शिक्षण-विधियों का ज्ञान कराना। यूरोप में इस परम्परा का विकास हुआ। १९वीं शताब्दी में शिक्षण-कला पर अनेकानेक प्रयोग यूरोप में हुए और आज भी वे प्रयोग यूरोप तथा अमरीका में जारी हैं। यूरोप में जेस्वीट आन्दोलन के फलस्वरूप अध्यापक-प्रशिक्षण को महत्त्व प्राप्त हुआ। जेस्वीट संगठन ने शिक्षण-कला का ज्ञान अध्यापकों को कराना प्रारम्भ किया। हरबार्ट ने शिक्षण कला का वैज्ञानिक स्वरूप निर्धारित किया। हरबार्ट के अतिरिक्त पेस्तालाजी, फ्रोबेल, मांटेसरी, हेलेन पार्खस्ट, डेवी तथा अन्य शिक्षाविदों ने नयी-नयी शिक्षण-विधियों का विकास किया। उधर शिक्षा के सम्बन्ध में नाना प्रकार के चिंतन प्रारम्भ हुए, जिसमें दार्शनिकों, समाजशास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों ने बहुत बड़ा योगदान किया। इसके फलस्वरूप शिक्षा की सैद्धान्तिक ज्ञानराशि इकट्ठी होने लगी। अध्यापक-प्रशिक्षण का अर्थ यह हुआ कि भावी अध्यापक को एक ओर नाना प्रकार की शिक्षण-विधियों, शिक्षा की विभिन्न विचारधाराओं और मत-मतान्तरों तथा बाल मनोविज्ञान का ज्ञान कराया जाय और कक्षा-शिक्षण के लिए मुख्यतः हरबार्ट की शिक्षण-विधि का अभ्यास कराया जाय। इतना हो जाने पर वह एक कुशल अध्यापक बन जायगा।

अध्यापक-प्रशिक्षण का, इस प्रकार, अर्थ है भावी अध्यापक को अध्यापन-पेशे के लिए तैयारी, जीविकोपार्जन की शक्ति प्राप्त कराना, प्रशिक्षण की उपाधि दिलाना, शिक्षण की कुछ निश्चित योग्यताएँ उत्पन्न करना आदि। स्पष्ट है कि अध्यापक-प्रशिक्षण अध्यापक-शिक्षा का एक संकुचित दायरा है और इसीलिए यह आवश्यक समझा गया कि 'अध्यापक-शिक्षा' का एक वृहत् विचार विकसित किया जाय, इसके फलस्वरूप अध्यापक-शिक्षा अपने तीसरे सोपान पर पहुँची है।

(ग) अध्यापक-शिक्षा—ज्ञान-विज्ञान की असाधारण उन्नति, युद्ध की संभावनाओं से उत्पन्न संकट, नये आदर्शों और मूल्यों की स्थापना और बदलते हुए समाज की आवश्यकताओं के हिसाब से शिक्षा का उत्तरदायित्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है और उसी अनुपात में अध्यापक पर दायित्व का बोझ भी बढ़ रहा है। ऐसी परिस्थिति

में एक ऐसे अध्यापक की आवश्यकता है जो विशिष्ट प्रकार की शिक्षा पा चुका हो। केवल बी० ए० अथवा एम० ए० की सामान्य डिग्री प्राप्त करने वाला और एक-दो पाठ्य-विषयों का ज्ञाता अध्यापक नहीं बन सकता। अध्यापन का व्यवसाय सेवा की भावना से परिपूर्ण है, उसके लिए कुछ विशिष्ट प्रकार की कुशलताएँ और अभि-वृत्तियाँ अपेक्षित हैं, मानव स्वभाव को परख और सामाजिक जीवन के अन्तर्द्वन्द्व से उसका परिचय होना जरूरी है। अतः अध्यापक एक उसी प्रकार का विशेषज्ञ होना चाहिए जिस प्रकार का इंजीनियर, डाक्टर और वकील होता है। उसे अब 'मानवीय इंजीनियर' कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति को तैयार करने वाली शिक्षा को 'अध्यापक-शिक्षा' का नाम दिया गया है।

पीटर्स, बर्नेट तथा फारवेल (इन्ट्रोडक्शन टू टीचिंग) का कहना है कि अध्यापक-शिक्षा का अर्थ अध्यापक-प्रशिक्षण के अर्थ से कहीं अधिक व्यापक है। अध्यापक-शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके दौर से होकर गुजरने पर अध्यापक के व्यक्तित्व का निर्माण होता है। वह अध्यापक के मन और मस्तिष्क को अनुदारता से मुक्त करती है। भविष्य में अध्यापक बनने की आकांक्षा रखने वाले नवयुवक और नवयुवतियाँ जब प्रशिक्षण संस्थाओं में आते हैं, तो सच्ची अध्यापक-शिक्षा उनके ऊपर विशिष्ट प्रकार के प्रभाव डालती है। ज्ञानवर्धन तथा कुशलता के बढ़ने, शिक्षण-प्रक्रिया की स्पष्ट जानकारी, छात्रों के लिए पाठ्य-सामग्री की तैयारी एवं चयन, छात्रों की आवश्यकताओं तथा कमजोरियों की जानकारी आदि हो जाने से अध्यापक में आत्म-विश्वास बढ़ता है, मन उदार बनता है, सहानुभूतिपूर्वक दूसरों को समझने की योग्यता आती है, कल्पना-शक्ति के बल पर विचारों पर अमल करने की आदत पड़ती है; सर्वोत्तम ढंग से अध्यापन कार्य करने की लालसा बढ़ती है, छात्रों को प्रेरणा देने, उनके भीतर प्रसुप्त शक्तियों को जगाने और संयमपूर्वक उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के साथ-साथ जीवन-दर्शन स्वीकार करके चलने की शक्ति अध्यापक में आती है—यह सब परिणाम अध्यापक-शिक्षा के द्वारा उत्पन्न होते हैं।

शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर अध्यापकों की तैयारी

जीवन में शिक्षा की व्यापकता के कारण उसके कई स्तर हो गये हैं, जैसे शिशु एवं बाल शिक्षा, प्राथमिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा, उच्च शिक्षा, सामाजिक शिक्षा या प्रौढ़ शिक्षा। इन सभी स्तरों पर शिक्षा के दायित्व अलग-अलग हैं। इसलिए हर स्तर पर शिक्षण कार्य करने वाले अध्यापकों की तैयारी भिन्न-भिन्न ढंग से होना जरूरी है। इस दृष्टि से हर स्तर के अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए वर्तमान प्रशिक्षण संस्थाओं की जानकारी होनी चाहिए।

(क) शिशु एवं बाल-शिक्षा अथवा पूर्व-प्राथमिक शिक्षा के लिए वर्तमान प्रशिक्षण संस्थाएँ—राज्य तथा सार्वजनिक संस्थाओं की ओर से ऐसे प्रशिक्षण विद्यालय चलाये जा रहे हैं जिनमें बच्चों को शिक्षा देने में समर्थ अध्यापकों को तैयार किया जाता है। इस स्तर पर नर्सरी, किंडरगार्टन, मॉन्टेसरी और बालवाड़ी जैसी शिक्षा

संस्थाएँ काम कर रही हैं। इनमें काम करने वाले अध्यापकों के लिए प्रशिक्षण आवश्यक समझा जाता है।

उद्देश्य—इस स्तर के प्रशिक्षण के मुख्य उद्देश्य हैं . अध्यापक को बाल-प्रकृति का ज्ञान कराना, बच्चों के प्रति प्रेम उत्पन्न करना, बच्चों की आदतें अच्छी बनाने के उपाय बताना, भाषा तथा सामान्य गणित की योग्यताओं का विकास करना, कला तथा सौन्दर्यानुभूति अध्यापक में जगाना आदि।

पाठ्यक्रम—इन संस्थाओं में अध्यापकों के लिए निर्धारित पाठ्यक्रम 'कार्यकेंद्रित' होता है। उन्हें कला-कौशल की व्यावहारिक क्रियाएँ सीखनी पड़ती हैं। सैद्धान्तिक विषयों के अन्तर्गत, सामुदायिक जीवन का संगठन, सामाजिक सेवा, बाल-स्वभाव का *अध्ययन, बाल-शिक्षा का इतिहास, पूर्व-प्राथमिक शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, कार्यक्रम* का संचालन-संगठन, सफाई तथा स्वास्थ्य, प्रकृति का अध्ययन जिसमें बागवानी और पशुपालन शामिल हैं, भाषा और साहित्य, संगीत और कला-कौशल आदि विषय आ जाते हैं।

शिक्षण-विधि—अध्यापकों को व्यावहारिक और सैद्धान्तिक दोनों प्रकार का ज्ञान कराया जाता है। कक्षाओं में पढ़ाई होती है और अध्यापकों को किंडरगार्टेन, मॉन्टेसरी और नर्सरी शिक्षण पद्धतियों के सिद्धान्तों और व्यवहार का परिचय दिया जाता है। इन पद्धतियों पर चलने वाले स्कूलों में अध्यापकों को अभ्यास कराने के लिए भेजा जाता है, जहाँ कुशल अध्यापक-शिक्षकों के निरीक्षण में प्रशिक्षणार्थी काफी समय तक अभ्यास जारी रखते हैं। अध्यापकों को कला-कौशल, संगीत, बागवानी तथा सामाजिक सेवा का अभ्यास कराया जाता है।

(ख) नार्मल अथवा प्राइमरी ट्रेनिंग स्कूल—स्वतन्त्रता के बाद सार्वजनिक शिक्षा में नया मोड़ आया और नये संविधान में निरक्षरता को दूर करने के लिए प्राथमिक स्तर पर अनिवार्य और नि:शुल्क शिक्षा का आदर्श मान्य ठहराया गया। यह आदर्श हम अभी तक पूरा नहीं कर पाये परन्तु प्राथमिक शिक्षा का अभूतपूर्व विकास बीस वर्षों में हुआ। इस विकास के अनुरूप अध्यापकों की विशाल सेना खड़ी करना जरूरी था। यदि प्राथमिक शिक्षा को सफल होना है तो यह सारी सेना कुशल तथा प्रशिक्षित होनी चाहिए। इस विचार से प्राथमिक प्रशिक्षण विद्यालयों की संख्या बढ़ी। स्वतंत्रता के बाद अंग्रेजों द्वारा चलायी गयी प्राथमिक शिक्षा को पनपने दिया गया और साथ ही महात्मा गांधी द्वारा प्रशंसित बेसिक शिक्षा को सरकार ने लोकप्रिय बनाना चाहा। इस प्रकार प्राथमिक स्तर पर अध्यापकों को तैयार करने के लिए बेसिक और गैर-बेसिक ट्रेनिंग स्कूल—दो प्रकार की प्रशिक्षण संस्थाएँ चलने लगीं।

उद्देश्य—प्राथमिक स्तर के ट्रेनिंग स्कूलों में अध्यापक शिक्षा के उद्देश्य हैं : अध्यापकों के अध्यापन विषय के ज्ञान में वृद्धि करना; बाल-मनोविज्ञान की शिक्षा द्वारा उनको छात्रों की प्रकृति का ज्ञान कराना; बाल-शिक्षण की प्रमुख विधियों का परिचय

देना; स्कूलो मे प्रशिक्षणार्थियो को ले जाकर शिक्षण-कला का अभ्यास कराना, हस्तकला और ललित कलाओ के प्रति रुचि जाग्रत करना, सामुदायिक जीवन मे भाग लेने की अभिवृत्ति पैदा करना और सामाजिक सेवा का अभ्यास कराना आदि।

बुनियादी ट्रेनिंग स्कूलो मे अध्यापक-शिक्षा को नया मोड देने की कोशिश की गयी। सन् १९५२ मे 'हिन्दुस्तानी तालीमी संघ' ने अपने पाठ्यक्रम का नया सस्करण अध्यापको के प्रशिक्षण के लिए निकाला जिसमे बुनियादी शिक्षा के लक्ष्यो को पूरा करने मे समर्थ अध्यापक की शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित किये गये :

(क) सार्वजनिक हित के लिए सहकारिता पर आधारित सामुदायिक जीवन का अनुभव भावी अध्यापक को कराना। (ख) नयी तालीम के सामाजिक लक्ष्यो को समझना और स्वीकार कराना। (ग) सतुलित एव सघटित व्यक्तित्व के विकास के लिए अध्यापक की शारीरिक, बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक और आध्यात्मिक शक्तियो को प्रोत्साहन देना। (घ) बच्चो की शारीरिक, बौद्धिक और भावात्मक आवश्यकताओ के पूरा करने मे अध्यापक को समर्थ बनाना।

इसी प्रकार सन् १९५६ मे बुनियादी शिक्षा के मूल्याकन के लिए नियुक्त समिति ने बुनियादी ट्रेनिंग स्कूलो के लिए स्पष्ट लक्ष्य निर्धारित किये। जैसे—

अध्यापक मे जीवन की आवश्यकताओ को पूरा करने की आत्मनिर्भरता पैदा करना, शिक्षा के केन्द्र की हस्तकला मे दक्षता पैदा करना, बच्चो के शिक्षण की कला और विज्ञान मे जो उत्पादन-केन्द्रित हो, अध्यापक को निपुण बनाना, अध्यापक मे किसी हस्तोद्योग के साथ अन्य विषयो को सहसम्बन्धित करने की योग्यता पैदा करना, उनमें [illegible] के प्रति जागरूकता पैदा करना, राष्ट्र-निर्माण तथा समाज की आवश्यकताओ को पूरा करने की अनुभूति उत्पन्न करना, अध्यापक के सगठित व्यक्तित्व को बनाना ताकि उनके छात्र भी वैसे ही व्यक्तित्व वाले हो।

सन् १९६० मे भारत सरकार ने 'भारत मे प्राथमिक अध्यापको की शिक्षा पर राष्ट्रीय उप-परिषद्' (सेमीनार) का आयोजन किया जिसके निदेशक श्री जे० पी० नायक थे। इस अवसर पर तत्कालीन शिक्षा-मन्त्री श्री कालूराम श्रीमाली ने अपने भाषण मे अध्यापक-शिक्षा को नए आयाम दिये और नये लक्ष्यो की ओर इशारा किया, यथा—

प्राथमिक शिक्षा के महत्त्व को देखते हुए इस स्तर के अध्यापक को इस प्रकार तैयार किया जाना चाहिए कि उसमे सकुचित मनोवृत्ति तथा सीमित विचारधारा की जड न जमे, उसमे राष्ट्रभावना जागरित हो, उसमे नए समाज का निर्माण करने की क्षमता हो, वह उन आदर्शो और मूल्यो की रक्षा कर सके जो हमे स्वीकार्य है, वह छात्रो मे [illegible] स्वस्थ क्रियाओ को अपनाने की भावना पैदा करने का कौशल रखता हो।

पाठ्यक्रम—प्राथमिक स्तर पर अध्यापक-शिक्षा के लिए निर्धारित पाठ्यक्रम मे 'शिक्षा के सिद्धान्त', 'शिक्षा मनोविज्ञान', 'सामान्य शिक्षण विधियाँ', 'विद्यालयी

पाठ्य-विषयों को पढ़ाने की विधियाँ', 'विद्यालय-संगठन,' और 'स्वास्थ्य-शिक्षा' आदि विषय शामिल हैं। डा० सलामतुल्ला ने इन विषयों के अलगाव पर चिन्ता व्यक्त की है। उनका विचार है कि इन सभी विषयों का परस्पर सम्बन्ध है। इधर शिक्षा के गिरते हुए स्तर को ध्यान में रखकर डाक्टर साहब का मत है कि पाठ्यक्रम में पाठ्य-विषयों के तत्वों का समावेश किया जाय ताकि इन विषयों के ज्ञान में अध्यापक का पिछड़ापन दूर हो। उन्होंने पाठ्यक्रम के अन्तर्गत, सामान्य शिक्षा का उच्च स्तरीय ज्ञान रखने की सलाह दी है। अध्यापक को पाठ्य विषय का उच्च ज्ञान प्रदान किया जाय। सामान्य शिक्षा का पाठ्यक्रम उन्होंने इस प्रकार प्रस्तावित किया है—

(क) साहित्य और जीवन का परिचय देने के लिए साहित्य समीक्षा, साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ, प्रतिनिधि गद्य-पद्य की रचनाएँ और बाल-साहित्य का अध्ययन कराया जाय।

(ख) गणित की शिक्षा इस प्रकार दी जाय कि अध्यापक जीवन में गणित का महत्त्व समझें, गणित की आगमन तथा निगमन विधियों से वे परिचित हो जायें।

(ग) अध्यापकों को मानव और मानवीय सम्बन्धों का ज्ञान कराने के लिए भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विकास की कहानी बतायी जाय और उन्हें भाषा तथा सामाजिक संस्थाओं के विकास का इतिहास पढ़ाया जाय।

(घ) उन्हें विज्ञान तथा विज्ञान से उत्पन्न नयी दुनिया का परिचय दिया जाय।

(ङ) हर प्रकार की कलाओं का परिचय दिया जाय।

प्राथमिक स्तर के अध्यापकों की शिक्षा के पाठ्यक्रम में शिक्षणाभ्यास उसका प्रमुख अंग है। शिक्षणाभ्यास के दौरान अध्यापक को शिक्षण, छात्र-जीवन तथा कक्षा-शिक्षण की परिस्थितियों से अवगत कराया जाता है। इसी प्रकार सामुदायिक जीवन बिताना पाठ्यक्रम का प्रमुख अंग है। अध्यापकों को छात्रावास, विद्यालय, सांस्कृतिक कार्यक्रम, खेलकूद और सरस्वती यात्रियों में शामिल होना पड़ता है।

शिक्षण विधि—ज्ञानात्मक विषयों को पढ़ाने के लिए कक्षाओं में भाषण-विधि का प्रयोग किया जाता है। कहीं-कहीं इन भाषणों के अतिरिक्त समस्याओं पर विचार-विमर्श और कक्षाओं को छोटे-छोटे दलों में बाँटकर ट्यूटोरियल की व्यवस्था की जाती है। शिक्षणाभ्यास के पूर्व आदर्श पाठ दिये जाते हैं और छात्राध्यापक जब अपना अभ्यास जारी रखते हैं, तो उनके शिक्षण का निरीक्षण किया जाता है। सामुदायिक क्रिया-कलापों में भाग लेने की उन्हें ट्रेनिंग दी जाती है। इन सब कार्यक्रमों में निर्देशन तथा पथ-प्रदर्शन की विधि काम में लायी जाती है।

(ग) माध्यमिक स्तर के लिए अध्यापक-शिक्षा—माध्यमिक शिक्षा-स्तर के अध्यापकों की शिक्षा के लिए सबसे अधिक प्रयत्न आजादी के बाद हुए हैं और कई प्रकार की संस्थाओं का उदय हुआ है। आजादी से पूर्व प्रान्तों के शिक्षा-विभागों की ओर से ग्रेजुएट और पोस्ट-ग्रेजुएट डिग्री प्राप्त कर चुकने वाले व्यक्तियों को अध्यापन

का प्रशिक्षण देने के लिए ट्रेनिंग कालेज चलाए जाते थे। इन ट्रेनिंग कालेजों से प्रशिक्षण प्राप्त कर लेने पर एल० टी० और बी० टी० का डिप्लोमा दिया जाता था। धीरे-धीरे विश्वविद्यालयों ने अध्यापक शिक्षा का महत्व समझना शुरू किया और कला-संकाय के अन्तर्गत शिक्षा विभाग विश्वविद्यालयों में खुले। इन विभागों ने अध्यापकों का प्रशिक्षण प्रारम्भ किया और साथ ही [illegible] शिक्षा के लिए सामान्य शिक्षा का अतिरिक्त [illegible] करके बी० एड० की डिग्री देना प्रारम्भ किया। यही नहीं अध्यापक शिक्षा का अधिक उच्च स्तर [illegible] से आगे के लिए एम० एड० के कोर्स विश्वविद्यालयों में लागू किए। इस प्रकार शिक्षा का [illegible] कला-विषयों के समान बैठाया गया। विश्वविद्यालयों ने शिक्षा सम्बन्धी शोध-कार्य प्रारम्भ किया।

स्वतन्त्रता के बाद बड़े बड़े महाविद्यालयों ने अपने यहाँ बी० एड० के कोर्स चालू कर दिये। यही नहीं अध्यापक प्रशिक्षण के महाविद्यालय अलग से खुल गये। इसी समय केन्द्रीय सरकार ने अध्यापक-शिक्षा में रुचि प्रदर्शित की और केन्द्रीय शिक्षा संस्थान की स्थापना हुई। कुछ ऐसे संस्थान भी स्थापित हुए जो भाषा के अध्यापकों को प्रशिक्षण दे सकें, जैसे हैदराबाद का केन्द्रीय अंग्रेजी शिक्षण संस्थान और आगरा का केन्द्रीय हिन्दी शिक्षण संस्थान।

माध्यमिक स्तर पर बुनियादी शिक्षा को स्थान देने का प्रयास सरकार ने प्रारम्भ किया। इसलिए बुनियादी शिक्षा को सफल बनाने वाले माध्यमिक स्तरों के अध्यापकों की शिक्षा के लिए तीन विशेष प्रकार के ट्रेनिंग कालेज खुले, जैसे लखनऊ का कान्स्ट्रक्टिव टीचर्स ट्रेनिंग कालेज जहाँ कोर्स दो वर्ष का है। अन्य स्थानों पर भी बेसिक टीचर्स ट्रेनिंग कालेज खुले।

माध्यमिक स्तर के अध्यापकों की शिक्षा का पाठ्यक्रम प्राय एक वर्ष का ही रखा गया और उसे पूरा करने पर बी० एड० की डिग्री मिलती है। विदेशों में जा कर शिक्षा-विषय का अध्ययन करने वाले विद्वानों ने देखा कि अमरीका में चतुर्वर्षीय संघटित पाठ्यक्रम अध्यापक-शिक्षा के क्षेत्र में प्रचलित है, जिसमें हाई स्कूल पास करके कोई व्यक्ति प्रवेश लेता है और चार वर्ष तक ट्रेनिंग कालेज में रहकर ग्रेजुएट स्तर तक कोई तीन विषय पढ़ता है और साथ ही साथ अध्यापन की शिक्षा भी प्राप्त करता है। अध्यापक-शिक्षा का यह स्वरूप इतना आकर्षक सिद्ध हुआ कि कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय ने इस प्रकार का पाठ्यक्रम अपने शिक्षा-विभाग में अपनाया।

माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में बहु-उद्देशीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों के खोलने का विचार जोर पकड़ने लगा। इन विद्यालयों के लिए अध्यापक तैयार करना एक विशेष समस्या थी। इसलिए शैक्षिक शोध एवं प्रशिक्षण की राष्ट्रीय परिषद् (एन० सी० ई० आर० टी०) ने अजमेर, भोपाल, भुवनेश्वर और मैसूर में एक-एक क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय (रीजनल कालेज आफ एजूकेशन) खोले जिनमें कुरुक्षे

विश्वविद्यालय के अनुकरण पर चतुर्वर्षीय संघटित पाठ्यक्रम अपनाया गया। यहाँ कृषि, उद्योग, वाणिज्य, विज्ञान और भाषा पढ़ाने वाले अध्यापकों का परीक्षण चार वर्ष तक होता है और साथ ही इन विषयों का उच्च स्तरीय ज्ञान प्रदान किया जाता है।

माध्यमिक स्तर के अध्यापकों की शिक्षा पर एक नवीन प्रयोग यह हुआ है कि बी० एड० का कोर्स पत्राचार द्वारा पूरा कराया जाता है। अप्रशिक्षित अध्यापकों को जो नौकरी में लगे हैं, प्रशिक्षण देने के लिए यह कार्यक्रम अपनाया गया है। गर्मी की लम्बी छुट्टियों में दो वर्ष प्रशिक्षणार्थी कालेज में आकर ठहरते हैं जहाँ उन्हें शिक्षण तथा फील्ड वर्क का अभ्यास कराया जाता है और पाठ्य-विषयों पर भाषण भी दिये जाते हैं। शेष सत्र में पत्राचार द्वारा उन्हें प्रमुख विषयों की शिक्षा दी जाती है।

१. एक वर्ष का डिग्री कोर्स—सामान्य रूप से सारे भारत में अध्यापक-शिक्षा का एक वर्ष का पाठ्यक्रम चलता है। यह परम्परागत रूप है।

उद्देश्य—राजस्थान विश्वविद्यालय से सबद्ध प्रशिक्षण महाविद्यालयों में एक वर्ष के डिग्री कोर्स के निम्नलिखित उद्देश्य निर्धारित हैं

(अ) अध्यापक में वैयक्तिक तथा सामाजिक गुण पैदा करना, जैसे आकर्षक व्यक्तित्व, अच्छी वाणी, शिष्ट व्यवहार, विनम्रता, सादगी, उदारता, आलोचनात्मक चिंतन, निर्भीकता, दृढ़ता, श्रम करने की आदत, कर्त्तव्य पालन, उत्तरदायित्व की भावना, सोद्देश्यता और सच्चे दिल से काम करने की प्रवृत्ति, सच्चाई, ईमानदारी, निष्पक्षता, अनुशासन, प्रेम, सहानुभूति, आज्ञापालन, राष्ट्र तथा प्रजातन्त्र के प्रति प्रेम, और नेतृत्व-शक्ति आदि।

(आ) बच्चों के क्रिया-कलाप तथा समाज-सेवा में रुचि पैदा करना।

(इ) अपने व्यक्तिगत तथा व्यावसायिक विकास में रुचि लेना।

(ई) बच्चों के प्रति सहानुभूति तथा समझने की अभिवृत्ति पैदा करना।

(उ) राज्य, शिक्षा-संस्था, अभिभावकों, छात्रों और समाज के प्रति मैत्री तथा सहयोग की अभिवृत्ति उत्पन्न करना।

(ऊ) शैक्षिक कार्यक्रमों तथा समस्याओं के प्रति शोधात्मक तथा प्रयोगात्मक अभिवृत्ति पैदा करना।

(ए) विद्यालय तथा छात्रों की भलाई के आगे अपने व्यक्तिगत लाभ को त्यागने की अभिवृत्ति पैदा करना।

(ऐ) अपने पेशे के प्रति स्वस्थ तथा स्वीकारात्मक दृष्टिकोण पैदा करना।

यह उद्देश्य बड़े व्यापक हैं और प्रशिक्षण महाविद्यालयों की अध्यापक-शिक्षा इन उद्देश्यों को पूरा करती है, इस विषय में बड़ा सन्देह है। डा० वी० एस० माथुर के मत में वर्तमान अध्यापक-शिक्षा का कार्यक्रम प्रशिक्षार्थियों की व्यावसायिक अभिवृत्ति बनाने में समर्थ नहीं है।

पाठ्यक्रम—विभिन्न विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम की अलग-अलग रूपरेखा दी गई है। आमतौर से पाठ्यक्रम दो भागों में विभाजित है, (क) सिद्धान्त भाग, (ख) अभ्यास भाग। पंजाब विश्वविद्यालय ने क्रान्तिकारी परिवर्तन इस क्षेत्र में किये हैं। उनके यहाँ पूरा पाठ्यक्रम चार भागों में विभाजित है, यथा—

भाग १—सत्रीय कार्य, जिसके अन्तर्गत शैक्षिक विषयों पर उपनिषदों में भाग लेना, अभ्यास के लिए नियत विद्यालय के प्रशासन के किसी अंग का आलोचनात्मक अध्ययन करना, और सामुदायिक जीवन का ज्ञान प्राप्त करना, आ जाते हैं। साथ ही समाज-सेवा, पर्यावरण में परिवर्तन, श्यामपट कार्य का अभ्यास, और शौकिया कार्य आते हैं।

भाग २—हस्तकला का अभ्यास, जिसके अन्तर्गत किसी प्रमुख दस्तकारी के सिद्धान्तों का ज्ञान और उसमें निपुणता का अभ्यास कराया जाता है।

भाग ३—अनिवार्य सैद्धान्तिक शिक्षा के अन्तर्गत ७ प्रश्नपत्रों की पढ़ाई होती है। वे प्रश्नपत्र हैं—शिक्षा के सिद्धान्त, शिक्षा मनोविज्ञान तथा निर्देशन, भारतीय शिक्षा की सामयिक समस्याएँ, शिक्षण की सामान्य विधियाँ, विद्यालय-संगठन और प्रशासन, किन्हीं दो पाठ्य विषयों के अध्यापन की विधियों के लिए दो प्रश्न-पत्र।

भाग ४—शिक्षणाभ्यास के अन्तर्गत प्रशिक्षार्थी को ५० पाठ पढ़ाना तथा २० पाठों का निरीक्षण करना पड़ता है।

राजस्थान विश्वविद्यालय तथा अन्य विश्वविद्यालयों की अध्यापक-शिक्षा के पाठ्यक्रम में परिवर्तन हो रहे हैं। सारे पाठ्यक्रम को दो भागों में विभाजित किया जाता है—एक सिद्धान्त और दूसरा अभ्यास। राजस्थान विश्वविद्यालय में पाठ्यक्रम इस प्रकार है.

सिद्धान्त भाग के अन्तर्गत ५ अनिवार्य प्रश्नपत्र पढ़ाये जाते हैं, यथा—शिक्षा के दार्शनिक और समाजशास्त्रीय आधार तथा विद्यालय संगठन के सिद्धान्त, शिक्षा के मनोवैज्ञानिक आधार तथा मूल्यांकन, भारतीय शिक्षा की समस्याएँ एवं स्वास्थ्य शिक्षा, विद्यालयी विषयों को पढ़ाने के सिद्धान्त एवं विधियाँ, दो प्रश्नपत्र। एक प्रश्नपत्र वैकल्पिक है जो उन अध्यापकों के लिए है जो किसी एक क्षेत्र में विशिष्टीकरण चाहते हैं, जैसे—शैक्षिक तथा व्यावसायिक निर्देशन, बुनियादी शिक्षा, श्रवण-नेत्र शिक्षा आदि।

शिक्षणाभ्यास के अन्तर्गत छात्राध्यापक को ४० पाठ पढ़ाने पड़ते हैं, २ आलोच्य पाठ होते हैं और २० पाठों का निरीक्षण करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त उसे कला, दस्तकारी, समाजसेवा तथा खेलकूद का अभ्यास करना पड़ता है।

एम० एड० का कोर्स—उच्चस्तरीय अध्यापक-शिक्षा के लिए विश्वविद्यालयों तथा उच्च कोटि के शिक्षक-प्रशिक्षक महाविद्यालयों में एम० एड० का कोर्स चुना है जिसमें बहुत सीमित संख्या में अध्यापक भर्ती किये जाते हैं। इसका उद्देश्य शिक्षा के क्षेत्र में विशिष्टीकरण है। शिक्षा-दर्शन, उच्च शिक्षा-मनोविज्ञान, शोध की विधियाँ,

अनिवार्य विषय हैं और दो या तीन क्षेत्रों में विशेष योग्यता प्राप्त करने के लिए प्रश्न-पत्र निर्धारित हैं। विशिष्टीकरण के क्षेत्र हैं —अध्यापक-शिक्षा, तुलनात्मक शिक्षा, मूल्यांकन, शैक्षिक प्रशासन और पाठ्यक्रम आदि। सैद्धान्तिक भाग में पाँच प्रश्नपत्र पढ़ाये जाते हैं और व्यावहारिक भाग के अन्तर्गत एक शोध-योजना पूरी करके शोध-प्रबन्ध लिखना पड़ता है।

२. चतुर्वर्षीय डिग्री पाठ्यक्रम—यह पहले बताया जा चुका है कि कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय ने सर्वप्रथम इस पाठ्यक्रम को अपनाया और बाद में रीजनल कालेजों में इसी प्रकार का पाठ्यक्रम चालू हुआ। डा० गुलाबचन्द चौरसिया ने (न्यू एरा इन टीचर एजूकेशन) में बताया है कि अध्यापक-शिक्षा में इस पाठ्यक्रम से नया मोड़ आया है। इसके तीन लाभ बताये गये हैं। एक, इसके द्वारा अध्यापक की सामान्य शिक्षा और व्यावसायिक शिक्षा का सघटन हो जाता है। दूसरे, चार वर्षों तक अध्यापक-शिक्षा जारी रहने से व्यावहारिक प्रशिक्षण अधिक प्राप्त होता है और बाल-अध्ययन, शिक्षण का प्रेक्षण, सामुदायिक अनुभव और शिक्षणाभ्यास के अवसर अधिक मिलते हैं। तीसरे, अध्यापक-प्रशिक्षकों को भावी अध्यापक को निर्देशन देने रहने में आसानी होती है, उन्हें अच्छे शिक्षक सिद्ध होने वालों को प्रोत्साहन देने तथा असफल अध्यापकों को हतोत्साहित करने में सुविधा होती है।

उद्देश्य—रीजनल कालेजों के सम्बन्ध में प्रकाशित साहित्य और राजस्थान के रीजनल कालेज की विवरण-पत्रिका में कहीं भी चार वर्ष के इस पाठ्यक्रम के उद्देश्यों का उल्लेख नहीं है। श्री देवेगोवदा (एजूकेशन आफ टीचर्स इन इंडिया, सपा० एम० एन० मुकर्जी) और डा० गुलाबचन्द चौरसिया (न्यू एरा इन टीचर एजूकेशन) जो रीजनल कालेज के प्रिंसिपल रह चुके हैं और अभी भी हैं, के लेखों के आधार पर इस प्रकार की अध्यापक-शिक्षा के उद्देश्यों का विश्लेषण हम कर रहे हैं

१. अध्यापन-कला और अध्यापन-विषयों का एक साथ ज्ञान प्रदान करके सम्पूर्ण अध्यापक तैयार करना ताकि भावी अध्यापक किसी प्रकार भी अध्यापन-कौशल तथा पाठ्य-विषयों के नवीनतम ज्ञान की दृष्टि से पिछड़ा न रह सके।
२. अध्यापन-कला तथा पाठ्य-विषयों के विशेषज्ञ विद्वानों का एक साथ सगम करके प्रशिक्षण के उत्तमोत्तम अवसर प्रदान करना।
३. अध्यापक-प्रशिक्षकों को कालेज के बाहर शिक्षा संस्थाओं में भेजकर तरोताजा रखना ताकि अध्यापक-शिक्षा का कार्यक्रम किसी भी दृष्टि से पिछड़ा न रहे।
४. कालेजों के साथ एक आदर्श बहुद्देशीय विद्यालय जोड़कर विभिन्न शिक्षण-विधियों की जाँच करने तथा नये-नये प्रयोग करने के अवसर प्रदान करना।

५. अध्यापक-शिक्षा के क्षेत्र में अध्यापक-प्रशिक्षकों को पूर्ण स्वाधीनता और उत्तरदायित्व देकर नया शिक्षा-दर्शन विकसित करने की प्रेरणा देना; उनकी हर प्रकार की योग्यता का पूर्ण उपयोग करने के अवसर देना।

६ आन्तरिक मूल्यांकन पर निर्भर करने से छात्राध्यापकों के सर्वांङ्गीण विकास का मूल्यांकन करना।

७ नौकरी मे लगे अध्यापको की शिक्षा, क्षेत्रीय सेवा, शोध कार्य, शिक्षण-सामग्री की तैयारी और वितरण की व्यवस्था करना।

८ शिक्षण के अनुकूल छात्राध्यापकों मे व्यक्तित्व गुण, अभिवृत्ति एव कौशल पैदा करना।

९ सिद्धान्त और व्यवहार मे समन्वय पैदा करना। 'इन्टर्नशिप' अर्थात छात्राध्यापको को स्कूलो मे स्थायी रूप से कुछ समय ठहरा कर शिक्षण क पूरा अनुभव कराना।

१० विदेशो मे शिक्षक-प्रशिक्षकों को भेजकर उनकी योग्यता बढाना और नवीनतम ज्ञान से परिचित कराना, विदेशो से शिक्षाविदो को बुलाकर नयी प्रवृत्तियो से सबको अवगत कराना।

पाठ्यक्रम—चतुर्वर्षीय डिग्री पाठ्यक्रम मे छात्राध्यापक को विज्ञान, प्राविधि, वाणिज्य, कृषि, हस्तकला और भाषाओ के साथ-साथ शिक्षा-साहित्य भी पढना होता है। शिक्षा-साहित्य के अन्तर्गत सामान्य मनोविज्ञान, शिक्षा-मनोविज्ञान, वर्कशाप इन टीचिंग, शिक्षा के आधार और समस्याए तथा शिक्षण की विशेष विधियाँ और छात्राध्यापन आते है। यह पढाई सैद्धान्तिक विषयो से सम्बन्ध रखती है। जहाँ तक समय तथा ध्यान का प्रश्न है, सैद्धान्तिक और व्यावसायिक शिक्षा को समान रूप से पूरा किया जाता है।

पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाएं भी निर्धारित हैं। छात्राध्यापको को काफी समय तक उन स्कूलो मे जाकर रहना पड़ता है, जहाँ वे शिक्षण का अभ्यास करते हैं। अपने प्राध्यापको के नेतृत्व मे यह लोग विद्यालयी जीवन का पूर्ण अनुभव प्राप्त करते हैं, जैसे खेल-कूद, हाजिरी, फीस लेना, अनुशासन, हर तरह के रजिस्टरो का उपयोग तथा अन्य समस्याओ का प्रत्यक्ष अनुभव। छात्राध्यापको को शैक्षिक सरस्वती-यात्राओ और शिविरो मे भाग लेना पडता है। शोध-योजनाएँ भी उन्हे पूरी करनी पडती हैं।

माध्यमिक अध्यापक-शिक्षा मे प्रयुक्त शिक्षण-विधियाँ—एक वर्ष तथा चार वर्ष की अध्यापक-शिक्षा के डिग्री कोर्स मे प्रयुक्त शिक्षण-विधियो मे 'व्याख्यान की प्रधानता है। सिद्धान्त-विषयक पढाई कक्षाओ मे होती है। प्राध्यापक कक्षाओ भाषण देकर पाठ्य-विषय को सुबोध बनाते हैं परन्तु अब इस विधि के साथ अ विधियो का समन्वय करना प्रारम्भ किया गया है। विचार-विमर्श, पर्यवेक्षण, नि क्षित अध्ययन, पुस्तकालय का प्रयोग, उपनिषद्, भाषण-माला और वर्कशाप की

विधियों का प्रयोग आरम्भ हो गया है। चार वर्ष के कोर्स में शिक्षण-विधियों को उन्नत करने की चेष्टा जोरों पर है। मूल्यांकन की नयी विधियों का प्रयोग आरम्भ हुआ है। छात्राध्यापकों को शोध-योजनाओं में लगाया जाता है और उन्हें शोध का अनुभव कराया जाता है।

३. **ग्रीष्मकालीन पत्राचार-पाठ्यक्रम**—गत दशक में अध्यापक-शिक्षा में गतिरोध देखकर और विशेष रूप से यह अनुभव करके कि अध्यापकों की संख्या तो शिक्षा प्रसार के कारण बढ़ रही है परन्तु प्रशिक्षण की अपर्याप्त सुविधाओं के कारण अधिकांश छात्र अप्रशिक्षित हैं, ग्रीष्मकालीन पत्राचार-पाठ्यक्रम की आवश्यकता अनुभव की गई। कई विश्वविद्यालयों, जैसे दिल्ली विश्वविद्यालय ने इस प्रकार के पाठ्यक्रम को अपनाया है। राजस्थान में राजस्थान विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रीजनल कालेज और जोधपुर विश्वविद्यालय की ओर से इस प्रकार के पाठ्यक्रम कुछ अन्तर के साथ चालू किये गये हैं। इन पाठ्यक्रमों के अन्तर्गत छात्राध्यापकों को दो वर्ष की गर्मी की छुट्टियों में उन महाविद्यालयों में जाकर ठहरना पड़ता है, जहाँ यह पाठ्यक्रम चलता है। बीच में वे अपने विद्यालयों में जाकर नौकरी करते रहते हैं और पत्राचार के द्वारा उन्हें पाठ्य-विषयों का ज्ञान कराया जाता है। इस कोर्स में केवल उन अध्यापकों को प्रशिक्षण पाने का अवसर दिया जाता है जो अप्रशिक्षित रह गये हैं और अध्यापन-कार्य कर रहे हैं।

उद्देश्य—(१) सस्ते में अध्यापक-शिक्षा का प्रबन्ध करना।

(२) नौकरी में लगे अप्रशिक्षित अध्यापकों को उस समय प्रशिक्षण देना जब वे छुट्टी में हों और इस प्रकार उनकी छुट्टियों का सदुपयोग अध्यापक-शिक्षा में करना।

(अन्य उद्देश्य वही हैं, जो अध्यापक-शिक्षा के सम्बन्ध में कई बार लिखे जा चुके हैं।)

पाठ्यक्रम—ग्रीष्मावकाश तथा पत्राचार कोर्स में सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक शिक्षा का क्रम निर्धारित है। सैद्धान्तिक शिक्षा के अन्तर्गत दो प्रश्न-पत्र दो पाठ्य-विषयों के लिए हैं जिनकी शिक्षण-विधि के साथ उन विषयों का ज्ञान भी कराया जाता है। अन्य विषय हैं—वर्कशाप इन टीचिंग, शिक्षा के दार्शनिक एवं समाज-शास्त्रीय आधार (दो प्रश्न-पत्र)।

व्यावहारिक शिक्षा के अन्तर्गत छात्राध्यापक को कक्षाओं में जाकर पाठ पढ़ाने का अभ्यास करना पड़ता है। विषयों के विशेषज्ञ उन पाठों का निरीक्षण करते हैं। पत्राचार द्वारा भेजे गये पाठों को पढ़कर प्रश्नों के उत्तर लिखकर भेजने पड़ते हैं। छात्राध्यापक को कुछ नियत कार्य (असाइनमेंट) पूरे करने पड़ते हैं, जैसे—विद्यालयी पाठ्यक्रम की समीक्षा, प्रचलित शिक्षा-पद्धति की समीक्षा, पुस्तक-समीक्षा, सहायक-सामग्री का निर्माण, केस-स्टडी, क्रियात्मक शोध, पाठ्येतर क्रियाओं का संगठन और विद्यालय-प्रशासन का आलोचनात्मक अध्ययन आदि।

शिक्षण-विधि—ग्रीष्मावकाश एवं पत्राचार कोर्स में भाषण-विधि का प्रयोग उस समय होता है जब ग्रीष्म संस्थान चलता है और विशेषज्ञों को आमन्त्रित करके कक्षाओं में उनसे पढ़वाया जाता है। इस समय ट्यूटोरियल, निर्देशित पुस्तकालय, अध्ययन और विचार-विमर्श की विधियों का प्रयोग भी होता है। पत्राचार द्वारा जो पाठ्य-सामग्री छात्राध्यापकों को भेजी जाती है, उसका अध्ययन वे स्वयं करते हैं, यह स्वाध्याय की विधि है। प्रश्नोत्तर विधि का प्रयोग उस समय होता है, जब वे लोग प्रश्नों के उत्तर लिखकर भेजते हैं।

छात्राध्यापक अपने स्कूल में जहाँ वह पढ़ाता है, शिक्षणाभ्यास करता है, वहीं का प्रशिक्षित वरिष्ठ अध्यापक या प्रधानाध्यापक या आस-पास के प्रशिक्षण महाविद्यालय का कोई अध्यापक उसके पाठों का निरीक्षण करता है, कम-से कम पाँच पाठों का निरीक्षण अवश्य किया जाता है। निरीक्षक छात्राध्यापकों के साथ बैठकर उनकी त्रुटियों का विश्लेषण करता है। छात्राध्यापक समय-समय पर उसका परामर्श लेता है।

सामान्य समीक्षा—माध्यमिक अध्यापकों की शिक्षा के क्षेत्र में काफी क्रान्ति आयी है परन्तु इस स्तर पर बहुत-सी त्रुटियाँ भी हैं। जैसे, एक वर्ष के डिग्री पाठ्यक्रम पूरा करने के उपरान्त अध्यापक में बहुत कम परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। प्रशिक्षण में जो भी कार्यक्रम है, वह आदर्शवादी है और स्कूलों में उसका व्यवहार नहीं हो पाता है। कुछ निपुणताएँ, जैसे—पाठ-नियोजन, प्रश्न पूछना, श्यामपट का प्रयोग आदि, अवश्य उत्पन्न हो जाती हैं। इसी प्रकार चतुर्वर्षीय डिग्री पाठ्यक्रम बहुत खर्चीला है। शिक्षा-आयोग (कोठारी) ने इस पाठ्यक्रम को चालू रखने का अनुमोदन किया है परन्तु उसके मत में एकवर्षीय पाठ्यक्रम द्वारा ही अध्यापक-शिक्षा फल-फूल सकती है। आयोग ने कहा है कि चार वर्ष के पाठ्यक्रम यदि विश्वविद्यालयों में जहाँ हर विषय के विभाग हैं और विशेषज्ञ हैं, चलाये जायँ तो खर्च कम बैठेगा। रीजनल कालेज जैसे स्वतन्त्र महाविद्यालयों में अध्यापक-शिक्षा के लिए विभिन्न विषयों के विभाग अलग-अलग खोलना सम्भव नहीं है। माध्यमिक शिक्षा के लिए अध्यापकों को तैयार करने के चार वर्ष के पाठ्यक्रम पर बड़ौदा अध्ययन दल ने बड़ा जोर दिया था और भूतपूर्व शिक्षा-मन्त्री छागला ने भी इसका समर्थन किया था। तब से अध्यापक-प्रशिक्षकों की राष्ट्रीय परिषद ने इस पाठ्यक्रम को जारी करने की माँग कई बार की है।

ग्रीष्मकालीन पत्राचार कोर्स का समर्थन शिक्षा मन्त्रालय, बड़ौदा अध्ययन दल, योजना आयोग द्वारा नियुक्त अध्ययन दल तथा एन० सी० ई० आर० टी० द्वारा नियुक्त अध्ययन दल और श्री छागला आदि ने किया है, परन्तु इस प्रकार के कोर्स में सबसे बड़ी कमी यह है कि छात्र और अध्यापक के बीच कक्षाओं में जैसा सम्पर्क होता है, वैसा सम्पर्क पत्राचार कोर्स में नहीं हो पाता। इसलिए अध्यापक के व्यक्तित्व गुणों में कोई परिवर्तन नहीं होता।

४ व्यवसाय-स्थित अध्यापकों का शिक्षा—अध्यापन के पेशे मे लगे हुए अध्यापकों की शिक्षा की निरन्तरता को बनाये रखने वाले कार्यक्रम को व्यवसाय-स्थित अध्यापक-शिक्षा कहते हैं। श्री एच० एस० लॉरेंस ('इन सर्विस एजूकेशन' शिक्षा मंत्रालय द्वारा प्रकाशित पुस्तिका) ने कहा है कि वे सारे कार्य, जैसे शैक्षिक यात्राएँ, स्वाध्याय, अध्यापक-शिक्षा के रिफ्रेशर कोर्स, भाषण, उपनिषद् तथा वर्कशाप में भाग लेते हुए अध्यापक की पेशेवर योग्यता बढ़ाने के सारे उपाय, व्यवसाय-स्थित अध्यापक-शिक्षा कहला सकते हैं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक बार कहा था कि कोई अध्यापक एक सफल अध्यापक नही बन सकता, जब तक वह विद्यार्थी बनकर सीखता न रहे। एक दीप दूसरे दीप को जला नहीं सकता, जब तक वह स्वयं न जले। उन्होंने, इस प्रकार सामान्य परन्तु काव्यमयी भाषा मे, व्यवसाय-स्थित शिक्षा का महत्त्व बताया था। शिक्षा के क्षेत्र मे होने वाले क्रांतिकारी परिवर्तनों की जानकारी, अध्यापक का निरंतर विकास, एक-दो वर्ष के प्रशिक्षण कोर्स की अपूर्णता अध्यापक के पिछड़े दृष्टिकोण को दूर करने की आवश्यकता, आदि के कारण इस प्रकार की अध्यापक-शिक्षा का महत्त्व निरंतर बढ़ता जा रहा है।

उद्देश्य—(१) व्यवसाय मे लगे अध्यापकों की शिक्षा को जारी रखना।
(२) उनमे नये वैज्ञानिक दृष्टिकोण उत्पन्न करके उनके पिछड़ेपन को दूर करना।
(३) अनुभवी अध्यापको के सगम मे एक-दूसरे को लाभान्वित करना।
(४) अध्यापकों के व्यक्तित्व मे उन गुणो की अभिवृद्धि करना जो उसके पेशे के अनुकूल हैं।
(५) अध्यापको में स्वाध्याय, प्रयोग तथा शोध की अभिवृत्ति पैदा करना। (अन्य उद्देश्य वही हैं, जो अन्य प्रसगो में बताये जा चुके हैं)।

पाठ्यक्रम—व्यवसाय-स्थित शिक्षा के लिए जो कार्यक्रम हैं, उनमे केवल रिफ्रेशर कोर्स ऐसा है जिसमे पाठ्यक्रम निर्धारित है, और जिसके अन्तर्गत शिक्षा-मनोविज्ञान और शिक्षा समाजशास्त्र, बाल निर्देशन, मानसिक स्वस्थ्य, परीक्षण तथा मापन, शोध तथा प्रयोगो के निष्कर्ष, सरकारी शैक्षिक नीतियाँ आदि विषय आ जाते हैं।

विधियाँ—व्यवसाय-स्थित शिक्षा के अनेक साधन हैं, जैसे रिफ्रेशर कोर्स जो शिक्षा-विभाग और विश्वविद्यालय द्वारा चलाये जाते हैं, ग्रीष्मकालीन सस्थान, विस्तार-सेवा (एक्सटेंशन सर्विस) आदि।

रिफ्रेशर कोर्स में भाषण, प्रदर्शन-पाठ, व्यावहारिक कार्य, सामूहिक विचार-विमर्श, और शैक्षिक प्रयोगो का प्रत्यक्ष अनुभव कराने की विधियों का प्रयोग होता है। ग्रीष्मकालीन सस्थानों में भाषण, गोष्ठी और विचार-विमर्श का तथा विस्तार

सेवा के द्वारा शोध-योजना, प्रयोग, वर्कशाप, निबंध-लेखन और निबंध-पाठ, उपनिषद्, सम्मेलन, भाषणमाला, पुस्तकों का आदान-प्रदान, शैक्षिक फिल्म, चार्ट, टेप आदि के प्रयोग, प्रशिक्षण और साहित्य प्रकाशन आदि के उपाय काम में लाये जाते हैं।

अध्यापक-शिक्षा में अध्यापक-संगठनों का योगदान

प्रायः यह विश्वास किया जाता है कि अध्यापक बनने की शिक्षा प्रशिक्षण संस्थाओं और महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालय के शिक्षा-विभागों में ही मिलती है। ऐसा नहीं है। प्रायः सभी देशों में अध्यापकों के व्यावसायिक संगठन हैं, जो न केवल अध्यापकों के हितों की रक्षा के लिए संघर्ष करते हैं, प्रत्युत वे अध्यापकों की व्यावसायिक क्षमता बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं, इन प्रयत्नों को अध्यापक-शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण अंग समझा जाना चाहिए।

भारत में हर राज्य की शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर शिक्षक संघ बने हुए हैं जो राज्य सरकारों द्वारा मान्य हैं। इन सभी प्रकार के अध्यापक-संगठनों का एक राष्ट्रीय महासंघ भी है। यह भारतीय शिक्षक संघ के नाम से पुकारा जाता है। वर्तमान दशक में अध्यापक-प्रशिक्षकों का एक राष्ट्रीय संगठन (नेशनल एसोसियेशन ऑफ टीचर एजूकेटर्स) भी जन्म ले चुका है। इस संगठन के संविधान में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि यह संगठन अध्यापक-शिक्षा को प्रोत्साहन देगा और उन सभी संगठनों से सहयोग करेगा जो अध्यापक-शिक्षा में रुचि रखते हैं। यह अध्यापक-शिक्षा की समस्याओं पर समय-समय पर विचार विमर्श करने के अवसर प्रदान करेगा और सरकार को सलाह-सुझाव देकर इन समस्याओं को हल करने में सहायक सिद्ध होगा।

अध्यापक-संगठन कई प्रकार से अध्यापक-शिक्षा में सहायता देते हैं। उनका यह कार्य अग्रलिखित होता है।

(क) सम्मेलनों, गोष्ठियों, वार्ताओं, वादविवाद और उपनिषद् का आयोजन—सम्मेलनों और गोष्ठियों के आयोजन अध्यापकों की शिक्षा के उत्तम साधन हैं। इन अवसरों पर सदस्यों को देश-विदेश में उत्पन्न नवीन शैक्षिक विचार-धाराओं से परिचित कराया जाता है। विद्वानों के भाषण, परिचर्चाएँ और निबन्ध-पाठ आदि अध्यापकों को नया ज्ञान प्रदान करते हैं, नये प्रयोगों और नवीन शिक्षण-विधियों की जानकारी उन्हें उपलब्ध होती है।

(ख) शिक्षा-साहित्य का प्रकाशन—अध्यापक संगठन स्थायी और आवधिक [illegible] प्रकाशित करके अध्यापकों में बाँटते हैं। इस साहित्य का [illegible] अध्यापकों तथा छात्रों के जीवन से होता है। अध्यापक [illegible], उनकी समस्याओं तथा [illegible] के विभिन्न प्रश्न होता है। [illegible] अध्यापकों को [illegible] होती है। उदाहरण के लिए, भारतीय [illegible] [illegible] प्रकाशित होती हैं [illegible] 'इंडियन एजूकेशन' और हिंदी में 'भारतीय शिक्षा' (दोनों [illegible] अंग्रेजी में [illegible]

मासिकी) का प्रकाशन करता है। इसी प्रकार राष्ट्रीय शिक्षक-प्रशिक्षक-संगठन की ओर से भी एक जर्नल प्रकाशित होता है। राज्यों में अध्यापकों के संगठन अलग-अलग अपनी पत्रिकाएँ निकालते हैं। इन पत्रिकाओं में अध्यापकों की सामयिक समस्याओं पर विचारोत्तेजक निबंध प्रकाशित होते हैं; इनमें देश-विदेश में होने वाली शैक्षिक प्रगति पर प्रकाश डाला जाता है; कभी-कभी शोध-योजनाओं के परिणाम भी दिये जाते हैं; यह सब प्रकार का साहित्य अध्यापकों की पेशेवर योग्यता में वृद्धि करता है।

(ग) आचार-संहिता—केवल विद्वत्ता और कौशल प्राप्त करके अध्यापक अपने पेशे में सफल नहीं हो सकता। अध्यापक के लिए उच्च कोटि की नैतिकता का पालन आवश्यक है। परिश्रम, ईमानदारी, सेवा की भावना, छात्रों के प्रति स्नेह, कर्तव्य-पालन, सच्ची तथा एकान्तिक भावना से शिक्षण-कला को विकसित करने का प्रयत्न आदि ऐसे तत्त्व हैं, जो पेशेवर नैतिकता के अन्तर्गत आते हैं। इन सबके प्रति अध्यापक को उन्मुख करने वाली एकमात्र संस्था है—अध्यापक-संगठन, जो अपने सदस्यों के लिए एक आचार-संहिता तैयार करता है और अपने सदस्यों से अपेक्षा करता है कि वे उस आचार-संहिता के अनुसार आचरण करेंगे। यदि संगठन को यह सूचना मिले कि अमुक सदस्य पेशेवर नैतिकता के विरुद्ध आचरण करता है, तो उसे सदस्यता से वंचित कर दिया जाता है या अन्य सदस्य उसे नीची नजर से देखते हैं। इस प्रकार आचार-संहिता उत्तम अध्यापन के लिए प्रेरणा का स्रोत है और साथ ही अध्यापक को पथभ्रष्ट होने से बचाती है। अस्तु, आचार-संहिता अध्यापक-शिक्षा का महत्त्वपूर्ण अंग है। नमूने के तौर पर, इङ्गलैण्ड में अध्यापकों के नेशनल यूनियन ने अपनी आचार-संहिता निम्न प्रकार से बनायी है :

१. यदि यूनियन का कोई सदस्य अन्यायपूर्वक नौकरी से हटा दिया गया है, तो अन्य सदस्य उस नौकरी को स्वीकार न करे।
२. किसी शिक्षक पर लगाये गये आरोप के प्रकाशित हुए बिना उसके सम्बन्ध में दूसरा सदस्य शिकायत न करे।
३. प्रारम्भिक विद्यालयों में छात्रों को अतिरिक्त पढ़ाई के लिए लगातार न रोके।
४. विद्यार्थियों की भर्ती के लिए न तो स्वयं कोशिश करे और न अन्य सहयोगियों द्वारा कराये।
५. शिक्षक की हैसियत से विद्यालय के प्रांगण में पढ़ाई के घण्टों के पहले या बाद में किसी अन्य परीक्षा के लिए विद्यार्थियों को न तैयार करे, आदि।

आचार-संहिता के नियमों के कुछ नमूने प्रदर्शित करते हैं कि अध्यापकों में अनुशासन का भाव इसके द्वारा पैदा होता है। इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका के

राष्ट्रीय शिक्षक-संगठनो ने अपनी आचार-संहिताएँ बनायी हैं जिनमे विद्यार्थी, समाज, संस्था, अपने पेशे और अनुबन्ध के सम्बन्ध मे अध्यापको के कर्त्तव्य निर्दिष्ट किये गये हैं। उनका उल्लेख स्थानाभाव के कारण यहाँ नहीं किया जा सकता परन्तु इसमे संदेह नहीं कि अध्यापक-संगठन अपनी आचार-संहिता के द्वारा अध्यापको की नैतिक शिक्षा की व्यवस्था करता है।

विशेष समस्याएँ

१. विद्यालयी कार्य तथा प्रशिक्षण कार्यक्रमों के बीच सम्बन्ध का अभाव

समस्या का स्वरूप—आमतौर पर यह शिकायत की जाती है कि प्रशिक्षण महाविद्यालयो का कार्यक्रम हवाई है। वहाँ पर अध्यापको की शिक्षा के लिए जो भाषण दिये जाते हैं, उनमे जिन सिद्धान्तो की पढ़ाई होती है, शिक्षण की जो विधियाँ बतायी जाती हैं और मनोविज्ञान तथा शिक्षा-दर्शन का जो भी ज्ञान कराया जाता है, उस सब का विद्यालयो के कार्यक्रम से कोई सम्बन्ध नही होता। जो भी अध्यापक प्रशिक्षण प्राप्त कर चुकने के बाद विद्यालयो मे अध्यापक बनकर जाते हैं, वे यही कहते हैं कि प्रशिक्षण मे जो कुछ बताया गया है, वह सब अव्यावहारिक है। इस आलोचना के मूल मे प्रमुख समस्या यह है कि विद्यालयो मे जो शिक्षण कार्य होता है उसका सम्बन्ध प्रशिक्षण महाविद्यालयो से बिलकुल नही है। प्रशिक्षण महाविद्यालय जीवन से कटे हुए कल्पनालोक में विचरण करते हैं।

डा० राधाकृष्णन् की अध्यक्षता मे नियुक्त विश्वविद्यालय आयोग के प्रतिवेदन में इस ओर संकेत किया गया है। उसमे बताया गया है कि प्रशिक्षण के दौरान छात्राध्यापक केवल कुछ इने-गिने घण्टे विद्यालयो मे जाकर पढ़ा देते हैं। शिक्षण की वास्तविक समस्याएँ न तो उनके सामने आती हैं और न वे उन्हें समझने और हल करने की चेष्टा करते हैं।

माध्यमिक शिक्षा-आयोग (मुदालियर) ने भी इस समस्या की ओर संकेत करते हुए इस बात की संस्तुति दी है कि विद्यालय के सम्पूर्ण कार्यक्रम का अनुभव प्रशिक्षणार्थियों को कराना चाहिए। इस संदर्भ में आयोग ने संयुक्त राज्य अमरीका मे होने वाले नये परिवर्तनो का उल्लेख किया और कहा है कि उसी प्रकार अध्यापक-शिक्षा को यथार्थवादी होना चाहिए, विद्यालय के समस्त कार्यक्रम मे भाग लेने का अभ्यास कराने मे ही प्रशिक्षण महाविद्यालयो की पृथकता को दूर किया जा सकता है।

इस समस्या पर सबसे अधिक ध्यान भारतीय शिक्षा-आयोग ने दिया है। उसके मत मे शिक्षक-प्रशिक्षण महाविद्यालय न केवल विद्यालयों से पृथक् हैं, वरन वे विश्वविद्यालयो तथा एक-दूसरे से भी अलग हैं।

विद्यालयों से अध्यापक-प्रशिक्षण महाविद्यालयो के अलग होने से गम्भ

हुए हैं। जो भी प्रशिक्षित अध्यापक विद्यालयो मे जाते हैं, वे उन शिक्ष

विधियों का प्रयोग नही करते, जो उन्हे बतायी गयी हैं और न वे उस पेशेवर नैतिकता का पालन करते हैं जो अध्यापन की सफलता के लिए एक अनिवार्य शर्त है। इस प्रकार अध्यापक-शिक्षा का कोई फल समाज को नही मिलता या यो कहें कि राष्ट्र का अपार धन नष्ट होता है। चूँकि प्रशिक्षण महाविद्यालयो का कार्यक्रम यथार्थवादी नही है, विद्यालयो का विश्वास उन्हें प्राप्त नही। विद्यालयो की ओर से अध्यापक-प्रशिक्षण मे कोई सहयोग नही प्राप्त होता। शिक्षा के क्षेत्र मे यह आम धारणा बन गयी है कि प्रशिक्षित अध्यापक मे अपेक्षित कार्यकुशलता नहीं पैदा होती। इस सम्बन्ध में डा० वी० एम० माथुर का कथन है—

"प्रशिक्षण की प्रभावशीलता के बारे मे क्या कहा जाय ? यह प्रायः प्रश्न किया जाता है कि प्रशिक्षण महाविद्यालय में ठहरने से भावी अध्यापक मे क्या कोई उपयोगी परिवर्तन होता है ? अध्यापक-प्रशिक्षण की कसौटी यह है कि कक्षा तथा विद्यालय की वास्तविक परिस्थितियो मे प्रशिक्षित अध्यापक कहाँ तक सफल होता है। इस कसौटी की जाँच के लिए कोई शोधकार्य तो नहीं किया गया है परन्तु सामान्य धारणा यही है कि प्रशिक्षण महाविद्यालय मे जो कुछ बताया जाता है वह न तो व्यवहार करने मे उपयोगी है और न उसका व्यवहार होता है।"

इस प्रकार की धारणा से अध्यापक-शिक्षा की विफलता सिद्ध होती है और सामान्य जनता का विश्वास उस पर से हटता है।

अध्यापक-प्रशिक्षण की संस्थाओं तथा विद्यालयो के बीच अलगाव होने से दोनो की ज्ञान सम्बन्धी समृद्धि बन्द हो जाती है। यदि दोनों के बीच सम्बन्ध नही है, तो एक ओर विद्यालय को अपनी समस्याओ के हल करने मे ट्रेनिंग कालेज की सहायता नहीं मिलती, वहाँ जो भी शोध तथा प्रयोग होते हैं, उनके निष्कर्षों की जानकारी से होने वाले ज्ञान से विद्यालय वंचित रहते हैं, दूसरी ओर ट्रेनिंग कालेजो को विद्यालय की समस्याओ की जानकारी नही हो पाती और वे अपने शोधकार्य को यथार्थ रूप नही दे सकते। इस प्रकार शिक्षा को जो गतिशीलता मिलनी चाहिए, वह नही मिल पाती।

समस्या का हल—राधाकृष्णन् विश्वविद्यालय आयोग ने स्कूलो और ट्रेनिंग कालेजो के बीच अलगाव दूर करने के लिए एक सुझाव यह दिया था कि छात्राध्यापकों को कम से कम १२ सप्ताह तक स्कूलो मे जाकर अपने अध्यापकों के निरीक्षण में शिक्षणाभ्यास करना चाहिए। छात्रो को उन विधियो मे अवगत कराना चाहिए जो विद्यालयो मे प्रचलित हो। सिद्धान्त-विषयों की शिक्षा स्कूलो की स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार दी जानी चाहिए।

मुदालियर माध्यमिक शिक्षा-आयोग ने अपने प्रतिवेदन में इस समस्या के निराकरण के लिए यह बताया कि शिक्षणाभ्यास के अन्तर्गत केवल अध्यापन ही नहीं, वरन् बच्चों के क्रिया-कलाप और सामाजिक कार्यों मे भाग लेने को भी शामिल करना

चाहिए। ट्रेनिंग कालेजों में जो कुछ पढ़ाया जाय उसका नियमित विद्यालयों में किया जाय और यह देखा जाय कि कौन-कौन से सिद्धान्त स्वीकार्य हो सकते हैं। छात्राध्यापकों को विद्यालयों की समस्याओं और आवश्यकताओं से अवगत कराया जाय। विद्यालयों के समस्त कार्यक्रम, और बच्चों के खेल, पढ़ाई करने और सामाजिक जीवन आदि, में छात्राध्यापकों को भाग लेने को कहा जाय। विद्यालयों तथा प्रशिक्षण महाविद्यालय के जीवन के बीच वर्तमान खाईं पाटने का एक सर्वोत्तम उपाय यह है कि प्रशिक्षण महाविद्यालय के साथ एक प्रयोगात्मक माध्यमिक स्कूल जुड़ा हो। इस स्कूल में छात्राध्यापक कई सप्ताह तक पूरा समय व्यतीत करते हुए विद्यालय के जीवन का वास्तविक अनुभव प्राप्त करें।

प्रशिक्षण महाविद्यालय और विद्यालयों के बीच वर्तमान दूरी को पाटने के लिए, कोठारी शिक्षा-आयोग ने कई उपयोगी सुझाव दिये हैं। उनका विवरण निम्नलिखित है

(१) हर प्रशिक्षण महाविद्यालय के पड़ोस में स्थित स्कूलों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रशिक्षण संस्था स्कूलों का पथ-प्रदर्शन करे और वहाँ के अध्यापकों की कार्यक्रम के नियोजन में सहायता करे, शिक्षण की उत्तम विधियों का प्रयोग कराये। इस विचार की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि हर प्रशिक्षण महाविद्यालय में एक विस्तार सेवा-केंद्र अथवा विभाग अनिवार्य रूप से स्थापित किया जाय और उसके काम में संयोजक के अतिरिक्त सभी अध्यापक भाग लें।

(२) हर प्रशिक्षण महाविद्यालय के पुराने छात्रों का एक संगठन हो जिसमें अध्यापक और उनके भूतपूर्व छात्र सदस्य हों। जब प्रशिक्षण के उपरांत छात्राध्यापक अपनी नौकरी में जाकर अध्यापन कार्य करने लगें और उन्हें कोई कठिनाई हो या उन्हें ऐसा जान पड़े कि जो भी ट्रेनिंग कालेज में बताया गया है वह अव्यावहारिक हैं तो सम्मेलनों में उन पर विचार किया जाय। प्रशिक्षण महाविद्यालय की ओर से पश्चात् अध्ययन (फालो-अप) किया जाय और यह जाँच की जाय कि छात्राध्यापक सफलतापूर्वक पढ़ा रहे हैं या नहीं। इस प्रकार के संगठन से उन सभी अध्यापकों को प्रेरणा मिलेगी जो स्कूलों में जाकर वहाँ की वास्तविक परिस्थितियों से घबराकर ट्रेनिंग कालेज की आदर्शवादी शिक्षण विधियों का प्रयोग बन्द कर देते हैं।

(३) स्कूलों और प्रशिक्षण महाविद्यालयों के बीच अलगाव को समाप्त करने का एक उपाय इन्टर्नशिप (छात्राध्यापकों को किसी विद्यालय में पूरे समय स्थायी से दो-चार महीने ठहराकर शिक्षण कार्य के अतिरिक्त समस्त विद्यालयी कार्यक्रम अनुभव कराना) है। प्रशिक्षण महाविद्यालय के सहयोगी विद्यालयों का सम्पर्क इन उपायों से बढ़ सकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि यह एक गम्भीर समस्या है। इसको हल किं

प्रशिक्षण-कार्य का सफल होना कठिन है। हमारे विचार से एक उत्तम उपाय जो इस समस्या को हल करने मे सहायक हो सकता है, यह है कि प्रशिक्षक-अध्यापक सगठन बनें। इसके प्रशिक्षण महाविद्यालयो के अध्यापक और पास-पडोस के तथा सहयोगी स्कूलों के अध्यापक अनिवार्य रूप से सदस्य हो। इस प्रकार के सगठन के अन्तर्गत प्रत्येक पाठ्य-विषय के अध्यापको की उपसमितियाँ बना दी जायें जो उस विषय के शिक्षण की सफलता के लिए उपयुक्त उत्तमोत्तम विधियो पर प्रयोग करें तथा शिक्षण से सम्बन्धित समस्याओ पर विचार करें। शिक्षण के दौरान स्कूलो म अध्यापकों को जो कठिनाइयाँ आयें, जैसे बडी कक्षाओ को पढाना, विशेष समस्याओ वाले छात्रो को पढ़ाना, अनुशासनहीनता, पाठ्य-पुस्तको की त्रुटियाँ और पाठ्य-सामग्री की तैयारी, अन्य पाठ्येतर क्रियाओ का सगठन आदि, उन्हें ट्रेनिंग कालेज के अध्यापक हल करें। इन समस्याओ को एम० एड० स्तर पर शोध का विषय बनाया जा सकता है।

इस अलगाव को दूर करने की पहल प्रशिक्षण महाविद्यालयो की ओर से होनी चाहिए। अपने सहयोगी विद्यालयों के श्रेष्ठ अध्यापको को प्रदर्शन-पाठ देने के लिए कहना चाहिए और छात्राध्यापकों को उनकी कक्षाओं में ले जाना चाहिए ताकि वे उनके शिक्षण को देख सकें। प्राध्यापकों को स्कूलो के लिए पाठ्य-सामग्री, सहायक उपकरण तथा निर्देशन कार्यक्रम तैयार करके भेजना चाहिए। स्कूलो के सामयिक कार्यक्रमो में अध्यापकों और आचार्यों को भाग लेना चाहिए। यह सब न तो कठिन है और न व्यय-साध्य। आवश्यकता इस बात की है कि प्रशिक्षण महाविद्यालय अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करें और यथार्थवादी अभिवृत्ति पैदा करें।

२. अध्यापकों की सामाजिक, आर्थिक और व्यावसायिक स्थिति तथा प्रतिष्ठा की समस्या

समस्या का स्वरूप—भारत में अध्यापक की प्रतिष्ठा प्राचीनकाल से अब तक समाज मे ऊँची रही है। प्राचीनकाल मे गुरुकुलो के अध्यापकों ने ही भारतीय दर्शन और साहित्य की रचना की। उन्होंने जीवन के ऐसे मूल्यो की रचना की जिन पर हम आज भी गर्व करते हैं। महाकाव्यो और धर्मग्रन्थो मे ऐसे आख्यान अनेक हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि अध्यापक के आगे शासक और विजेता नतमस्तक होते थे; उनके आते ही सिंहासन से उतर कर नीचे आ बैठते थे। वशिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम और परशुराम ऐसे ही अध्यापक थे। समाज मे उनको जो सम्मान प्राप्त था वह सम्राटो को भी न प्राप्त था। फिर भी एक बात स्पष्ट है: प्राचीन अध्यापक त्यागी-तपस्वी बनकर ही जीवन व्यतीत करता था, उसके पास धन-सम्पत्ति जमा नहीं होते थे। भौतिक सुख से दूर रहकर अध्यापन काय करना उसका आदर्श था। उसे भिक्षावृत्ति पर निर्भर करना पडता था। यही नहीं उस काल में अध्यापन को व्यवसाय नहीं माना जाता था और उन लोगो को जो अध्ययन को धन पैदा करने का साधन मानते थे, बड़ी नीची नजर से देखा जाता था।

अब वर्तमान काल मे अध्यापक की स्थिति मे बडा परिवर्तन हो गया है। हर स्तर पर भारत मे शिक्षा-प्रसार के कारण अध्यापको की विशाल सेना खडी हो गयी है। त्याग-तपस्या का आदर्श धूमिल पड गया है क्योकि अब अध्यापक के जीवन में बडा परिवर्तन हो गया है। उसे अपना और अपने परिवार का पालन-पोषण करना पडता है, सन्तानो की शिक्षा और उनके विवाह का उत्तरदायित्व निभाना पडता है। समाज मे अब ज्ञान का आदर नही है, आदर है भौतिक साधनो का। इसलिए समाज मे सम्मानपूर्ण जीवन बिताने के लिए अध्यापक को धन की आवश्यकता अनुभव होती है। समाज में धन और पद की प्रतिष्ठा है, यदि एक व्यक्ति करोडपती है या वह शासन मे महत्वपूर्ण पद पर आसीन है, जो समाज उसके पैर पूजता है। ऐसी दशा मे वैरागी-सन्यासी बने अध्यापक की ओर कोई देखना भी नही पसद करता। यद्यपि अध्यापक को राष्ट्र निर्माता कहा जाता है, परन्तु उसका सर्वत्र निरादर ही होता है। प्रशासक, नेता, छात्र और अभिभावक सभी अध्यापक को हीन दृष्टि से देखते हैं। आज सामाजिक दृष्टि से अध्यापक बहुत नीचे गिरा हुआ है। स्वतत्रता के बाद भी भारत के अध्यापक की स्थिति मे कोई परिवर्तन नही कर पाया है। फल यह हुआ है कि आजादी के बाद उत्पन्न नवयुवको की पीढी को अध्यापक का नेतृत्व नही मिल पाया और आज वही पीढी समाज के लिए सिरदर्द बन गयी है। अध्यापको की सामाजिक, और आर्थिक विपन्नता एक बहुत बडे प्रश्न-चिन्ह के रूप मे हमारे सामने खडी है।

माध्यमिक शिक्षा-आयोग ने अपने प्रतिवेदन मे अध्यापक की इस दुर्दशा को और इस प्रकार सकेत किया है—

"हमे विश्वास है कि अपेक्षित शिक्षा-पुनर्निर्माण मे सबसे बडा और महत्वपूर्ण तत्व 'अध्यापक' है—उसकी शैक्षिक योग्यता, उसके व्यक्तित्व गुण, उसका व्यावसायिक प्रशिक्षण, और समाज तथा स्कूल मे उसकी प्रतिष्ठा।"

आयोग के सदस्यो ने सारे देश का भ्रमण करके देखा कि अध्यापको की सेवा की दशाएँ और सामाजिक प्रतिष्ठा बिलकुल ही सन्तोषजनक नही हैं; उसकी नौकरी की सुरक्षा नही है, यद्यपि उनके वेतनमानो मे सुधार किया गया है तथापि अन्य पेशे के वेतनमानों से कम हैं, अध्यापक की योग्यता अधिक है और बढती हुई महँगाई के कारण वेतन-वृद्धि से कोई लाभ नही हुआ है।

अनेक शिक्षाविदो का ध्यान अध्यापक की आर्थिक, सामाजिक और व्यावसायि स्थिति की खराबी की तरफ गया है। उन सबका विचार है कि अध्यापक आर्थिक स्थिति मे अविलम्ब सुधार आवश्यक है। प्राथमिक स्तर के अध्यापकों वेतन बैंक और केन्द्रीय कार्यालयो मे काम करने वाले चपरासियो से भी कम माध्यमिक स्तर पर जिन शैक्षिक योग्यताओ के अध्यापक काम करते हैं, उनका वेतन साधारण कर्मचारियों से कम है जो कम योग्यता रखते हैं, परन्तु बडे बडे दफ्तरो

सचिवालयो मे काम करते हैं। विश्वविद्यालयो के अध्यापकों के वेतन प्रशासन मे लगे उच्चाधिकारियों से कम हैं यद्यपि शैक्षिक योग्यता मे वे बढ़े-चढ़े हैं--यही कारण है--कि अध्यापन के पेशे मे उच्च कोटि के विद्वान प्रवेश करना स्वीकार नहीं करते। अध्यापको को वे अनेक सुविधाएँ भी प्राप्त नहीं हैं, जो राजकीय कर्मचारियो या उच्च व्यावसायिक प्रतिष्ठानो के कर्मचारियों को प्राप्त हैं, जैसे मुफ्त चिकित्सा और आवास आदि। अब अध्यापक का ध्यान इस ओर गया है और वे अपनी प्रतिष्ठा के लिए संघर्षशील हैं। गत ५ वर्षों मे, भारत के प्रत्येक राज्य मे हर स्तर के अध्यापको ने अपनी इस स्थिति को सुधारने के लिए हड़तालें कीं। अब यह स्पष्ट है कि यदि शीघ्र ही अध्यापक की आर्थिक दशा मे सुधार न हुआ तो देश को इसका परिणाम भुगतना पड़ेगा। बिना आर्थिक सुधार के सामाजिक और व्यावसायिक प्रतिष्ठा भी अध्यापक को नहीं प्राप्त होगी।

इस समस्या के महत्त्व को सरकार अभी स्वीकार नही कर रही है। जब श्री छागला ने भारत सरकार का शिक्षा मन्त्रालय सँभाला, तो उन्होने सर्वप्रथम अध्यापक की दुर्दशा की ओर ध्यान दिया था। उन्होने बार-बार यह कहा था कि अध्यापको के वेतनमानो मे अविलम्ब वृद्धि कर दी जाय और प्राथमिक स्तर पर यह सुधार तुरन्त लागू किये जायें। उनके वेतनमानों में उपभोक्ता वस्तुओ के मूल्यो में वृद्धि होते ही परिवर्तन होने चाहिए। श्री छागला ने भारतीय शिक्षा-आयोग की नियुक्ति की और उस आयोग ने हर स्तर के अध्यापकों के लिए वेतनमान स्थिर किये, परन्तु अनेक राज्यो मे अभी तक उन्हें स्वीकार नहीं किया गया है।

डा० सय्यदैन ने (प्राब्लेम्स आफ एजूकेशनल रीकान्स्ट्रक्शन) अध्यापको की सामाजिक स्थिति और प्रतिष्ठा पर विचार करते हुए लिखा है कि अध्यापक की स्थिति मे भारी गिरावट आयी है। आज अध्यापक एक वेतनभोगी कर्मचारी है और सरकारी नौकरी करके एक गुलाम बन चुका है। वह अपने महान् उद्देश्य को भूल चुका है। अपने युग की चुनौती का सामना करने मे वह बिलकुल असमर्थ है। नये समाज की रचना करने मे यह सहायक नहीं है। वर्तमान काल में देश के भीतर न्याय और अन्याय, सहयोग और शोषण, मानवता और दानवता के बीच जो भीषण संघर्ष चल रहा है, उसे वह केवल तटस्थ दर्शक की भाँति देख रहा है। तभी समाज ने उसे प्रतिष्ठा नही प्रदान की है।

समस्या का हल---अध्यापको की सामाजिक, आर्थिक और व्यावसायिक प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए माध्यमिक शिक्षा-आयोग ने कई ठोस उपाय सुझाये हैं। वे निम्नलिखित हैं :

१. केन्द्रीय वेतन आयोगो के प्रतिवेदनो और केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड जैसी सस्थाओ के प्रतिवेदनो को ध्यान मे रखते हुए अध्यापको की योग्यता के अनुरूप उनके वेतनमान निर्धारित कर दिये जायें।

बढती हुई उपभोक्ता वस्तुओ की दरो और जीवन की आवश्यकताओं को देखते हुए वेतन निश्चित किया जाय ।

२ अध्यापकों की आर्थिक चिन्ताओ को दूर करने के लिए त्रिमूत्री लाभ-योजना लागू की जाय जिसके अन्तर्गत स्थायी भविष्य निधि, पेंशन और बीमा की अनिवार्यता हो ।

३ अध्यापको की सेवा की सुरक्षा की प्रतिभूति निश्चित करने के लिए उनकी नियुक्ति और स्थायीकरण पर सरकारी विभाग दृष्टि रखे ।

४. अध्यापको के लिए, उनके बच्चो की मुफ्त शिक्षा, आवास-योजनाएँ, यात्रा कर मे छूट, छुट्टियाँ बिताने के लिए भत्ते, चिकित्सा की सुविधा और छुट्टियो के उदार नियम आदि की सुविधा हो ।

५. अध्यापको की आय-वृद्धि के लिए उन्हे ट्यूशन करने से रोका जा परन्तु उसके स्थान पर शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े बालको को पढ़ाने पारिश्रमिक, सामुदायिक योजनाओ मे भाग लेने पर या गाँवो में घर चलाने पर वेतन दिया जाय ।

६. अध्यापको की सामाजिक प्रतिष्ठा बढाने के लिए उनको लम्बी सेवा के आधार पर सम्मान दिया जाय, उत्सवो में उन्हे आमन्त्रित किया जाय और शैक्षिक मामलो मे उनकी सलाह ली जाय ।

उक्त आयोग के सुझावो से सरकार को कुछ सकेत मिला और केन्द्रीय सरकार ने अध्यापकों का सम्मान बढाने के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार योजना चलाना शुरु किया। इस योजना को कार्यान्वित करने मे दूरदर्शिता से काम नहीं लिया गया। कहीं-कहीं पुरस्कारों के प्रदान करने मे पूर्ण निष्पक्षता से काम नहीं लिया गया। समाज ने पुरस्कृ अध्यापकों को वह सम्मान नही दिया, जो उन्हे मिलना चाहिए। इसी प्रकार सरकार ने 'अध्यापक-दिवस' मनाने की प्रथा चलाई। यह दिवस उस दिन मनाया जाता है, जि दिन प्रसिद्ध शिक्षाविद् और महान् अध्यापक राधाकृष्णनन् का जन्मदिन पड़ता है जिस प्रकार अध्यापको द्वारा टिकट बेचने की प्रथा चलायी गयी है, उससे अध्या का सम्मान घटा है। वास्तव में अध्यापक दिवस अभिभावकों और समाज के वर्गो द्वारा मनाया जाना चाहिए ।

भारतीय शिक्षा आयोग ने अध्यापकों की स्थिति को ऊँचा उठाने के उनकी आर्थिक दशा को सुधारना आवश्यक माना है, परन्तु केवल आर्थिक सि सुधर जाने से अध्यापक का व्यावसायिक और सामाजिक सम्मान बढ़ेगा— सन्देहास्पद है। कुछ विद्वानों का मत है कि उसके सम्मान के प्रश्न का ह अध्यापक के हाथ मे है। डा० मथ्यदेन का मत है कि अध्यापक की प्रतिष्ठा पर निर्भर है कि वह कहाँ तक राष्ट्र की समस्याओं मे दिलचस्पी रखता है। की सत्यता बहुत कुछ इस समय हमारे सामने सिद्ध हो जाती है, जब हम

देशों मे अध्यापकों के कारनामे देखते हैं। रूस मे अध्यापकों ने 'राष्ट्र निर्माता' बनकर दिखा दिया है कि वे राष्ट्र के लिए क्या कर सकते हैं। रूस का अध्यापक सच्चे अर्थों में समाज का पथ-प्रदर्शक, दार्शनिक और मित्र है। बीट्रिस किंग (रशिया गोज टु स्कूल) के एक उद्धरण से यह बात स्पष्ट है—

"उसका (अध्यापक) का घर व्यावसायिक विचारों का केन्द्र है, एक गैर-सरकारी परामर्श-केन्द्र है जहाँ कृषि से लेकर बच्चों के नामकरण तक के विषयों पर सलाह मिल सकती है। जहाँ समाज और अध्यापक के बीच इस प्रकार के सम्बन्ध बन गये हैं, वहाँ न तो अध्यापक के घर में और न स्कूल मे किसी प्रकार का अभाव होगा। न तो स्कूल और न अध्यापक—किसी की ओर भी समाज उपेक्षा की दृष्टि न रखेगा।"

रूस में अध्यापकों की ऐसी स्थिति हमारे लिए ईर्ष्या का विषय नहीं है क्योंकि हमारे देश में प्राचीन काल से अध्यापकों की महानता और उनके सम्मान की परम्पराएँ मौजूद हैं; वे पत्थर की लकीरें हैं, जो मिट नहीं सकतीं। हाँ, आज के अध्यापक को पैसे की भूख का त्याग करना होगा, उसे चाकरी वृत्ति को तिलांजलि देनी होगी और उसे देश तथा राष्ट्र मे होने वाली क्रांति मे नायक बनकर अपनी भूमिका अदा करनी होगी। इस संदर्भ में निम्नलिखित विचार उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं :

(१) यदि यह मानकर चलें कि सामाजिक और धार्मिक स्थिति को ऊँचा करने मे अध्यापक का अपना प्रयत्न आवश्यक है, तो अब समय आ गया है कि अध्यापक अपने गम्भीर दायित्व को पहचाने। उसे नये समाज का निर्माण करना है। उसे उन सभी हानिकारक तत्त्वों का सामना करना है जो शिक्षा के काम को कठिन बनाते हैं, जैसे सामुदायिक साधन जिनके अन्तर्गत फिल्म, रेडियो, समाचार पत्र और साहित्य आ जाते हैं तथा जो नवयुवक और नवयुवतियों पर बुरे संस्कार डाल रहे हैं। वैज्ञानिक, प्राविधिक और भौतिक उन्नति के साथ-साथ, प्रजातान्त्रिक विचारधारा के उन्नयन से मनुष्य का जीवन सर्वथा बदल गया है। उस जीवन के अनुसार अपने रहन-सहन में परिवर्तन आवश्यक है। अध्यापक को यह अनुभव करना चाहिए कि उसके छात्र तभी सुखी होंगे, जब वे इन परिवर्तनों के लिए तैयार हो जायें। अध्यापक को उन सभी सांस्कृतिक परम्पराओं की रक्षा करनी है, जो हमारी मूल्यवान धरोहर हैं। इस प्रकार नये राष्ट्र के निर्माण मे उन्हें आगे बढ़कर हिस्सा लेना है।

(२) सोवियत रूस और चीन में अध्यापक स्वस्थ तरीके से राजनीति मे भाग लेता है। भारत मे इस बात पर बड़ा जोर दिया जा रहा है कि अध्यापक को राजनीति से तटस्थ रहना चाहिए। यदि राजनीति का अर्थ किसी प्रकार राज्य सत्ता को हथियाना है, तो अध्यापक को अवश्य राजनीति से अलग रहना चाहिए, परन्तु यदि राजनीति का अर्थ है एक ऐसी प्रक्रिया जिसके द्वारा सर्वजनहिताय शासन चलाना और प्रजा को सुख और समृद्धि की ओर ले जाना, तो उसे राजनीति से कभी

अलग नहीं रहना चाहिए। सत्ता मे दूर रहकर सत्ता पर नियत्रण रखना उसे पथ-प्रदर्शन देना, अध्यापक का कर्त्तव्य है। यदि वह, इन अर्थों मे, राजनीतिज्ञ बने तो उसका सम्मान बढेगा। उसकी सामाजिक और व्यावसायिक स्थिति सुधरेगी।

(३) अध्यापक-सगठन इस समस्या को हल करने मे सहायक हो सकते हैं। दुर्भाग्य मे इस प्रकार के संगठनो को बुरी नजर से देखा जाता है। प्रशासको को अध्यापक-सगठन मे 'ट्रेड यूनियन' की बू आती है। उन्हे भय है कि अध्यापक सघबद्ध होकर सघर्ष की ओर अग्रसर होगे। यह भय निराधार भी नहीं है। यदि अध्यापक को उसके अधिकार नही मिलते, अथवा समाज उसकी ओर उपेक्षा-दृष्टि से देखता है, तो अध्यापक को अपने सगठन का सहारा लेना पडेगा। यदि परिस्थितियाँ ऐसी पैदा होती हैं या पैदा की जाती हैं कि अध्यापक दीन-हीन बना रहे, तो अध्यापक इस विश्वास को लेकर चले कि वह एक ऊँचे पेशे का व्यक्ति है और उसे मजदूरो की तरह सघ नही बनाना चाहिए—यह एक भूल होगी। इस प्रकार का विश्वास एक प्रकार की अफीम है, जिसको लेकर वह बेसुध बना रहेगा। इस युग मे सर्वत्र शक्ति की पूजा होती है और अध्यापक को शक्ति अर्जन करनी चाहिए जिसका माध्यम 'सगठन' है, परन्तु वह शक्ति परपीडन के लिए नही किन्तु 'पररक्षणाय' होनी चाहिए।

(४) अध्यापक को उसका उचित स्थान प्रदान करने के लिए समाज और सरकार को कुछ कदम उठाने पडेंगे। उनमे सबसे अधिक प्रभावशाली कदम यह होगा कि अध्यापक को शिक्षा-नीति के निश्चय करने मे समभागी बनाया जाय। जिसे राष्ट्र निर्माता कहा जाता है, जो ज्ञान, त्याग और दूरदर्शिता मे कम नही, जो केवल सत्य का अनुगामी है, उसे 'शिक्षा-नीति' का निश्चय करते समय उपेक्षित किया जाता है। शिक्षा-नीति का निश्चय वे लोग करते हैं, जो 'राजनीतिज्ञ' कहलाते हैं, जो बद कमरो मे बैठकर हवाई किले बनाते हैं, जिन्हे नयी पीढ़ी की आकाक्षाओ का कोई ज्ञान नहीं और जो केवल बहस कर सकते हैं। अध्यापक को एक कठपुतली की शक्ल देकर अलग खड़ा कर दिया गया है। क्या पाठ्य-सामग्री, क्या मूल्याकन, क्या शिक्षण-विधि और क्या प्रशासन—सभी कुछ अध्यापकों के वश मे नही है, वह केवल आज्ञापालक गुलाम है। यदि उसे ऊँचा सम्मान देने मे समाज को ईमानदारी दिखानी है, तो उसे 'स्वतंत्र' करना होगा, छात्रो के भाग्य-निर्माण के लिए उसे छूट देनी पडेगी। ऐसा करने से अध्यापक की सच्ची प्रतिष्ठा होगी, केवल पुरस्कार देने या अनुदान देने से कुछ न होगा।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. अध्यापक-शिक्षा के महत्त्व के सम्बन्ध मे आपका क्या मत है? अध्यापक-शिक्षा को राष्ट्र की शिक्षा की उत्तमता बढ़ाने मे कहाँ तक सहायक बनाया जा सकता है?

२ भारत मे अध्यापक-शिक्षा के विकास पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

३. 'अध्यापक-शिक्षा' का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए, उसके उद्देश्यों पर अपने विचार लिखिए।
४. प्राथमिक और माध्यमिक स्तर पर अध्यापक-प्रशिक्षण की संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत कीजिए और उसकी कमियों पर प्रकाश डालिए।
५. अध्यापक-शिक्षा के क्षेत्र में होने वाले क्रान्तिकारी प्रयोगों का उल्लेख कीजिए। इस प्रकार के प्रयोग कहाँ तक सफल हुए हैं?
६. "अध्यापक-शिक्षा में अध्यापक संगठनों का योगदान"—इस विषय पर एक निबन्ध लिखिए।
७. 'अध्यापक-शिक्षा के अवसाद' की समस्या का विवेचन कीजिए तथा उसके हल करने के उपाय बताइए।
८. अध्यापकों की आर्थिक, सामाजिक और व्यावसायिक स्थिति को सुधारने के उपायों पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

इन विद्यालयो के प्रति सदैव सशंकित रहे। इसीलिए ब्रिटिश शासको ने ऐसी शिक्षा-नीति का निर्धारण किया जो भारतीय नागरिकों को पाश्चात्य सभ्यता, रीति-रिवाज में डुबोकर ऐसा रूप प्रदान करे कि वे सदैव ब्रिटिश शासन के प्रति वफादार रहें। ब्रिटिश भारत में, उच्च शिक्षा के विकास को पाँच श्रेणियो मे विभाजित किया जा जा सकता है :

(१) १७८१ से १८५३ तक।
(२) १८५४ से १८८२ तक।
(३) १८८३ से १९१६-१७ तक।
(४) १९१७ से १९४७ तक।
(५) १९४७-४८ से १९७० तक।

१. सन् १७८१ से १८५३ तक

इस काल में उच्च शिक्षा का अधिक विकास नही हो सका। इसका मूल कारण ईस्ट इण्डिया कम्पनी की दूषित राजनीति थी। कम्पनी के शासक भारत में उच्च शिक्षा के विकास के पक्ष मे नहीं थे। उनको तो हाईस्कूल तक शिक्षा ग्रहण किये हुए भारतीय नागरिकों की आवश्यकता थी जो जीवन भर लिपिक के पद को सुशोभित करते हुए सदैव गुलामी का जीवन व्यतीत करते रहें। इसके साथ ही उनमे एक दूषित भावना यह भी थी कि उच्च शिक्षा भारतीय नागरिकों मे बौद्धिक विकास एव राष्ट्रीयता की भावना को जन्म दे सकती है। इस अवधि मे उच्च शिक्षा का प्रारम्भ कलकत्ता मदरसा की स्थापना से हुआ जिसकी स्थापना १७८१ मे हुई। इस मदरसे का शिलान्यास हेस्टिग्ज ने किया था। इस मदरसे की स्थापना का मुख्य उद्देश्य मुसलमानो को उच्च शिक्षा की सुविधा प्रदान करना था। इस काल में कई अग्रेजी और प्राच्य—सरकारी और निजी—महाविद्यालय खुले। आरम्भ मे ये संस्थाएँ माध्यमिक विद्यालयो के रूप में स्थापित की गई किन्तु बाद में वे शीघ्र ही कालेज के रूप मे परिवर्तित हो गई। इस अवधि में स्थापित होने वाले प्रमुख कालेज बनारस सस्कृत कालेज (१७९१), हिन्दू कालेज, कलकत्ता (१८१७), श्री रामपुर कालेज (१८१८), स्कटिश चर्च कालेज, कलकत्ता (१८३०), विलसन कालेज, बम्बई (१८३२), एलफिन्स्टन कालेज, बम्बई (१८३५), क्रिश्चियन कालेज, मद्रास (१८३७), सेण्ट जास कालेज, आगरा (१८५२) थे। इस काल में विश्वविद्यालय आरम्भ करने के प्रयत्न अवश्य हुए किन्तु सफलता न मिल सकी। वैसे १८३९ में मद्रास के तत्कालीन राज्यपाल लार्ड एलफिन्स्टन ने मद्रास में विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए कोर्ट आफ डायरेक्टर के पास एक प्रस्ताव भेजा था, किन्तु यह प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया गया।

२. १८५४ से १८८२ तक

इस अवधि में सन् १८५४ का वुड घोषणा-पत्र प्रमुख था जिसने भारतीय

अध्याय २

उच्च शिक्षा

भारत मे उच्च शिक्षा की व्यवस्था आदि काल से ही रही है। वैदिक काल में गुरुकुलों एव आश्रमो के रूप मे अनेक महाविद्यालय एव विश्वविद्यालय अपना कार्य कर रहे थे। ऐसे अनेक विश्वविद्यालयों के खण्डहर आज भी उपस्थित हैं जो अपने मे एक लम्बा इतिहास सजोये बैठे हैं। प्रारम्भिक विश्वविद्यालयों में तक्षशिला की प्रसिद्धि सबसे अधिक थी। यहाँ दूर-दूर के छात्र अध्ययन हेतु आते थे। बौद्ध काल मे उच्च शिक्षा की अधिक प्रगति हुई। इस युग के प्रसिद्ध विश्वविद्यालयो मे नालन्दा, काञ्ची, विक्रमशिला तथा वल्लभी का नाम उल्लेखनीय है। इन विश्वविद्यालयो मे अध्ययन के लिए विदेशों से भी छात्र आते थे। लंका, चीन, जावा, सुमात्रा तथा मध्य-एशिया प्रमुख विदेशी स्थल थे जो अपने यहाँ के योग्य छात्रों को उपर्युक्त विश्वविद्यालयो में भेजते थे। इन विद्यालयो मे प्रवेश पाना सरल काम नही था। प्रत्येक विश्वविद्यालय मे एक मेधावी छात्र को द्वारपाल की पदवी से विभूषित किया जाता था जिसका प्रमुख कार्य प्रवेश से पूर्व छात्रो की परीक्षा लेना होता था।

भारत मे प्रचलित इस उच्च शिक्षा-व्यवस्था को आघात आक्रमणकारी मुसलमानो ने पहुँचाया। उन्होने धार्मिक स्थानो के साथ-साथ शिक्षा-केन्द्रो को भी नष्ट-भ्रष्ट किया। वैसे मुसलमान शासको ने कुछ स्थानो पर उच्च शिक्षा के लिए मदरसो की स्थापना की जिनमे इस्लाम धर्म के सिद्धान्तो की शिक्षा मुख्य रूप से दी जाती थी। इन मदरसों में शिक्षा का माध्यम अरबी अथवा फारसी था।

ब्रिटिश काल में उच्च शिक्षा

भारत में आज शिक्षा का जो स्वरूप एव व्यवस्था विद्यमान है वह मुख्य रूप से अंग्रेजो की देन है। अंग्रेजो ने प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली की आलोचना की तथा उसको अपनी शासकीय दृष्टि से अनुपयोगी मानकर सदैव हेय दृष्टि से देखा। ये

विश्वविद्यालय कानून के नाम से प्रसिद्ध है। इस कानून मे निम्नलिखित बातें मुख्य थीं .

(१) विश्वविद्यालयो को परीक्षा लेने के साथ ही शिक्षण की भी व्यवस्था करनी चाहिए। इसके लिए उनको प्राध्यापक नियुक्त करने का अधिकार भी दे दिया गया।

(२) विश्वविद्यालयो के सदस्यो की सख्या निश्चित कर दी गई। वह कम से कम ५० और अधिक से अधिक १०० रहे। इन सदस्यो का कार्यकाल ५ वर्ष रहा।

(३) सिण्डीकेटों को कानूनी स्वीकृति दी जाय तथा इसमें विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों का उचित प्रतिनिधित्व हो।

(४) कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के विश्वविद्यालयो की सीनेट के सदस्यो की संख्या २० तथा अन्य नये विश्वविद्यालयो की सीनेट के सदस्यो की सख्या १५ होनी चाहिए।

(५) इस कानून के अनुसार सरकार सीनेट द्वारा बनाये कानून को संशोधित एव परिवर्तित कर सकती थी।

(६) गवर्नर जनरल को यह अधिकार भी दिया गया कि वह विश्वविद्यालय के क्षेत्र निश्चित कर दे।

वैसे भारतीयो द्वारा इस कानून को सन्देहात्मक दृष्टि से देखा गया तथा इसकी आलोचना की गई, किन्तु यह सत्य है कि इस कानून ने भारतीय उच्च शिक्षा मे कई उल्लेखनीय परिवर्तन किये।

लार्ड कर्जन के सुधार के कुछ वर्षो के बाद उच्च शिक्षा के पुनर्निरीक्षण की फिर से आवश्यकता पड़ी। सरकार ने २१ फरवरी, १९१३ को शिक्षा नीति पर अपना प्रसिद्ध प्रस्ताव पास किया जिसकी प्रमुख सिफारिशें इस प्रकार थी :

१. विश्वविद्यालयो मे शिक्षण-व्यवस्था मे सुधार किया जाय।

२. विश्वविद्यालयो में विस्तार किया जाय और लगभग प्रत्येक प्रान्त मे एक विश्वविद्यालय स्थापित किया जाय क्योकि ५ विश्वविद्यालय और १८५ कालेज देश की आवश्यकता की पूर्ति मे असमर्थ हैं।

३. शिक्षण-कार्य करने वाले विश्वविद्यालयो की स्थापना पर जोर दिया जाय।

४. विश्वविद्यालयो मे छात्रावासो की व्यवस्था की जाय।

भारत मे सन् १८८७ मे इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। इसके बाद सन् १९१६ तक किसी नवीन विश्वविद्यालय की स्थापना नहीं हुई। किन्तु कॉलेजो की सख्या मे अवश्य वृद्धि हुई जो १९१० तक १८५ तक पहुँच गई थी।

शिक्षा के इतिहास में एक नया एवं महत्त्वपूर्ण अध्याय जोड़ा । इस घोषणा-पत्र ने भारतीयों की उच्च शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया । इसने बम्बई, मद्रास एवं कलकत्ता में विश्वविद्यालयों की स्थापना की सिफारिश की । साथ ही यह भी घोषणा की कि इनकी रूपरेखा लन्दन विश्वविद्यालय पर आधारित होनी चाहिए । इस घोषणापत्र में निर्दिष्ट सिफारिशों के आधार पर कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में सन् १८५७ में विश्वविद्यालय खोले गये । इनका शासन सीनेट को सौंपा गया । सीनेट का गठन कुलपति तथा सदस्यों के द्वारा होता था । स्थानीय राज्यपाल कुलपति होते थे । सीनेट के सदस्य दो प्रकार के होते थे—पदेन तथा सामान्य । सदस्यों की नियुक्ति जीवन भर के लिए होती थी । बाद में सिण्डीकेट की व्यवस्था की गई परन्तु अधिनियम में इसका उल्लेख न था ।

विश्वविद्यालय किराये के भवनों में चलते थे । इनका प्रमुख उद्देश्य ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में योग्यता प्राप्त करने वाले छात्रों की परीक्षा लेकर उन्हें उपाधियाँ प्रदान करना था । ये विश्वविद्यालय कला, विज्ञान, चिकित्सा, कानून, और इंजीनियरिंग आदि के प्रमाण-पत्र प्रदान करते थे । उस समय परीक्षाओं का स्तर लन्दन विश्वविद्यालय के समान ही था । सन् १८८२ में पंजाब विश्वविद्यालय की स्थापना हुई । विश्वविद्यालयों के साथ ही कालिजों की संख्या में भी वृद्धि हुई । सन् १८८२ में कालिजों की संख्या ६८ थी ।

उस समय के विश्वविद्यालयों में अनेक दोष भी थे । प्रथमतः विश्वविद्यालय केवल परीक्षा-संचालन करते थे । इनसे अध्ययन-अध्यापन का कार्य नहीं चलता था । अतः उच्च शिक्षा के प्रसार में वे कोई काम न कर सके । द्वितीय, इन विश्वविद्यालयों को कालिजों की कार्यवाही को नियंत्रित करने का कोई अधिकार नहीं था । तृतीय, सदस्यों की संख्या अत्यधिक थी और वे आजीवन सदस्य होते थे ।

३ सन् १८८३ से १९१६-१७ तक

सन् १८८२ में नियुक्त प्रथम शिक्षा आयोग ने भी उच्च शिक्षा के क्षेत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव रखे । उसका एक सुझाव कालिजों को दिये जाने वाले अनुदान के बारे में था । उसने सिफारिश की कि कालेजों को सहायता देते समय कार्य की आवश्यकता एवं कार्यक्षमता, कालेज के पूर्ण व्यय, अध्यापकों की दशा और संख्या पर विशेष ध्यान रखा जाय और समय-समय पर भवन-निर्माण, पुस्तकालय, प्रयोगशाला एवं फर्नीचर आदि के लिए विशेष सहायता प्रदान की जाय । इसके अतिरिक्त आयोग ने छात्रों के नैतिक और आध्यात्मिक स्तर को ऊँचा उठाने का सुझाव भी दिया ।

सन् १८९९ में लार्ड कर्जन भारत का गवर्नर जनरल नियुक्त हुआ । उसने उच्च शिक्षा के पु-संगठन के लिए भारतीय विश्वविद्यालय आयोग की नियुक्ति की । १९०२ में नियुक्त इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट ६ माह में प्रस्तुत कर दी । इसी के आधार पर लार्ड कर्जन ने सन् १९०४ में एक कानून बनाया जो भारतीय

विश्वविद्यालय कानून के नाम से प्रसिद्ध है। इस कानून मे निम्नलिखित बातें मुख्य थीं :

(१) *विश्वविद्यालयों को परीक्षा लेने के साथ ही शिक्षण की भी व्यवस्था* करनी चाहिए। इसके लिए उनको प्राध्यापक नियुक्त करने का अधिकार भी दे दिया गया।

(२) विश्वविद्यालयो के सदस्यों की संख्या निश्चित कर दी गई। वह कम से कम ५० और अधिक से अधिक १०० रहे। इन सदस्यो का कार्यकाल ५ वर्ष रहा।

(३) सिण्डीकेटो को कानूनी स्वीकृति दी जाय तथा इसमें विश्वविद्यालय के प्राध्यापको का उचित प्रतिनिधित्व हो।

(४) कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के विश्वविद्यालयो की सीनेट के सदस्यों की सख्या २० तथा अन्य नये विश्वविद्यालयो की सीनेट के सदस्यों की *संख्या १५* होनी चाहिए।

(५) इस कानून के अनुसार सरकार सीनेट द्वारा बनाये कानून को संशोधित एव परिवर्तित कर सकती थी।

(६) गवर्नर जनरल को यह अधिकार भी दिया गया कि वह विश्वविद्यालय के क्षेत्र निश्चित कर दे।

वैसे भारतीयो द्वारा इस कानून को सन्देहात्मक दृष्टि से देखा गया इसकी आलोचना की गई, किन्तु यह सत्य है कि इस कानून ने भारतीय उच्च मे कई उल्लेखनीय परिवर्तन किये।

लार्ड कर्जन के सुधार के कुछ वर्षों के बाद उच्च शिक्षा के [illegible] फिर से आवश्यकता पड़ी। सरकार ने २१ फरवरी, १९१३ को [illegible] अपना प्रसिद्ध प्रस्ताव पास किया जिसकी प्रमुख सिफारिशें इस प्रकार हैं

१. विश्वविद्यालयों मे शिक्षण-व्यवस्था

सन् १९१७ तक की वृद्धि

विश्वविद्यालय	कॉलेज
कलकत्ता	५८
मद्रास	५३
इलाहाबाद	३३
पंजाब	२४
बम्बई	१७

सन् १९१६ में पं० मदनमोहन मालवीय ने बनारस में हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की। यह विश्वविद्यालय धनी तथा निर्धन सभी प्रकार के हिन्दुओं के दान से बना था। इसके निर्माण के लिए राजकीय सहायता प्राप्त नहीं हुई थी। १९१७ में मैसूर तथा पटना में भी विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई।

४. सन् १९१७ से १९४७ तक

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति होने से लोगों का ध्यान शिक्षा की ओर आकर्षित हुआ। उस समय तक शिक्षा में अनेक दोष उत्पन्न हो गये थे। उच्च शिक्षा में व्याप्त दोषों को दूर करने के लिए सन् १९१७ में कलकत्ता विश्वविद्यालय की नियुक्ति की गई। इस आयोग को देश के अन्य विश्वविद्यालयों की जाँच करने का भी अधिकार दिया गया। विश्वविद्यालय के कार्य के सम्बन्ध में आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिये—

(१) एकात्मक, निवासात्मक एवं शैक्षणिक विश्वविद्यालयों की स्थापना की जाय।

(२) स्नातक का पाठ्यक्रम तीन वर्ष का हो तथा इसके साथ ही 'आनर्स कोर्स' भी आरम्भ किया जाय।

(३) प्रत्येक विश्वविद्यालय में विद्यार्थी कल्याण तथा शारीरिक शिक्षण का संचालक नियुक्त किया जाय।

(४) विश्वविद्यालयों में विभिन्न उच्च विषयों की शिक्षा की व्यवस्था की जाय।

(५) विश्वविद्यालयों को राजकीय नियंत्रण से मुक्ति मिलनी चाहिए।

(६) विश्वविद्यालयों के लिए वैतनिक उपकुलपति की नियुक्ति की जाए।

(७) विश्वविद्यालयों के अध्यापकों तथा रीडरों की नियुक्ति के लिए विशेषज्ञों की समिति का निर्माण किया जाए।

इस आयोग की रिपोर्ट के बाद भारत मे अनेक नवीन विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई जो निम्नलिखित हैं

रगून और ढाका—१६२०, लखनऊ और अलीगढ—१६२१, दिल्ली—१६२२, नागपुर—१६२३, आन्ध्र—१६२६, आगरा—१६२७, अन्नामलय—१६२६, ट्रावनकोर—१६३७, उत्कल—१६४३, सागर—१६४६, सिंध तथा राजपूताना—१६४७। इस अवधि में कॉलेज एव छात्रो की सख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई।

५. सन् १६४७-४८ से १६६६ तक

विभाजन के बाद स्वतन्त्र भारत मे अनेक विश्वविद्यालयो की स्थापना हुई जिनके नाम सबसे पीछे दिये गये हैं। सन् १६४७ मे जहाँ २० विश्वविद्यालय थे वहाँ १६६६ में इनकी सख्या बढकर ६४ होगई थी। सन् १६६५-६६ तक महाविद्यालयों की सख्या २,५६५ थी।

विभाजन के पश्चात् उच्च शिक्षा के क्षेत्र में सबसे महत्वपूर्ण घटना डा० राधाकृष्णन की अध्यक्षता मे विश्वविद्यालय शिक्षा-आयोग की स्थापना थी। इस आयोग ने निम्नलिखित महत्वपूर्ण सुझाव दिए·

(१) विश्वविद्यालीय शिक्षा इण्टरमीडिएट के पश्चात् प्रारम्भ की जाए।
(२) आनर्स मे एक वर्ष पश्चात् तथा स्नातक परीक्षा के दो वर्ष पश्चात् स्नातकोत्तर उपाधि दी जाए।
(३) विश्वविद्यालय मे सामान्य शिक्षा के सिद्धान्तों के अध्ययन की व्यवस्था की जाए।
(४) आयोग ने विश्वविद्यालय के अध्यापको को चार श्रेणियो मे विभाजित किया और सुझाव दिया कि इनकी वेतन-दरो में साम्य होना चाहिए।
(५) विश्वविद्यालय तीन प्रकार के हो—शैक्षणिक, सम्बद्ध तथा संघात्मक।
(६) महाविद्यालय के वार्षिक कार्य-दिनो की न्यूनतम सख्या १८० रहे।
(७) पुस्तकालय एव प्रयोगशालाएँ सुसगठित तथा साज-सम्मान से सज्जित हों।
(८) स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम मे अनुसन्धान की विधियों का प्रशिक्षण सम्मिलित किया जाए।
(९) विश्वविद्यालयों को धन का वितरण विश्वविद्यालय अनुदान आयोग करे।
(१०) जब सम्भव हो तब शीघ्र ही उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेजी के स्थान पर किसी भारतीय भाषा को अपनाया जाय।
(११) सभी सस्थाओं में एन० सी० सी० दल का सगठन हो।

कोठारी आयोग

भारत सरकार के १४ जुलाई, १९६४ के प्रस्ताव के अनुसार इस शिक्षा आयोग का गठन हुआ जिसका उद्देश्य सरकार को शिक्षा के राष्ट्रीय प्रारूप, शिक्षा के प्रत्येक स्तर और पहलुओं के सम्बन्ध में नीतियों के लिए राय देना था। इस आयोग के अध्यक्ष डा० दौलतसिंह कोठारी थे। इस आयोग ने उच्च शिक्षा के क्षेत्र में सुधार के लिए जो सुझाव दिये वे निम्नांकित हैं

(१) वर्तमान विश्वविद्यालयों में से ६ विश्वविद्यालयों को १९७५-७६ में मुख्य विश्वविद्यालयों में परिवर्तित कर दिया जाय जहाँ उच्च कोटि का अध्ययन और अनुसंधान कार्य हो। इनमें से कम से कम एक कृषि, एक टेक्नोलॉजी का विश्वविद्यालय अवश्य हो।

(अ) इनमें अध्यापकों की नियुक्ति राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर की जाए।

(आ) मुख्य विश्वविद्यालय में उन्नत अध्ययन केन्द्रों के समूह स्थापित किये जायें।

(इ) इन विश्वविद्यालयों के आवर्तक और अनावर्तक व्यय विश्वविद्यालय अनुदान आयोग वहन करे।

(२) मुख्य विश्वविद्यालय एवं अन्य विश्वविद्यालयों में परस्पर सम्पर्क रहे। मुख्य विश्वविद्यालय अन्य विश्वविद्यालयों को शिक्षक प्रदान करने में सहायता करें।

(अ) मुख्य विश्वविद्यालयों के प्रतिभाशाली विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करके अन्य विश्वविद्यालयों में अध्यापन व्यवसाय में नियुक्त किया जाए।

(आ) मुख्य विश्वविद्यालयों में अन्य विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालय के प्रतिभाशाली विद्वानों को उन्नत अध्ययन क्षेत्रों में अनुसंधान के लिए आमंत्रित किया जाय।

(इ) विश्वविद्यालय तथा महाविद्यालय अपने लिए अध्यापकों को चुनकर कुछ समय के लिए मुख्य विश्वविद्यालय में भेज दें।

(३) सम्बद्ध महाविद्यालयों के विकास के लिए प्रयत्न किये जायें।

(अ) सम्बद्ध महाविद्यालयों का कार्य के आधार पर वर्गीकरण किया जाए।

(आ) जहाँ विश्वविद्यालय के क्षेत्र में यदि कोई पुराना तथा बड़ा महाविद्यालय हो तो उसे स्वायत्त महाविद्यालय का पद दे दिया जाना चाहिए। ऐसे महाविद्यालय पाठ्यक्रम, परीक्षा, प्रवेश के नियम सम्बन्धी कार्य स्वयं करेंगे।

(४) शिक्षण एवं मूल्यांकन में सुधार के लिए आयोग के मुख्य सुझाव ... थे :

(अ) कक्षा कार्य मे से कुछ घण्टो की कमी करके उस बचे हुए समय मे स्वाध्याय, लेख लिखने तथा अनुसधान के कार्य करवाये जायें।

(आ) अच्छे पुस्तकालय बनाने पर जोर दिया जाए।

(इ) अध्यापकों की नियुक्तियाँ सत्र के आरम्भ मे कर दी जायें।

(ई) शिक्षा सस्थान विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षण-विधियों के सम्बन्ध मे शोधकार्य करें।

(उ) विश्वविद्यालयो मे बाह्य परीक्षाओं के स्थान पर आन्तरिक एव क्रमिक मूल्याकन पद्धति को अपनाया जाए।

(५) *१० वर्ष की आबादी मे क्षेत्रीय भाषाएँ विश्वविद्यालय शिक्षा का माध्यम* बना दी जायें।

(अ) पूर्व-स्नातक स्तर पर शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषाएँ हों और स्नातकोत्तर स्तर पर अग्रेजी माध्यम हो।

(आ) आधुनिक भारतीय भाषाओ के विकास के लिए उच्च अध्ययन केन्द्रों की स्थापना की जाए।

(इ) अग्रेजी के अतिरिक्त अन्य प्रमुख पुस्तकालयीय भाषाओ के अध्यापन की भी सुविधा होनी चाहिए।

(६) छात्र सेवाओ के अन्तर्गत छात्रों के लिए प्रत्यास्मरण पाठ्यक्रम, स्वास्थ्य सेवाएँ, आवास सुविधा, निर्देशन एवं परामर्श आदि आयोजित की जायें।

(७) बढ़ती हुई छात्र अनुशासनहीनता को समाप्त करने के लिए भी आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिये :

(अ) अनुशासनहीनता को कम करने के लिए विद्यार्थी, अभिभावक, अध्यापक, सरकार एव राजनैतिक दलों को अपना उत्तरदायित्व निभाना चाहिए।

(आ) इस प्रकार के प्रशासन एव परामर्श की व्यवस्था की जाए कि छात्रों के असन्तोष के कारण ज्ञात करके उनका उपचार किया जा सके।

(इ) महाविद्यालयों मे बौद्धिक एव सामाजिक सुविधाओ की व्यवस्था की जाए।

(ई) विश्वविद्यालयो में अध्यापक, विद्यार्थी और प्रशासन की दल-बन्दियाँ समाप्त करके अच्छा वातावरण बनाया जाए।

८ प्रवेश से सम्बन्धित सुझाव—(अ) विश्वविद्यालयो मे प्रवेश सम्बन्धी योग्यताओं का निश्चय किया जाए।

(आ) परीक्षाओं के अङ्कों के आधार पर प्रवेश की व्यवस्था की जाए।

(इ) विश्वविद्यालयों में प्रवेश परिषद् प्रवेश के सम्बन्ध मे परामर्श देने के लिए स्थापित किये जाएँ।

(ई) स्नातकोत्तर एवं अनुसंधान के प्रवेश के लिए कठोर नियम बनाये जाएँ।

(उ) जनता की माँग होने पर स्नातक स्तर तक अलग स्त्री महाविद्यालय स्थापित किए जाएँ।

९. नये विश्वविद्यालय की स्थापना के सम्बन्ध में सुझाव—(अ) बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली तथा मद्रास में चतुर्थ पंचवर्षीय योजना तक दो-दो विश्वविद्यालय होने चाहिए।

(आ) उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र के पहाड़ी क्षेत्र में भी एक विश्वविद्यालय की स्थापना आवश्यक है।

१० पाठ्यक्रम का पुनर्निर्माण—(अ) स्नातक स्तर पर सामान्य, विशेष एवं आनर्स के पाठ्यक्रम होने चाहिए।

(आ) पी० एच-डी० करने वाले छात्र को दो या तीन वर्ष तक कार्य करना चाहिए।

(इ) पी० एच-डी० की उपाधि के मूल्यांकन के तरीकों में सुधार की आवश्यकता है।

११. विश्वविद्यालयों का अभिशासन—(अ) विश्वविद्यालय की प्रभुता बनाये रखने की ओर ध्यान देना चाहिए। यह प्रभुता विद्यार्थियों के चुनाव, अध्यापकों की तरक्की, पाठ्यक्रम के निर्माण और शोध के लिए समस्याओं के चयन में देखी जाती है।

(आ) विश्वविद्यालयों की प्रभुता को बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि उनकी वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति हो।

(इ) राज्य सरकारों को विश्वविद्यालयों को पर्याप्त धनराशि देनी चाहिए।

(ई) अनुदान आयोग को विश्वविद्यालय के विकास कार्यक्रम को ध्यान में रखकर अनुदान देना चाहिए।

(उ) विश्वविद्यालयों को सरकार तथा जनता द्वारा हिसाब-किताब की जाँच करने से मुक्त रखा जाए।

१२ उपकुलपति का चुनाव तथा कार्यकाल—उपकुलपति का चुनाव विजिटर या कुलपति के हाथ में होना चाहिए। इस पद पर प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री एवं कुशल प्रशासक की नियुक्ति होनी चाहिए। उपकुलपति का कार्यकाल पाँच वर्ष का हो। यह पद सवैतनिक होना चाहिए।

१३ विश्वविद्यालय के विधान में सम्बन्धित सुझाव—(अ) कोर्ट द्वारा विश्वविद्यालय की नीति निर्धारण सम्बन्धी कार्य होना चाहिए। इसमें १०० से अधिक सदस्य नहीं होने चाहिए।

(आ) कार्यकारिणी परिषद् में १५ से २० तक सदस्य हों एवं उपकुलपति इसका अध्यक्ष होना चाहिए।

(इ) पाठ्य-विषयों तथा मानदण्डों के निर्धारण का कार्य एकेडेमिक काउन्सिल के हाथ में होना चाहिए।

(ई) विश्वविद्यालयों में योजना एवं मूल्यांकन के लिए एक बोर्ड बनाया जाय।

१४. सम्बद्ध महाविद्यालय के लिए सुझाव—(अ) महाविद्यालयों को मान्यता राज्य सरकारों से विचार-विमर्श करने के बाद ही विश्वविद्यालय को देनी चाहिए।

(आ) सभी विश्वविद्यालयों में एक-एक सम्बद्ध महाविद्यालय परिषद् होनी चाहिए जो विश्वविद्यालय को यह परामर्श दे कि किस महाविद्यालय को मान्यता दी जाए।

(इ) गैर-सरकारी महाविद्यालयों को विशेष सुविधा, साधन एवं स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए।

उच्च शिक्षा का वर्तमान स्वरूप

उच्च शिक्षा के वर्तमान स्वरूप को समझने के लिए निम्नलिखित विषयों की चर्चा अधिक सहायक सिद्ध होगी—(१) महाविद्यालयों का वर्गीकरण, (२) विश्वविद्यालयों का वर्गीकरण, (३) विश्वविद्यालय और शासन का परस्पर सम्बन्ध, (४) विश्वविद्यालय का संगठन।

महाविद्यालयों का वर्गीकरण

प्रशासन की दृष्टि से महाविद्यालयों का वर्गीकरण निम्नलिखित हो सकता है

महाविद्यालय १९५९-६० के अनुसार[1]

	कला एवं विज्ञान महाविद्यालय	व्यावसायिक महाविद्यालय	विशिष्ट शिक्षा महाविद्यालय
राजकीय	१८०	१६३	६७
स्थानीय संस्थाओं द्वारा संचालित	१	४	—
व्यक्तिगत (i) सहायता प्राप्त	५७५	१०७	६२
(ii) बिना सहायता प्राप्त	११०	४९	७
कुल संख्या	८६६	३२१	१३६

विश्वविद्यालयों का वर्गीकरण

भारत में इस समय तीन प्रकार के विश्वविद्यालय हैं—(१) एकात्मक, (२) संघात्मक, और (३) सम्बद्ध।

एकात्मक विश्वविद्यालय—एकात्मक विश्वविद्यालयों की निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं :

(i) ऐसा विश्वविद्यालय आवासिक तथा शैक्षणिक होता है।

(ii) इसका क्षेत्र किसी भी एक केन्द्र में सीमित रहता है।

(iii) शिक्षण कार्य विश्वविद्यालय के अपने विभागों अथवा महाविद्यालयों द्वारा होता है।

(iv) ऐसा विश्वविद्यालय अपना प्रबन्ध, प्रशासन एवं अध्ययन का परिचालन स्वयं करता है।

संघात्मक विश्वविद्यालय—संघात्मक विश्वविद्यालय की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

(i) विश्वविद्यालय का क्षेत्र एक केन्द्र में ही सीमित रहता है। अतः उसके अधीन महाविद्यालय पास-पास रहते हैं।

(ii) प्रत्येक महाविद्यालय में विश्वविद्यालय स्तर का कार्य होता है।

(iii) विश्वविद्यालय के निर्देशानुसार महाविद्यालय अध्ययन कार्य चलाते हैं।

(iv) विश्वविद्यालय का नियन्त्रण होने के कारण महाविद्यालयों की आन्तरिक स्वतन्त्रता में कमी हो जाती है।

---

1 *Education in India*, 1959-60, Vol II.

सम्बद्ध विश्वविद्यालय—इस प्रकार के विश्वविद्यालय की कुछ विशेषताएँ अधोलिखित हैं :

(i) ये विश्वविद्यालय बाहरी महाविद्यालयों को मान्यता प्रदान करते हैं।

(ii) ऐसे विश्वविद्यालयों का कार्यक्षेत्र दूर-दूर नगरों एवं गाँवों तक विस्तृत होता है।

(iii) पाठ्यक्रम का निर्धारण विश्वविद्यालय द्वारा किया जाता है।

(iv) महाविद्यालयों के सफल होने वाले छात्रों को विश्वविद्यालय डिग्री प्रदान करता है।

(v) विश्वविद्यालय समय-समय पर महाविद्यालयों का निरीक्षण करता है और देखता है कि महाविद्यालय मान्यता प्राप्त नियमों का पालन कहाँ तक कर रहे हैं।

विश्वविद्यालय तथा शासन का प्रबन्ध

भारत में कुछ विश्वविद्यालयों पर सीधे केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण है। ये विश्वविद्यालय बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, दिल्ली, अलीगढ़, तथा विश्व भारती हैं। इनके अतिरिक्त शेष विश्वविद्यालय प्रान्तीय सरकारों के अधीन हैं। प्रान्तीय सरकार इन विश्वविद्यालयों की स्थापना करती हैं तथा इनको वित्तीय सहायता भी प्रदान करती हैं। इसके अतिरिक्त अन्य सभी क्षेत्रों में ये विश्वविद्यालय स्वतन्त्र होते हैं।

विश्वविद्यालय का संगठन

विश्वविद्यालय का संगठन निम्न प्रकार से होता है :

विश्वविद्यालय का प्रधान कुलपति होता है। बहुधा राज्य का राज्यपाल ही कुलपति होता है। जिन प्रान्तों में एक से अधिक विश्वविद्यालय होते हैं वहाँ एक को छोड़कर अन्य विश्वविद्यालयों को कुलपति के निर्वाचन का अधिकार प्राप्त है।

कुलपति के बाद उपकुलपति का स्थान है। यही विश्वविद्यालय का मुख्य शासक होता है। इसकी नियुक्ति सर्वत्र एकसी नहीं है। कहीं ये राज्यपाल द्वारा मनोनीत होते हैं, कहीं इनका निर्वाचन सिण्डीकेट द्वारा और कहीं सीनेट द्वारा होता है। इनका कार्यकाल ३ वर्ष से ५ वर्ष तक होता है। प्रारम्भ में यह पद अवैतनिक था किन्तु बाद में कार्य की जटिलता एवं अधिकता को देखते हुए वैतनिक बनाया गया।

प्रत्येक विश्वविद्यालय में संचालन तथा नियन्त्रण करने वाली समिति को अधिकरण (Court) कहते हैं। इसी को सीनेट के नाम से भी पुकारते हैं। अधिकरण में आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के सदस्य होते हैं। इसके सदस्य पदेन, मनोनीत एवं निर्वाचित होते हैं। अधिकरण द्वारा शैक्षणिक एवं दैनिक कार्यों का अन्तिम निर्णय किया जाता है।

सीनेट के बाद शैक्षिक शिक्षा परिषद् (Academic Council) तथा सिन्डीकेट आते हैं। प्रथम परिषद् का सम्बन्ध केवल शैक्षिक कार्यों से रहता है। सिन्डीकेट को प्रशासन परिषद् (Executive Council) भी कहते हैं। यह विश्वविद्यालय की प्रबन्ध-कारिणी सभा है।

प्रशासनात्मक संस्थाएँ

विश्वविद्यालय से सम्बन्धित दो प्रशासनात्मक संस्थाएँ हैं जिनका वर्णन इस प्रकार है

१ अन्तर-विश्वविद्यालय परिषद्- इस परिषद् की स्थापना हेतु सर्वप्रथम सुझाव कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग ने दिया था। इसकी स्थापना का उद्देश्य भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों के कार्य में समन्वय स्थापित करना था। सन् १९२४ में शिमला में हुए एक सम्मेलन में इसकी स्थापना का निश्चय किया गया। इस परिषद् का प्रधान कार्यालय बंगलौर में रखा गया। परिषद् के कुछ प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं -

(i) भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों के कार्यों में साम्य स्थापित करना।
(ii) अन्तर-विश्वविद्यालय स्तर पर सूचना केन्द्र के रूप में कार्य करना।
(iii) अध्यापकों के आदान प्रदान को सुविधाजनक बनाना।
(iv) भारतीय विश्वविद्यालयों की उपाधियों को विदेशों में मान्यता प्राप्त करने में सहायता करना।
(v) अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलनों में भारतीय प्रतिनिधि भेजना।
(vi) भारत के विश्वविद्यालयों द्वारा दी जाने वाली उपाधियों को परस्पर मान्यता प्रदान करने की व्यवस्था करना।
(vii) विश्वविद्यालय सम्बन्धी समस्याओं पर विचार-विमर्श के लिए सम्मेलन बुलाना।

२. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग—सार्जेण्ट योजना ने एक प्रस्ताव विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की स्थापना के सम्बन्ध में किया। उसी का परिणाम यह हुआ कि सन् १९४५ में एक विश्वविद्यालय अनुदान समिति की नियुक्ति की गई। दुर्भाग्यवश यह समिति केवल ५ वर्ष तक ही कार्य कर सकी। किन्तु राधाकृष्णन आयोग ने पुनः इस आयोग की स्थापना के लिए सिफारिश की। इस सिफारिश के आधार पर सन् १९५३ में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की स्थापना की गयी। के मुख्य कार्य निम्नलिखित हैं :

१. केन्द्रीय सरकार को उच्च शिक्षा तथा विश्वविद्यालयों के मानदण्ड को ऊँचा करने के विषय में परामर्श देना।
२. विश्वविद्यालयो को आर्थिक अनुदान देना।
३ केन्द्रीय सरकार के अनुसार उच्च शिक्षा सम्बन्धी विकास योजनाओं को कार्यान्वित करना।
४. केन्द्रीय या राज्य सरकारो को किसी विश्वविद्यालय की डिग्रियो की मान्यता के विषय मे परामर्श देना।
५. उपलब्ध धनराशि को भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों मे वितरित करना।
६. नये विश्वविद्यालयों की स्थापना के सम्बन्ध मे सुझाव देना।
७ किसी विश्वविद्यालय के विस्तार के सम्बन्ध मे सुझाव देना।

सन् १९५६ में संसद के एक अधिनियम द्वारा इसे एक स्वतन्त्र संस्था का स्थान प्राप्त हो गया है। इस आयोग का संगठन इस प्रकार है—(अ) अध्यक्ष, (आ) मंत्री, (इ) नौ सदस्य। नौ सदस्यो मे विश्वविद्यालयों के उपकुलपति—३, भारत सरकार द्वारा मनोनीत—२, नामजद प्रमुख शिक्षाशास्त्री—४ सदस्य होते हैं।

उच्च शिक्षा की समस्याएँ

उच्च शिक्षा के क्षेत्र मे अनेक समस्याएँ विद्यमान हैं जिनका संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जायेगा·

१ उच्च शिक्षा के प्रसार की समस्या—यह तो आँकड़ो से स्पष्ट ही है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद विश्वविद्यालय की शिक्षा का विस्तार अधिक हुआ है। सन् १९४८ मे भारत मे कला एव विज्ञान कालिजो के छात्रो की संख्या १,७६,१७३ थी। यह १९५७ में बढ़कर ६,२५,४०० हो गई। इसी प्रकार संख्या में वृद्धि व्यावसायिक महाविद्यालयों मे भी हुई। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारतीयो मे उच्च शिक्षा पाने की इच्छा बलवती हुई है।

शिक्षा विकास की एक महत्त्वपूर्ण बात यह रही है कि स्वतन्त्रता के बाद व्यावसायिक शिक्षा का विस्तार अधिक हुआ है। इसके प्रसार के पीछे तीन पंचवर्षीय योजनाएँ रही हैं जिनमें देश के आर्थिक विकास के कार्यक्रम की योजना थी। इसके साथ ही साहित्यिक एवं वाणिज्य शिक्षा का भी प्रसार हुआ। कुछ भी हो, यह तो निश्चित ही है कि इस प्रसार से विश्वविद्यालय शिक्षा का स्तर गिरा है। निम्न तालिका से प्रथम तीन योजनाओं में छात्रो की संख्या मे वृद्धि स्पष्ट होती है :

तालिका के अध्ययन से स्पष्ट है कि कला, वाणिज्य तथा विज्ञान के स्नातक स्तर पर १९५०-५१ में १९१,००० छात्रों की संख्या थी जो १९६५-६६ मे बढ़कर ७५६,००० हो गई। यह वृद्धि ९.६ प्रतिशत प्रति वर्ष की गति से हुई।

उच्च शिक्षा में छात्रों की सख्या

विषय	१९५०-५१	१९५५-५६	१९६०-६१	१९६५-६६
कला, विज्ञान और वाणिज्य मे स्नातक स्तर पर	१९१	३२२	४३४	७५६
कला, विज्ञान एव अनुसधान मे स्नातकोत्तर स्तर पर	१८	२८	५१	८६
व्यावसायिक स्नातक	५०	८२	१४७	२२७
स्नातकोत्तर	५४	८६	१६०	२४६

स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में सन् १९५०-५१ मे सख्या १८००० से बढ़कर १९६५-६६ में ८६,००० हो गई। यह वृद्धि ११ प्रतिशत वार्षिक हुई।

यदि भविष्य में होने वाली छात्र सख्या की वृद्धि को देखें तो हमको ISI पत्र द्वारा की गई भविष्यवाणी का अवलोकन करना होगा जिसमे गणना द्वारा बताया गया है कि १९७५ तथा १९८५ मे कितनी वृद्धि सम्भव है। यह निम्न तालिका से स्पष्ट है

१९७५-७६ और १९८५-८६ मे सम्भावित छात्र सख्या की उच्च शिक्षा मे वृद्धि

शिक्षा का प्रकार	सम्भावित प्रवेश (हजारो मे) १९७५-७६	१९८५-८६
१. स्नातक (सामान्य)	१,३५०	२,१५२
२. स्नातक (व्यावसायिक)	४८१	९७२
३. कानून शिक्षा स्नातक	५०	७६
४. स्नातकोत्तर	३२१	९६०
योग	२,२०२	४,१६०

इस प्रकार विश्वविद्यालयों मे बढ़ती जा रही भीड़ के अनुसार महाविद्यालयों एव विश्वविद्यालयों में स्थान विस्तार एव शिक्षा साधनो मे वृद्धि नही हुई है। आज हर नगर के विद्यालयो एव विश्वविद्यालयो मे छात्रों को प्रवेश पाना कठिन हो गया है।

इस समस्या के समाधान के लिए आवश्यक है कि आवश्यकतानुसार नवीन विश्वविद्यालयो एव महाविद्यालयो की स्थापना की जाए। इसके साथ ही महाविद्यालयों की प्रवेश-क्षमता को बढ़ाया जाय। विश्वविद्यालयो की स्थापना राजनैतिक दृष्टि से नही होनी चाहिए। वह ऐसी जगह स्थापित हो जहाँ अनेक स्कूल तथा विभिन्न विषयो के महाविद्यालय हों। नवीन विश्वविद्यालयो की स्थापना के सम्बन्ध में कोठारी आयोग ने उपयोगी सुझाव दिये हैं।

२. छात्रों के चयन की समस्या—स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत मे विश्वविद्यालीय शिक्षा के योग्य एव अयोग्य सभी प्रकार के छात्र प्रवेश चाहते हैं। इसके दो दुष्परिणाम हुए हैं—एक तो विश्वविद्यालयो एव महाविद्यालयों मे स्थान का अभाव तथा दूसरे उच्च शिक्षा के स्तर में गिरावट। अत' यह माँग की जाती है कि विश्वविद्यालयो मे केवल योग्य विद्यार्थियो को ही प्रवेश दिया जाए। इस विषय में श्री चिन्तामणि देशमुख ने भी कहा था कि "अब वह समय आ गया है जबकि हमे निर्णय करना है कि विश्वविद्यालयीय शिक्षा केवल योग्य छात्रो को दी जाए।" यदि वर्तमान गति से अगले २० वर्ष मे भी उच्च शिक्षा के विस्तार की कल्पना की जाय तो १९८५-८६ मे उच्च शिक्षा प्राप्त करने वालों की सख्या ७-८ लाख के लगभग होगी। यह सख्या देश के विकास के लिए आवश्यक मानव-शक्ति की दोगुनी होगी। हमारे देश की अर्थ-व्यवस्था मे यह सम्भव नहीं है कि उच्च शिक्षा के प्रसार के लिए इतने धन की व्यवस्था की जा सके और न यह सम्भव है कि इस गति से निकलने वाले समस्त स्नातको को उचित नियुक्ति मिल सके। अत यह आवश्यक है कि उच्च शिक्षा मे चुने हुए प्रार्थियो को प्रवेश दिया जाए। योग्य विद्यार्थियो को प्रवेश देने पर शिक्षा के स्तर का ऊँचा उठना स्वाभाविक है। कोठारी आयोग भी सर्वेक्षण के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि अधिकाश जनमत अब इस विचार की पुष्टि करता है कि सभी प्रकार के छात्रो को उच्च शिक्षा मे प्रवेश न दिया जाए।

उच्च शिक्षा मे चुने हुए छात्रो को प्रवेश देने के लिए तीन तत्त्वो पर ध्यान देने के लिए कोठारी आयोग ने सुझाव दिया है :

१. एक सस्था में अध्यापको एव अन्य सुविधाओं के अनुसार ही रिक्त स्थान निश्चित किये जायें।
२. विश्वविद्यालय द्वारा प्रवेश के लिए आवश्यक योग्यताएँ निश्चित की जायें।
३. प्रवेश के इच्छुक एव उपयुक्त छात्रो मे से सर्वोतम का चयन सम्बन्धित सस्था द्वारा किया जाए।

इसके साथ ही प्रत्येक विश्वविद्यालय को सम्बन्धित महाविद्यालयो के प्रत्येक विभाग मे प्रवेश के स्थान सुविधाओ को ध्यान मे रखकर निश्चित कर देने चाहिए। इसके लिए विश्वविद्यालयों को कुछ आदर्श निश्चित करने चाहिए जो स्थान निश्चित करते समय मार्ग-दर्शन करें। इनमे से कुछ ये हैं—अध्यापक-छात्र का अनुपात, स्व-अध्ययन के लिए उपलब्ध सुविधाएँ, पुस्तकालय पुस्तक, पुस्तकालय की क्षमता आदि।

चयन की विधि—माध्यमिक स्तर पर शिक्षा का स्तर ऊँचा उठने पर महाविद्यालयों मे प्रवेश की आवश्यक शर्तों को पूरा करने वाले छात्रों की सख्या उनमे निश्चित स्थानों से कहीं अधिक होगी। अतः विद्यालयों के सामने उनमे से छाँटने की समस्या भी सामने आयेगी। इसके लिए प्रत्येक विद्यालय को अपनी परम्परा एवं स्थानीय दशाओं के अनुसार उपयुक्त प्रार्थियों मे से उत्तम छात्रों का चयन करने की अपनी विधि का निर्माण करना चाहिए। कुछ विधियाँ चयन के लिए निम्नलिखित हो सकती हैं

परीक्षाओं के अंक—वैसे परीक्षा के अंकों को आजकल प्रवेश के लिए एक प्रमाण माना जाता है किन्तु शोध द्वारा पता चला है कि विद्यालय के अंक एव महाविद्यालयों मे सफलता के मध्य सह-सम्बन्ध अधिक सार्थक नहीं आता है। इन अंकों की विश्वसनीयता कम होती है। किन्तु जब तक अन्य आधार नहीं बनता तब तक अंकों के साथ-साथ प्रवेश के समय कुछ अन्य बिन्दुओं की ओर ध्यान देना चाहिए।

परीक्षा अंकों के साथ, विद्यालय के आलेख, छात्र की उन क्षेत्रों मे कुशलता जिनकी परीक्षा नहीं हुई है, आदि को चयन का आधार बनाया जा सकता है। प्रवेश मे पूर्व साक्षात्कार एव अभिरुचि परीक्षा की भी सहायता ली जा सकती है।

कोठारी आयोग ने एक सुझाव यह भी दिया कि प्रत्येक विश्वविद्यालय में प्रवेश परिषद् का गठन किया जाए। इसमे विश्वविद्यालय के अध्यापक-सम्बद्ध महाविद्यालयों के अध्यापक एव प्रशासक वर्ग के प्रतिनिधि हों। एक सुझाव यह भी था कि अनुदान आयोग को एक केन्द्रीय परीक्षण सगठन की स्थापना करनी चाहिए जो चयन के लिए आवश्यक परीक्षाओं का निर्माण करे।

२. शिक्षा के स्तर की समस्या—आजकल बहुधा लोग यह कहते हुए पाये जाते हैं कि विश्वविद्यालय की शिक्षा का मानदण्ड नीचा है। इसका मूल कारण अध्यापन स्तर का धीरे-धीरे नीचे गिरते जाना है। शैक्षणिक मानदण्ड की गिरावट के मुख्य कारण योग्य अध्यापकों का अभाव, दोषपूर्ण शिक्षण-पद्धतियाँ, अध्यापक एव छात्रों के मध्य सम्पर्क की कमी हैं।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् जिस गति से विश्वविद्यालय एव महाविद्यालयों की सख्या मे वृद्धि हुई है उस गति के साथ योग्य अध्यापकों का पर्याप्त सख्या मे उपलब्ध होना एक समस्या हो गई है। अन्य उच्च वेतन वाले पद योग्य व्यक्तियों के आकर्षण के केन्द्र बने रहते हैं। परिणाम यह होता है कि होनहार नवयुवक अध्यापक बनना पसन्द नहीं करते हैं। अतः यह आवश्यक है कि महाविद्यालयों एव विश्वविद्यालयों के अध्यापकों के लिए आकर्षक वेतन रखे जायें। इसके साथ ही नये व्यक्तियों को अध्यापक न बनाया जाए। इसके लिए विश्वविद्यालय मे कुछ शोध शिष्य वृत्ति के पद हों। इनमे से कुछ विद्यार्थियों को अध्यापक के पद पर नियुक्त किया जाए।

नये अध्यापकों को शिक्षण-पद्धति का थोड़ा ज्ञान अवश्य मिलना चाहिए। इसके लिए अल्प अवधि का पाठ्यक्रम उच्च शिक्षा अध्यापन की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर संगठित किया जाय। इसके साथ ही अध्यापकों को प्रति सप्ताह २० से कम घण्टे पढ़ाने का भार दिया जाये। उनको बैठने, शोधकार्य करने की सुविधा की ओर भी ध्यान देना चाहिए। छात्रों एवं अध्यापकों के मध्य निकट सम्पर्क स्थापित होने के लिए आवश्यक है कि एक कक्षा वर्ग में ५० से अधिक छात्र न हों।

शिक्षा के स्तर की गिरावट का एक कारण खिचड़ी भाषा का माध्यम होना है। आजकल अधिकांश अध्यापक अंग्रेजी एवं क्षेत्रीय भाषा का मिश्रित रूप अपनाते हैं। परिणाम यह होता है कि छात्र का न तो एक भाषा पर अधिकार ही हो पाता है और न मौलिक चिंतन का प्रोत्साहन ही मिलता है। अत: अब तो अध्यापकों को भी क्षेत्रीय भाषा पर इतना अधिकार करना चाहिए कि वे उसके माध्यम से अपने विचार व्यक्त कर सकें।

४. अनुशासन एवं सामाजिक समायोजन—विद्यार्थियों में बढ़ रही अनुशासन-हीनता आजकल माता-पिता, राजनैतिक नेता एवं शिक्षाशास्त्रियों के लिए चिन्ता का विषय बनी हुई है। इसके कारणों एवं उपचार के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा-पढ़ा गया है किन्तु यह बीमारी कम होने की अपेक्षा बढ़ती ही जाती है। छात्र असन्तोष के प्रमुख कारण भविष्य की अनिश्चितता, पाठ्य सहगामी कार्यक्रमों का असन्तोषजनक रूप, अध्ययन एवं अध्यापन की अपर्याप्त सुविधाएँ, अध्यापक एवं विद्यार्थियों में सम्पर्क का अभाव, अध्यापकों में कुशलता का अभाव, संस्था के प्रधान में दृढ़ता, कुशलता एवं कल्पना-शक्ति की कमी, विश्वविद्यालयों के अध्यापकों में दलबन्दी, राजनैतिक दलों का दखल आदि हैं। इसके साथ ही प्रौढ़ों में अनुशासन का अभाव एवं नागरिक उत्तरदायित्व के प्रति चेतना की कमी भी छात्रों को प्रभावित करती है।

वर्तमान राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में यह आवश्यक है कि नवयुवक एवं नवयुवतियाँ सभ्य व्यवहार करना सीखें। वैसे छात्र असन्तोष को दूर करने का उत्तरदायित्व केवल विद्यालयों का ही नहीं है। किन्तु फिर भी शिक्षा संस्थाओं को कुछ-न-कुछ करना चाहिए। इसके लिए उन शैक्षिक अभावों को दूर करना आवश्यक है जो इस असन्तोष को बढ़ावा देते हैं, तथा एक परामर्श एवं प्रशासकीय सेवा का गठन किया जाए जो ऐसी घटनाओं को होने से रोक सके। इस सेवा संगठन में अध्यापक, छात्र एवं उप-कुलपति को सदस्य बनाया जाए।

विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालयों में छात्र सेवाओं का गठन किया जाए। इन सेवाओं में स्वास्थ्य सेवा, निर्देशन एवं परामर्श सेवा, छात्र क्रियाएँ एवं छात्र संघ प्रमुख हैं। ये ही सेवाएँ छात्रों में सामाजिक समायोजन में सहायक हो सकती हैं।

विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालयों की सूची[1]

स्थापना वर्ष	विश्वविद्यालय		महाविद्यालयों की संख्या	स्थापना वर्ष	विश्वविद्यालय		महाविद्यालयों की संख्या
१८५७	कलकत्ता	विश्वविद्यालय	१६८	१९५५	एस० बी०	विद्यापीठ	१३
	बम्बई	"	५८		जादवपुर	"	—
	मद्रास	"	१५७	१९५६	कुरुक्षेत्र	"	४
१८८७	इलाहाबाद	"	६	१९५७	विक्रम	"	३९
१९१६	बनारस हिन्दू	"	१८		गोरखपुर	"	४१
	मैसूर	"	६३		जबलपुर	"	२१
१९१७	पटना	"	१०	१९५८	वारर्णशेय	"	७५
१९१८	उस्मानिया	"	६१		मराठवाडा	"	२८
१९२१	अलीगढ मुस्लिम	"	४	१९६०	प० प्र० कृषि	"	४
	लखनऊ	"	१८		वर्धवान	"	४३
१९२२	दिल्ली	"	४१	१९६०	कल्यानी	"	—
१९२३	नागपुर	"	८४		भागलपुर	"	४४
१९२६	आन्ध्र	"	६१		राँची	"	३५
१९२७	आगरा	"	१४३	१९६१	दरभगा सस्कृत	"	२८
१९२९	अन्नामलाई	"	—	१९६२	पंजाब कृषि	"	५
१९३७	केरल	"	१४०		पजाबी	"	९
१९४३	उत्कल	"	७२		उडीसा कृषि	"	३
१९४६	सागर	"	६७		उ० बगाल	"	१९
१९४७	राजस्थान	"	७५		रवीन्द्र भारती	"	२०
	पजाब	"	१४९		मगध	"	३४
१९४८	गोहाटी	"	७५		जोधपुर	"	२
	जम्मू और काश्मीर	"	३४		उदयपुर	"	११
१९४९	रुडकी	"	—		शिवाजी	"	५१
	पूना	"	४६	१९६४	इन्दौर	"	१७
	कर्नाटक	"	५३		जीवाजी	"	३०
	एम० एस० पूना	"	६		कृषि विज्ञान हेब्बल	"	३
१९५०	गुजरात	"	१२५		बगलोर	"	६
१९५१	विश्व भारती	"	८		जवाहरलाल नेहरू कृषि	"	८
१९५२	बिहार	"	४४	१९६५	डिब्रूगढ	"	३४
१९५४	वेंकटेश्वर	"	२८	१९६६	मदुराई	"	—

१. कोठारी आयोग, पृ० २९८ ।

अध्याय ३

स्त्री-शिक्षा

भारतीय संस्कृति और साहित्य इस बात के प्रमाण हैं कि यहाँ आदि काल से समाज मे नारी को सम्माननीय स्थान प्राप्त होता रहा है। किन्तु भारत माँ के स्थल पर जब से क्रूर विदेशियो के चरण पड़े, यहाँ के लोगों मे स्त्री-शिक्षा, उसकी स्वतन्त्रता आदि के बारे मे दृष्टिकोण बदलता चला गया। सन् १९४७ में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से लोगों की रूढ़िवादी सामाजिक मान्यताएँ धीरे-धीरे नष्ट होती जा रही हैं और आज देश में स्त्री-शिक्षा की प्रगति के प्रति भारतवासियो की रुचि बढ़ती जा रही है। इसकी पुष्टि के लिए भारतीय संविधान की यह धारा ही पर्याप्त होगी जिसमे स्त्रियो को पुरुषो के समान ही अधिकार दिये हैं और यह स्पष्ट किया है कि शिक्षा के क्षेत्र मे स्त्री और पुरुष मे कोई विभेद नहीं किया जायेगा। भारतीय संविधान के अनुच्छेद १६ के अनुसार "राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, वंश, लिंग, जाति, जन्म-स्थान अथवा इनमे से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा।"[1] इस परिवर्तित दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति आज राष्ट्रीय जीवन मे स्त्री-शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार कर रहे हैं। किन्तु खेद का विषय यह है कि स्त्री-शिक्षा के प्रति जन चेतना होते हुए भी यह तीव्र गति से अपने पथ पर अग्रसर नहीं हो रही है। इसके पीछे निहित कारणो का पता लगाने के लिए आवश्यक है कि स्त्री-शिक्षा के इतिहास का सिंहावलोकन किया जाय।

ऐतिहासिक रूपरेखा

हिन्दू युग—प्राचीन भारत मे स्त्री-शिक्षा की दशा से सम्बन्धित पर्याप्त साधन

"The state shall not discriminate against any citizen on grounds only of religion, race, caste, sex, place of birth or any of them." —Article 15 of the Constitution of Free India

उपलब्ध न होने से यह पता लगाना कठिन है कि उस समय में स्त्री-शिक्षा का प्रसार कैसा था, स्त्री-शिक्षा के प्रति जन-साधारण की क्या विचारधारा थी ? वैसे उस युग में भी मैत्रेयी और गार्गी जैसी विदुषी पैदा हुई किन्तु इनके आधार पर ही प्राचीन भारत में स्त्री-शिक्षा के प्रसार के बारे में अनुमान लगाना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता।

बौद्ध युग—इस युग में स्त्री-शिक्षा के प्रति रुचि प्रकट करके इसको संगठित करने का प्रयास किया गया है। इस युग के इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उस समय बौद्ध विहारों में भिक्षु और भिक्षुणियाँ रहा करते थे। इनकी शिक्षा की सन्तोषजनक व्यवस्था थी। इनसे प्रेरणा पाकर हिन्दुओं ने भी स्त्री-शिक्षा के संगठन के लिए प्रयास किये। किन्तु एल० एन० मुकर्जी के अनुसार हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान के समय स्त्री-शिक्षा के प्रयासों को एक बड़ा धक्का लगा क्योंकि इसके प्रधान श्री शंकराचार्य स्त्री शिक्षा के कट्टर विरोधी थे।

मुस्लिम युग—मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना से भारत में चल रहे स्त्री-शिक्षा सम्बन्धी प्रयत्नों को अत्यधिक ठेस पहुँची। इसके दो प्रमुख कारण थे जो वर्तमान युग में सामाजिक कुप्रथा के रूप में मान्य हैं—प्रथम पर्दा प्रथा और द्वितीय बाल-विवाह। मुस्लिम साम्राज्य में सामाजिक सुरक्षा की दृष्टि से उपर्युक्त दोनों प्रथाओं का श्रीगणेश हुआ। उपर्युक्त प्रथाएँ हिन्दू एवं मुस्लिम दोनों वर्गों में प्रचलित थीं। इन प्रथाओं का कुप्रभाव यह था कि बालिकाओं की शिक्षा प्राथमिक स्तर तक ही सीमित रही। केवल उच्च वर्ग की बालिकाएँ प्राथमिक स्तर तक की शिक्षा मकतबों में जाकर प्राप्त करती थीं।

आधुनिक युग

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन काल में—कम्पनी के शासन काल में बालिकाओं की शिक्षा के प्रति उदासीनता रही। इसका कारण यह था कि कम्पनी को अपने शासकीय कार्यों के लिए शिक्षित युवकों की आवश्यकता थी, न कि शिक्षित युवतियों की। उस समय स्त्री-शिक्षा की दशा का चित्रण करते हुए एडम्स महोदय प्रतिवेदन में लिखते हैं कि "समस्त स्थापित शिक्षा संस्थाएँ केवल पुरुषों के लाभार्थ ही हैं और सम्पूर्ण महिला जगत अज्ञानता रूपी अन्धकार में विचरण करता है।" परिणामस्वरूप, इस काल में बालिकाओं की शिक्षा कुछ इने-गिने ऊँचे वर्ग के परिवार तक ही सीमित रही।

इस युग में मिशनरियों द्वारा सर्वप्रथम स्त्री-शिक्षा का आन्दोलन प्रारम्भ किया गया। टेम्डिहेयर ने सन् १८२० में इस प्रकार की एक पाठशाला सर्वप्रथम कलकत्ता में स्थापित की। सबसे अधिक प्रेरणाप्रद कार्य बंगाल की शिक्षा परिषद् के प्रधान जे० ई० डी० बेथ्यून का रहा जिन्होंने १८४६ में अपनी सम्पूर्ण आय से एक बालिका विद्यालय की स्थापना की। सन् १८५४ तक बालिकाओं के लिए मद्रास में १५६, बम्बई में ५६ और बंगाल में १८८ विद्यालय कार्य करने लगे थे।

सन् १८५८ से १९०१-०२ तक

कम्पनी का शासन समाप्त होने पर भारत का शासन-सूत्र ब्रिटिश सरकार ने सम्हाला। सन् १८५४ के वुड घोषणा-पत्र मे भी स्त्री-शिक्षा के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए इसके प्रसार के लिए सुझाव दिये गये। ब्रिटिश शासन ने इस घोषणा-पत्र के आदेश को स्वीकार करते हुए स्त्रियो की शिक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया। सरकार द्वारा अनेक स्थानो पर बालिका विद्यालयो की स्थापना की गई। सन् १८७० मे इगलैंड की सुधारक मेरी कारपेन्टर के भारत आगमन पर उनके प्रयत्नो से सर्वप्रथम महिला शिक्षक-प्रशिक्षण सस्थान की स्थापना हुई।

सन् १८८२ मे शिक्षा आयोग का गठन किया गया जिसके प्रधान विलियम हटर थे। इस आयोग ने तत्कालीन स्त्री-शिक्षा की दयनीय दशा को व्यक्त करते हुए लिखा है : "यह स्पष्ट है कि स्त्री-शिक्षा अभी तक अत्यधिक पिछडी हुई दशा मे है।" इस बात की आवश्यकता है कि हर प्रकार से इसकी प्रगति के लिए प्रयास किये जायें।[1] आयोग ने स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध मे निम्नलिखित सुझाव दिये—(१) १२ वर्ष की आयु से ऊपर की बालिकाओ के शिक्षा-शुल्क मे कमी की जाय और प्रोत्साहन हेतु कुछ शिक्षा-वृत्तियाँ दी जायें। (२) अनुदान देने की शर्तों मे बालिका विद्यालयो को कुछ ढील दी जाय। (३) बालिका विद्यालयो का निरीक्षण करने के लिए महिला निरीक्षिकाओ की नियुक्ति की जाय। (४) विधवा महिलाओ को प्राथमिक विद्यालयो मे शिक्षिका बनने के लिए प्रोत्साहित किया जाय।

शिक्षा के प्रति ब्रिटिश सरकार की उदासीन नीति के फलस्वरूप आयोग की इन सिफारिशों को कार्यरूप मे परिणत करने के लिए कोई भी प्रयत्न नही किये गये। सन् १९०१-०२ मे बालिकाओ के लिए १२ कालेज, ४६७ माध्यमिक विद्यालय तथा ५६२८ प्राथमिक विद्यालय थे। प्राथमिक विद्यालयो मे अध्ययन करने वाली छात्राओं की सख्या लगभग चार लाख थी। इसके अतिरिक्त ४५ प्रशिक्षण सस्थाएँ थी जिनमें १२५३ महिलाएँ अध्यापन-प्रशिक्षण प्राप्त कर रही थी।

१९०२ से १९२१ तक

धीरे-धीरे स्त्री-शिक्षा के प्रति लोगों की उदासीनता समाप्त होने लगी। इसी काल मे लोगों मे राष्ट्रीय जागरण की भावना बलवती हुई। इसके परिणामस्वरूप भारतीय जन बालिकाओं की शिक्षा पर विशेष ध्यान देने लगे। सरकार ने भी इस ओर ध्यान देना प्रारम्भ किया। इसी युग मे लार्ड कर्जन ने भी स्त्री-शिक्षा के मा को प्रशस्त बनाने का प्रयास किया। १९१३ के शिक्षा-नीति सम्बन्धी सरकारी प्रस्ता

1 "It will have seen that female education is still in an extreme backward condition and that it needs to be fostered in ev legitimate way."
—Indian Education Commissi

के सुझावों के परिणामस्वरूप स्त्री-शिक्षा की प्रगति हुई। इस काल में कुछ महिला विद्यालयों की स्थापना के भी प्रयत्न विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा किये गये। सन् १९०४ में श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने 'सेंट्रल हिन्दू गर्ल्स स्कूल' की स्थापना वाराणसी में की। इसी प्रकार महर्षि अन्ना साहब कार्वे ने सन् १९१६ में पूना में एम० एन० डी० टी० वीमेन्स विश्वविद्यालय की स्थापना कर स्त्री-शिक्षा के प्रसार में अकल्पनीय सहयोग दिया। व्यावसायिक शिक्षा की प्रगति के लिए सन् १९१६ में दिल्ली में 'लेडी हार्डिंग्ज मेडीकल कालेज' की भी स्थापना की गई।

सन् १९२२ से १९३६-३७ तक

इस अवधि में स्त्री-शिक्षा की बहुमुखी प्रगति हुई। इस प्रगति के पीछे देश के कर्मठ नेताओं, समाज सेवकों और स्वयं महिलाओं के प्रयत्न थे। भारत में सन् १९२६ में 'अखिल भारतीय स्त्री संघ' का गठन किया गया। इस संघ ने भी सरकार से माँग की कि महिलाओं को भी पुरुषों के समान विविध प्रकार की शिक्षा देने की व्यवस्था की जाय। इस अवधि की सर्वप्रमुख विशेषता सह-शिक्षा थी। इस प्रकार की शिक्षा का विरोध करने वालों की संख्या निरन्तर घटती जा रही थी। सन् १९३७ में सभी प्रकार के बालिका विद्यालयों की संख्या लगभग ३३,९८९ थी।

सन् १९३७ से १९४६-४७ तक

इस अवधि में स्त्रियों के लिए उच्च शिक्षा की अत्यधिक प्रगति हुई। इस प्रगति के कई कारण थे। एक तो राष्ट्रीय जागृति अधिक हुई और दूसरे महात्मा गांधी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ-साथ सामाजिक कार्यों पर भी जोर दे रहे थे। इन सामाजिक कार्यों में से एक कार्य स्त्रियों की शिक्षा भी थी। इस काल में राष्ट्रीय भावना का संचार पुरुषों के साथ-साथ महिलाओं एवं बालकों में भी हुआ। वे भी स्वाधीनता संग्राम में यातनाओं की परवाह किये बिना कूद पड़ीं। उनमें नवीन चेतना का संचार हुआ। अनेक महिलाएँ कार्यालयों में कार्य करने लगीं। आर्थिक स्वतन्त्रता के उपभोग की लालसा ने भी स्त्रियों को शिक्षा के प्रति आकृष्ट किया। निम्न तालिका से स्त्री-शिक्षा की प्रगति स्पष्ट होती है :

शिक्षा प्राप्त करने वाली बालिकाओं की संख्या

स्तर	१९०१-०२	१९२१-२२	१९३१-३२	१९४६-४७
प्राथमिक	३,४४,७१२	११,८६,२२४	१९,४४,०७०	२७,१५,२३०
माध्यमिक	९०७५	२६,१६३	१,९६,१७०	४,४२,५०३
कालिज	१६६	९०५	२,६८५	२०,३०४
व्यावसायिक	२,४७५	१० ८३१	१७,५६८	५८,९९३

इस काल में सह-शिक्षा की दिशा मे भी महत्वपूर्ण प्रगति हुई। कालिज स्तर पर १९४६-४७ मे लगभग ५० प्रतिशत बालिकाएँ सह-शिक्षण वाली संस्थाओं मे अध्ययन करती थी। यह प्रतिशत प्राथमिक स्तर पर और भी अधिक था। किन्तु माध्यमिक स्तर पर यह प्रतिशत कम था।

सन् १९४७ से १९५९-६० तक

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद स्त्री-शिक्षा की प्रगति की ओर सरकार ने विशेष ध्यान दिया। पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत शिक्षा के विस्तार के लिए विशेष लक्ष्य रखे गये। आँकडे देखने से ज्ञात होता है कि बालको की अपेक्षा बालिकाओ की शिक्षा पिछडी हुई दशा मे है। शिक्षा ग्रहण करने वाले बालको एव बालिकाओ का अनुपात क्रमश इस प्रकार है :

प्राथमिक स्तर ५ २, माध्यमिक स्तर ४ १, कालिज स्तर ६ : १, व्यावसायिक शिक्षा का स्तर ७ . १।

सन् १९६० से १९७० तक

शिक्षा के महत्व को ध्यान मे रखते हुए भारत सरकार ने समय-समय शिक्षा आयोगो एव समितियो का गठन किया। इसी प्रकार के एक आयोग का सन् १९६४ मे हुआ जिसके अध्यक्ष श्री कोठारी थे। इस आयोग ने शिक्षा मे सुधार लाने के लिए शिक्षा के विविध पहलुओ पर उपयोगी सुझाव प्रस्तुत किये। स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध मे भी इस आयोग ने उचित सुझाव देकर इसके प्रसार मे अत्यधिक सहयोग दिया। स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध मे प्रस्तुत किये गये सुझाव इस प्रकार हैं :

१ आगे आने वाले कुछ वर्षों मे स्त्री-शिक्षा को एक प्रमुख कार्यक्रम का रूप मिलना चाहिए ताकि बालक और बालिकाओ की शिक्षा के मध्य स्थित अन्तर को शीघ्र समाप्त किया जा सके।

२ इस प्रयोजन हेतु विशिष्ट कार्यक्रमो की रचना की जाय और उनके लिए आवश्यक धनराशि प्राथमिकता के आधार पर उपलब्ध करवाई जाये।

३ केन्द्रीय एव प्रान्तीय स्तर पर विशिष्ट प्रशासकीय सेवा का गठन स्त्री-शिक्षा का निरीक्षण करने के लिए किया जाय।

स्त्री-शिक्षा की राष्ट्रीय समिति

स्त्री-शिक्षा की समस्याओ पर विचार करने के लिए मई, १९५८ मे भार सरकार ने स्त्री-शिक्षा की राष्ट्रीय समिति नियुक्त की। इसकी अध्यक्ष श्रीम दुर्गाबाई देशमुख थी। इस समिति ने बालिकाओं की शिक्षा के लिए निम्नलि महत्वपूर्ण सुझाव दिये :

१. *केन्द्रीय एव प्रत्येक राज्य सरकार मे एक प्रशासन मण्डल की आवश्यकता* है जो स्त्री-शिक्षा से सम्बन्धित विभिन्न मामलो की देखभाल करे। इस सुझाव के कारण केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय के अन्तर्गत राष्ट्रीय स्त्री-शिक्षा परिषद् की स्थापना सन् १६५६ मे हुई।

२ प्रत्येक राज्य में स्त्री-शिक्षा की देखभाल के लिए एक सह-संचालक की *नियुक्ति की जाय।*

३. विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को स्त्री-शिक्षा के लिए पृथक से अनुदान देने की व्यवस्था करनी चाहिए।

४ सह-शिक्षण वाली पाठशालाओ में जहाँ शिक्षिकाओं की नियुक्ति सम्भव न हो, शाला माताओ की नियुक्ति की जाय।

५ निर्धन माता-पिता की बालिकाओ की शिक्षा नि.शुल्क होनी चाहिए।

६. महिला शिक्षको के प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था होनी चाहिए।

७. उच्च शिक्षा मे स्त्रियों के लिए अधिक स्थानो का प्रबन्ध हो।

८. *माध्यमिक स्तर पर बालिकाओ के लिए अधिक* ऐच्छिक विषयों की सुविधा हो।

विद्यालयों में बालिकाओ का प्रवेश

विद्यालयो में प्रविष्ट बालिकाओ के आँकड़ों का अध्ययन करना *आवश्यक है* क्योंकि इससे कई लाभ हैं—एक तो हमको यह ज्ञात होगा कि भारत के [illegible] मे प्रवेश की सख्या समान है या उसमें अधिक असमानता है, दूसरे [illegible] होगा कि बालक और बालिकाओ की संख्या में क्या अन्तर है तथा तीसरा [illegible] कि ग्रामीण एव नगरीय क्षेत्र के बालक-बालिकाओं की सख्या में [illegible] ज्ञात होगा।

आँकड़ो का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि भारत [illegible] मे विद्यालय मे प्रविष्ट बालिकाओं की सख्या मे अधिक अन्तर है। [illegible] अधिक प्रगतिशील राज्य केरल है। यहाँ पर ६-११ की [illegible] बालिकाओ की ६६.७ प्रतिशत बालिकाएँ [illegible]

विपरीत [illegible]

६-११ आयु वर्ग की प्रवेश लिये हुए बालिकाएँ[1]

राज्य	I–V कक्षाओं में प्रवेश (हजारों में)		6–11 आयु वर्ग की बालिकाओं का प्रतिशत	
	१९६० ६१	१९६५ ६६	१९६०-६१	१९६५-६६
आन्ध्र प्रदेश	१०२१	१८८०	४६ २	७२७
आसाम	३८५	६०६	४८ ००	६६ ६
बिहार	६२७	१८००	२६ ००	५४७
गुजरात	२३६	११०१	५७ ०३	७२ ६
जम्मू-काश्मीर	०३७	०७८	२१ ०	३४२
केरल	८४५	१२३३	६६ ७	६६.७
मध्य प्रदेश	३६८	१०००	१६ ३	४३ ८
मद्रास	६४२	२२००	५८ ०	६३.१
महाराष्ट्र	६४३	२१७०	५६ ६	७५.३
मैसूर	४६८	१५३६	५० १	८८ १
उडीसा	४२७	५५०	२३ ६	४४ ३
पंजाब	३०६	७८६	३६ ३	५५.२
राजस्थान	.१५५	७१०	१५ ३	४८.४
उत्तर प्रदेश	७८८	२१५०	१६ ६	४१ ६
प० बंगाल	६४६	१३५२	४८४	६०.७

सन् १९६४-६५ मे द्वितीय अखिल भारतीय सर्वेक्षण शिक्षा की प्रगति के सम्बन्ध मे किया गया था। उस सर्वेक्षण के द्वारा सगृहीत आँकडो का विश्लेषण करने पर प्राप्त परिणाम निम्न प्रकार हैं :

प्राथमिक शिक्षा

प्राथमिक विद्यालयो मे अध्ययन करने वाले छात्रो की सख्या ४,७२,४०,५९९ थी। इसमे से ३,०१,४०,४८२ छात्र और १,७१,००,११७ छात्राएँ थी। प्राथमिक स्तर पर अध्ययन करने वाली छात्राओ का प्रतिशत ३६ २० था।

1. *The Indian Year Book of Education*, 1964, p. 159.

ग्रामीण तथा नगरीय क्षेत्र मे अध्ययन करने वाले छात्र एव छात्राओ के प्रतिशत मे अधिक अन्तर था। ग्रामीण क्षेत्र के प्राथमिक विद्यालयो मे ६५ ७४ प्रतिशत छात्र और ३४ २६ प्रतिशन छात्राएँ थी तथा नगरीय क्षेत्र के प्राथमिक विद्यालयो मे अध्ययन करने वाले छात्रो का प्रतिशत ५६.७० था और बालिकाओ का प्रतिशत ४३.३० था जो निम्न तालिका से स्पष्ट है :

प्राथमिक स्तर पर छात्र-छात्राओं का प्रतिशत

क्षेत्र	छात्र	छात्राएँ
ग्रामीण	६५ ७४	३४.२६
नगरीय	५६ ७०	४३.३०

देश के अधिकाश राज्यो मे अध्ययन करने वाली छात्राओ का प्रतिशत ४० से अधिक है किन्तु बिहार, राजस्थान और उत्तर प्रदेश मे यह प्रतिशत २७ और ४० के मध्य है।

यदि आयु सीमा के आधार पर देखा जाय तो ६+ से १०+ की आयु वाली अनुमानित समस्त लड़कियो की ५४.७० प्रतिशत लडकियाँ प्राथमिक स्तर पर अध्ययन कर रही थी। विभिन्न प्रान्तो के इस प्रतिशत में अन्तर अत्यधिक है। सबसे कम प्रतिशत २३·०६ बिहार मे है जबकि सबसे अधिक प्रतिशत १११·४१ केरल मे है। बिहार मे इस आयु वर्ग की प्रति ५ बालिकाओ मे से केवल एक बालिका प्राथमिक विद्यालय मे प्रवेश पाये हुए है।

कक्षानुसार I से V तक दाखिले का प्रतिशत वितरण

क्षेत्र		कक्षाएँ				
		I	II	III	IV	V
ग्रामीण	छात्र	३७ ७५	२०.८०	१६.८१	१३.७४	१०.८६
	छात्राएँ	४५.३७	२१ २१	१५.१७	१०.६०	७ ३४
नगरीय	छात्र	२७ ८४	२०.३२	१८ ७२	१७ २२	१५ ६०
	छात्राएँ	२६.४२	२१ १८	१८.८१	१६ ५०	१४ ०८
योग	छात्र	३५ ८२	२० ७१	१७.१८	१४ ४२	११.८७
	छात्राएँ	४१ २०	२१ २१	१६.१२	१२.३६	६.१०

उपर्युक्त सारिणी से स्पष्ट है कि ग्रामीण क्षेत्र मे प्राथमिक विद्यालय की प्रथम कक्षा मे नामांकित प्रति ६ बालिकाओं में से केवल एक बालिका ५वीं कक्षा मे पहुँचती है। इससे नगरीय क्षेत्र का अनुपात सन्तोषजनक है जहाँ प्रथम कक्षा मे नामांकित प्रति २ बालिकाओं में से एक बालिका ५वी कक्षा मे पहुँचती है।

निम्न माध्यमिक स्तर

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उपयुक्त होगा कि निम्न माध्यमिक स्तर मे VI, VII और VIII कक्षाएँ सम्मिलित की जायँगी। सन् १९६५ मे निम्न माध्यमिक स्तर पर ७८,१५,५९५ बालक और ३०,०६,२०४ बालिकाएँ प्रवेश पाये हुए थी जिनका प्रतिशत क्रमश ७२ २२ और २७ ७८ था। प्राथमिक स्तर पर बालिकाओ का प्रतिशत ३६ २० था। इससे स्पष्ट है कि निम्न माध्यमिक स्तर पर प्रतिशत कम है। निम्न तालिका से ग्रामीण तथा नगरीय क्षेत्र के बालक-बालिकाओ का प्रतिशत स्पष्ट है.

क्षेत्र	बालक	बालिकाएँ
ग्रामीण	७८ ००	२२ ००
नगरीय	६३ ८७	३६ १३

ग्रामीण क्षेत्रो के निम्न माध्यमिक विद्यालयो मे अध्ययन करने वाले बालक-बालिकाओ मे अधिक प्रतिशत बालको का है। ग्रामीण क्षेत्र की अपेक्षा नगरीय क्षेत्र मे बालिकाओ का प्रतिशत अधिक है।

यदि इस आधार पर अध्ययन करे कि प्रति १०,००० जनसख्या मे से कितने बालक-बालिकाएँ निम्न माध्यमिक स्तर पर अध्ययन-रत है तो हम पायेगे कि २०७ छात्र-छात्राएँ इस स्तर पर अध्ययन करते थे। इसमे से १५२ बालक और ५५ बालि-काएँ थी। इस प्रकार लगभग तीन लडको के प्रतिकूल एक लडकी विद्यालय मे थी।

माध्यमिक स्तर

माध्यमिक स्तर पर कुल छात्रो की सख्या ६२,२७,०७५ थी। इसमे से ४७,७२,६११ लडके और १४,५४,४६४ लडकियाँ थी। कुल सख्या का २३ ३६ प्रतिशत बालिकाएँ थी। इस स्तर पर बालक और बालिकाओं के मध्य अनुपात १० : ३ था।

ग्रामीण और नगरीय क्षेत्रो मे लडके-लडकियो की सख्या का प्रतिशत निम्न तालिका मे स्पष्ट है :

क्षेत्र	प्रतिशत	
	बालक	बालिकाएँ
ग्रामीण	८३ ४२	१६ ५८
नगरीय	७१ ३१	२८ ६९
योग	७६ ६४	२३ ३६

ग्रामीण क्षेत्रों में माध्यमिक स्तर पर लड़कियों का प्रतिशत बहुत कम था। ग्रामीण भागों में लड़के-लड़कियों का अनुपात ५ : १ है। यदि प्रत्येक राज्य का पृथक रूप से अध्ययन करें तो सबसे पहले उत्तर प्रदेश का स्थान आता है जहाँ ग्रामीण क्षेत्रों में माध्यमिक स्तर पर अध्ययन करने वाले समस्त छात्रों में से १७८ प्रतिशत भाग लड़कियों का था। लड़के-लड़कियों का अनुपात ५५ : १ था।

नगरीय क्षेत्र में लड़कियों का प्रतिशत २८ ६६ था। आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, राजस्थान और उत्तर प्रदेश में लड़कियों का प्रतिशत कम ही था किन्तु केरल में दोनों की संख्या लगभग समान थी।

इसी प्रकार प्रति १० हजार जनसंख्या में से ८२ बालक नवीं-दसवीं कक्षा में पढ़ते थे। इसमें से ६३ लड़के और १६ लड़कियाँ थीं।

स्त्री-शिक्षा की समस्याएँ

स्त्री-शिक्षा के प्रसार के लिए भारत सरकार एवं प्रान्तीय सरकारों ने अनेक प्रयत्न किये किन्तु उनको आशातीत सफलता प्राप्त नहीं हो पा रही है। पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत स्त्री-शिक्षा की प्रगति के लिए जो लक्ष्य निर्धारित किये गये उन तक अभी नहीं पहुँच पा रहे हैं। इसके मार्ग को अवरुद्ध करने वाले कारणों का विश्लेषण करना उपयुक्त रहेगा ताकि उन समस्याओं के समाधान के उपायों पर विचार किया जा सके। प्रमुख समस्याओं का विवरण निम्नलिखित है :

प्रमुख समस्याएँ

अशिक्षा | धार्मिक कट्टरता | सरकार की उदासीनता | बाल विवाह एवं पर्दा प्रथा | अविकसित क्षेत्र ग्रामीण | बालिका विद्यालयों का अभाव | अध्यापिकाओं का अभाव | अनुपयुक्त पाठ्यक्रम | शिक्षा में अपव्यय

१. अशिक्षा

अंग्रेजी शासन की दोषपूर्ण नीति का परिणाम आज हमको शिक्षा जगत में दृष्टिगत होता है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार भारत की १६·६ प्रतिशत जनसंख्या शिक्षित थी। वैसे शिक्षित व्यक्तियों का प्रतिशत अब अधिक बढ़ चुका है। सन् १९५९ में किये गये एक सीमित सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ कि भारत में ५९·३ प्रतिशत व्यक्ति ही अशिक्षित रह गये हैं। यह आँकड़े भी इस सत्य को प्रकट करते हैं कि भारत की आधे से अधिक जनसंख्या अशिक्षित है। अशिक्षित व्यक्ति शिक्षा के महत्त्व को नहीं समझते हैं। वे बालक-बालिकाओं की शिक्षा को निरर्थक तथा समय का अपव्यय मानते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में अभी तक यही धारणा बनी हुई है कि बालिकाओं

का कर्म-क्षेत्र घर है तथा वह तो पराया धन है। अतः इनको शिक्षित करने से कोई आर्थिक लाभ की सम्भावना नहीं है। इस भावना के वशीभूत अशिक्षित लोग अपनी बालिकाओं को विद्यालयों मे विद्या ग्रहण करने के लिए नही भेजते हैं।

२ धार्मिक कट्टरता

अशिक्षा के विस्तृत साम्राज्य के कारण आज भी हमारे समाज मे अन्ध-विश्वास और रूढ़िवादिता का बोलबाला है। अधिकांश भारतीय आज भी प्राचीन विचारो तथा परम्पराओ के पोषक हैं। अनेक अशिक्षित हिन्दू वर्तमान युग मे भी इस वचन मे विश्वास करते हुए पाये जाते हैं

> प्राप्ते तु दशमे वर्षे यस्तु कन्यां न यच्छति।
> मासि मासि रजस्तस्याः पिता पिबति शोणितम्॥

इसी प्रकार की धार्मिक कट्टरता मुसलमानों मे भी विद्यमान है। वे रजोदर्शन पूर्व ही बालिकाओ का विवाह करने के लिए उत्कण्ठित रहते हैं क्योंकि उनके चारानुसार प्रतिमास का रजोदर्शन गुनाह है। इसका परिणाम यह होता है कि अल्प आयु मे विवाह सम्पन्न होने से बालिकाओ को पूर्ण शिक्षा से वंचित रहना पड़ता है।

३ सरकार की उदासीनता

स्त्रियो की शिक्षा के प्रति अंग्रेजी शासन ने जो उदासीनता की नीति अपनाई उसका प्रभाव आज भारत सरकार पर भी देखने को मिलता है। सन् १९३५-३६ मे विदेशी सरकार ने भारत के अनेक प्रान्तों मे बालिकाओ की शिक्षा पर व्यय किये जाने वाले धन में कमी कर दी। यही नीति भारत सरकार का मार्ग-दर्शन कर रही है। एक ओर भारत सरकार स्त्रियो की शिक्षा के प्रति उदारतापूर्ण दृष्टिकोण अपनाती है और दूसरी ओर बालको की शिक्षा की अपेक्षा बालिकाओ की शिक्षा पर कम धन व्यय करती है। सरकार की यह पक्षपातपूर्ण नीति स्त्री-शिक्षा के प्रसार मे बाधा बनी हुई है। वैसे अब अनेक प्रान्तो मे बालिकाओ की शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिए शिक्षा नि शुल्क कर दी है, किन्तु सरकार की दोषपूर्ण नीति यहाँ भी पर-लक्षित होती है कि यदि शिक्षा नि शुल्क ही कर दी है तो इसको अनिवार्य भी किया जाय।

४ बाल-विवाह एवं पर्दा-प्रथा

भारतीय समाज मे बाल-विवाह एव पर्दा-प्रथा बालिकाओ की शिक्षा की प्रगति मे अवरोधक हैं। अनेक माता-पिता अल्प आयु मे ही अपनी पुत्रियो का विवाह संस्कार करके इस उत्तरदायित्व से मुक्त होने का विचार रखते हैं। इसी प्रकार पर्दा प्रथा बालिकाओ को शिक्षा प्राप्त करने से वंचित रखती है। आज भी अनेक कट्टर-पंथी अपनी बालिकाओ को उन विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करने के लिए नहीं भेजते हैं,

जहाँ पर्दे की समुचित व्यवस्था नहीं होती है। पर्दे की समस्या मुख्यत. मुसलमानो में अधिक प्रचलित है। जिन स्थानों पर बालिकाओं के लिए पृथक विद्यालय नहीं हैं वहाँ की अधिकाश बालिकाओ को शिक्षा ग्रहण करने से वचित रह जाना पड़ता है।

५. अविकसित ग्रामीण क्षेत्र

भारत एक कृषि-प्रधान देश होते हुए भी यहाँ के ग्रामीण क्षेत्र अविकसित हैं। इनमें रहने वाले ग्रामीणो की आर्थिक दशा दयनीय है। भारत के दो-तिहाई गाँवो में प्राथमिक विद्यालय भी नहीं हैं। ऐसी स्थिति मे बालक-बालिकाओ को शिक्षित करने का विचार उपहासजनक है। निर्धन जनता से यह कैसे आशा की जा सकती है कि अपनी संतान को बाहर रखकर शिक्षा पर होने वाले व्यय के भार को सहन कर सके। देश के अनेक ग्रामीण भागो मे तो श्रमिको को पारिश्रमिक भी इतना कम मिलता है कि उनको अपने परिवार के सदस्यो की उदरपूर्ति की चिंता सदैव घेरे रहती है। ऐसे निर्धन व्यक्तियो से यह आशा कैसे की जा सकती है कि वे बालिकाओ को विद्यालय भेजें जबकि वे अपने बालकों तक को विद्यालय भेजने का साहस नहीं कर पाते हैं।

६ बालिका विद्यालयों का अभाव

यह तथ्य तो सर्व-विदित है कि शिक्षा के सभी स्तरो पर बालिका विद्यालयों का पूर्ण अभाव है। अधिकाश गाँवो मे बालको के लिए ही विद्यालय हैं जिनमें ही बालिकाओ को भी अध्ययन के लिए जाना पड़ता है। माध्यमिक स्तर पर माता-पिता अपनी बालिकाओ को बालको के विद्यालय मे भेजना पसन्द नहीं करते हैं। परिणाम-स्वरूप, बालिकाओ को अपनी आगे पढ़ने की इच्छा पर कुठाराघात करना पड़ता है।

७ अध्यापिकाओं का अभाव

अध्यापिकाओ का अभाव भी स्त्री-शिक्षा के विकास मे अवरोधक के रूप मे है। प्रशिक्षित अध्यापिकाओं का पर्याप्त सख्या में उपलब्ध होना तो एक बड़ी समस्या है ही किन्तु अप्रशिक्षित अध्यापिकाएँ जुटाना भी एक समस्या है। अध्यापिकाओं के इस अभाव के कई कारण हैं। अनेक स्त्रियाँ शिक्षित होते हुए भी अपने माता-पिता अथवा पति की अनिच्छा के कारण नौकरी नहीं कर सकती हैं। एक कारण स्त्रियो में व्याप्त अशिक्षा है। इतनी शैक्षिक योग्यता की स्त्रियाँ बहुत कम ही उपलब्ध होती हैं जो अध्यापन व्यवसाय में प्रवेश पा सकें। अभी तक अनेक भारतीय परिवारों मे स्त्रियों द्वारा नौकरी करना परिवार की मान-हानि समझा जाता है। नगरो मे तो महिला अध्यापिकाएँ सरलता से प्राप्त हो जाती हैं किन्तु गाँवो मे आवास एव अन्य सुविधाओ के अभाव के कारण स्त्रियाँ वहाँ नौकरी करना पसन्द नहीं करती हैं। इसके साथ ही महिला प्रशिक्षण विद्यालयो के अभाव के कारण प्रशिक्षित महिलाओ का अभाव सदैव बना रहता है।

अध्यापकों एव माता-पिता का शोषण न कर सकें। यदि पचायत समितियाँ अपनी दलगत राजनीति से ऊँचे उठकर कार्य करें तो वे स्थानीय व्यक्तियो से आर्थिक एव शारीरिक सहयोग प्राप्त कर विद्यालय भवन तथा आवश्यक सामग्री का प्रबन्ध करने मे सफल हो सकती हैं।

बालिकाओं के लिए पृथक् विद्यालयो की स्थापना के सम्बन्ध में माध्यमिक शिक्षा आयोग ने भी सिफारिश करते हुए लिखा है—"हमारा विचार है कि जहाँ सम्भव हो वहाँ बालिकाओ के लिए पृथक् विद्यालय स्थापित किये जायें, क्योकि ये विद्यालय मिश्रित विद्यालयों की अपेक्षा सामाजिक, शारीरिक तथा मानसिक विकास के लिए सम्भवत. अधिक उत्तम अवसर प्रदान करते हैं और सभी राज्यो को ऐसे विद्यालय पर्याप्त सख्या मे स्थापित करने चाहिए।"[1]

उपर्युक्त सिफारिश किये हुए आयोग को लगभग १७ वर्ष हो गये परन्तु सरकार ने इस ओर सराहनीय कार्य नही किया। प्राथमिक स्तर पर तो सह-शिक्षा चल भी सकती है किन्तु माध्यमिक स्तर पर भारतीय जनता सहशिक्षा के पक्ष मे न होने से सरकार को नगरो एव ग्रामीण दोनों क्षेत्रों मे पृथक् माध्यमिक विद्यालयो की स्थापना करनी चाहिए।

२. सहशिक्षा

भारतीय समाज की परम्पराएँ आदिकाल से ही ऐसी रही हैं कि यहाँ पुरुष और स्त्रियो के कार्य क्षेत्र पृथक्-पृथक् रहे हैं। दूसरी ओर यहाँ की भौगोलिक दशाएँ इस प्रकार की हैं कि यहाँ के बालक-बालिकाओ मे यौवनावस्था का ज्वार शीघ्र ही उत्पन्न हो जाता है। परिणामस्वरूप, सदैव यह भय बना रहता है कि युवक-युवतियाँ यौवनावस्था के खुमार के वशीभूत हो मर्यादा का अतिक्रमण कर पथ-भ्रष्ट न हो जायें।

पश्चिमी देशो में यह प्रथा प्राचीन समय से चली आती है। ग्रीस और रोम की पाठशालाओ मे भी सहशिक्षा की प्रथा थी। परन्तु रोमन कैथोलिक पादरियो के प्रभाव के कारण लड़कियो के लिए मध्यकाल मे पृथक् कान्वेन्ट बने। किन्तु १८वीं सदी के अन्त में पेस्टालोजी के सहशिक्षा के विचारो ने इसे काफी प्रोत्साहन दिया। वर्तमान समय मे यदि हम पश्चिमी देशो के विद्यालयों की ओर दृष्टिपात करें तो हम इसी नतीजे पर पहुँचेंगे कि वहाँ अधिकांश सस्थाएँ सहशिक्षण वाली हैं।

भारत मे लोकमत अभी सहशिक्षा के पक्ष मे नहीं है। स्त्री-शिक्षा की राष्ट्रीय समिति ने १६५८ में सर्वेक्षण के लिए प्रयुक्त प्रश्नावली में सहशिक्षा के बारे मे लोगो

---

1. We are of the opinion that where it is possible separate schools for girls should be established as they are likely to offer better opportunities than in mixed schools to develop their physical, social and mental aptitudes and all states should open such schools in adequate mumbers."—Report of the Secondary Education Commission, p 59.

के विचार ज्ञात करने के लिए कुछ प्रश्न सम्मिलित किये थे। लोगों के उत्तरों का विश्लेषण करने से ज्ञात हुआ कि ८२.७ प्रतिशत लोग प्रायमिक शिक्षा मे सहशिक्षण के पक्ष मे थे। निम्न माध्यमिक स्तर पर ४६.४ प्रतिशत लोग इसके पक्ष में थे और माध्यमिक स्तर पर केवल १८.२ प्रतिशत लोग ही इसके पक्ष मे थे। उपर्युक्त विश्लेषण से निष्कर्ष निकलता है कि प्राथमिक और निम्न माध्यमिक स्तर पर लोकमत सहशिक्षण के पक्ष मे है। किन्तु माध्यमिक स्तर पर लोकमत इसके पक्ष मे नहीं है।

हमारे जैसे देश के लिए प्राथमिक स्तर पर सहशिक्षण एक उपयोगी कदम है। प्राथमिक स्तर पर शिक्षा को अनिवार्य बनाने के लिए आवश्यक है कि सहशिक्षा को सफल बनाने के प्रयत्न किये जायँ। आर्थिक दृष्टि से भी यह प्रयोग आवश्यक है। दूसरी ओर एक बात यह भी सहशिक्षा के पक्ष को प्रबल बनाती है कि देश में ऐसे गाँवो की संख्या अधिक है जहाँ अलग-अलग विद्यालय चलाने के लिए पर्याप्त संख्या मे लडके-लडकियाँ भी नहीं मिल पाते हैं। जब यह प्रयोग प्राथमिक स्तर पर सफलता-पूर्वक चलने लगे तो शनै शनै लोकमत माध्यमिक स्तर पर सहशिक्षा के पक्ष मे बनाया जाय।

३ अध्यापिकाओं की पूर्ति

यदि सहशिक्षा प्रणाली को सफल बनाना है तो आवश्यक है कि सभी विद्यालयो मे कुछ अध्यापिकाएँ अवश्य होनी चाहिए। अभी तक अध्यापिकाओ का प्रतिशत बहुत कम है। ग्रामीण क्षेत्रो मे तो अध्यापिकाओ का अभाव और भी अधिक है। इसका कारण ग्रामीण क्षेत्रो मे आवागमन, आवास तथा खाद्य-सामग्री आदि अनेक समस्याएँ हैं। सरकार को इस क्षेत्र मे कुछ ठोस कदम उठाने चाहिए ताकि महिलाएँ ग्रामीण क्षेत्रो की ओर आकर्षित हो सकें। यहाँ उन कुछ उपायो पर विचार करना उपयुक्त रहेगा जिनके द्वारा अधिक महिलाओ को अध्यापन व्यवसाय की ओर आकर्षित किया जा सके।

(१) कम वेतन होने से महिलाएं इस व्यवसाय की ओर आकर्षित नही होती हैं। सरकार को अधिक वेतन देकर स्त्रियो को अध्यापन वृत्ति की ओर आकृष्ट करना चाहिए। इसके साथ ही ग्रामीण क्षेत्रो मे कार्य करने के लिए कुछ विशेष भत्ता की व्यवस्था भी रखनी चाहिए। वर्तमान समय मे नगरो में ये महिलाएँ पर्याप्त संख्या मे उपलब्ध हो जाती हैं किन्तु गाँवो में नहीं होती हैं। अत विशेष भत्ते का आयोजन उनको गाँवों की ओर आकृष्ट कर सकता है।

(२) गाँवों मे अध्यापिकाओ को आवास की समस्या का सामना करना पडता है। सरकार को विद्यालय के निकट ही कुछ मकान भी बनवाने चाहिए। पचायत समितियो को अपने क्षेत्र मे इस सुविधा की व्यवस्था करनी चाहिए। एक विद्यालय मे निकटवर्ती जितने गाँवो के बालक-बालिकाएँ पढने के लिए आते हैं उन सभी गाँवो के निवासियो की सहायता से आवास हेतु उचित प्रकार के मकान बनवाने चाहिए किन्तु

यह कार्य तभी सम्भव है जबकि पंचायत के सदस्य लोगो का सहयोग प्राप्त करने के लिए अच्छा वातावरण तैयार करें।

(३) सरकार को चाहिए कि नियुक्ति की आयु सम्बन्धी सीमा मे महिलाओ को कुछ छूट दे कुछ अधिक आयु वाली महिलाओ को भी नियुक्ति मिलनी चाहिए।

(४) यदि सरकार द्वारा अध्यापको की पत्नियो को यह सुविधा दी जाय कि वे दोनो एक ही स्थान पर कार्य करें तो अनेक ऐसी महिलाएँ अध्यापन व्यवसाय के लिए प्राप्त हो सकती हैं जो शिक्षित हैं किन्तु दूर-दूर होने के भय से नौकरी नहीं करना चाहतीं।

(५) जब तक निर्धारित योग्यता वाली अध्यापिकाएँ प्राप्त नही होतीं तब तक आवश्यक शिक्षा-योग्यता वाली स्त्रियों को नियुक्त किया जाय तथा उनको शिक्षा योग्यता में वृद्धि करने के लिए आवश्यक सुविधा प्रदान करके प्रोत्साहित किया जाय।

(६) प्रारम्भ मे यदि प्रशिक्षित अध्यापिकाएँ उपलब्ध न हो सकें तो अप्रशिक्षित महिलाओ को नियुक्ति दी जाय और उनको अल्प-सामयिक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम द्वारा प्रशिक्षित किया जाय।

४ पाठ्यक्रम में सुधार

बालिकाओ के लिए पाठ्यक्रम कैसा होना चाहिए ? यह विषय विवादास्पद बना हुआ है। कुछ विद्वानो का मत है कि बालिकाओ के लिए पृथक् पाठ्यक्रम की कोई आवश्यकता नही है। अपने इस विचार की पुष्टि के लिए वे निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं

१ बालक और बालिकाओ की मानसिक शक्ति में कोई अन्तर नही होता है।

२. भारत जैसे निर्धन देश मे अलग पाठ्यक्रम की व्यवस्था तथा सुविधाएँ जुटाना सम्भव नही है।

३ कृषि, तकनीकी, व्यापार आदि पाठ्यक्रम से बालिकाओं को वंचित रखने का तात्पर्य है कि भारत की वर्तमान परिवर्तित परिस्थितियो में भी पराधीन रखना।

४. यह धारणा गलत है कि स्त्रियो का कार्यक्षेत्र तो घर में है।

इसके विपरीत, बालिकाओ के लिए विशिष्ट पाठ्यक्रम की माँग करने वालो का विचार है कि दोनो को एक ही सा पाठ्यक्रम रखने से बालिकाओ को कोई लाभ नहीं हो पाता है। बालको के पाठ्यक्रम का अध्ययन करने से बालिकाओ की शिक्षा मे भी बालको की शिक्षा के दोष प्रकट होने लगते हैं। इनमे से एक दोष बेरोजगारी का है। जब बेरोजगारी पुरुषो के लिए इतनी हानिकारक है तो यह स्त्रियों

के लिए भयानक हो सकती है।"[1] श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख की अध्यक्षता में गठित समिति ने भी बालिकाओं के लिए विशिष्ट पाठ्यक्रम की सिफारिश की थी। वर्तमान भारत में तो हम अपने सामाजिक, सांस्कृतिक मूल्यों को भुलाकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पश्चिमी देशों का अन्धानुकरण कर रहे हैं। यही दशा शिक्षा क्षेत्र में भी है। हमारे यहाँ शिक्षा का प्रारूप पूर्णतः पश्चिमी देशों की शिक्षा-प्रणाली के अनुसार ही है। पश्चिमी देशों में पुरुष और स्त्रियों के लिए समान पाठ्यक्रम है। इसी आधार प भारत में भी कुछ इसी समान पाठ्यक्रम के पक्षपाती हैं। डा० मौरिक बूथ ने पश्चि ं प्रचलित स्त्री-शिक्षा की आलोचना करते हुए लिखा है—"भारत में सा स्त्रियों में नवजीवन का संचार हो रहा है और वे स्वयं से पूछती हैं कि हम पश्चिम क्या सीख सकती हैं? पश्चिमी देशों में स्त्रियों की शिक्षा सन्देहात्मक दृष्टि से जाती है। पश्चिम में अभी तक स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में ऐसा स्पष्ट एवं सन्तोषजनक कुछ भी नहीं है जो पूर्वी क्षेत्रों को प्रदान किया जा सके।"

विशिष्ट पाठ्यक्रम का स्वरूप

इस पर विचार करना उचित होगा कि यह विशिष्ट पाठ्यक्रम कैसा हो। कुछ विषयों का बालिकाओं के जीवन में घनिष्ठ सम्बन्ध होने से बालिकाओं की शिक्षा के अभिन्न अंग से प्रतीत होते हैं। ऐसे विषयों में से कुछ विषय गृह विज्ञान, सिलाई-बुनाई, बाल मनोविज्ञान, संगीत, नृत्य, नर्सिंग आदि हैं। इसके साथ यह भी ध्यान में रखना होगा कि वर्तमान परिस्थितियों में महिलाओं को घर से बाहर भी अनेक कार्यों में हाथ बटाने की आवश्यकता हो रही है इसलिए विशिष्ट पाठ्यक्रम में इसका भी प्रावधान रखना होगा। इसी प्रकार बालिकाओं को अपनी रुचि, शक्ति एवं स्वभाव के अनुसार वैकल्पिक विषय चुनने की आवश्यकता पर ध्यान देना होगा। माध्यमिक शिक्षा आयोग ने गृह विज्ञान की शिक्षा पर विशेष बल दिया है। आयोग ने लिखा है कि एक शिक्षित बालिका जो अपने साधनों के अनुसार अपने गृह का सुचारु रूप से तथा कुशलतापूर्वक प्रबन्ध नहीं कर सकती है, वह अपने परिवार के सुख तथा समृद्धि में अथवा अपने देश के सामाजिक स्तर को ऊँचा उठाने में उपयुक्त योग प्रदान नहीं कर सकती है।"[2] इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुये आयोग ने गृह विज्ञान को अनिवार्य विषय बनाने की सिफारिश की है।

---

1. Some of the objectionable features of boys' education are slowly developing in the education of girls too................. Unemployment among men is bad enough, unemployment among women will be terrible."—S N Mukerji, *Education in India, To-day and Tomorrow*, pp 247-48.
2. "An educated girl who can not run her home smoothly an efficiently, within her resources can make no worthwhi contribution the happiness and the well-being of her family to raising the social standards in her country."—Report the Secondary Education Commission, p. 58.

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि प्राथमिक स्तर पर बालक-बालिकाओ के लिए समान पाठ्यक्रम होना चाहिए, किन्तु माध्यमिक और उच्च शिक्षा के स्तरो पर उसमे कुछ परिवर्तन आवश्यक हैं। माध्यमिक स्तर पर पाक-शास्त्र, सिलाई-कढ़ाई, गृह-विज्ञान, बाल-मनोविज्ञान आदि विषयो को सम्मिलित किया जाय और उच्च शिक्षा के स्तर पर चित्रकला, गृह-अर्थशास्त्र, गृह-प्रबन्ध और नर्सिंग आदि विषयो को स्त्री-शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम मे स्थान दिया जाय।

५. आर्थिक सहायता

स्त्री-शिक्षा के प्रसार के लिए आवश्यक है कि सरकार अपने विकास के कार्यक्रमो मे स्त्री-शिक्षा को प्रमुख स्थान प्रदान करे तथा स्त्री-शिक्षा पर अधिक धन व्यय करने का प्रावधान रखे। स्त्री-शिक्षा की राष्ट्रीय समिति ने भी यह सिफारिश की कि सरकार द्वारा स्त्री-शिक्षा पर अधिक धन व्यय किया जाना चाहिए। बालिकाओ की शिक्षा को अनेक राज्यो मे नि शुल्क करने के प्रयत्न अवश्य किये गये हैं, किन्तु इसके साथ ही निर्धन बालिकाओं को पुस्तकें, पोशाक तथा आने-जाने की सुविधा आदि की भी सहायता मिलनी चाहिए।

६. विद्यालय चलो अभियान

सरकार द्वारा ग्रीष्मावकाश मे प्रति वर्ष नगर एव ग्रामो मे सर्वेक्षण करवाकर यह ज्ञात करना चाहिए कि कितनी बालिकाएँ आयु के आधार पर विद्यालय मे प्रवेश पाने योग्य हो गई हैं। सरकार द्वारा सत्रारम्भ से पूर्व ही विद्यालय चलो अभियान सप्ताह का आयोजन करना चाहिए। इस विधि द्वारा अभिभावको को प्रेरित किया जा सकता है। इस प्रकार के आयोजनो को सफल बनाने के लिए स्थानीय नेताओ का सहयोग अवश्य प्राप्त करना चाहिए।

७ समाज में उचित दृष्टिकोण का विकास

सरकार द्वारा स्त्री-शिक्षा के प्रसार के लिए चाहे जितने प्रयत्न कर लिये जायें किन्तु यदि उनको जनता का सहयोग प्राप्त नहीं होगा तो उनकी सफलता की आशा करना व्यर्थ ही है। सरकार को ऐसे सामाजिक कार्यक्रमो का भी आयोजन करना चाहिए जिनके द्वारा समाज मे व्याप्त रूढिवादिता, धार्मिक अन्धविश्वास, बालविवाह आदि जैसी बुराइयो को समूल उखाड़ फेंका जाय। जनता को स्त्री-शिक्षा के आन्दोलन में जुट जाना चाहिए। उसे स्त्री-शिक्षा के प्रति चिर-काल से विरासत मे प्राप्त होने वाले अपने संकुचित दृष्टिकोण को पूर्णतया परिवर्तित कर देना चाहिए।

इसके साथ ही भारतीय स्त्रियो मे भी शिक्षा के प्रति व्याप्त संकुचित दृष्टिकोण मे परिवर्तन करना आवश्यक है। उसमें स्वय शिक्षा के प्रति रुझान एवं रुचि उत्पन्न होनी चाहिए।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. २०वीं शताब्दी में हुई स्त्री-शिक्षा की प्रगति का वर्णन लिखिए।

२ भारत में स्त्री-शिक्षा के पिछड़ेपन के कारणों पर प्रकाश डालिए।

३ स्त्री-शिक्षा के प्रसार में बाधक समस्याएँ कौन-कौनसी हैं ? उन
समाधान के लिए अपने सुझाव दीजिए।

४ स्त्री-शिक्षा की राष्ट्रीय समिति के प्रमुख सुझाव क्या थे ? उनका आ
...त्मक विवरण लिखिए।

अध्याय ४

शिक्षा और राष्ट्रीय उन्नति

भारतीय शिक्षा की व्यर्थता

वर्तमान भारतीय शिक्षा का ढांचा अंग्रेजों की देन है। उन्होंने इस देश पर शासन करते समय शिक्षा-प्रसार का कार्य दो दृष्टियों से आरम्भ किया था: (१) वे चाहते थे कि अंग्रेजी भाषा पढ़ने, बोलने और लिखने वाले कुछ भारतीय कर्मचारी तैयार हो जायें जो प्रशासन के कार्य में उनकी सहायता करें, (२) उनके अपने देश में शिक्षा-प्रसार तीव्र गति से चल रहा था और भारतीय प्रजा के लिए उदारता और परोपकार की दृष्टि से वे शिक्षा-प्रसार चाहते थे। यह दोनों उद्देश्य संकुचित थे। इसलिए भारत की शिक्षा-प्रणाली को वह बुनियादी आधार नहीं मिल सका, जो राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली के लिए आवश्यक होता है। चिंतन के खोखलेपन के कारण शिक्षा भी खोखली रही।

राष्ट्रीय आन्दोलनों के प्रारम्भ होने पर इस शिक्षा-प्रणाली का विरोध आरम्भ हुआ। विशेष रूप से गांधीजी जिनके मन में एक शक्तिशाली और समृद्धिशाली भारत की स्पष्ट कल्पना थी और जो स्वतन्त्र चिंतन की शक्ति रखते थे, इस शिक्षा-प्रणाली के विरोधी थे और उनका मत था कि केवल क्लर्क पैदा करने वाली शिक्षा किसी प्रकार भी देशभक्त, परिश्रमी, ईमानदार और लगन से काम करने वाले नागरिक नहीं पैदा कर सकती। इसलिए उन्होंने अपने अनुभव और चिंतन के बल पर 'बुनियादी शिक्षा' का एक मौलिक विचार देश के समक्ष प्रस्तुत किया। उनका दावा था कि यह बुनियादी शिक्षा इस देश में नये समाज को जन्म देगी जिससे राष्ट्र का कल्याण होगा। यह नया समाज होगा। 'सर्वोदय समाज'—एक ऐसा समाज जिसमें हरएक घटक स्वतन्त्र होगा क्योंकि वह आत्मनिर्भर होगा। हरएक व्यक्ति को उन्नति करने का न केवल अवसर मिलेगा, वरन् बुनियादी शिक्षा पाकर उसकी सारी शक्तियाँ अनिवार्य रूप से विकसित होंगी। इस समाज में किसी प्रकार का 'शोषण' न होगा, उसमें

कोई 'वर्ग' न होगा। यह सब बुनियादी शिक्षा के परिणामस्वरूप सभव होगा। गाधी का वह स्वप्न बिखर गया। राष्ट्र ने 'बुनियादी शिक्षा' को नही अपनाया, अपनाने का साहस न था, घिसी-पिटी लीक पर बैलगाडी जिस तरह चलती है, उसी तरह देश ने अग्रेजी शिक्षा-प्रणाली को जारी रखा। बहुत से लोग (जिनमे हुमायूँ कबीर, श्री छागला, तथा अन्य बहुत से अग्रेजी समर्थक शामिल हैं) इस प्रणाली के समर्थक बन बैठे परन्तु उनका यह मोह परम्परा का मोह है जो मनुष्य को कोई भी नये प्रयोग करने से रोकता है।

कुछ भी हो, अग्रेजी शिक्षा-प्रणाली जारी है और स्वतन्त्रता के बाद जो नयी पीढी तैयार हुई है, वह दफ्तरो, कारखानो, खेतो और व्यावसायिक सस्थानो मे उत्तर-दायित्वपूर्ण ढङ्ग से कर्तव्य-पालन मे असमर्थ है। 'भ्रष्टाचार' की अधिकता इस बात का प्रमाण है कि भारत का सामान्य और औसत नागरिक अपने 'स्व' को भूलकर राष्ट्र के हित में बलिदान करने की भावना नही रखता। फल यह हुआ कि हमारी तीन पचवर्षीय योजनाएँ राष्ट्र के निर्माण मे सफल नही हुई। नेतागण इन योजनाओ की सफलता की गर्वपूर्वक चर्चा करते हैं परन्तु असीम शक्ति और धन का व्यय करके उसके अनुपात से उपलब्ध सफलता नगण्य है। सरकार ने प्रशासन के बल पर जो विकास करने चाहे, वे विफल हुए, नयी-नयी योजनाएँ, जैसे सामुदायिक विकास खड, पचायत राज्य, सहकारिता, सरकारी उत्पादन-केन्द्र सभी 'घाटे' मे चल रहे हैं। ऐसा क्यो? कोई भी योजना हो, वह 'जनशक्ति' और 'मानवीय साधनो' से चलती है। यदि मनुष्य ही विकृत है, तो योजना बेकार जायगी। मनुष्य का निर्माण शिक्षा करती है। वर्तमान भारतीय शिक्षा-प्रणाली यही नही करती, वह 'मानव' नहीं 'दानव' तैयार करती है, जो राष्ट्र की पीठ मे छुरा भोकता है।

ऐसी दशा मे यह प्रश्न विचारणीय है कि हमारी भारतीय शिक्षा किस प्रकार राष्ट्र की उन्नति में 'साधक' बने? अभी तो वह 'बाधक' ही है। यदि गाधीजी के सुझाये गये हल राष्ट्र के कर्णधारो को अव्यावहारिक लगते हैं, तो इन्हें आगे बढ़कर कोई नया प्रयोग मजबूती और धैर्य के साथ करना चाहिए।

भारतीय शिक्षा-आयोग का प्रयत्न

स्वतन्त्रता के बाद शिक्षा की वस्तुस्थिति की जाँच करने के लिए दो आयोग सरकार ने नियुक्त किये, एक था राधाकृष्णन् की अध्यक्षता मे नियुक्त विश्वविद्याल[illegible] शिक्षा-आयोग और दूसरा था श्री मुदालियर की अध्यक्षता मे नियुक्त माध्यमि[illegible] शिक्षा-आयोग। दोनो ही आयोगो ने अपने अपने अधिकार-क्षेत्र की शिक्षा-प्रणाली [illegible] जाँच-पड़ताल की, बुराइयो का उल्लेख किया और सुधार के उपाय बताये। आयोगो [illegible] सदस्य विद्वान् थे परन्तु उनका चिन्तन 'शिक्षा' के दायरे मे बन्द रहा। [illegible] कोई भी विषय महत्त्वहीन होता है, उसकी सार्थकता सन्दर्भ की विशालता मे होती [illegible] करने का तात्पर्य है कि शिक्षा के गुण-दोषों की परख राष्ट्र के विशाल सन्दर्भ मे [illegible]

चाहिए। दोनो आयोगो ने राष्ट्रीय दृष्टि से शिक्षा-प्रणाली की उपयोगिता के प्रश्न पर विचार नही किया। सभवत इसका कारण यह था कि वे दोनो आयोग स्वतन्त्रता के अरुणोदयकाल में जन्मे थे, जब आजादी के १५ वर्ष बीत गये, तो विद्वानो का ध्यान इस ओर गया कि राष्ट्रहित की दृष्टि से हमारी शिक्षा-प्रणाली क्यो वांछित फल नहीं दे रही है। यही कारण था कि १९६४-६६ में भारतीय शिक्षा-आयोग डा० कोठारी की अध्यक्षता मे इस महत्त्वपूर्ण पहलू पर विचार करने बैठा। इस विषय पर विचार करने का समय आ गया था।

भारतीय शिक्षा-आयोग ने प्रथम बार इस बात पर ध्यान दिया कि किस प्रकार भारतीय शिक्षा उन्नतिशील और विकासोन्मुख भारत के लक्ष्यो की पूर्ति मे सहायक हो। इसके अध्यक्ष डा० कोठारी ने तत्कालीन शिक्षा-मंत्री श्री छागला को, आयोग के प्रतिवेदन के साथ सलग्न पत्र मे लिखा था—

"शिक्षा हमेशा महत्त्वपूर्ण रही है परन्तु शायद मनुष्य के इतिहास मे इतनी अधिक नही, जितनी आज है। विज्ञान पर आधारित दुनिया में किसी भी देश के समस्त विकासात्मक कार्य मे, इसके कल्याण, प्रगति और सुरक्षा मे शिक्षा और शोध का महत्त्व अत्यधिक है। विज्ञान से व्याप्त ससार की विशेषता यह है कि आगे आने वाली दुनिया के स्वरूप की भविष्यवाणी नही की जा सकती। इस बात से एक ऐसी शैक्षिक नीति पर जोर देना आवश्यक है जो सप्रसारणशील हो, लचीली हो ताकि बदली हुई परिस्थिति के अनुकूल यह अपने को ढाल सके। इससे प्रयोगात्मकता और नये आगम की महत्ता सिद्ध है। यदि मैं कहूँ, तो यह कहूँगा कि कोई एकमात्र आवश्यकता यदि देश को है, तो वह यह है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के दकियानूसीपन को दूर किया जाय। आज की तीव्र गति से परिवर्तनशील दुनिया मे, एक बात निश्चित है कि बरते हुए कल की शिक्षा-प्रणाली आज की आवश्यकता को पूरा नहीं कर सकती और आगे आने वाले कल की आवश्यकता को तो वह हरगिज पूरा नही कर सकती।"

स्पष्ट है कि वर्तमान दशक मे पहुँचकर विद्वानो ने उसी बात का अनुभव किया जिसे गाधी ने अब से ५० वर्ष पहले अनुभव किया था। खैर, देर आये दुरुस्त आये।

शिक्षा का एकमात्र दायित्व—राष्ट्र का विकास

जब से शिक्षा का क्रम आरम्भ हुआ, शिक्षा के दायित्व अथवा उद्देश्य पर चर्चा आरम्भ हुई। इस चर्चा के दो केन्द्र रहे हैं: एक है, शिक्षा के उद्देश्य शाश्वत हैं और दूसरा, शिक्षा के उद्देश्य परिवर्तनशील हैं। शाश्वत दायित्व के अन्तर्गत इस प्रकार के विचार आते हैं—जैसे शिक्षा आत्मविकास, व्यक्तित्व विकास, जीवन की तैयारी, सर्वाङ्गीण जीवन की तैयारी, रोजी-रोटी कमाने की तैयारी की प्रक्रिया। शिक्षा हमेशा से यह कुछ करती आयी है और करती रहेगी; शिक्षा एक साध्य है। दूसरे मत में शिक्षा का दायित्व बदलता रहेगा, यह एक प्रयोजनवादी (प्रैग्मैटिक) विचार है।

देश-काल बदलते हैं, इसलिए शिक्षा का स्वरूप बदलेगा, इस वास्तव के अन्तर्गत इस प्रकार के विचार आते हैं, जैसे शिक्षा मनुष्य को नित नयी बदलती दुनिया में सामंजस्य-स्थापन के लिए तैयार करती है, शिक्षा पर समाज और राष्ट्र पर ध्यान करते हैं और इसलिए शिक्षा समाज और राष्ट्र की उन्नति में योगदान करती है। वर्तमान शती में रूस और अमरीका ने अपनी शिक्षा-पद्धति को राष्ट्रोन्मुखी बनाकर विस्मयकारी सफलता प्राप्त कर ली है। डा० कोठारी ने अपने ग्रन्थ में इसी बात की ओर संकेत करते हुए शिक्षा को राष्ट्र के कल्याण के लिए उपयुक्त बनाने पर बल दिया है।

किसी युग में शिक्षा को यह महत्व नहीं प्राप्त हुआ, जो उसे इस युग में प्राप्त हुआ है क्योंकि उसकी शक्ति को समाज और राष्ट्र ने पहचाना है। इसलिए अपने युग में इस शक्ति का उपयोग करने के लिए वे अरबों रुपये शिक्षा पर व्यय करते हैं। बोस्टन विश्वविद्यालय के शिक्षा-दर्शन विभाग के अध्यक्ष प्रो० थियोडोर ब्रैमेल्ड ने अपनी एक रोचक तथा पठनीय परन्तु छोटी-सी पुस्तक में लिखा है—

"शिक्षा एक शक्ति है—यह वास्तव में एक विस्फोटकारी विचार है। निश्चय ही यह शक्ति का संसार है (जिसमें शक्ति की पूजा होती है)। ....आज शिक्षा पर किया जाने वाला विचार-विमर्श अर्थहीन बन जाता है यदि वह विश्व-संकट के सदर्भ में न किया जाय। मेरा तर्क है कि यदि शिक्षा को इस सदर्भ में अर्थपूर्ण और सार्थक बनना है तो इसे 'शक्ति' के रूप में प्रकट होना चाहिए। वास्तव में यह एक अकेली ऐसी शक्ति है जो अब शेष बची है और जो प्रकृति की उन सभी शक्तियों से बलवती है जिन पर मनुष्य विजय प्राप्त कर चुका है। केवल शिक्षा की शक्ति ही ऐसी शक्ति है जो सभी शक्तियों पर नियंत्रण करने में समर्थ है, जिन्हें मनुष्य ने प्राप्त कर लिया है और जिन्हें या तो अपने विनाश के लिए या निर्माण के लिए प्रयोग करेंगे।"

('एजूकेशन ऐज पावर' से, पृष्ठ १३)

यदि शिक्षा एक शक्ति है, तो उसे राष्ट्र के हित में लगाना आवश्यक है और विशेष रूप से भारत जैसे देश में जो एक पिछड़ा राष्ट्र है, उस शक्ति का समुचित नियमित उपयोग एक बहुत बड़ी आवश्यकता है। स्पष्ट है कि आज के बदले हुए युग में शिक्षा का एकमात्र दायित्व है—राष्ट्र का विकास। १९६० में अमरीका के राष्ट्रीय शिक्षा-सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा संस्था की ओर से आमंत्रित श्री हुमायूँ कबीर ने भारत के प्रतिनिधि के रूप में एक भाषण दिया था जिसमें उन्होंने राष्ट्रोन्मुखी शिक्षा पर बल देते हुए कहा था—

"प्राचीनतम काल से सब राष्ट्र उसी अनुपात में उन्नत और समृद्ध रहे हैं जिस अनुपात में उनमें कलाओं और शिल्पों का प्रसार रहा है। कोई भी राष्ट्र, चाहे वह प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से कितना ही समृद्ध हो, तब तक खुशहाल नहीं हो सकता जब तक कि उसके मानवीय साधनों का समुचित विकास नहीं होता और यह विकास शिक्षा का ही काम है।"

राष्ट्र की उन्नति, वास्तव मे, इस बात पर निर्भर है कि उसके नागरिक कहाँ तक कर्मठ, ईमानदार, लगन से काम करने वाले और ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न हैं। ऐसे नागरिक ही राष्ट्र को ससार का सिरमौर बना सकते हैं। ऐसे नागरिकों के न होने से ही हमारी सारी योजनाएँ विफल हुई हैं और यह सब इसलिए हुआ कि हमने शिक्षा के दायित्व को समझा नही है, हमने यह जाना नहीं है कि कैसे शिक्षा एक राष्ट्र की शक्ल को बदल सकती है।

राष्ट्र-निर्माण का दायित्व क्यों ?

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि एक विकासशील राष्ट्र के निर्माण मे शिक्षा का बहुत बडा हाथ होता है। सोवियत रूस में क्रान्ति के पश्चात् छात्रो और अध्यापको ने बौद्धिक शिक्षा का कार्यक्रम जारी रखते हुए, सडक बनाने और रेल की पटरी बिछाने तक के काम किये थे। गाधीजी भी चाहते थे कि अध्यापक और छात्र मिलकर भारत मे सफाई, निरक्षरता को मिटाने, समाज-सुधार करने तथा इसी प्रकार के अन्य रचनात्मक काम लम्बी छुट्टियो मे करें। वर्तमान सरकार भी यह चाहती है कि विद्यालयो मे श्रमदान हो, छात्रगण देहातो मे जाकर कुछ काम करें। परन्तु इतना कुछ पर्याप्त नही है। राष्ट्र-निर्माण का दायित्व हमारी वर्तमान शिक्षा पर क्यों है, इसकी विवेचना आवश्यक है।

हमारा देश बुरी तरह से पिछड़ा हुआ है। इसका एक प्रमुख कारण है कि हम जीवन के हर क्षेत्र मे प्रचलित परम्पराओं में जकड़े हुए हैं। दूसरी ओर इस बात का मोह भी बढ़ता जा रहा है कि हम सब कुछ—सभ्यता और संस्कृति भी—विद्वानो से उधार लेकर पुनर्निर्माण करें। यह दोनो प्रवृत्तियाँ घातक हैं। कोई भी देश अपने उत्थान काल मे अपनी पुरानी सस्कृति की धरोहर को फेंककर चल नहीं सकता, इस प्रकार वह अपनी जड़ें काट लेगा। देश की सभ्यता और सस्कृति मे एक बल देने की क्षमता है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि उन सास्कृतिक परम्पराओं में जो कुछ सड़ा-गला और मृत है उसे दूर किया जाय। एक ओर सस्कृति को जिन्दा रखना और दूसरी ओर चीर-फाडकर मुर्दा माँस को अलग करना, एक बड़ा नाजुक काम है, परन्तु इसके बिना राष्ट्र आगे बढ़ नही सकता। वर्तमान शिक्षा की यह एक बडी जिम्मेदारी है।

इस समय हमारा देश वैज्ञानिक और सास्कृतिक क्राति से होकर गुजर रहा है। इस क्रान्ति के फलस्वरूप जीवन-पद्धति मे बहुत बड़े परिवर्तन हो रहे हैं। यदि इन परिवर्तनो की अनुभूति और उनके अनुकूल जीवन व्यतीत करने के लिए लोग तैयार नही हैं, तो राष्ट्र की शक्ति में विस्फोट नहीं हो सकता। शिक्षा का काम यह है कि वह इन परिवर्तनो की अनुभूति जन-समाज मे पैदा करे। होता यह है कि वैज्ञानिक और तकनीकी उन्नति के कारण भौतिक साधन बढ़ते हैं और उनकी यह माँग होती है कि हम नये तरीके मे जीवन व्यतीत करें, परन्तु परम्पराओं से चिपका समाज ऐसा नहीं करता और पिछड़ता जाता है। इस प्रक्रिया को सामाजिक पिछड़ापन (सोशल

लंग) कहते हैं। हमारे देश मे यह प्रक्रिया चल रही है। जब यह पिछड़ापन बढ़ जाता है, और अचानक प्रगतिशील समाज से हमारा मेल हो या टक्कर हो, तो सहसा पिछड़ेपन की अनुभूति होती है और उसे दूर करने की उद्दाम लालसा क्रान्ति के रूप मे फूट पड़ती है। क्रान्ति का स्वागत है; हमारे देश मे ऐसा हो तो कोई आश्चर्य नही परन्तु क्रान्ति सफल नही होती, असन्तोष से उत्पन्न आग घर को ही जला सकती है, एक क्रान्ति से अनेक क्रान्तियो का सिलसिला प्रारम्भ हो जाता है और पिछड़ापन दूर नही होता, उल्टे जो शक्ति पैदा होती है, वह राष्ट्र-निर्माण मे काम न आकर विध्वंस के कार्य मे लगती है। हमारे देश मे छात्रो की अनुशासनहीनता और विद्रोह, हड़तालें, तोड़-फोड़ और नक्सलवाड़ी आन्दोलन इस प्रक्रिया के लक्षण हैं, युवको की शक्ति का अपव्यय हो रहा है। यदि शिक्षा का काम राष्ट्र-निर्माण करना है, तो उसे परिवर्तनो की इस चुनौती का सामना करना होगा और राष्ट्र की ऊर्जा को अपव्यय से रोकना होगा।

हमारे देश मे प्रजातन्त्र की स्थापना हुई है। इससे एक परिवर्तन यह हुआ कि साधारण से साधारण जन को राष्ट्र के हर काम मे हिस्सा लेने का अधिकार हैं; प्रशासन मे वह भाग लेता ही है। यह एक बहुत बड़ी बात है। सी० ई० एम (स्टोरी आफ सिविलीजेशन) ने कहा था कि प्राचीन काल की सभ्यताओ का अ... हुआ ? डा० इकबाल ने भी एक विचार प्रस्तुत किया था—'यूनानो, मिस्र, रोमन सब मिट गये जहाँ में, अब तक मगर है' बाकी नामो निशाँ हमारा हमारा यह नामोनिशान क्यो बाकी है, दूसरे क्यो मिट गए ? श्री जोड ने इस प्रश्न का समाधान किया है, उनका कहना है कि पुरानी सभ्यताओ के चंद सम्राटो और उनके कुछ प्रतिभाशाली अनुयायियो ने बताया था, वे मर गये, सभ्यताएँ भी मर गयी। परन्तु जिस संस्कृति और सभ्यता का निर्माण जन-साधारण के हाथो हुआ हो, वह मरती नही। हमारे देश की शानदार परम्परा यह रही है कि यहाँ की सभ्यता-संस्कृति को बनाने वाले सम्राट नही थे, वे लाखो-करोड़ो बेनाम गरीब ऋषिमुनि थे, जिनके मन्त्र हवा मे अब भी गूँजते हैं, जिनकी वाणी अजर-अमर है। वे अपने नाम के सिक्के चलाना नही चाहते थे। आज प्रजातन्त्र ने हमको दुबारा यह अवसर दिया है कि हम सब साधारण जन अपनी सभ्यता-संस्कृति को बनायें और राष्ट्र को ऊँचा उठायें। यही पर शिक्षा का काम आता है। हमारी शिक्षा का काम है कि राष्ट्र-हित मे वह जनसाधारण को इतना विकसित कर दे कि वह राष्ट्र-निर्माण मे हिस्सा ले सके और प्रजातन्त्र को सफल बना सके।

राष्ट्र का निर्माण राष्ट्र के भीतर रहकर और बाह्‌य की ओर से आँखें बन्द ... हो सकता। हम एक मिथ्या गर्व के साथ कहा करते हैं कि यातायात के ... का विकास होने से दुनिया छोटी पड़ गयी है, यह एक खोखला विचार है ... संसार बहुत बड़ा है और हर राष्ट्र विचारों के दायरो मे बन्द रहकर सग... ... बना रहा है, विचारों की दूरी ज्यों-की त्यो कायम है। ऐसा न होना

साम्यवाद, प्रजातन्त्रवाद, अधिनायकवाद और उनकी शाखाएँ उपशाखाएँ न होतीं। विचारों की दूरी के कारण टकराव की संभावनाएँ हैं और युद्ध की स्थिति मे राष्ट्र का विकास कैसे होगा ? शिक्षा का काम इस बात की ओर जनसाधारण का ध्यान बार-बार आकृष्ट करना है।

छात्रो और अध्यापकों से केवल 'श्रमदान' कराने से काम नही चलेगा। यह तो एक शुरूआत है। बाकी नागरिको मे श्रम, साहस, मनोबल और उनके साथ-साथ राष्ट्र को ऊपर उठाने की प्रबल आकांक्षा पैदा करना शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण और वर्तमान मे एकमात्र दायित्व है।

राष्ट्र-निर्माण के लिए शिक्षा के लक्ष्य

यदि हम यह स्वीकार करके चलते हैं कि शिक्षा का उद्देश्य राष्ट्र-निर्माण है तो यह निश्चय करना पड़ेगा कि राष्ट्र-निर्माण के क्या प्रमुख लक्ष्य या आधार हैं, जिन्हें शिक्षा को प्राप्त करना चाहिए। इस सदर्भ में सर्वप्रथम भारतीय शिक्षा-आयोग के प्रतिवेदन मे उल्लिखित लक्ष्यो का विवरण देना आवश्यक है।

(१) आयोग का मत है कि राष्ट्र के निर्माण की प्रथम समस्या है, खाद्यान्न मे आत्मनिर्भरता। इस देश में खाद्यान्न की भारी कमी है। जनसख्या इतनी तेजी से बढ़ रही है कि खेती की उन्नति करने के सारे उपायों के बावजूद अन्न की कमी बनी रहेगी और निकट भविष्य मे अन्य देशो से भी अन्न मँगाना असम्भव होगा क्योंकि जनसख्या बढ़ने के कारण वे देश भी अन्न का निर्यात न कर सकेंगे। अत शिक्षा का यह कर्त्तव्य होगा कि वह नागरिको में इस बात की चेतना पैदा करें कि वे जनसख्या के बढ़ने की समस्या के प्रति जागरुक रहें। साथ ही उनमे इतनी क्षमता तथा योग्यता हो कि वे अन्न के उत्पादन को बढायें।

(२) आयोग का मत है कि भारत की उन्नति की दूसरी समस्या है— आर्थिक प्रगति और शत-प्रतिशत रोजगार। एक गरीब देश कभी तरक्की नहीं कर सकता और भारत गरीब है। देश मे बेहद बेरोजगारी है। प्रशिक्षित जन भी बेरोजगार हैं। यहाँ के लोगों को इतना भी भोजन नही मिल पाता जितना कि एक नागरिक के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। राष्ट्रीय आय बहुत कम है। ऐसी दशा में देश की उन्नति कैसे हो सकती है ? इसलिए राष्ट्र की उन्नति के लिए शिक्षा को एक काम यह करना है कि वह ऐसे नागरिक पैदा करे, जो उत्पादन में सक्षम हो; उत्पादन-केन्द्रित शिक्षा के द्वारा नागरिकों को व्यवसायों का ज्ञान कराया जाय ताकि वे रोजगार पा सकें और उन्हें सरकार का मुँह न ताकना पड़े।

(३) आयोग का मत है कि भारत की उन्नति मे सबसे बड़ा रोड़ा है— सामाजिक तथा राष्ट्रीय एकता का अभाव। जब तक भारत का समाज कई स्तरो पर बँटा है, समुदाय, धर्म, भाषा और जातियों के नाम पर यह समाज विभाजित है, तब तक राष्ट्रहित के लिए कोई सगठित प्रयत्न नहीं हो सकता। भारतीय समाज में 'राष्ट्र' की कोई कल्पना ही नहीं है। ऐसी दशा मे शिक्षा का कार्य यह है कि वह नागरिको

को राष्ट्रीय एकता की अनुभूति कराये । तभी हड़तालों, कानून-भंग, तोड़-फोड़ और सार्वजनिक जीवन से भ्रष्टाचार नष्ट होगा । यही राष्ट्र-निर्माण में बाधक तत्त्व हैं ।

(४) आयोग का मत है कि राष्ट्र की उन्नति के लिए राजनैतिक जागृति आवश्यक है । देश में प्रजातंत्र को मजबूत बनाना है जिसके लिए सुशिक्षित मतदाता, योग्य नेतृत्व और आत्मनियंत्रण, सहिष्णुता और सहयोग जैसे मूल्यों की स्थापना आवश्यक है । हमारी स्वतंत्रता नयी है जिसकी रक्षा के लिए नवयुवकों का सैनिक प्रशिक्षण काफी नहीं है वरन् हमें देश की अर्थ-व्यवस्था को मजबूत बनाना है, देश को संगठित करना और एकता पैदा करनी है । भारत का एक विशाल जनसमुदाय तिरस्कृत और पिछड़ा हुआ है । उसमें अब नयी आकांक्षाएँ पैदा हो रही हैं और उस उभरते हुए समाज को उन्नति के अवसर देने हैं, इससे राष्ट्र को नयी शक्ति मिलेगी । देश से बाहर निगाह उठाकर देखने से पता चलता है कि अन्य राष्ट्र उन्नति की दौड़ में बहुत आगे हैं और हमारा देश पिछड़ता जा रहा है । राष्ट्र की उन्नति के लिए इस अन्तर्राष्ट्रीय खाई को पाटना है, राष्ट्र की मान-मर्यादा उधार माँगने से नहीं बढ़ सकती, भारत को ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अपनी मौलिक प्रतिभा के बल पर अपने व्यक्तित्व को उभारना है । राष्ट्र की इन आवश्यकताओं को शिक्षा किस प्रकार पूरा कर सकती है, यह एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न है । आयोग ने इन सब पर विचार किया है ।

एक जर्मन दार्शनिक का कहना है कि यदि शिक्षा से चरित्र-निर्माण को निकाल दिया जाय, तो वह शिक्षा केवल ढोंग (हिपोक्रेसी) बनकर रह जाती है । यह बात भारतीय शिक्षा के सम्बन्ध में अक्षरशः सत्य सिद्ध होती है । यहाँ की शिक्षा-योजना में चरित्र-निर्माण का कहीं कोई उल्लेख नहीं है । यद्यपि कोठारी शिक्षा-आयोग के प्रति-वेदन का नामकरण "शिक्षा तथा राष्ट्रीय विकास" किया गया है, यह स्पष्ट किया गया है कि शिक्षा का काम राष्ट्र-निर्माण का काम है और उसकी भावी योजना प्रस्तुत की गयी है; परन्तु उस आधारभूत बात को भुला दिया गया है, जिसका उल्लेख जर्मन दार्शनिक ने किया है । आजादी के बाद राष्ट्र-निर्माण के लिए नागरिकों के चरित्र-विकास की ओर न तो ध्यान दिया गया और न अभी भी दिया जा रहा है । इस देश का दुर्भाग्य यह है कि वर्तमान विचारकों ने 'चरित्र' का सम्बन्ध 'यौन भावना' से, यौन-भावना का सम्बन्ध नैतिकता और नैतिकता का सम्बन्ध धर्म से जोड़ दिया गया है । चूँकि भारत में अनेक धर्म हैं और धर्म ने खून की नदियाँ बहाई हैं, इसलिए शिक्षा को धर्म से दूर रखने की घोषणा 'धर्मनिरपेक्षता' की नीति द्वारा की गई है । परन्तु यह नहीं सोचा गया कि नैतिकता और चरित्र-निर्माण की बुनियाद को, जो राष्ट्र की उन्नति का मूलाधार है, कैसे कायम रखा जाय । इसका परिणाम यह हुआ कि वर्तमान पीढ़ी में 'अन्तरात्मा' का अभाव है ।

दुर्भाग्य से शिक्षा के क्षेत्र में 'चरित्र-निर्माण' के उद्देश्य को दकियानूसी और [illegible] मानकर बहिष्कृत कर दिया गया है । इस उद्देश्य का स्मरण करते ही, यद ... कि व्यक्ति का चरित्र-निर्माण अर्थात् शिक्षा पाकर ऐसा व्यक्ति बन जा

कि किसी स्त्री की तरफ आँख उठाकर न देखे, अखंड ब्रह्मचर्य का पालन करे, मदिरा-पान, विलासिता, कुटेव से दूर रहकर संयमपूर्ण जीवन बिताये। ऐसे व्यक्ति की कल्पना से चरित्र का राष्ट्र-निर्माण से जो सम्बन्ध है, वह धूमिल जान पड़ने लगता है। वास्तव मे चरित्र का अर्थ व्यापक है। वह यह है कि कुछ शाश्वत मूल्यों पर पूर्ण आस्था के साथ प्रलोभनों मे बचते हुए दृढ रहना, उन मूल्यों की रक्षा के लिए हर तरह का त्याग करना। वे मूल्य हैं—निर्भीकतापूर्वक सत्य पर दृढ़ रहना; ईमानदारी से, जहाँ भी जिस पद पर काम रहे, अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करना और इस मार्ग मे आने वाले प्रलोभनों, *जैसे अनुचित साधनो से धन पैदा करना, भोग-विलास की लालसा* से कोई छूट देना या किसी को लाभ पहुँचाना आदि, से मुक्त रहना, अधिकाधिक परिश्रम करके अपने काम को पूरा करना और उसे कलात्मक ढङ्ग से करना, अपने स्थान पर न्यायोचित व्यवहार करना; जन-सेवा के लिए हर समय तत्पर रहना अर्थात् यह अनुभव करना कि मुझे जनसेवा के लिए वेतन या लाभ मिल रहा है, राष्ट्र के प्रति वफादारी रखना। इन मूल्यों का सम्बन्ध किसी प्रकार की कुशलता से नहीं है, इनका सम्बन्ध मनुष्य के मन से, उसकी अभिवृत्ति से है। मन का परिष्कार और इन अभिवृत्तियों की उत्पत्ति ही चरित्र-निर्माण है। हमारी शिक्षा-योजनाओं मे इन सूक्ष्म परिवर्तनों की ओर ज़रा भी ध्यान नहीं दिया गया है।

उक्त प्रकार से चरित्र-निर्माण की ओर ध्यान देने से हमारी शिक्षा कोई फल नहीं दे रही है। जब तक हमारे नागरिक निर्भीक, सत्यपरायण, ईमानदार, कर्मठ, *न्यायप्रिय, कर्त्तव्य-परायण तथा जन-सेवा की भावना से परिपूर्ण नहीं बनते*, राष्ट्र कभी भी ऊँचा नहीं उठ सकता है। केवल कुछ कुशल इंजीनियर, डाक्टर, प्रशासक तथा तकनीकी विशेषज्ञ तैयार करने से देश को लाभ नहीं मिल सकता। हम ऐसे कुशल जनों की शिक्षा पर देश के भीतर और बाहर विदेश मे, लाखों-करोड़ो रुपए व्यय करते हैं परन्तु वे देश की सेवा के लिए वापस नहीं लौटते, या लौटकर सुख-लालसा से विदेश चले जाते हैं (जिसे ब्रेन ड्रेन के नाम से पुकारा जाता है), यदि यहाँ रहे भी तो भ्रष्टाचार मे फँसकर सार्वजनिक धन का अपव्यय करते हैं। दफ्तरो मे, बैंकों में, प्रशासकीय पदो पर, यहाँ तक कि विदेशों के दूतावासों मे भारत के नागरिक राष्ट्र के प्रति निष्ठा का अभाव प्रदर्शित कर रहे हैं, जनता को परेशान करते हैं। यदि राष्ट्र का निर्माण करना है, तो पहले इन बुनियादी बातों की ओर ध्यान देना होगा। दानवी प्रकृति के विशेषज्ञ जिन्हें तैयार करने की योजनाएँ बन रही हैं, राष्ट्र को बरबाद करके छोड़ेंगे। आज देश को इन विशेषज्ञों की अपेक्षा योग्य ईमानदार नागरिकों की बड़ी आवश्यकता है, परन्तु इस ओर शिक्षा के क्षेत्र मे उदासीनता है। इस प्रसग मे २१ जुलाई, १९७० को पटना विश्वविद्यालय की स्वर्णजयन्ती के अवसर पर वर्तमान राष्ट्रपति श्री० वी० वी० गिरि के उद्घाटन भाषण में इस बात का उल्लेख किया गया है। अब जान पड़ता है कि राजनीतिज्ञों की आँखें खुल रही हैं। राष्ट्रपति के भाषण में 'चरित्र के सकट' (क्राइसिस आफ़ कैरेक्टर) का उल्लेख है।

उल्लेख है। उन्होने छात्रो को डिग्री देने के स्थान पर मानव-समाज की सेवा, शारीरिक श्रम के काम, और आत्मनिर्भरता की ओर उन्मुख करने की चर्चा की है। राष्ट्रपति ने वही बाते कही हैं, जो गाधीजी ने पचास वर्ष पहले कही थी। खेद तो यह है कि हमारा राष्ट्रपति भी शिक्षा-प्रणाली मे कोई हेर-फेर करने मे असमर्थ है। शिक्षा की व्यर्थता को हमारे नवयुवक छात्र समझने लगे हैं। पटना विश्वविद्यालय के इस समारोह मे छात्रो ने बिहार के मुख्यमत्री, शिक्षामन्त्री और केन्द्रीय शिक्षामन्त्री को बोलने नही दिया।

अस्तु, हमे राष्ट्र-निर्माण के लिए शिक्षा के दायित्वो मे, विज्ञान तथा तकनीकी प्रशिक्षण, राष्ट्रीय एकता तथा अन्य महत्त्वपूर्ण बातो के साथ-साथ चरित्र-निर्माण को स्वीकार करना चाहिए और इसे प्राथमिकता मिलनी चाहिए।

राष्ट्र-निर्माण की दृष्टि से एक आवश्यक लक्ष्य यह होना चाहिए कि हमारे नागरिक हर प्रकार से 'स्वतन्त्र' हो। यह ठीक है कि राजनैतिक दृष्टि से देश स्वतन्त्र हो गया है परन्तु इससे केवल 'शरीर' स्वतन्त्र हुआ है, 'आत्मा' नही। सामान्य भारतीय विचारो की गुलामी से मुक्त नही हुआ। अशिक्षित जन परम्पराओ के गुलाम हैं, हजारो वर्षों से उनके जीवन में एक ही बात सामने रही है—परिवार में पैदा होना, बडे होना, विवाह, कोई रोजगार कर लेना और फिर शान्तिपूर्वक मर जाना, उन्होने राष्ट्र और समाज के बारे मे कभी सोचा ही नही। शिक्षित जनो मे दूसरी प्रकार की गुलामी है, कोई गाधी का गुलाम तो कोई कार्लमार्क्स का, कोई धार्मिक ग्रन्थो का गुलाम तो कोई भाषा का गुलाम। जिस देश मे जनसख्या बढ रही हो, वहाँ के एक समाज मे सुशिक्षित लोग अभी भी एक साथ चार पत्नियाँ रखने की वकालत करे, तो उन्हें कैसे स्वतन्त्र कहा जाय? फिर भी ऐसे सुशिक्षित जन है जो बदली हुई परिस्थितियो के सदर्भ मे विचार कर नही सकते। हो सकता है कि वे उस अशिक्षित समाज का सम्मान खो देने के भय के गुलाम हो, पर गुलामी तो है। यदि राष्ट्र का निर्माण करना है, तो नयी परिस्थितियो के सदर्भ मे सोचना होगा और परम्पराओ की दासता से मुक्त होना पडेगा। इस प्रकार की शक्ति शिक्षा के द्वारा पैदा करना आवश्यक है। डा० सम्पूर्णानन्द ने अपने एक निबन्ध (सोशियोलॉजिकल बाइसिस इन एजुकेशन) मे कहा है—

"हमारे लिए शिक्षा शुद्ध रूप से एक प्रयोजनवादी विषय है, साध्य से साधनो को जोडने का प्रश्न है, यह साध्य आज की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियो द्वारा निर्धारित होगे। यह परिस्थितियाँ एक युग से दूसरे युग मे बदलती रही हैं; इन परिस्थितियों की रफ्तार कभी बहुत तेज और कभी बहुत कम रही है, यह परिवर्तन इस देश में एक प्रकार के और दूसरे देश मे दूसरे प्रकार के हुए हैं और यदि हमारा दृष्टिकोण यह है कि शिक्षा प्रयोजनात्मक आधार पर बदलती है, तो फिर शिक्षा
कोई दार्शनिक या वस्तुनिष्ठ लक्ष्य कठिनाई से तय हो सकता है। शिक्षाविद् हो

एक काम कर सकता है, वह यह है कि परिस्थिति के अनुसार वह साधनों का उपयोग करे"""परन्तु यह केवल एक पक्ष है।"

कहने का तात्पर्य यह है कि बदलते हुए समाज में या विकासशील राष्ट्र में, उसकी परिस्थितियों का ध्यान रखते हुए शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। ऐसा तभी हो सकता है, जब उस समाज के लोग विचार करने में स्वतन्त्र हों, और तभी वे परिवर्तनों के महत्त्व को समझ सकेंगे। इसलिए राष्ट्र-निर्माण की दृष्टि से शिक्षा को स्वतन्त्र रूप से विचार करने की शक्ति नागरिकों में पैदा करनी चाहिए।

राष्ट्रोन्नति में शिक्षा द्वारा योगदान के उपाय

भारतीय शिक्षा-आयोग ने राष्ट्रहितकारिणी शिक्षा की रूपरेखा पर बड़े विस्तार से विचार किया है और वे विचार उसके प्रतिवेदन के रूप में सुलभ हैं। जिज्ञासुओं को इस प्रतिवेदन को आद्योपान्त पढ़ना चाहिए। तथापि आयोग के विचारों का कुछ सारांश नीचे प्रस्तुत है।

आयोग ने अपने प्रतिवेदन में राष्ट्र-निर्माणकारी शिक्षा के दो पहलुओं पर विशेष बल दिया है, एक पहलू है भारतीय शिक्षा प्रणाली की संरचना में सुधार और दूसरा है शिक्षा के द्वारा कुछ विशेष परिणाम उत्पन्न करने की दिशा। आयोग ने एक ओर शिक्षा की संरचना और प्रशासकीय मशीन को दुरुस्त करने पर बल दिया है, इसके लिए उसने शिक्षा-प्रणाली को कई स्तरों पर संगठित करने का सुझाव दिया है, हर स्तर के लिए समय निश्चित किया गया है और उसके लिए कार्यक्रम स्थिर किया गया है। शिक्षा में जान पैदा करने के लिए एक राष्ट्र-व्यापी कार्यक्रम तैयार किया है, जिसके अन्तर्गत सार्वजनिक शिक्षा के लिए साधारण विद्यालय (कॉमन स्कूल) की कल्पना है; केन्द्र राज्य और जिला स्तर पर प्रशासन में संगठन और निरीक्षण की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है। शिक्षा की प्रक्रिया में अध्यापक के महत्त्व को स्वीकार करके आयोग ने हर स्तर के अध्यापकों की आर्थिक, सामाजिक और व्यावसायिक उन्नति के लिए वेतन-मान, काम की दशाएँ और सुविधाएँ निश्चित की हैं। साथ ही अध्यापकों की क्षमता बढ़ाने के लिए आयोग ने अध्यापक-शिक्षा के अन्तर्गत, अध्यापक-परीक्षकों और संस्थाओं के बारे में विचार करके उपयोगी सुझाव दिये हैं। यद्यपि इन सबका राष्ट्र-निर्माण से सीधा सम्बन्ध प्रकट नहीं होता, तथापि इसमें संदेह नहीं कि आयोग द्वारा निर्धारित राष्ट्रीय लक्ष्यों की पूर्ति तभी हो सकती है, जब प्रशासन, शिक्षा के स्तरों पर कार्य का संगठन और अध्यापकों की दशा में पहले सुधार करके शिक्षा-प्रणाली में जान फूँकी जाय।

शिक्षा का दूसरा पहलू है, उसका कार्यक्रम। इस कार्यक्रम की पूर्ति से ही राष्ट्र-निर्माण की दिशा में जन-समाज आगे बढ़ सकता है। राष्ट्र-निर्माण की एक आवश्यक शर्त है, खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता। इस शर्त की पूर्ति के लिए आयोग ने कृषि-शिक्षा का कार्यक्रम प्रस्तुत किया जिसके अन्तर्गत विद्यालयों में कृषि की शिक्षा, पालिटेक्नीक स्कूलों में कृषि की विशेष शिक्षा, कृषि-विश्वविद्यालयों में कृषि

सम्बन्धी विशेषज्ञता तथा शोध, सभी स्तरों की सामान्य शिक्षा में कृषि के तत्वों का समावेश और कृषि विस्तार सेवा पर बल दिया गया है। प्रतिवेदन में बार-बार कहा गया है कि कृषि सभी उद्योगों का मूल है। इसलिए यह आवश्यक है कि शिक्षा में व्यावहारिक अनुभव, आधुनिकतम खेती के तरीकों का ज्ञान और बीजों, खाद तथा उपकरणों के प्रयोग आदि को प्रधानता दी जाय।

राष्ट्र की उन्नति का दूसरा दृढ़ आधार यह है कि देश की गरीबी दूर हो और सबको रोजगार मिले। आयोग ने इस दिशा में शिक्षा के द्वारा किये जा सकने वाले प्रयत्न का उल्लेख किया है। आगामी भारतीय शिक्षा में माध्यमिक स्तर पर पाठ्यक्रम को उत्पादन-केन्द्रित तथा कार्यानुभव प्रधान बनाया जाय। वास्तव में इस प्रकार का सुधार आयोग के सदस्यों ने परिस्थितियों से विवश होकर गांधीजी की बुनियादी शिक्षा से उधार लिया है यद्यपि वे इस ऋण को स्वीकार नहीं करते। इस प्रकार के सुधार से नागरिक आत्मनिर्भर बनेंगे और स्वयं कोई न कोई रोजगार प्राप्त करने में समर्थ होंगे। सरकारी नौकरी का मोह छूटेगा तथा बेरोजगारी समाप्त होगी। इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर आयोग ने शिक्षा में व्यावसायिक, तकनीकी और इंजीनियरिंग के पाठ्यक्रमों का प्रावधान करने की संस्तुति दी है। कृषि की शिक्षा से भी बेरोजगारी की समस्या हल होगी। परीक्षा पास करते ही नवयुवक घर के धन्धे और खेती छोड़कर शहर की ओर निकल पड़ते हैं। इस समस्या का हल भी निकल आयेगा। देश की ग्रामीण जनता की गरीबी दूर होगी और वहाँ की दशा सुधरेगी।

राष्ट्र की उन्नति का तीसरा प्रमुख आधार है—राष्ट्रीय तथा भावनात्मक एकता। इस एकता के भाव को पुष्ट करने में शिक्षा किस प्रकार सहायक हो सकती है, इस बात पर आयोग ने विस्तार से प्रकाश डाला। समाज में एकता की भावना को पुष्ट करने के लिए भाषा-नीति निश्चित की गयी है जिसके अनुसार हर देशवासी को अंग्रेजी या हिन्दी का ज्ञान अनिवार्य रूप से प्राप्त करना होगा। भाषा के माध्यम से समाज के विभिन्न वर्गों के जो देश के विभिन्न भागों में रहते हैं, सम्बन्ध दृढ़ होंगे। आयोग ने एक ऐसे सामान्य विद्यालय (कामन स्कूल) की कल्पना की है, जिसमें हर वर्ग के लोग बिना किसी भेदभाव के एक प्रकार की शिक्षा पा सकेंगे। हमारे देश में धार्मिक, सम्प्रदायिक, वैयक्तिक, पब्लिक स्कूल तथा अन्य कई प्रकार की शिक्षा संस्थाएँ हैं जिनमें शिक्षा प्राप्त करने वाले नवयुवक और नवयुवतियाँ संकुचित विचार लेकर बाहर निकलते हैं। वे राष्ट्र के व्यापक हित में कुछ सोच नहीं सकते। उनमें भावात्मक एकता नहीं रहती। सामान्य स्कूल इस कमी को दूर करेगा। राष्ट्रीय तथा भावनात्मक एकता के लिए शिक्षा के समान अवसर प्रदान करने, शिक्षा के द्वारा छात्रों में राष्ट्रीय भावना भरने, न्याय के प्रति आस्था उत्पन्न करने और विभिन्नताओं का आदर करने के उपायों पर आयोग ने व्यावहारिक सुझाव दिये हैं। सामाजिक तथा राष्ट्रीय सेवाओं की योजना बनाकर पेश की गयी है। इन सबका परिचय प्रतिवेदन को पढ़कर प्र[illegible] जा सकता है।

राष्ट्रोन्नति के लिए आयोग ने राजनैतिक जागृति को चौथा मुख्य आधार माना है। इस आधार को पुष्ट करने के लिए शिक्षा क्रम में प्रजातान्त्रिक भावना को उत्पन्न करने की प्रक्रिया पर बल दिया गया। स्वस्थ, सजग और उद्बुद्ध नागरिक तैयार करने के लिए, शारीरिक शिक्षा, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा, रचनात्मक शक्तियों के उन्नयन, समाज सेवा तथा सैनिक प्रशिक्षण के कार्यक्रमों की आवश्यकता बतायी गयी है। विश्वबन्धुत्व की भावना उत्पन्न करने के लिए पाठ्य-पुस्तकों में परिवर्तन करने की सलाह दी गयी है। विदेशी भाषाओं के अध्ययन से इस लक्ष्य की पूर्ति की जा सकती है।

संक्षेप में, आयोग ने राष्ट्रोन्नति के व्यापक सदर्भ मे शिक्षा की उपयोगिता पर विचार किया है। उसने स्वीकार किया है कि भारत मे शिक्षा के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना का विकास करने की अत्यन्त आवश्यकता है। यद्यपि संकुचित राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों को जन्म देती है और एक सबल राष्ट्र को आक्रामक बना देती है, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि राष्ट्रीयता की भावना में बहुत बड़ी शक्ति होती है; किसी भी राष्ट्र में जब यह भावना पैदा हो जाती है, तो वह बड़ी तेजी तथा उत्साह से शक्ति-अर्जन के काम मे जुट जाता है। जर्मनी, इटली, जापान, चीन और इजराइल के उदाहरण हमारे सामने हैं। स्वयं भारत मे राष्ट्रीयता का विस्फोट जब हुआ, तो अंग्रेजों को भागना पड़ा; चीन को अपना आक्रमण बन्द कर देना पड़ा और पाकिस्तान ने मुँह की खायी। राष्ट्रीयता का भाव दो बातों पर निर्भर है, एक है देश की संस्कृति को समझना और उस पर अभिमान तथा दूसरी है, इस बात का विश्वास कि भविष्य हमारा उज्ज्वल है और हमें भारत को राष्ट्रों की अगली पंक्ति में बिठाना है। इन दोनों भावों को शिक्षा के द्वारा उत्पन्न करना है। देश के विभिन्न भागों में स्थित शिक्षा संस्थाओं के बीच अलगाव दूर करके, अखिल भारतीय शिक्षा संस्थाएँ चलाकर, देश के विभिन्न राज्यों की संस्कृतियों के बीच आदान-प्रदान और उन्हें समझने की चेष्टा करके यह काम पूरा किया जा सकता है। इसी प्रकार नयी पीढ़ी में शिक्षा के द्वारा ही यह भाव पैदा किया जा सकता है कि भविष्य हमारा है, देश में विकासात्मक कार्यों से नयी दुनिया बनने वाली है जिसमें सभी सुखी होंगे।

शिक्षा पर सार्वजनिक धन व्यय होता है और शिक्षा की अच्छाई या बुराई से होने वाले लाभ-हानि का फल आम जनता को भोगना पड़ता है। इसलिए अब समय आ गया है कि सामान्य जन भी शिक्षा की कार्यक्षमता पर विचार करे और उसकी अपर्याप्तता की आलोचना करे; शिक्षा अब चन्द विशेषज्ञों की बपौती नहीं है। इसलिए हमें भी इस बात पर विचार करने का अधिकार है। एक सामान्य बुद्धि वाले व्यक्ति की हैसियत से जब हम विचार करते हैं, तो यह दिखायी देता है कि राष्ट्र की उन्नति के लिए ईमानदार और चरित्रवान नागरिकों का होना आवश्यक है और दुर्भाग्य से इस प्रकार के नागरिक शिक्षा पैदा नहीं करती।

नागरिकता की भावना भारत में है ही नहीं, इसका कारण है कि यहाँ हर

मनुष्य वैयक्तिक स्तर पर अपना जीवन व्यतीत करता है, वह अपने मे इस प्रकार केन्द्रित है कि अपने पडोसी के हितो का बलिदान करने मे उसे सकोच नही होता। राष्ट्रीय सम्पत्ति को वह अपनी सम्पत्ति नही समझता, दफ्तर में पंखे और रोशनी पर बेदर्दी मे बिजली खर्च की जाती है क्योकि कर्मचारी को यह अनुभूति नही कि यह राष्ट्र के धन का अपव्यय है। बैंको, सरकारी दफ्तरो और प्रतिष्ठानो मे अधिकारीगण अपनी सुख-सुविधा के लिए कूलर, फर्नीचर, तथा अन्य उपकरण मंगाते हैं न कि कार्य-क्षमता बढाने की दृष्टि से। विकास योजनाओ के चलाने में भारी अपव्यय इसीलिए हुआ है कि अधिकारियो ने बिना निरीक्षण किये भत्ते बनाये हैं; घर बने हैं, तो वे टूट गये, सडकें बनीं तो खुद गयी। यह सब इसलिए हुआ कि सरकारी कर्मचारी नागरिकता का अर्थ नहीं समझते। कोई भी शिक्षा-प्रणाली राष्ट्र-निर्माण मे सहायक नहीं हो सकती यदि वह मानवीय साधनो (ह्यूमैन रिसोर्सेज) को एकत्र नही करती। यदि शिक्षा नवयुवको और नवयुवतियो मे मानवता का भाव नहीं पुष्ट करती, तो वे लोग उत्तरदायित्व के पदो पर अपने कर्तव्य-पालन मे सचेष्ट नहीं रह सकते और देश की उन्नति एक आकाश-कुसुम मात्र रहेगी।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१ "वर्तमान भारतीय शिक्षा इतिहास के प्रवाह के विरुद्ध है।" इस कथन पर प्रकाश डालिए।

२ शिक्षा किस प्रकार देश की उन्नति मे सहायक हो सकती है? कुछ उदाहरण देकर अपने विचारो की पुष्टि कीजिए।

३ कोठारी शिक्षा-आयोग ने शिक्षा-प्रणाली मे किन तत्त्वो पर जोर दिया है, जो देश की उन्नति मे साधक हैं? उनके सम्बन्ध मे अपना मत प्रकट कीजिए।

४ शिक्षा क्रम मे किन उपायो का अवलम्बन करके शिक्षा और राष्ट्रीय उन्नति के बीच तालमेल बैठाया जा सकता है? आप अपने व्यक्तिगत विचार प्रकट कीजिए।
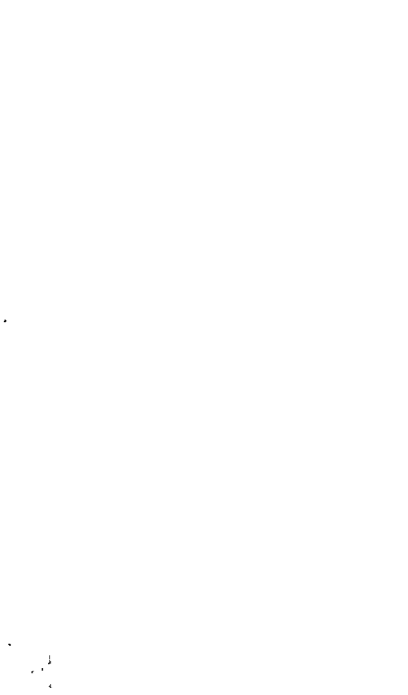
लेखक
रामखेलावन चौधरी
राधावल्लभ उपाध्याय
प्राध्यापक
जियालाल शिक्षण-संस्थान, अजमेर

...नवार्य और नि शुल्क प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करने का प्रण किया तो हमारे
...प धन नहीं जुटता (यद्यपि फौज, पुलिस तथा सिविल प्रशासन पर आँख बंद करके
...न खर्च किया जाता है) और यदि प्राथमिक शिक्षा की थोड़ी बहुत व्यवस्था करते है,
... वह सस्ती, हल्की, गडियल और व्यर्थ होती है। अध्यापको की बढ़िया सेना खड़ी
...र सकने मे हम असमर्थ है। माध्यमिक शिक्षा इतनी लचर है कि वह स्वस्थ और
...सुयोग्य नागरिक नहीं पैदा कर पाती और छात्रो को इतना समर्थ नहीं बनाती कि वे
...उच्च अध्ययन मे कुशल सिद्ध हो सकें। उच्च शिक्षा मे शोध के नाम पर खूब धन
...बहाया जा रहा है पर छात्र अनुशासनहीन बन रहे है और उनका ज्ञान उथला होता
...है और वे अपनी यौवनोचित आकाक्षाएँ पूरी करने मे असमर्थ बनकर निराशा और
...क्षोभ मे आन्दोलित हो रहे है। तकनीकी शिक्षा का हाल यह है कि तकनीकी ज्ञान
प्राप्त जन रोजगार नहीं पाता। उसे केवल सरकारी नौकरी की चाह है, स्वावलम्बी
होकर वह कोई उत्पादन का कार्य नहीं कर सकता। हमारे देश की परम्पराओ मे
विमुख शिक्षा चरित्र का उत्थान नहीं कर पाती, इस धर्म-परायण देश मे शिक्षा धर्म-
निरपेक्ष है। भारत मे १५ सम्पन्न भाषाएँ है पर शिक्षा के क्षेत्र मे हम विदेशी भाषा
अंग्रेजी की माला जप रहे हैं। भारतीय भाषाओं के अध्ययन की कोई व्यवस्था नहीं,
पर सरकार अंग्रेजी की पढाई के लिए प्राणपण मे संलग्न है। देशप्रेम पैदा न करके
शिक्षा मनुष्य को व्यक्तिवादी बना रही है जिससे देश की एकता पर प्रहार हो रहा
है। सबसे बड़े खेद की बात यह है कि शिक्षा की अद्भुत तथा बलवती परम्पराएँ
हमारे देश मे प्राचीनकाल मे चलती आ रही है पर विदेशी शिक्षा के मोह मे हम उन
बहुमूल्य परम्पराओं मे अनभिज्ञ है। पश्चिम की भोंडी नकल करके हम शेखी मारते
है परन्तु वहाँ के शैक्षिक दर्शन का सर्वाङ्ग ज्ञान भी हमें नहीं है।

अस्तु, अनेक समस्याएँ शिक्षा के क्षेत्र मे वर्तमान हैं। उनका परिचय और
समाधान बताने के लिए इस पुस्तक की रचना की गयी है। लेखको के कई वर्षों के
अनुभव और परिश्रम का यह फल है। पुस्तक के सभी अध्याय विचारोत्तेजक है।
पाठ्य-सामग्री सर्वाङ्गीणता की दृष्टि से चाहे पूर्ण न हो पर आलोचना इसमे अवश्य
मिलेगा। प्रशिक्षण के लिए सन्नद्ध छात्रो को भारतीय शिक्षा की समस्याओ के प्रति
संचेष्ट करना इस पुस्तक का एक प्रमुख लक्ष्य है। राजस्थान विश्वविद्यालय के
बी० एड० परीक्षा के लिए निर्धारित चतुर्थ प्रश्न-पत्र के पाठ्यक्रम को पढ़ने वाले
छात्राध्यापको के लिए यह विशेष रूप मे उपयोगी है। ऐसी पुस्तक मे उनका लाभान्वित
होना निश्चित है।

पाठकों से लेखकगण आशा करते है कि वे सहृदयतापूर्वक इस पुस्तक का पढ़ेंगे
और उदारतापूर्वक त्रुटियो की ओर संकेत करेंगे ताकि उनका परिमार्जन भविष्य मे
किया जा सके।

चौधरी
उपाध्याय

शरद-पूर्णिमा
सन १९६८

अनुक्रमणिका

अध्याय १

प्राथमिक शिक्षा का इतिहास

१–१६

१६वी शताब्दी के प्रारम्भ में देशी शिक्षा १, देशी शिक्षा की जाँच २, देशी शिक्षा की अवनति के कारण ३, ईसाई पादरियों की चेष्टाएँ ३, कलकत्ता मदरसा की स्थापना ४, बनारस सस्कृत कॉलिज की स्थापना ४, सन् १८१६ से सन् १८५४ तक ५, वुड का घोषणा-पत्र ७, घोषणा-पत्र की प्रमुख सिफारिशें ७, सन् १८५४ से सन् १८८८ तक प्राथमिक शिक्षा का विकास ८, सन् १८८२ का शिक्षा आयोग ६, कार्य-क्षेत्र एव उद्देश्य ६, सुझाव ६, अध्यापकों का प्रशिक्षण १०, सन् १८८२ से सन् १६०२ तक प्राथमिक शिक्षा का विकास १०, सन् १६०२ से सन् १६१० तक, सन् १६२१ से १६३७ का 'द्वैध शासन', सन् १६३७ से १६४७ तक प्रान्तीय स्वशासन १२, योजना की समीक्षा, स्वतन्त्र भारत में प्राथमिक शिक्षा का विकास १३, अभ्यासार्थ प्रश्न १६।

अध्याय २

भारत में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा

१७–३६

अनिवार्य शिक्षा की आवश्यकता १७, प्रारम्भिक शिक्षा की अनिवार्यता के लिए प्रारम्भिक प्रयास १८, सन् १८६० से १६१८ तक अनिवार्यता के लिए आन्दोलन १६, प्रान्तों में शिक्षा अनिवार्य करने के प्रयत्न २१, स्वतन्त्रता के उपरान्त अनिवार्य शिक्षा २२,

प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने में कठिनाइयाँ एवं समस्याएँ
प्राथमिक शिक्षा के अनिवार्य शिक्षा-प्रसार के लिए सुझाव ३२,
३३, नि शुल्क अनिवार्य शिक्षा-प्रसार के लिए सुझाव ३२,
अभ्यासार्थ प्रश्न ३८, राजस्थान विश्वविद्यालय की बी० एड०
परीक्षा में पूछे गये प्रश्न ३८।

अध्याय ३ ४०-५२

✓विदेशों में प्राथमिक शिक्षा

इगलैण्ड में प्राथमिक शिक्षा ४०, प्राथमिक शिक्षा के स्तर ४१,
सयुक्त राज्य अमरीका में प्राथमिक शिक्षा ४४, शिक्षा और
स्थानीय इकाइयाँ ४५, सयुक्त राज्य मे प्राथमिक शिक्षा का सगठन
४५, सोवियत रूस की प्राथमिक शिक्षा ४८, सोवियत शिक्षा के
सोपान ४६, अभ्यासार्थ प्रश्न ५२।

✓ अध्याय ४ ५३-७६

बुनियादी शिक्षा

वर्धा शिक्षा योजना का जन्म ५४, जाकिर हुसैन समिति ५४,
जाकिर हुसैन रिपोर्ट की रूपरेखा ५५, पाठ्य-क्रम का रूप ५५,
खेर समितियाँ ५६, सार्जेन्ट योजना ५६, बुनियादी शिक्षा का
स्वरूप ५८, विभिन्न दर्शन और बुनियादी शिक्षा ६०, बुनियादी
शिक्षा के आधारभूत सिद्धान्त ६२, बुनियादी शिक्षा की वर्तमान
स्थिति ६५, बुनियादी शिक्षा की समस्याएँ व कठिनाइयाँ ६७,
बुनियादी शिक्षा की समालोचना ७०, बेसिक शिक्षा की कठिनाइयों
को दूर करने के उपाय ७२, अभ्यासार्थ प्रश्न ७६, राजस्थान
विश्वविद्यालय की बी० एड० परीक्षा में पूछे गये प्रश्न ७६।

अध्याय ५ ७७-८

✓ माध्यमिक शिक्षा का सक्षिप्त इतिहास

सन् १८५४ से १८८८ तक ७७, सन् १८८२ का भारतीय शिक्षा
आयोग ७८, लार्ड कर्जन और माध्यमिक शिक्षा ७६, सन् १६०४
का शिक्षा-नीति सम्बन्धी सरकारी प्रस्ताव ७६, कलकत्ता विश्व-
विद्यालय आयोग (१६१७) ८१, सन् १६०५ से १६२१ तक
माध्यमिक शिक्षा की प्रगति ८२, द्वैध शासन में माध्यमिक शिक्षा
की प्रगति (१६२२-१६३७) ८२, सार्जेन्ट योजना १६४४, ८५,
अभ्यासार्थ प्रश्न ८६।

अध्याय ६

माध्यमिक शिक्षा आयोग

आयोग की नियुक्ति के उद्देश्य ८७, आयोग के सुझाव—माध्यमिक शिक्षा के दोष ८८, माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य ८८, माध्यमिक शिक्षा का पुनर्गठन ८९, भाषाओं का अध्ययन ९०, पाठ्य-पुस्तकें ९०, माध्यमिक विद्यालयों का पाठ्यक्रम ९१, पाठ्यक्रम के विषय ९२, अध्यापन विधि ९४, चरित्र-निर्माण की शिक्षा ९४, माध्यमिक शिक्षा में मार्ग-प्रदर्शन एवं परामर्श ९४, छात्रों का शारीरिक कल्याण ९५, परीक्षा एवं शैक्षिक मूल्यांकन ९५, अध्यापकों की उन्नति ९५, अध्यापकों का प्रशिक्षण ९६, प्रशासन की समस्या ९६, माध्यमिक शिक्षा आयोग का मूल्यांकन ९७, दोष ९८, राजस्थान में माध्यमिक शिक्षा आयोग के सुझावों का प्रभाव ९८, अभ्यासार्थ प्रश्न ९९, राजस्थान विश्वविद्यालय की बी० एड० परीक्षा में पूछे गये प्रश्न ९९ ।

अध्याय ७

बहु-उद्देशीय विद्यालय १०१–११३

बहु-उद्देशीय विद्यालयों के लिए प्रयास १०२, पाश्चात्य देशों में बहु-उद्देशीय विद्यालय १०२, संयुक्त राज्य अमरीका १०४, बहु-उद्देशीय विद्यालय का अर्थ १०४, बहु-उद्देशीय विद्यालय की रचना १०५, बहु-उद्देशीय विद्यालय के उद्देश्य १०५, बहु-उद्देशीय विद्यालयों में लाभ १०६, बहु-उद्देशीय विद्यालयों की समस्याएँ १०६, सुझाव १११, अभ्यासार्थ प्रश्न ११३, राजस्थान विश्वविद्यालय की बी० एड० परीक्षा में पूछे गये प्रश्न ११३ ।

अध्याय ८

शिक्षा में अपव्यय तथा अवरोधन ११४–१२१

अपव्यय तथा अवरोधन का अर्थ ११४, अपव्यय और अवरोधन के कारण—शारीरिक या व्यक्तिगत कारण ११५, सामाजिक कारण ११६, विद्यालय से सम्बन्धित कारण ११७, आर्थिक कारण ११८, दोषपूर्ण शिक्षा प्रशासन ११८, अपव्यय एवं अवरोधन-निवारण के उपाय—प्राथमिक स्तर पर ११९, माध्यमिक स्तर के लिए सुझाव १२०, सामान्य सुझाव १२१, अभ्यासार्थ प्रश्न १२१, राजस्थान विश्वविद्यालय की बी० एड० परीक्षा में पूछे गये प्रश्न १२१ ।

अध्याय ६ १२२-१३१

शिक्षा का प्रबन्ध करने वाली संस्थाएँ

स्था के प्रकार—राज्य द्वारा स्थापित एव सचालित विद्या- १२३, केन्द्रीय सरकार—शिक्षा मन्त्रालय १२८, सुरक्षा त्रालय १२४, रेलवे मन्त्रालय १२४, प्रान्तीय सरकार १२४, जकीय नियन्त्रण के दोष १२५, स्थानीय संस्थाओं द्वारा चालित विद्यालय १२५, धार्मिक संस्थाओं द्वारा स्थापित विद्यालय १२७, व्यक्तिगत प्रबन्ध-समितियों द्वारा सचालित विद्यालय १२७, व्यक्तिगत प्रबन्ध समितियों की कठिनाइयाँ—राजनीतिक प्रभाव १२६, आर्थिक समस्या १२६, विद्यालय-भवनों का अभाव १२६, क्रीडागण का अभाव १३०, प्रयोगशालाओं का अभाव १३०, छात्रावास का अभाव १३०, राष्ट्रीय विद्यालयों की स्वतन्त्रता का समाप्त होना १३०, योग्य अध्यापकों का अभाव १३०, आकर्षक वेतन-शृंखला का न होना १३१, नौकरी की सुरक्षा का अभाव १३१, ग्रामीण क्षेत्रों में सुविधाओं का अभाव १३१, अभ्यासार्थ प्रश्न १३१।

अध्याय १० १३२-१५१

तकनीकी शिक्षा

तकनीकी शिक्षा की आवश्यकता १३२, तकनीकी शिक्षा का इतिहास १३३, मुस्लिम काल में तकनीकी शिक्षा १३३, ब्रिटिश शासन काल में तकनीकी शिक्षा १३३, पचवर्षीय योजनाएँ और तकनीकी शिक्षा १३६, नवीन योजनाएँ १४१, तकनीकी शिक्षा की समस्याएँ १४२, विदेशों में तकनीकी शिक्षा १४६, अभ्यासार्थ प्रश्न १५०, राजस्थान विश्वविद्यालय की बी० एड० परीक्षा में पूछे गये प्रश्न १५१।

अध्याय ११ १५२-१७०

भारत में भाषा-समस्या

भाषा का महत्त्व १५२, भाषा-समस्या का इतिहास १५३, माध्यमिक शिक्षा आयोग के सुझाव १५६, केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद का सुझाव १५७, केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद का सुझाव १५८, भावात्मक एकता समिति का सुझाव १६०,

कोठारी आयोग के सुझाव १६१, विभिन्न भाषाओं का महत्व १६३, विभिन्न प्रान्तो में हिन्दी का स्थान १६६, प्रादेशिक भाषाओं का स्थान १६७, अन्य देशो के उदाहरण १६७, राजस्थान विश्वविद्यालय की बी० एड० परीक्षा में पूछे गये प्रश्न १६६।

अध्याय १२

पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण १७१

पाठ्य-पुस्तको का महत्व १७२, प्रचलित पाठ्य-पुस्तको के दोष १७६, पाठ्य-पुस्तको के सुधार हेतु माध्यमिक शिक्षा आयोग के सुझाव १७७, आयोग की आलोचना १८०, पाठ्य-पुस्तको के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता १८१, पाठ्य-पुस्तको के राष्ट्रीयकरण से लाभ १८२, विभिन्न राज्यों में पाठ्य-पुस्तको का राष्ट्रीयकरण १८३, राजस्थान मे पाठ्य-पुस्तको का राष्ट्रीयकरण १८४, पुस्तको के राष्ट्रीयकरण से उत्पन्न समस्याएँ १८६, राष्ट्रीयकरण को सफल बनाने के उपाय १८८, अभ्यासार्थ प्रश्न १९०, राजस्थान विश्वविद्यालय की बी० एड० परीक्षा मे पूछे गये प्रश्न १९०।

अध्याय १३

धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा १९१–२०४

धर्म क्या है १९१, धर्म तथा शिक्षा १९२, धार्मिक शिक्षा के उद्देश्य १९३, धर्म-शिक्षा का इतिहास १९४, धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता १९६, विद्यालयो मे धार्मिक शिक्षा का रूप १९८, समिति द्वारा विभिन्न स्तर पर सुझाव १९९, नैतिक शिक्षा २००, अभ्यासार्थ प्रश्न २०२, राजस्थान विश्वविद्यालय की बी० एड० परीक्षा मे पूछे गये प्रश्न २०३।

अध्याय १४

भारत मे शैक्षिक प्रशासन की समस्याएँ २०५–२३८

भारतीय शैक्षिक प्रशासन की रूपरेखा २०६, भारतीय संविधान का शैक्षिक प्रशासन पर प्रभाव २१०, शैक्षिक प्रशासन का विकेन्द्रीकरण २१२, विकेन्द्रीकरण का ऐतिहासिक विवेचन २१२, विकेन्द्रीकरण के पक्ष मे दिये जाने वाले तर्क २१३, विकेन्द्रीकरण

अध्याय १७

भारत में राष्ट्रीय तथा भावनात्मक एकता और शिक्षा २९२-३२३

राष्ट्रीय तथा भावनात्मक एकता की प्रक्रिया २९२, राष्ट्रीय तथा भावनात्मक एकता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि २९५, राष्ट्रीय एकता को चुनौती देने वाली बाधाएँ २९८, चारित्रिक संकट और राष्ट्रीय एकता ३०५, शिक्षा की जिम्मेदारी ३०७, शिक्षा द्वारा राष्ट्रीय तथा भावनात्मक एकता की अभिवृद्धि ३०८, उपकुलपति सम्मेलन, अक्टूबर १९६१ में चर्चित शैक्षिक उपाय ३०९, राष्ट्रीय एकता समिति द्वारा सुझाये गये उपाय ३१०, राष्ट्रीय एकता सम्मेलन ३११, कुछ विद्वज्जनों के विचार ३१३, भारतीय शिक्षा आयोग ३१५, शिक्षकों का उत्तरदायित्व और उसका निर्वाह ३१८, राज्य का दायित्व ३२१, अभ्यासार्थ प्रश्न ३२२, राजस्थान विश्वविद्यालय की बी० एड० परीक्षा में पूछे गए प्रश्न ३२२।

अध्याय १८

पाश्चात्य शैक्षिक विचारधारा का सिंहावलोकन ३२४-३६६

सिंहावलोकन का महत्त्व ३२४, पाश्चात्य शैक्षिक विचारधारा की निरन्तरता ३२५, रूसो ३२६, पेस्टालॉजी ३३२, हरबार्ट ३३७, फोबेल ३४३, हरबार्ट स्पेंसर ३४८, जॉन ड्यूवी ३५२, पाश्चात्य चिन्तन का भारतीय शिक्षा पर प्रभाव ३६१, शैक्षिक मूल्यों में परिवर्तन ३६१, नये शैक्षिक क्रिया-कलाप ३६२, समन्वय का प्रयत्न ३६३, अभ्यासार्थ प्रश्न ३६४, राजस्थान विश्वविद्यालय की बी० एड० परीक्षा में पूछे गये प्रश्न ३६५।

अध्याय १९

प्राचीन गुरुकुल प्रणाली और आधुनिक भारतीय शिक्षाविद् ३६७-३९१

गुरुकुलों के प्रति ध्यानाकर्षण ३६७, गुरुकुल प्रणाली की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि ३६८, वर्तमान भारत की आवश्यकताएँ तथा उनके अनुरूप गुरुकुल प्रणाली का संशोधन ३७३, स्वामी दयानन्द द्वारा अनुमोदित शिक्षा-प्रणाली तथा गुरुकुल ३७४,

रवीन्द्रनाथ ठाकुर और गुरुकुल ३७६, गुरुकुल के सन्दर्भ मे गाधीजी के विचार ३८४, आचार्य कर्वे के विचार ३८८, अभ्यासार्थ प्रश्न ३६०, राजस्थान विश्वविद्यालय की बी० एड० परीक्षा मे पूछे गये प्रश्न ३६० ।

अध्याय २०

✓ प्राचीन भारतीय शिक्षा के आदर्श एवं उद्देश्य ३६२–४१६

प्राचीन भारत मे शिक्षा का महत्त्व ३६२, भारतीय शिक्षा के प्रमुख आदर्श ३६४, भारतीय शिक्षा के उद्देश्य ४१३, अभ्यासार्थ प्रश्न ४१६ ।

अध्याय १

प्राथमिक शिक्षा का इतिहास

भारतवर्ष की वर्तमान शिक्षा व्यवस्था मे प्राथमिक शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान क्योंकि यह स्तर ही अग्रिम शिक्षा का आधार होता है। स्वतन्त्रता के बाद भारतीय रकार ने प्राथमिक शिक्षा को प्रजातन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक मानकर इस र की ओर विशेष ध्यान दिया है। वर्तमान समय मे प्राथमिक शिक्षा की समस्याओ अध्ययन करने से पूर्व अपने देश की प्राथमिक शिक्षा के इतिहास का अवलोकन रना अति आवश्यक है।

भारतवर्ष मे शिक्षा का इतिहास २५०० ई० पू० से १७५७ ई० तक तीन मुख भागो मे विभक्त करके अध्ययन किया जाता है। ये प्रमुख काल निम्न-लिखित हैं

१ वैदिक युग— २५०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक।
२ बौद्ध युग— ५०० ई० पू० से १२०० ई० तक।
३ मुस्लिम युग—१२०० ई० से १७५७ ई० तक।
४ ब्रिटिश युग।

इन युगों मे वर्तमान कक्षा व्यवस्था के समान कक्षाएँ नही चलती थी। वैदिक काल मे गुरुकुल-आश्रम के शान्त वातावरण मे छात्र अध्ययन किया करते थे। उस समय का पाठ्यक्रम तथा शिक्षण विधि आज की शिक्षण विधियो से भिन्न थी। बौद्ध तथा मुस्लिम युग मे शिक्षा का मुख्य उद्देश्य धर्म-प्रचार था। यहाँ ब्रिटिश युग मे प्राथमिक शिक्षा के इतिहास का विस्तृत वर्णन दिया जायेगा।

१९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में देशी शिक्षा

जिस समय अंग्रेज भारत मे पधारे उस समय हमारे देश मे देशी शिक्षा का विस्तार यथेष्ट था। इन देशी विद्यालयो का देश मे जाल-सा बिछा हुआ था। इन विद्यालयो को दो भागों मे विभाजित किया जा सकता था—प्रथम, उच्च शिक्षा के

विद्यालय और द्वितीय, प्राथमिक विद्यालय। उच्च विद्यालयों की संख्या देश में बहुत कम थी अतः ये जनसाधारण की शिक्षा के साधन नहीं थे। दूसरी ओर प्राथमिक विद्यालय जो कि जनसाधारण को शिक्षित करने के एक महत्त्वपूर्ण साधन थे, की संख्या अधिक थी। देशी शिक्षा के संगठन के अन्तर्गत निम्नलिखित संस्थाएं थीं

(१) गुरु गृह--इस युग में भी ब्राह्मण अपने घरों में छात्रों को शिक्षा प्रदान करते थे।

(२) संस्कृत विद्यालय ये विद्यालय दान के सहारे चलते थे।

(३) मकतब प्रत्येक मस्जिद के साथ एक मकतब छात्रों के अध्ययन के लिए होता था।

इन देशी विद्यालयों में पाठ्यक्रम के अन्तर्गत लिखना, पढ़ना तथा गणित सिखाया जाता था। इसके अतिरिक्त कुछ धार्मिक शिक्षा भी प्रदान की जाती थी। चार वर्ष से १४ वर्ष की आयु के बालकों को इन शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश दिया जाता था। जब चाहे तब बालक किसी विद्यालय में प्रवेश ले सकता था तथा इच्छानुसार उसको छोड़ भी सकता था। एक-शिक्षकीय संस्थाएं अधिक चलती थीं। अध्यापकों को प्रशिक्षित करने की कोई व्यवस्था नहीं थी। अतः कुशल अध्यापक कम ही संख्या में प्राप्त होते थे। उन दिनों में विद्यालयों की दृष्टि से भवन-निर्माण नहीं हुए थे। प्रायः ये विद्यालय गांव के मन्दिर, शिक्षक-मकान या मस्जिद में चला करते थे।

देशी शिक्षा की जांच

जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन भारत के कुछ भागों में स्थापित हो गया तो अंग्रेज पदाधिकारियों ने शिक्षा के विस्तार का पता लगाने के लिए सन् १८२... से सन् १८४२ के मध्य देशी विद्यालयों का सर्वेक्षण करवाया। जांच के क्षेत्र मद्रास, बंगाल तथा बम्बई थे।

मद्रास--मद्रास में देशी शिक्षा से सम्बन्धित सर्वेक्षण कार्य सर थामस मुन... ने किया था। उसकी जांच के आधार पर पता चलता है कि उस समय मद्र... में १२,४९८ देशी विद्यालय थे। स्त्री शिक्षा का प्रसार नहीं के बराबर था। जांच... बाद मुनरो ने स्वीकार किया कि शिक्षा का प्रतिशत हमारे देश इंगलैण्ड से कम ... हुए भी योरोप के अनेक देशों से कहीं अधिक है।

बम्बई--इस प्रान्त के तत्कालीन गवर्नर एल्फिस्टन ने १० मार्च, १८२... बम्बई प्रान्त की देशी शिक्षा की जांच करवाई। यह आंकड़े-संकलन सम्बन्धी ... की सहायता से सम्पन्न हुआ। इनके प्रतिवेदन के आधार पर ... उस समय ४६,८१,७३५ जनसंख्या थी जिसमें से ३५,१५३ छात्र अ... ।प्रान्त में १,७०५ देशी विद्यालय थे। इस प्रकार प्रत्येक विद्याल... १५ छात्र अध्ययन करते थे।

बंगाल—बंगाल प्रान्त में देशी शिक्षा की जांच का कार्य विलियम एडम ने किया। पांच जिलो का सर्वेक्षण करने के बाद रिपोर्ट में बताया कि इन जिलो मे २,४६७ विद्यालय थे।

देशी पाठशालाओ ने जनसाधारण में शिक्षा-प्रसार करने में बड़ा योग दिया। परन्तु अंग्रेज साम्राज्य की नीव दृढ़ होने से देशी विद्यालयो की प्रगति अवरुद्ध हो गई।

देशी शिक्षा की अवनति के कारण

देशी शिक्षा की अवनति के निम्नलिखित कारण थे

(१) अंग्रेजी शासन स्थापित हो जाने पर अंग्रेजो को प्रशासन में सहायता देने के लिए अंग्रेजी भाषा जानने वाले व्यक्तियों की आवश्यकता हुई। अत अंग्रेजी का अध्ययन करने से राजपद प्राप्त करने में सरलता होती थी। परिणामत भारतवासी अपने बच्चों को देशी विद्यालयो की अपेक्षा अंग्रेजी विद्यालयो में भेजना अधिक उपयुक्त समझते थे।

(२) अंग्रेजी विद्यालयो में नि शुल्क शिक्षा के साथ ही साथ पाठ्य-पुस्तको आदि की सुविधा भी प्रदान की जाती थी। अत निर्धन भारतवासी अंग्रेजी शिक्षा की ओर आकर्षित हुए।

(३) देशी विद्यालयो में कार्य करने वाले शिक्षकों को अल्प वेतन मिलता था अत योग्य व्यक्ति इन देशी पाठशालाओं में कार्य करना पसन्द नहीं करते थे।

(४) अंग्रेजो के आने से पूर्व देशी शिक्षा संस्थाओ को देशी रियासतो का संरक्षण प्राप्त था। अंग्रेजो ने इन रियासतो का अस्तित्व समाप्त कर दिया। परिणाम-स्वरूप इन विद्यालयो को मिलने वाली आर्थिक सहायता बन्द हो गई।

(५) अंग्रेजी शिक्षा से अधिक लाभ देखते हुए अंग्रेजो ने देशी शिक्षा के स्थान पर अंग्रेजी शिक्षा को अधिक प्रोत्साहित किया।

ईसाई पादरियों की चेष्टाएँ

योरोपीय जातियो के भारत आगमन के समय ही, ईसाई पादरी भी भारत आये। प्रारम्भ मे इनका लक्ष्य भारत में ईसाई धर्म का प्रचार करना था। धर्म-प्रचार का सबसे उत्तम साधन प्राथमिक शिक्षा को माना गया। अत आरम्भ में अनेक प्राथमिक विद्यालय स्थापित किये गये तथा प्रत्येक को ईसाई मण्डलो के केन्द्र के साथ जोड दिया गया। इन ईसाई मण्डलो ने इस देश मे शिक्षा व्यवस्था को नया रूप देकर भारतीय शिक्षा प्रणाली में एक नवीनता ला दी। ईसाई स्कूलो की कुछ विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

१. धर्म शिक्षा सभी छात्रो के लिए अनिवार्य थी और बाइबिल पाठ्य-पुस्तक की भाँति प्रयोग मे लाई जाती थी।
२. इन विद्यालयो में प्रयुक्त पाठ्यक्रम विस्तृत था। पाठ्यक्रम में व्याकरण, भूगोल, इतिहास आदि विषयो को सम्मिलित किया गया।

पी हुई पाठ्य-पुस्तकें प्रयोग में लाई जाती थी।
कक्षाएँ नियमित रूप से लगती थी। रविवार को छुट्टी का दिन घोषित
किया।
इन्होंने कक्षा-प्रथा को जन्म दिया।
मातृ-भाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी। भारत में शिक्षा के प्रति उदासीन
१८१३ से पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आज्ञा-पत्र के आधार पर उसने अपने
कम्पनी ने सन् १६६८ के बच्चों की शिक्षा के लिए अनेक स्कूलों की
के केन्द्रों के कर्मचारियों के बच्चों की शिक्षा के लिए अनेक स्कूलों की
की। उसके उपरान्त ही सन् १७१५ में मद्रास प्रान्त में, सन् १७१६ में
और सन् १७२१ में कलकत्ते में धर्मार्थ विद्यालयों की स्थापना हुई। ये
प्रमुख रूप से अंग्रेज बच्चों तथा भारतीय ईसाइयों के बच्चों को प्रवेश देते
रतवर्ष में ईसाई धर्म की ओर भारतीयों को आकर्षित करने के लिए भारतीय
ओं के बच्चों को छात्रवृत्तियाँ भी दी जाती थी।
सन् १७६५ तक अंग्रेजों ने अपनी आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिति भारतवर्ष
प्त हद कर ली थी। बंगाल में उनका पूर्ण अधिकार स्थापित हो गया। अब
नी के अधिकारियों ने शिक्षा के प्रति भी थोड़ा ध्यान देना प्रारम्भ किया।
ज अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिए भारतवासियों के रीति-रिवाज तथा
र्मिक परम्पराओं को समझना चाहते थे। अब १७७२ के रेग्यूलेटिंग एक्ट में पास
कया गया कि भारतवासियों के मुकदमों का निर्णय उनके रीति-रिवाज तथा धार्मिक
भावनाओं के आधार पर किया जाय। इसलिए अंग्रेज न्यायाधीशों की सहायता
करने के लिए भारतीयों को शिक्षित करने की माँग की गई। परिणामत: कम्पनी
के संचालकों ने हिन्दू तथा मुसलमानों की शिक्षा के लिए निम्नलिखित प्रयास
किए

कलकत्ता मदरसा की स्थापना मुसलमानों को उच्च शिक्षा प्रदान करने
के लिए वारेन हेस्टिंग्ज ने कलकत्ता में सन् १७८० में मदरसे की स्थापना की।
इसकी स्थापना से हेस्टिंग्ज भारतीय मुसलमानों को प्रसन्न करना चाहता था तथा
शासन एवं न्याय-विभाग के लिए योग्य शिक्षित मुसलमान तैयार करना चाहता था।
बाद में कम्पनी ने इस विद्यालय को अपने संरक्षण में ले लिया।

बनारस संस्कृत कॉलेज की स्थापना सन् १७९१ में बनारस के तत्कालीन
रेजीडेन्ट जनाथन डंकन ने बनारस संस्कृत कॉलेज की स्थापना की। यह संस्था
हिन्दुओं के लिए खोली गई थी। इस कॉलेज की स्थापना के उद्देश्य के सम्बन्ध में
डंकन ने ही स्पष्ट किया था कि इस विद्यालय की स्थापना के दो प्रमुख लाभ
। प्रथम तो यह कि हिन्दू अंग्रेज सरकार में प्रेम करने लगेंगे दूसरे, इस
था में भारतीय परम्पराओं की रक्षा हो सकेगी तथा न्यायाधीशों के सहायक
तैयार होंगे।

इन कालेजों की स्थापना तथा बाद में कम्पनी का संरक्षण प्राप्त होने से है कि कम्पनी अपनी तटस्थता की नीति को अधिक समय तक स्थिर न रख । ईसाई मण्डलों को धार्मिक प्रचार तथा शिक्षा-प्रसार के लिए कम्पनी की ओर लने वाला प्रोत्साहन बन्द हो गया ।

१८१३ से सन् १८५४ तक

ईस्ट इण्डिया कम्पनी शिक्षा के सम्बन्ध मे तटस्थता की नीति को लम्बे तक *स्थिर न रख सकी । सन् १८१३ के आज्ञा-पत्र के अनुसार शिक्षा को* का एक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य स्वीकार किया गया तथा सुझाव दिया कि प्रति शिक्षा पर एक लाख रुपये व्यय किये जायें । आज्ञा-पत्र मे शिक्षा की नीति के न्ध मे लिखा है-

" प्रतिवर्ष कम से कम एक लाख रुपया अलग रखा जायेगा और यह धन भारतीय विद्वानो को प्रोत्साहन, साहित्य के विकास और पुनरुत्थान के लिए तथा ब्रिटिश साम्राज्य के नागरिकों में विज्ञान के प्रसार के लिए व्यय किया जायेगा ।"[१]

इस आज्ञा-पत्र का प्रमुख दोष यह था कि यह स्पष्ट नही किया गया कि धनराशि को किस प्रकार व्यय किया जाय । परिणामतः यह धन कार्य मे नही ा गया । सन् १८१३ के आज्ञा-पत्र के उपरान्त भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में कुछ ाद उत्पन्न हो गये और ये बहुत दिनो तक चलते रहे । विवाद के प्रमुख विषय न थे

१. उद्देश्य—शिक्षा नीति का प्रमुख उद्देश्य क्या हो ? यह प्रश्न अधिक ादग्रस्त रहा । कुछ लोगो का विचार था कि जनसाधारण की शिक्षा की हेलना करके उच्च शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जाय । दूसरा समुदाय चाहता था जनसाधारण की शिक्षा के लिए प्राथमिक शिक्षा का विस्तार किया जाय ।

२. माध्यम—शिक्षा का माध्यम निश्चित करने के लिए भी विद्वान् एक मत थे । एक वर्ग इस बात का पक्षपाती था कि प्राच्य भाषाओ के माध्यम से शिक्षा *जाय । दूसरा वर्ग कहता था कि शिक्षा का माध्यम आधुनिक भारतीय भाषाएँ* ी जायें । तीसरा मत यह था कि अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा प्रदान की जाय ।

" A sum of not less than one lac of rupees in each year shall be set apart and applied to the revival and improvement of literature and the encouragement of the learned natives of India, and for the introduction and promotion of a knowledge of the *sciences among the* inhabitants of the British territories in India" (Based on Nurullah & Naik)

३. साधन (Agencies)—शिक्षा प्रसार का उत्तरदायित्व सरकार का हो या व्यक्तिगत प्रयत्नों पर छोड़ दिया जाय।

४ लक्ष्य—विवाद का चौथा विषय था कि प्राचीन साहित्य तथा विज्ञान को या पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञानों को पाठ्य विषय बनाया जाय।

उपर्युक्त विवादग्रस्त विषयों के आधार पर भारत में दो दलों का जन्म हुआ।

(१) प्राच्य शिक्षावादी (Orientalists)—इस समुदाय के व्यक्ति संस्कृत, अरबी और फारसी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते थे। ये लोग प्राच्य विद्या के पक्षपाती थे।

(२) पाश्चात्य शिक्षावादी (Occidentalists)—इन लोगों का मत था कि भारतवासियों को पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा अंग्रेजी भाषा के माध्यम से दी जाय। राजा राममोहन राय भी इसी मत के समर्थक थे।

प्राच्य-पाश्चात्य शिक्षा विवाद को समाप्त करने के लिए गवर्नर-जनरल लार्ड विलियम बेंटिक ने लार्ड मैकाले को लोक शिक्षा समिति का प्रधान नियुक्त किया। लार्ड मैकाले ने अपना विवरण-पत्र २ फरवरी, सन् १८३५ को प्रस्तुत किया। उसने पाश्चात्य साहित्य एवं विज्ञान के अध्ययन का सुझाव दिया। वह अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने का पक्षपाती था। उसने भारतीय भाषाओं को साहित्य की दृष्टि से बड़ा निर्धन बताया। ऐसा प्रतीत होता है कि लार्ड मैकाले ने यहाँ की भाषाओं के साहित्य का अध्ययन किये बिना ही ऐसा सुझाव दिया। लार्ड मैकाले ने कहा कि "हम भारत में ऐसे व्यक्तियों के वर्ग का निर्माण करना चाहते हैं जो रंग और रक्त में भले ही भारतीय हों, परन्तु खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार तथा बुद्धि में पूरे अंग्रेज रहें।"

बेंटिक ने सन् १८३५ के मैकाले के आज्ञा-पत्र की सभी बातें स्वीकार कर ली। मैकाले ने ही निस्यन्दन सिद्धान्त (Downward Filtration) को जन्म दिया। इस सिद्धान्त के अनुसार उच्च वर्ग को ही शिक्षा प्रदान की जाय तथा यह आशा की जाय कि उच्चवर्ग से शिक्षा स्वतः निम्न वर्ग तक पहुँच जायेगी। आकलैण्ड ने भी इस सिद्धान्त को सरकारी नीति का रूप दे दिया। फलस्वरूप, जनसाधारण में शिक्षा का प्रसार करने के कर्तव्य से अपने को विमुख कर लिया। परन्तु इस सिद्धान्त का कोई लाभप्रद फल प्राप्त नहीं हुआ, क्योंकि पढ़े-लिखे उच्चवर्ग के लोग दिन प्रतिदिन साधारण जनता से दूर जाने लगे। लार्ड मैकाले के सुझाव का प्रभाव आज हम अपने देश में प्रत्यक्ष देख सकते हैं—

१ भारतवर्ष में पहले से ही चले आ रहे वर्ग-विभेद को प्रोत्साहन मिला। अंग्रेजों ने शिक्षा को उच्चवर्ग तक ही सीमित कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि निम्न वर्ग अशिक्षित ही रहा। आज भी भारतवर्ष की लगभग ७० प्रतिशत जनसंख्या अशिक्षित है।

२. अंग्रेजी साहित्य तथा आंग्ल भाषा के अध्ययन में हम लोग अपनी संस्कृति तथा भाषाओं को भूल बैठे। आंग्ल भाषा के शिक्षा का माध्यम होने से भारतीय भाषाएँ साहित्य तथा शब्दकोष की दृष्टि से सबल नहीं हो सकी। इसका ही परिणाम यह है कि आज भाषा सम्बन्धी समस्या कितना उग्र रूप धारण किये हुए है।

३. हमारे देश की परम्परागत शिक्षा-पद्धति नष्ट-भ्रष्ट कर दी गई।

वुड का घोषणा-पत्र

१६ जुलाई, सन् १८५४ में कम्पनी के सचालकों ने वुड का घोषणा-पत्र प्रकाशित किया। चार्ल्स वुड उस समय 'बोर्ड आफ कण्ट्रोल' का प्रधान था, अत उसके नाम पर ही इसका नामकरण वुड का घोषणा-पत्र हुआ। यह घोषणा-पत्र लगभग १०० अनुच्छेदों का है। घोषणा-पत्र में सर्वप्रथम यह स्पष्ट किया गया कि शिक्षा का प्रसार करना कम्पनी का कर्तव्य है।

"बहुत से प्रमुख विषयों में शिक्षा से बढ़कर हमारी दृष्टि को आकर्षित करने वाला अन्य कोई विषय नहीं है। यह तो हमारे पुनीत कर्तव्यों में से एक है।"[1]

घोषणा-पत्र की प्रमुख सिफारिशें

१. शिक्षा का उद्देश्य—घोषणा-पत्र में शिक्षा का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए कहा गया कि शिक्षा द्वारा भारतीयों की बौद्धिक एवं चारित्रिक उन्नति करने के साथ ही ऐसे व्यक्तियों को उत्पन्न करना था जो राज्य को सुदृढ़ बना सकें और राजपदों पर विश्वास के साथ नियुक्त किये जा सकें।

२. पाठ्यक्रम—संस्कृत और अरबी भाषा की महत्ता को स्वीकार करते हुए उनको पाठ्यक्रम में स्थान दिया गया। परन्तु पाश्चात्य साहित्य एवं विज्ञानों को भारतीयों के लिए उपयोगी माना गया।

३. माध्यम—अंग्रेजी तथा प्राच्य भाषाओं को माध्यम बनाने का सुझाव दिया। जनसाधारण में शिक्षा का प्रसार करने के लिए प्राच्य भाषाओं को उपयुक्त माना गया। इसमें लिखा गया कि "हम अंग्रेजी तथा प्राच्य दोनों ही प्रकार की भाषाओं को शिक्षा के माध्यम के रूप में देखते हैं" " "अत हमारी अभिलाषा है कि भारत के समस्त विद्यालयों में उन्हें साथ-साथ फलते-फूलते देखें।"[2]

1. "Among many subjects of importance, none can have a stronger claim to our attention than that of education. It is one of our most sacred duties" —Wood's Despatch

2. We look, therefore, to the English language and to the Vernacular languages of India together as the media. .. ..and it is our desire to see them cultivated together in all schools in India." —*Wood's Despatch*

४. क्रमबद्ध विद्यालयों की स्थापना—शिक्षा संगठन का सुधार करने के लिए क्रमबद्ध विद्यालयों की स्थापना का सुझाव दिया। उनके अनुसार प्राथमिक विद्यालय के पश्चात् मिडिल स्कूल, फिर हाईस्कूल और अन्त में कालिज या विश्वविद्यालय हों।

५. जन-शिक्षा विभाग—प्रत्येक प्रान्त में जन-शिक्षा विभाग की स्थापना की सिफारिश की गई। इसका प्रधान जन-शिक्षा संचालक नियुक्त किया जाय। उसकी सहायता के लिए निरीक्षक तथा सहायक निरीक्षक रखे जायें।

६. जन-शिक्षा प्रसार—वुड ने मैकाले के निस्यन्दन सिद्धान्त की आलोचना की तथा सिफारिश की कि इसको अपना ध्यान जनसाधारण की शिक्षा की ओर देना चाहिए। इस कार्य के लिए प्राथमिक विद्यालयों एवं मिडिल स्कूलों की संख्या में वृद्धि करनी चाहिये।

इनके अतिरिक्त घोषणा-पत्र में सहायता, अनुदान, अध्यापकों का प्रशिक्षण प्राच्य भाषाओं में पुस्तकों का प्रकाशन आदि के सम्बन्ध में उपयोगी सुझाव दिये गये।

वुड के शिक्षा-घोषणा-पत्र का एक प्रमुख दोष यह है कि इसने प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने के सम्बन्ध में कोई ठोस सुझाव नहीं दिया।

सन् १८५४ से सन् १८८२ तक प्राथमिक शिक्षा का विकास

सन् १८५७ में राष्ट्रीय आन्दोलन प्रारम्भ हो जाने से वुड के घोषणा-पत्र की सिफारिशें कार्यान्वित नहीं की जा सकीं। इस स्वतन्त्रता आन्दोलन के बाद कम्पनी का शासन समाप्त कर दिया गया और उसकी जगह भारतीय शासन की बागडोर पार्लियामेन्ट के हाथ में पहुंच गई। ब्रिटिश पार्लियामेन्ट ने बागडोर हाथ में लेने के बाद स्टेनले की नियुक्ति भारत मंत्री नामक नवीन पद पर की। सन् १८५६ में स्टेनले ने एक नवीन आज्ञा-पत्र प्रकाशित किया। इस आज्ञा-पत्र में स्टेनले ने प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में कुछ सुझाव दिये—

१. प्रथम सुझाव यह दिया कि सरकार प्राथमिक शिक्षा का उत्तरदायित्व स्वीकार करे तथा उसका प्रबन्ध स्थानीय संस्थाओं के हाथ में दिया जाय।
२. प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के लिए धनाभाव की स्थिति में सरकार के स्थानीय कर लगाना चाहिये। इसको शिक्षा-कर का नाम दिया।
३. सहायता अनुदान प्रणाली को उच्च शिक्षा के क्षेत्र तक सीमित रखा जाय।
४. अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए प्रशिक्षण विद्यालय स्थापित किये जायें।

इसके द्वारा बताई गई अनुदान प्रणाली का एक दोष यह था कि गाँवों से वसूल किया गया पैसा शहरों मे खर्च किया जाता था। सन् १८७१ में सरकार ने एक विज्ञप्ति निकाल कर अनुदान के सम्बन्ध मे स्पष्टीकरण करते हुए सुझाव दिया कि प्राथमिक शिक्षा के लिए स्थानीय कर तथा केन्द्रीय सरकार से अनुदान मिलना चाहिए। सन् १८७१ में भारतवर्ष मे प्राथमिक विद्यालयों की सख्या १६,४७३ थी जिनमे ६,०७,३२० छात्र अध्ययन करते थे। सन् १८८२ मे विद्यालयो की सख्या बढ कर ८२,९१६ हो गई और पढने वाले छात्रो की सख्या २०,६१,५४१ तक पहुँच गई। सन् १८८२ मे भारत मे साक्षरता का प्रतिशत १·२ था जबकि उसी वर्ष इगलैण्ड मे प्रत्येक बालक के लिए शिक्षा अनिवार्य और निःशुल्क थी।

सन् १८८२ का शिक्षा आयोग

३ फरवरी सन् १८८२ को लार्ड रिपन ने गवर्नर-जनरल की कार्यकारिणी के सदस्य सर विलियम हन्टर की अध्यक्षता मे प्रथम भारतीय शिक्षा आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग को 'हन्टर कमीशन' के नाम से भी पुकारते हैं।

कार्य-क्षेत्र एवं उद्देश्य

१ भारत मे प्राथमिक शिक्षा की जाँच करके यह पता लगाना कि प्राथमिक शिक्षा की क्या दशा है। उसके विकास के लिए उपाय बताना।
२ मिशन स्कूलों का क्या स्थान है।
३. सरकार की सहायता अनुदान प्रणाली की समीक्षा करना।
४ भारत मे राजकीय विद्यालयों की आवश्यकता का पता लगाना।

सुझाव

प्राथमिक शिक्षा की नीति—(१) प्राथमिक शिक्षा का उद्देश्य जनसाधारण मे शिक्षा का प्रसार होना चाहिए।

(२) प्राथमिक शिक्षा का माध्यम देशी भाषाएँ रखी जायें।

(३) सरकार को पिछड़ी जाति एव आदिवासियों की शिक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध करना चाहिए।

(४) प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम मे व्यावहारिक विषयो को सम्मिलित करने का सुझाव दिया।

प्राथमिक शिक्षा का संगठन—इगलैण्ड मे सन् १८७६ के शिक्षा-अधिनियमो के अनुसार प्राथमिक शिक्षा का प्रबन्ध 'काउन्टी काउन्सिल्स' को सौप दिया गया था। लार्ड रिपन भारतवर्ष मे इगलैण्ड के इस सगठन को लाना चाहता था। उसने भारत मे नगरपालिकाओ और जिला परिषदों का निर्माण करवाया। प्राथमिक शिक्षा का भार, व्यवस्था, व्यय, निरीक्षण आदि सभी स्थानीय सस्थाओ को दिया गया।

आर्थिक व्यवस्था (१) स्थानीय संस्थाएँ प्राथमिक शिक्षा के लिए एक पृथक् कोष का निर्माण करें।

(२) ग्रामीण और नगर स्कूलों के लिए अलग-अलग कोष रखे जाएँ।

(३) एक सुझाव यह दिया कि प्रान्तीय सरकारों को भी प्राथमिक शिक्षा के प्रसार के लिए आर्थिक सहायता देनी चाहिए।

अध्यापकों का प्रशिक्षण

प्राथमिक विद्यालयों के अध्यापकों के प्रशिक्षण के सम्बन्ध में आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिये

१ प्रत्येक विद्यालय निरीक्षक के क्षेत्र में कम से कम एक नार्मल स्कूल की स्थापना की जाय।

२ विद्यालय निरीक्षक को इन नार्मल स्कूलों में रुचि लेनी चाहिए और उनके कुशल संचालन की व्यवस्था करें।

३ प्राथमिक शिक्षा के लिए स्वीकृत धनराशि में से नार्मल स्कूलों की स्थापना पर भी व्यय हो।

सन् १८८२ से सन् १९०२ तक प्राथमिक शिक्षा का विकास

हन्टर कमीशन के सभी सुझाव सरकार ने स्वीकार कर लिये परन्तु प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में जैसी प्रगति होनी चाहिए थी वैसी न हो सकी। प्राथमिक विद्यालयों का प्रबन्ध आयोग की सिफारिश पर स्थानीय सस्थाओं को दे दिया गया। स्थानीय सस्थाओं पर धनाभाव के कारण प्राथमिक विद्यालयों की स्थापना अधिक सख्या में नहीं हो सकी। प्राथमिक विद्यालयों की भाँति देशी पाठशालाओं को भी स्थानीय सस्थाओं के अन्तर्गत रखा गया। इन विद्यालयों को उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया। परिणाम यह हुआ कि ये पाठशालाएँ धीरे-धीरे लुप्त हो गईं। प्रान्तीय सरकारों ने प्राथमिक शिक्षा के विस्तार में कोई रुचि नहीं दिखाई। सरकार द्वारा सन् १८८२ से सन् १९०२ तक शिक्षा पर १५ लाख रुपयों की ही वृद्धि की गई। प्राथमिक विद्यालयों में पढ़ने वाले छात्रों की सख्या सन् १८७१ से १८८६ तक ७० लाख तक बढ़ गई। सन् १८८६ से छात्रों की सख्या में कोई सन्तोषजनक वृद्धि नहीं हुई। सन् १८८६ से १९०२ तक छात्रों की सख्या में केवल ६ लाख ६० हजार की वृद्धि हुई।

सन् १९०२ से सन् १९२०

सन् १८९९ में लार्ड कर्जन भारत के गवर्नर-जनरल होकर आए। उन्होंने सन् १९०१ में शिमला में एक गुप्त सम्मेलन का आयोजन किया। लार्ड कर्जन ने प्राथमिक शिक्षा के विकास के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये

१ प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में गुणात्मक तथा सख्यात्मक दोनो ही प्रकार की वृद्धि हो। कर्जन की सहयोग की नीति के कारण ही सन् १९०२ में

प्राथमिक विद्यालयों की संख्या ९३,६०४ थी परन्तु १९१० में यह बढ़ कर १,१८,२६२ तक पहुँच गई।

२. लार्ड कर्जन प्राथमिक विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा रखना चाहता था।

३. प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में कृषि, शारीरिक व्यायाम को सम्मिलित किया जाय।

४. पाठ्यक्रम का सम्बन्ध स्थानीय वातावरण में होना चाहिए। इसीलिए उसने ग्रामीण और शहरी प्राथमिक शिक्षा में अन्तर रखने का सुझाव दिया।

५. अध्यापकों के प्रशिक्षण की अवधि २ वर्ष की करने तथा उनके पाठ्यक्रम में कृषि को स्थान दिये जाने की महत्त्वपूर्ण सिफारिश कर्जन ने की।

६. परीक्षाफल के अनुसार सहायता अनुदान को समाप्त करके शिक्षकों की योग्यता, विद्यालयों की कार्यक्षमता और छात्रों की संख्या आदि के आधार पर सहायता देने की प्रणाली प्रचलित की।

सन् १९०५ में लार्ड कर्जन के द्वारा बगाल विभाजन की घोषणा किये जाने पर भारतवर्ष में राष्ट्रीय भावना का विकास हुआ। लार्ड कर्जन की शिक्षा नीति का तीव्र विरोध किया गया। भारतीय जनता द्वारा प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य करने की माँग की गई। इसी समय श्री गोपाल कृष्ण गोखले ने प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य और नि:शुल्क बनाने की चेष्टा की। १६ मार्च, सन् १९१० को गोखले ने इस सम्बन्ध में इम्पीरियल काउन्सिल में एक प्रस्ताव भी रखा। परन्तु उनको इस क्षेत्र में सफलता न मिल सकी। सन् १९१६ में श्री विट्ठल भाई पटेल ने बम्बई की विधान सभा में अनिवार्य शिक्षा विधेयक पारित करवाया।

सन् १९२१ से १९३७ का 'द्वैध शासन'

१९१७ ई० में भारत के मंत्री श्री माटेग्यू और वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड ने भारत का भ्रमण किया। माटेग्यू तथा चेम्सफोर्ड ने १९१८ में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। उन्होंने सुझाव दिया कि भारतीयों को थोड़ी मात्रा में उत्तरदायित्व पूर्ण शासन प्रदान किया जाय। इसके सुझाव के आधार पर ही सन् १९२१ में द्वैध शासन की स्थापना हुई। इसके अन्तर्गत प्रान्तों के विषयों को दो भागों में विभाजित किया—

१. सरक्षित (Reserved),

२. हस्तान्तरित (Transfered)।

शिक्षा हस्तांतरित विषय होने के कारण इसका उत्तरदायित्व भारतीय मंत्रियों के हाथ में आ गया। परन्तु भारतीय मंत्रियों को अपने कार्य में सफलता न मिल सकी

क्योंकि वित्त विभाग अंग्रेजो पर था तथा प्रशासन कर्मचारी वर्ग पर किसी प्रकार का नियंत्रण नही था।

हर्टाग समिति—सन् १९२९ मे साइमन कमीशन ने सर फिलिप हर्टाग की अध्यक्षता मे एक सहायक समिति का निर्माण भारतीय शिक्षा की जॉच करने के लिए किया। हर्टाग समिति ने प्राथमिक शिक्षा के गुणात्मक विकास का सुझाव दिया। इन्होने सर्वप्रथम शिक्षा **अपव्यय एवं अवरोधन** की ओर शिक्षा शास्त्रियो का ध्यान आकर्षित किया। कुछ अन्य सुझाव ये है

१ शिक्षण व्यवसाय को आकर्षित बनाने के लिए अध्यापको के वेतन मे वृद्धि की जाय।
२ प्राथमिक शिक्षा की अवधि कम से कम चार वर्ष हो।
३ विद्यालयो का निरीक्षण ठीक प्रकार से करने के लिए निरीक्षको की संख्या मे वृद्धि की जाय।
४ अनिवार्य शिक्षा को एकदम लागू न किया जाय।
५ प्राथमिक शिक्षा के प्रसार का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व सरकार को अ[illegible] हाथ मे लेना चाहिए।

सन् १९३७ से १९४७ तक प्रान्तीय स्वशासन

सन् १९३७ मे ११ प्रान्तो मे उत्तरदायी सरकारो की स्थापना करके प्रान्तीय स्वशासन की नीव रखी गई। समस्त प्रान्तीय विषय लोकप्रिय भारतीय मत्रियो के उत्तरदायित्व के क्षेत्र मे प्रविष्ट कर दिये गये। इन ११ प्रान्तो मे से ७ प्रान्तो मे काग्रेसी मत्रि-मडलो की स्थापना हुई। इसी समय १९३७ मे गाधीजी ने बुनियादी शिक्षा का सूत्रपात किया। इस योजना ने भारतीय शिक्षा के क्षेत्र मे एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भ होने से भारतीय मत्रियो का उत्साह ढीला पड गया।

विश्वयुद्ध की समाप्ति पर सरकार द्वारा बनाई गई युद्धोत्तर विकास की अनेक योजनाओ मे शिक्षा को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। भारतीय शिक्षा के क्षेत्र मे सुधार लाने के लिए तत्कालीन भारतीय शिक्षा सलाहकार सर जॉन सार्जेन्ट को एक स्मृति-पत्र तैयार करने के लिए कहा गया। सार्जेन्ट ने सन् १९४४ मे अपना स्मृति-पत्र केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड के समक्ष प्रस्तुत किया। इसको सार्जेन्ट योजना के नाम से पुकारते है। इस योजना के अन्तर्गत प्राथमिक शिक्षा के विकास के लिए ठोस सुझाव दिये गये है जोकि निम्नलिखित है

१. **पूर्व-प्राथमिक शिक्षा**

(अ) पूर्व-प्राथमिक विद्यालयो की स्थापना ३ से ६ वर्ष की आयु के बालको के लिए की जाय।

(ब) यह शिक्षा नि शुल्क प्रदान की जाय।
(स) इस स्तर पर शिक्षा का उद्देश्य बालको को सामाजिक शिष्टाचार सिखाना होना चाहिये।
(द) प्रशिक्षित अध्यापिकाऐं इन विद्यालयों मे रखी जायँ।

२. प्राथमिक शिक्षा

(क) ६ से १४ वर्ष की आयु के बालकों के लिए नि शुल्क अनिवार्य शिक्षा हो जिसका रूप बुनियादी शिक्षा होना चाहिये।

(ख) अधिक सख्या मे उपस्थिति-अधिकारी (Attendance officers) निरीक्षण करने के लिए रखे जायँ।

(ग) बुनियादी शिक्षा को जूनियर बेसिक तथा सीनियर बेसिक दो भागो मे बांटा गया।

(घ) मातृभाषा को ही शिक्षा का माध्यम बनाने का सुझाव दिया।

(ङ) प्रशिक्षित अध्यापकों की नियुक्ति पर विशेष बल दिया।

योजना की समीक्षा

के० जी० सैयदन ने इस योजना को अधिक महत्त्वपूर्ण बताया है। उन्होंने इसको राष्ट्रीय शिक्षा की विस्तृत योजना कह कर पुकारा है।

श्री एम० एन० मुकर्जी ने योजना के सम्बन्ध मे कहा है कि "यह योजना भारतीय शिक्षा व्यवस्था के दोषो की ओर ही सकेत नहीं करती, वरन् उस मे सुधार के उपायो पर भी प्रकाश डालती है।"

इस योजना का एक दोष यह है कि इसमें ग्रामीण शिक्षा की पूर्ण अवहेलना की गई है। नूरुल्लाह और नायक ने अपनी पुस्तक मे लिखा है कि यह योजना प्राप्त किये जाने वाले आदर्शों को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करती है परन्तु शिक्षा विकास की योजना पर प्रकाश नही डालती है।[1]

स्वतन्त्र भारत मे प्राथमिक शिक्षा का विकास

सन् १९४७ मे भारतवर्ष स्वतन्त्र हुआ। भारतवासियो के हाथ मे देश की बागडोर आने पर नवीन उत्साह उत्पन्न हुआ। देश का बहुमुखी विकास करने का स्वप्न पूरा करने की भारतीयो ने शपथ ली। भारतीय नेताओं ने शिक्षा के महत्त्व को समझा तथा शिक्षा के प्रसार के लिए कार्यक्रम तैयार किये गये। प्राथमिक शिक्षा की प्रगति का मूल्याकन हम निम्नलिखित तालिका मे कर सकते है

1. "It is pointed out that the scheme merely describes the ideal to be reached and does not give a detailed programme of development"—Nurrullah and Naik

समितियो को सौप दिया गया है। राजस्थान मे लगभग १३८५ जनसख्या के पीछे एक प्राथमिक विद्यालय है तथा औसतन एक प्राथमिक विद्यालय मे ६१ बच्चो का प्रवेश है। एक प्राथमिक विद्यालय मे औसतन ९ १ वर्ग मील क्षेत्र के बालक अध्ययन करते है, जबकि उत्तर प्रदेश मे २ ८ वर्ग मील क्षेत्र मे एक विद्यालय है। इससे ज्ञात होता है कि राजस्थान मे अभी और विद्यालयो की आवश्यकता है।

केन्द्रीय सरकार द्वारा समय-समय पर शिक्षा समिति या आयोग नियुक्त किये गये है। केन्द्रीय सरकार ने प्राथमिक शिक्षा के लिए एक परिषद् की भी स्थापना की है।

अखिल भारतीय प्रारम्भिक शिक्षा-परिषद्—इस परिषद् की स्थापना १ जुलाई, १९५७ को की गई। इस परिषद् के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं

१ प्राथमिक शिक्षा के विस्तार के लिए योजना बनाना।
२ केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारो को परामर्श देना।
३ प्राथमिक शिक्षा की प्रगति का सर्वेक्षण करना।
४ प्राथमिक विद्यालयो के लिए पाठ्यक्रम तथा साहित्य तैयार करना।
५ अनुसन्धान कार्य को प्रोत्साहन देना।

इस परिषद् के २३ सदस्य होते हैं।

केन्द्रीय सरकार द्वारा सन् १९६४ मे शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र मे विकास की सम्भावनाओ पर विचार करने तथा सुझाव देने के लिए कोठारी आयोग का गठन किया। इस आयोग के अध्यक्ष प्रोफेसर दौलतसिंह कोठारी, अध्यक्ष, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग थे। इस आयोग ने प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र मे निम्नलिखित सुझाव दिये

१. सन् १९७५-७६ तक ५ वर्ष की प्रभावपूर्ण शिक्षा की व्यवस्था हर बालक के लिए हो।
२ सन् १९८५-८६ तक ७ वर्ष की शिक्षा प्रत्येक बच्चे के लिए हो।
३. प्रत्येक प्रान्त को प्राथमिक शिक्षा के विकास की योजनाएँ बनानी चाहिए।
४. कक्षा १ मे ७ तक अपव्यय को कम किया जाय।
५ प्राथमिक शिक्षा का स्तर ऊँचा किया जाय। कुछ विषयो मे सम्बन्धित सूचनाएँ प्रदान करना ही इसका उद्देश्य नही होना चाहिए बल्कि इसका उद्देश्य देश के लिए एक उपयोगी तथा उत्तरदायित्वपूर्ण युवक तैयार करना होना चाहिए।
६. (अ) एक वर्ग मील क्षेत्र मे एक प्राथमिक विद्यालय होना चाहिए।
(ब) निश्चित आयु होने पर बालक का प्रवेश पहली कक्षा मे प्रचार, परामर्श या कानूनी सहायता के द्वारा अवश्य होना चाहिए।
(स) स्वीकृत आयु तक पहुँचने तक छात्र को विद्यालय मे रोका जाय।

अध्याय ३

भारत में अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा

सन् १९४७ में भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पश्चात्, प्रजातन्त्रात्मक शासन प्रणाली अपनाने का निश्चय किया गया। प्रजातन्त्रीय देश में वयस्क को मतदान का अधिकार प्राप्त होता है। अतः आवश्यकता यह रहती है कि प्रत्येक मतदाता अपने मतदान का प्रयोग सोच-समझ कर करे जिससे कि ऐसे व्यक्तियों को चुनकर भेजा जाय जो उस पद के लिए योग्य हों। यही कारण है कि आज शिक्षा प्रसार का महत्व पहले की अपेक्षा अधिक अनुभव किया जाने लगा है। इसी विचार से प्रेरित होकर यहाँ के नेताओं ने संविधान में भी सार्वभौमिक अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा का उल्लेख किया है।

अनिवार्य शिक्षा की आवश्यकता

आज भारत का प्रत्येक शिक्षाशास्त्री शिक्षा को अनिवार्य करने का सुझाव देता है। अतः यहाँ अनिवार्य शिक्षा की आवश्यकता पर विचार करना उपयुक्त होगा। भारतवर्ष में शिक्षा को अनिवार्य करना निम्नलिखित दृष्टियों से आवश्यक है :

अनिवार्य शिक्षा

- देश में चेतना लाने के लिए
  - आर्थिक क्षेत्र
- प्रजातन्त्र की सफलता
- व्यक्तित्व का विकास
- निरक्षरता एक अभिशाप

सामने प्रस्ताव रखा कि कानून बनाकर भारत के प्रत्येक गाँव को एक स्कूल स्थापित करने के लिए बाध्य किया जाय। इससे प्रत्येक गाँव के बालक, बालिका को शिक्षा ग्रहण करने में सुविधा रहेगी।

(ख) कैप्टेन विगेट—यह बम्बई प्रान्त का राजस्व सर्वेक्षण कमिश्नर था। इसने भी भारत में शिक्षा को अनिवार्य बनाने के लिए प्रयास किया। इसने १८५२ में सरकार के सामने प्रस्ताव रखा कि भूमि के राजस्व पर ५% कर लगाया जाय और उससे ग्रामीण बालकों के लिए अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(ग) टी० सी० होप—श्री टी० सी० होप गुजरात के शिक्षा निरीक्षक थे। आपने १८५८ में सरकार के सामने प्रस्ताव रखा कि स्थानीय कर लगाकर अनिवार्य शिक्षा को लागू करने का प्रयास किया जाय।

(घ) श्री शास्त्री—सन् १८८४ में प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने के लिए बड़ौच के शिक्षा निरीक्षक श्री शास्त्री जी ने भी सरकार को उचित सलाह दी।

सरकार ने इन सभी प्रस्तावों को अव्यावहारिक बनाकर उनको अस्वीकृत कर दिया। भारतीय जनता पर यह दोषारोपण भी लगाया कि यहाँ के लोग अनिवार्य शिक्षा के लिए तैयार नहीं हैं। अंग्रेज सरकार ने इन सुझावों को समय से बहुत आगे बताया।

१९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीयों में राजनीतिक चेतना विकसित हुई। अतः भारतीय नेताओं ने शिक्षा को राजनीतिक आवश्यकता माना। सन् १८७० में इंगलैण्ड में शिक्षा को अनिवार्य कर दिया। इससे भारतवासियों को यह तर्क प्रस्तुत करने को मिला कि शिक्षा को अनिवार्य करना ब्रिटिश Jurisprudine के प्रतिकूल नहीं है। दूसरे, सन् १८८५ में भारतीय कांग्रेस की स्थापना से शिक्षा को अनिवार्य करने के लिए चल रहे आन्दोलनों को बल मिला। तीसरे, भारतवासी विदेश भ्रमण के अवसर पर योरोपीय देशों की प्रगति की झलक से प्रभावित होकर शिक्षा की अनिवार्यता अधिक अनुभव करने लगे। चौथे, धीरे-धीरे रूढ़िवादिता के समाप्त होने, बालिकाओं की शिक्षा का प्रसार, पर्दा प्रथा की समाप्ति आदि के कारण तथा पिछड़ी जाति के लोगों की आगे बढ़ने की भावना ने अनिवार्य शिक्षा के आन्दोलन को तीव्र करने में सहयोग दिया।

सन् १८९० से १९१८ तक अनिवार्यता के लिए आन्दोलन

(क) बड़ौदा का नेतृत्व—भारतवर्ष में शिक्षा को अनिवार्य करने का सर्वप्रथम प्रयास बड़ौदा के नरेश महाराज सायाजीराव गायकवाड ने किया। उन्होंने प्रारम्भ में प्रयोग के रूप में अमरौली नगर के एक ताल्लुका के ९ गाँवों में प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य कर दिया। यह शिक्षा सात से बारह वर्ष तक के बालकों तथा सात

से दस वर्ष तक की बालिकाओं के लिए अनिवार्य की गई। यह कार्य १८९३ म प्रारम्भ किया गया। इस प्रयोग मे सफलता मिलने पर अमरौली तालुका के ५२ ग्रामो मे शिक्षा को अनिवार्य कर दिया गया। सन् १९०६ मे एक अधिनियम द्वारा राज्य के सभी बालकों के लिए शिक्षा को अनिवार्य बना दिया गया।

(ख) बम्बई के प्रयत्न - बड़ोदा-नरेश के इस प्रयत्न से देश-भक्तो को प्रेरणा मिली। बम्बई मे सर विट्ठलदास ठाकरसे तथा इब्राहीम रहीमतुल्ला ने सर्व-प्रथम सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा सरकार का कर्तव्य है। इस आन्दोलन के कारण बम्बई सरकार ने १९०६ म अनिवार्य शिक्षा के प्रश्न पर विचार करने के लिए एक समिति नियुक्ति की। इस समिति ने जाँच करने के बाद अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा को लागू करना अनुचित बताया। उन्होंने बताया कि शिक्षा को अनिवार्य करने पर अपने बच्चो को स्कूल न भेजने वाले अभिभावकों को दण्डित किया जायेगा। इसका परिणाम होगा कि सरकार तथा जनता के मध्य तनाव बढ़ेगा।

(ग) गोखले के प्रयत्न महाराजा सायाजीराव गायकवाड से प्रेरणा लेकर गोपालकृष्ण गोखले ने कहा कि जब एक छोटी रियासत शिक्षा को अनिवार्य तथा निःशुल्क बना सकती है तब साधन-सम्पन्न अंग्रेज सरकार प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य क्यो नही बना सकती ? अत गोखले ने केन्द्रीय धारा सभा मे १९ मार्च सन् १९१० मे प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने के लिए एक प्रस्ताव रखा। परन्तु सरकार के आश्वासन पर गोखले ने अपना प्रस्ताव वापिस ले लिया। सरकार ने अपने आश्वासन के अनुसार प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने के लिए कोई पग नही उठाया तो इस उदासीन नीति को देखकर १६ मार्च, १९११ को केन्द्रीय धारा सभा मे गोखले ने अपना प्रसिद्ध विधेयक रखा। इस विधेयक की प्रमुख बाते निम्न-लिखित थी

१ प्राथमिक शिक्षा उन क्षेत्रों मे अनिवार्य को जाय जहाँ पहले से ही पर्याप्त सख्या मे छात्र पढ रहे है।
२ स्थानीय सस्थाएँ प्रान्तीय सरकारो की स्वीकृति लेकर ही इस नियम को लागू करे।
३ स्थानीय सस्थाएँ शिक्षा-कर लगा सकती हैं।
४ ६ वर्ष से १० वर्ष की आयु के बालको को विद्यालय मे भेजना अनिवार्य हो। ऐसा न करने वाले अभिभावको को दण्डित किया जाय।
५ सम्पूर्ण व्यय का भार स्थानीय सस्थाएँ तथा सरकार १ २ के अनुपात मे उठाएँ।

पण्डित मदनमोहन मालवीय, मोहम्मद अली जिन्ना आदि प्रमुख नेताओं का सहयोग मिलने पर भी यह विधेयक १३ वोटो के विरोध मे ३८ वोटो से गिर

था। इस प्रकार का आभास गोखले जी को पहले से ही था, जैसा कि उन्होंने पने वक्तव्य मे एक स्थान पर कहा—

> "श्रीमान जी मैं जानता हूँ कि सन्ध्या तक मेरा विधेयक अस्वीकृत हो जायेगा। मुझे कोई शिकायत नही है और न मैं दुःख ही अनुभव करूँगा। मैं तो अक्सर कहता रहता हूँ कि हम वर्तमान पीढी के लोग अपनी असफलताओं के द्वारा ही देश की सेवा करने की आशा कर सकते है।"[1]

ान्तो में शिक्षा अनिवार्य करने के प्रयत्न

बम्बई प्राथमिक अधिनियम—सन् १६१८ मे गोखले के प्रयत्नो से रित होकर विट्ठल भाई पटेल ने बम्बई की व्यवस्थापिका सभा मे एक विधेयक स्तुत किया। इस विधेयक का उद्देश्य बम्बई प्रान्त मे प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य करना था। यह विधेयक पास हो गया। पटेल ने अपने अधिनियम मे गोखले द्वारा ही गई त्रुटियो को सुधारा—प्रथम तो गोखले के बिल की यह आलोचना की गई कि ग्रामीण क्षेत्र अनिवार्य शिक्षा के पक्ष मे नही हैं। इसीलिए पटेल ने केवल नगर-पालिका क्षेत्र मे शिक्षा को अनिवार्य बनाने के लिए कहा। दूसरा, गोखले ने सरकार को दो-तिहाई आर्थिक सहायता देने को कहा जबकि पटेल ने प्रान्तीय सरकारो को स्वतन्त्र रखा कि वे इच्छा होने पर आर्थिक सहायता दे सकती हैं। इस दूसरे सुझाव ने सरकार के पक्ष को निर्बल बना दिया। परिणाम यह हुआ कि १६१८ मे यह कानून (Law) बन गया।

अनिवार्य शिक्षा के एक्ट बम्बई के बाद फिर विभिन्न प्रान्तों मे बनाये गये जिनका विवरण पृष्ठ ९२ की तालिका से स्पष्ट है।

सन् १६३१ से १६३७ ई० तक प्राथमिक शिक्षा का प्रसार कम हुआ क्योंकि हर्टाग समिति ने शिक्षा के गुणात्मक विकास पर अधिक बल दिया। सन् १६३७ मे ११ प्रान्तो मे से ६ प्रान्तो मे कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बना। इन प्रान्तो मे भारतीय नेताओं ने शिक्षा को अनिवार्य करने का प्रयत्न किया। इसके बाद सार्जेन्ट रिपोर्ट मे भी ५ या ६ से १४ वर्ष तक समस्त बालको के लिए शिक्षा अनिवार्य तथा नि:शुल्क बनाने पर बल दिया।

---

1. My Lord, I know that my bill will be thrown out before the day closes. I make no complaints I shall not feel even depressed. I have often said that we of the present generation in India can only hope to serve our country by our failures. —Speeches (1920 edition), pp. 445–46

इस धारा में हमको अपने संविधान की कुछ विशेषताओं का और प्रकाश मिलता है। संविधान के अनुसार यह शिक्षा सभी बच्चों के लिए अनिवार्य होगी। संविधान इस प्रकार प्रजातन्त्र के सिद्धान्त—अवसरों की समानता—की सुरक्षा करता है। भारत के प्रत्येक नागरिक को शैक्षिक विकास का अवसर तथा अधिकार प्राप्त है। संविधान में यह उल्लेख है कि—"सरकार किसी व्यक्ति, धर्म, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर विभेद नहीं कर सकती है।"[1] इस धारा की रक्षा के लिए ही सरकार ने संविधान की २९वीं धारा के द्वारा यह स्पष्ट किया कि—"धर्म, जाति या भाषा के आधार पर कोई भी संस्था किसी व्यक्ति को प्रवेश देने के लिए मना नहीं कर सकती है जो कि राज्य द्वारा या राज्य की आर्थिक सहायता के बल पर चल रही है।"[2] इन धाराओं से स्पष्ट है कि प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर ही अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की गई है।

प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने में कठिनाइयाँ एवं समस्याएँ

(१) **राजनीतिक बाधाएँ**—स्वतन्त्रता के पश्चात् सरकार ने शिक्षा को अनिवार्य एवं निःशुल्क बनाने के लिए संविधान में इसको सम्मिलित करके अपना कर्तव्य पूरा किया। परन्तु सरकार संविधान की ४५वीं धारा को सम्पूर्ण देश में सफलतापूर्वक लागू करने में सफल न हो सकी। इसके कुछ राजनीतिक कारण हैं। अंग्रेजों ने सन् १९४७ में यहाँ से जाते समय भारत को दो भागों में विभाजित किया। विभाजन के फलस्वरूप एक नवीन राष्ट्र, पाकिस्तान का जन्म हुआ। पाकिस्तान के जन्म ने शरणार्थी समस्या को जन्म दिया। सरकार का ध्यान पाकिस्तान से आये हुए पीड़ित लोगों के आवास, भोजन-वस्त्र, जीविका आदि की व्यवस्था पर लगा। इसी प्रकार एक समस्या ६०० देशी राज्यों के एकीकरण की थी। इनके अतिरिक्त कश्मीर की समस्या, खाद्यान्न की समस्या, चीन के आक्रमण की समस्या आदि सरकार के सामने आईं। भारतीय पार्लियामेंट में विरोधी दल के नेता भी अनेक बातों को लेकर सरकार की आलोचना करते रहे परन्तु इन्होंने भी सरकार का ध्यान संविधान की ४५वीं धारा की ओर खींचने का प्रयास नहीं किया। सरकार को भी इन जटिल समस्याओं के समाधान पर पर्याप्त समय और धन खर्च करना पड़ा। चीन एवं

---

1 "The state shall not discriminate against any citizen on grounds of religion, race, caste, sex, place of birth or any of them" —Article 15—Indian Constitution

2. "No citizen shall be denied admission into any eductional institution maintained by the state or receiving aid out of state funds on grounds only of religion, race, caste, language or any of them"
—Clause (2) of Article 29—Indian Constitution.

इस धारा मे हमको अपने सविधान की कुछ विशेषताओं की ओर सकेत मिलता है। सविधान के अनुसार यह शिक्षा सभी बच्चो के लिए अनिवार्य होगी। सविधान इस प्रकार प्रजातत्र के सिद्धान्त—अवसरों की समानता—की सुरक्षा करता है। भारत के प्रत्येक नागरिक को शैक्षिक विकास का अवसर तथा अधिकार प्राप्त है। सविधान मे यह उल्लेख है कि—"सरकार किसी व्यक्ति, धर्म, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर विभेद नही कर सकती है।"[1] इस धारा की रक्षा के लिए ही सरकार ने सविधान की २९वीं धारा के द्वारा यह स्पष्ट किया कि—"धर्म, जाति या भाषा के आधार पर कोई भी सस्था किसी व्यक्ति को प्रवेश देने के लिए मना नही कर सकती है जो कि राज्य द्वारा या राज्य की आर्थिक सहायता के बल पर चल रही है।"[2] इन धाराओ से स्पष्ट है कि प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर ही अनिवार्य नि शुल्क शिक्षा की व्यवस्था की गई है।

प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने मे कठिनाइयाँ एवं समस्याएँ

(१) राजनीतिक बाधाएँ—स्वतन्त्रता के पश्चात् सरकार ने शिक्षा को अनिवार्य एव नि शुल्क बनाने के लिए सविधान मे इसको सम्मिलित करके अपना कर्तव्य पूरा किया। परन्तु सरकार सविधान की ४५वीं धारा को सम्पूर्ण देश मे सफलतापूर्वक लागू करने मे सफल न हो सकी। इसके कुछ राजनीतिक कारण है। अग्रेजो ने सन् १९४७ मे यहाँ से जाते समय भारत को दो भागो मे विभाजित किया। विभाजन के फलस्वरूप एक नवीन राष्ट्र, पाकिस्तान का जन्म हुआ। पाकिस्तान के जन्म ने शरणार्थी समस्या को जन्म दिया। सरकार का ध्यान पाकिस्तान से आये हुए पीड़ित लोगो के आवास, भोजन-वस्त्र, जीविका आदि की व्यवस्था पर लगा। इसी प्रकार एक समस्या ६०० देशी राज्यो के एकीकरण की थी। इनके अतिरिक्त कश्मीर की समस्या, खाद्यान्न की समस्या, चीन के आक्रमण की समस्या आदि सरकार के सामने आई। भारतीय पार्लियामेंट म विरोधी दल के नेता भी अनेक बातो को लेकर सरकार की आलोचना करते रहे परन्तु इन्होंने भी सरकार का ध्यान सविधान की ४५वीं धारा की ओर खीचने का प्रयास नहीं किया। सरकार को भी इन जटिल समस्याओ के समाधान पर पर्याप्त समय और धन खर्च करना पड़ा। चीन एव

---

1 "The state shall not discriminate against any citizen on grounds of religion, race, caste, sex, place of birth or any of them" — Article 15—Indian Consutution

2 "No citizen shall be denied admission into any eductional institution maintained by the state or receiving aid out of state funds on grounds only of religion, race, caste, language or any of them"

—Clause (2) of Article 29—Indian Consutution.

कारण अनिवार्य शिक्षा सफलतापूर्वक लागू नहीं हो पा रही है। निम्न तालिका से यह स्पष्ट हो जायेगा कि स्थानीय संस्थाओं के नियन्त्रण में अधिक विद्यालय हैं

प्रबन्ध के अनुसार प्राथमिक विद्यालय

(प्रतिशत में)

वर्ष	राजकीय	स्थानीय संस्थाएँ	व्यक्तिगत संस्थाएँ
१९४९–५०	२४ २	४२ ४	३३ ४
१९५१–५२	२० ५	४९ ४	३० १
१९५५–५६	२३ ३	५१ १	२५ ६
१९५८–५९	२७ २	४९ १	२३ ७
१९६०–६१	२२ २	५५ ७	२२ १

(४) अप्रशिक्षित शिक्षा अधिकारी प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने में शिक्षा अधिकारियों का सक्रिय सहयोग प्राप्त नहीं हुआ है। इन अधिकारियों में प्रशासकीय क्षमताओं की कमी, कल्पना शक्ति एवं समस्याओं के समाधान की योग्यता का अभाव होने से ये शिक्षा नियमों को व्यावहारिक रूप देने में असमर्थ रहे। इन अधिकारियों ने अनिवार्य शिक्षा के सर्वेक्षण में कोई रुचि नहीं दिखाई। उपस्थिति अधिकारियों के अप्रशिक्षित होने से विद्यालय जाने वाली उम्र के बच्चों की ठीक जनगणना नहीं हो पाती है। ये उपस्थिति अधिकारी साधारण जनता के प्रति कठोरतापूर्ण व्यवहार करते हैं। ये जनसाधारण को शिक्षा का महत्त्व तथा अनिवार्य शिक्षा के नियमों का ज्ञान कराये बिना दण्ड दिलाने में गौरवान्वित होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जनता में शिक्षा के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है। अभी तक उपस्थिति अधिकारी अथवा सहायक इन्सपैक्टरों की कमी होने से सभी विद्यालयों का निरीक्षण भी सन्तोषजनक ढंग से नहीं हो पाता है क्योंकि एक अधिकारी के पास लगभग १०० से अधिक विद्यालय निरीक्षण के लिए होते हैं। ये अधिकारी अध्यापकों के साथ मानवीय व्यवहार के स्थान पर अफसराना रुख अपनाते हैं। ये उनकी समस्याओं एवं कठिनाइयों को समझने एवं दूर करने का कोई प्रयत्न नहीं करते।

निरीक्षक अधिकारियों के लिए प्रशिक्षण की कोई सुविधा नहीं है। बी० एड० या एम० एड० में तो उनको सैद्धान्तिक ज्ञान ही प्रदान किया जाता है। इनसे सम्बन्धित एक समस्या कार्य-भार की अधिकता है। शिक्षा को अनिवार्य करने के लिए सरकार ने प्राथमिक विद्यालयों की स्थापना की, छात्रों एवं अध्यापकों की संख्या में वृद्धि की, परन्तु उस गति के साथ निरीक्षक अधिकारियों की संख्या नहीं बढ़ाई गई।

(५) अध्यापकों की समस्या - प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने मे सफलता प्राप्त न होने का एक कारण अध्यापको की कमी है। अनिवार्य शिक्षा को लागू करने के लिए, एक विशाल संख्या मे प्रशिक्षित अध्यापको की आवश्यकता है। भारत के अनेक प्रान्तो मे इस समय प्रशिक्षित अध्यापको का प्रतिशत बहुत कम है। यह निम्न तालिका मे स्पष्ट है

प्रशिक्षित प्राथमिक शिक्षा के अध्यापक (१९६०-६१)

राज्य	प्रशिक्षित अध्यापकों का प्रतिशत
आसाम	३६ ३
गुजरात	३५ ६
मध्य प्रदेश	५१ ०
महाराष्ट्र	४६ ८
मैसूर	४३ ४
उड़ीसा	३८ ५
राजस्थान	५० ८
प० बंगाल	३८ १

प्रशिक्षित अध्यापको की कमी के कारण प्राथमिक शिक्षा का गुणात्मक विकास नहीं हो पा रहा है।

अध्यापको से सम्बन्धित दूसरी समस्या पर्याप्त संख्या मे अध्यापको की पूर्ति है। निम्न तालिका से सन् १९६५ से १९७५ तक अतिरिक्त अध्यापको की आवश्यकता स्पष्ट है

अतिरिक्त अध्यापको की आवश्यकता का योग (१९६५-७५)

	१९७५-७६ तक छात्रो की संख्या का अनुमान	छात्र-अध्यापक अनुपात के आधार पर १९६५-७५ के बीच अतिरिक्त अध्यापको की मांग			
		३५ १	४० १	४५ १	५० १
		(हजार मे)			
१	६—११ वर्ष की आयु के १०० प्रतिशत				
	११-१४ „ „ ५० „	२,००७	१,६११	१,३०६	१,०६१
	६—११ वर्ष की आयु के १०० प्रतिशत				
	११-१४ „ „ ७५ „	२,३२२	१,८८६	१,५५०	१,२८१
२	६—११ वर्ष की आयु के १०० प्रतिशत				
	११-१४ „ „ १०० „	२,६३७	२,१६१	१,७९४	१,५०१

चौथी तथा पाँचवीं पंचवर्षीय योजनाओं के समय में ४५ : १ के छात्र-अध्यापक अनुपात के अनुसार प्रतिवर्ष २६१,००० और ३६८,००० के मध्य अध्यापकों की आवश्यकता होगी। अध्यापन व्यवसाय की ओर योग्य व्यक्तियों के आकर्षित न होने के कुछ कारण हैं जो कि निम्न रेखाचित्र में स्पष्ट हैं

अध्यापन व्यवसाय की समस्याएँ

अल्प वेतन	गाँवों में सुविधाओं की कमी	मकान की समस्या	अध्यापिकाओं की सुविधा की कमी	समाज में उचित सम्मान की कमी

उपर्युक्त असुविधाओं के कारण प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने के लक्ष्य की प्राप्ति में सफलता प्राप्त नहीं हो रही है। अल्प वेतन के कारण योग्य व्यक्ति अध्यापन व्यवसाय में आना पसन्द नहीं करते हैं। कुछ प्रान्तों में प्राथमिक विद्यालय के अध्यापक का वेतन निम्न प्रकार है

बिहार	५०–२–७०–२–९०
केरल	४०–४–६०–५–१२०
उत्तर प्रदेश	३५–२–४५–२–६५
राजस्थान	७५–४–९५–५–१३०–५–१६०

उपर्युक्त वेतन शृंखला सन् १९६३ के अनुसार है। इतने कम वेतन पर परिवार का भरण-पोषण करना अध्यापक के लिए असम्भव है। अल्प वेतन होने से अध्यापन व्यवसाय को समाज में सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है। राजस्थान विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री एम० वी० माथुर ने एक अध्यापक वाले विद्यालयों की आलोचना की। उन्होंने कहा कि भारतवर्ष में लगभग ४० प्रतिशत प्राइमरी तथा मिडिल स्कूल एक अध्यापक वाले विद्यालय हैं। इन विद्यालयों में साज-सामान की कमी है तथा इनमें मिडिल स्कूल पास व्यक्ति अध्यापन करते हैं जिनको सरकार के चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों से भी कम वेतन मिलता है।

लड़कियों के विद्यालयों के लिए अध्यापिकाएँ प्राप्त करना एक कठिन कार्य है। हमारे देश में बालिकाओं की शिक्षा के प्रति विपरीत विचारधारा होने से पर्याप्त शिक्षित महिलाएँ इन विद्यालयों के लिए नहीं मिल पाती हैं। इसके साथ एक कारण यह है कि गाँवों में रहने की उचित व्यवस्था का अभाव एवं यातायात के साधनों की कमी के कारण शिक्षित महिलाएँ गाँवों में जाना पसन्द नहीं करती हैं।

(१) आर्थिक समस्या — धन का अभाव शिक्षा को अनिवार्य बनाने में एक कठिनाई रहा है। आर्थिक समस्या के दो रूप हैं —

(अ) जनता की निर्धनता — भारतवर्ष की सामान्य जनता की आर्थिक दशा इतनी शोचनीय है कि इसके कारण अभिभावक अपने बच्चों को विद्यालय नहीं भेजते हैं। वे उनसे छोटी आयु में ही कार्य कराते हैं जिससे वे परिवार की आय में कुछ सहायता दे सकें। निर्धन कृषक अपने कृषि कार्य में श्रमिक को रखने में समर्थ नहीं होते हैं अतः वे कृषि कार्य में बच्चों की सहायता लेते हैं।

(आ) सरकार के समक्ष धन का अभाव — प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य और निःशुल्क बनाने के लिए केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों से पर्याप्त आर्थिक सहायता नहीं मिली। प्राथमिक शिक्षा के प्रबन्ध का उत्तरदायित्व तो स्थानीय संस्थाओं पर डाला परन्तु उनके व्यय के लिए कोई प्रबन्ध नहीं किया। प्राथमिक शिक्षा की आर्थिक सहायता के निम्न पाँच स्रोत हैं

केन्द्रीय सरकार प्राथमिक शिक्षा के लिए कोई भी सीधी सहायता नहीं देती है। केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय सरकारों को उनके विकास की योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए सहायता देती है जिसमें प्राथमिक शिक्षा का विकास भी सम्मिलित रहता है। वर्तमान समय में भारत अपनी राष्ट्रीय आय का केवल २.८ प्रतिशत ही शिक्षा पर व्यय करती है और प्राथमिक शिक्षा पर लगभग ०.८३ प्रतिशत ही व्यय होता है। इसी प्रकार शिक्षा पर व्यय होने वाले सम्पूर्ण धन का केवल ३५.३३ प्रतिशत ही प्राथमिक शिक्षा पर सन् १९६०-६१ में व्यय किया गया। राजस्थान प्रान्त में यह प्रतिशत ३६.७८ रहा।

प्रान्तीय सरकारें शिक्षा पर कुल व्यय का ५६.४ प्रतिशत ही प्राथमिक शिक्षा पर व्यय करती है। परन्तु यह पर्याप्त नहीं है। एक सर्वमान्य विचारधारा यह है कि प्रान्तीय सरकारों को अपने राजस्व का २० प्रतिशत शिक्षा पर व्यय करना चाहिए और शिक्षा पर सम्पूर्ण व्यय का दो-तिहाई भाग प्राथमिक शिक्षा पर व्यय किया जाय। इस दृष्टि से भारत के अनेक राज्य इस प्रकार सहायता करने में ... रहे हैं।

स्थानीय संस्थाओं पर धन का अभाव अधिक है। इसका कारण है कि भू-राजस्व पर कर बहुत कम वसूल किया जाता है। नगरों मे सम्पत्ति पर शिक्षा कर लगाया जा सकता है। परन्तु राजनीतिक अवस्था सदस्यों को यह कार्य करने मे रोकती है।

के० जी० सैयदन ने कहा है कि—"शिक्षा के प्रति रुपये-पैसे के मामले में सरकार द्वारा सौतेली बेटी जैसा व्यवहार किया ही गया है परन्तु प्राथमिक शिक्षा तो शिक्षा परिवार की तिरस्कृत सन्तान रही है।"

(७) विद्यालय-भवन की समस्या—प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने पर छात्रों की संख्या मे वृद्धि होगी। परन्तु अपने देश मे विद्यालय-भवन की अत्यधिक कमी है। सरकार के द्वारा निर्मित भवन बहुत कम हैं। इनमे कुल छात्रों का ३० प्रतिशत ही शिक्षा ग्रहण कर पाता है। अधिकांश विद्यालय किराये के मकानो में चलते हैं जिनकी दशा बहुत खराब है। गाँवो मे प्राथमिक विद्यालय पंचायत घरों मे, मन्दिरो मे या धनी व्यक्तियों की चौपाल में चलते हैं। ये विद्यालय-भवन बच्चों को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाते हैं। नगरों में अधिकांश विद्यालय कोलाहल-पूर्ण वातावरण मे स्थित है। इन विद्यालय भवनों मे प्रकाश तथा हवा की कोई व्यवस्था नहीं हैं। स्वास्थ्य की दृष्टि से अनेक भवन ऐसे स्थानो पर स्थित है जहाँ दुर्गन्ध का साम्राज्य है। छात्रों को खेलने के लिए उचित व्यवस्था नही है। के० जी० सैयदन ने प्राथमिक स्कूलों की दशा के बारे मे कहा है कि—"आप अपने मन मे एक कच्ची झोपडी की कल्पना कीजिए जिसमें एक या दो कमरे हो, जिसकी दीवारें नंगी और फर्श पर धूल के ढेर हो, जिसमें कुछ फटे-पुराने टुकडो या टूटी-फूटी डेस्को या कुर्सियों को छोड़कर कोई फर्नीचर न हों इस गन्दे और अनुपयुक्त स्थान मे बेचारे अध्यापक से बच्चों को शिक्षा देने की आशा की जाती है।"

८. अनुपयुक्त पाठ्यक्रम—प्राथमिक विद्यालयों मे अभी तक वही पाठ्यक्रम पढ़ाया जाता है जो कि अंग्रेजो ने अपने समय मे स्वीकृत किया। इसीलिए यह राष्ट्रीय जीवन की आवश्यकताओं तथा जनसाधारण की सांस्कृतिक एवं आर्थिक समस्याओ को दूर करने के अनुपयुक्त है। वर्तमान पाठ्यक्रम मे निम्नलिखित दोष हैं .

(१) संकीर्ण और एक-मार्गीय, (२) पुस्तकीय शिक्षा की प्रधानता,, (३) ग्रामीण क्षेत्र की आवश्यकताओ के अनुकूल न होना, (४) स्थानीय वातावरण की अवहेलना, (५) 'करके सीखना' सिद्धान्त को ध्यान मे न रखना, (६) पाठ्यक्रम का संगठन अमनोवैज्ञानिक।

प्रत्येक छात्र मे रचनात्मक कार्य करने की मूल प्रवृत्ति होनी है। इस मूल प्रवृत्ति का विकास करना शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए, परन्तु वर्तमान पाठ्यक्रम इस ओर कोई ध्यान नहीं देता है। इस प्रकार का नीरस पाठ्यक्रम छात्रों को अपनी ओर आकर्षित करने मे असमर्थ रहता है।

(९) भौगोलिक बाधाएँ— कुछ भौगोलिक बाधाएँ प्राथमिक शिक्षा के विस्तार में रुकावट डालती है ।

भौगोलिक बाधाएँ

↓	↓	↓	↓
पर्वत	वन	मरुस्थल	नदियाँ
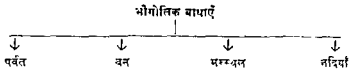
उत्तर में हिमालय पर्वत तथा दक्षिण में पश्चिमी घाट एवं पूर्वी घाट ऐसे विस्तृत पर्वतीय प्रदेश है कि इन क्षेत्रों में पर्वतों के कारण आवागमन की सुविधा नहीं है, जनसंख्या कम एवं गाँव बिखरे हुए है । इन गाँवों में प्राथमिक विद्यालय स्थापित करना तथा उनका निरीक्षण करना एक कठिन कार्य है । राजस्थान के मरुस्थलीय प्रदेश में भी गाँव दूर-दूर स्थित है । गर्मी के दिनों में तो इन प्रदेशों में दिन में चलना बहुत कठिन है । इसी प्रकार वर्षा ऋतु में अत्यधिक वर्षा के कारण नदियों में बाढ़ आ जाती है । इस कारण बालक अपने विद्यालय में नहीं जा पाते है ।

(१०) सामाजिक समस्याएँ— प्राकृतिक वातावरण की भाँति ही सामाजिक वातावरण भी अनिवार्य शिक्षा को लागू करने में एक बाधा है ।
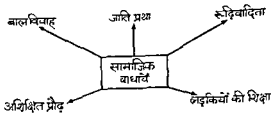
भारतवर्ष में जाति प्रथा अभी तक इतनी जटिल है कि उच्च वर्ग के व्यक्ति निम्न वर्ण के व्यक्तियों के बच्चों के साथ एक ही विद्यालय में अपने बच्चों को पढ़ाना पसन्द नहीं करते हैं । आज भी गाँवों में, हरिजन छात्रों को विद्यालय में प्रवेश करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है ।

बाल-विवाह भी सार्वभौम शिक्षा के विस्तार में रुकावट डालता है । वैसे
न बनाकर बाल-विवाह पर प्रतिबन्ध लगाया गया है परन्तु अभी तक यह प्रथा
क्षेत्रों में विद्यमान है ।

रूढ़िवादिता के कारण स्त्री शिक्षा के प्रति लोगों की विपरीत विचारधारा रही है। सह-शिक्षा को भारतीय पसन्द नहीं करते हैं। मुसलमान पर्दा प्रथा पर विशेष बल देते हैं। इन सबके कारण प्राथमिक शिक्षा के विस्तार को प्रोत्साहन नहीं मिल रहा है।

(११) भाषा समस्या—संविधान के अनुसार भारतवर्ष की १४ भाषाओं को मान्यता प्राप्त है। परन्तु इनके अतिरिक्त हमारे देश में अनेक बोलियाँ बोली जाती हैं। संविधान के अनुसार सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा बच्चों की मातृभाषा के माध्यम से दी जानी चाहिए। परन्तु प्रत्येक क्षेत्र में कुछ भिन्न भाषा वाले लोगों की उपस्थिति एक समस्या उत्पन्न कर देती है। कुछ भाषाएं विशेष रूप से आदिम जातियों के साहित्य और लिपि की दृष्टि से निर्धन हैं। अतः किस भाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाय यह एक समस्या बनी हुई है।

(१२) अपव्यय और अवरोधन—प्राथमिक शिक्षा के प्रसार में अपव्यय और अवरोधन एक जटिलतम समस्या है। प्राथमिक शिक्षा स्तर पर ५६ प्रतिशत अपव्यय होता है। १०० छात्रों में से चौथी कक्षा में केवल ४४ छात्र पहुंचते हैं। इसी प्रकार १९६५-६६ में अवरोधन के कारण १०० छात्र जो पहली कक्षा में प्रविष्ट हुए उनमें से केवल ३६ ७ प्रतिशत ही चौथी कक्षा में पहुंचे। अपव्यय या अवरोधन असफल होने या माता-पिता द्वारा बीच में ही कक्षा ४ तक पहुंचने से पहले बिठा लेने से होता है।

(१३) नवीन विद्यालयों की स्थापना—नगरों की अपेक्षा गाँवों में प्राथमिक शिक्षा के लिए नवीन स्कूलों की स्थापना करना एक कठिन कार्य है। देश के दो-तिहाई गाँवों में विद्यालय नहीं है। परन्तु इसमें सम्बन्धित एक समस्या गाँवों में जनसंख्या का कम होना है। अतः छोटे-छोटे गाँवों में एक विद्यालय स्थापित करना भारत जैसे निर्धन देश के लिए सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त समस्याओं के अतिरिक्त प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने में और भी अनेक समस्याएँ हैं

(१) दोषपूर्ण अनिवार्य शिक्षा अधिनियम—भारतवर्ष में जो अधिनियम शिक्षा को अनिवार्य और निःशुल्क बनाने के लिए लागू किये गये वे प्रायः गोखले के सुझावों पर आधारित हैं। ये बहुत पुराने हैं। उस समय से अब परिस्थितियाँ बहुत बदल चुकी हैं। अतः इनमें सुधार की आवश्यकता है। गोखले या पटेल के अधिनियम अभिभावकों की स्वेच्छा पर अपने बच्चों को विद्यालय में भेजने पर जोर देते हैं परन्तु आज आवश्यकता इस बात की है कि इस ओर कठोर कदम उठाये जायें। गोखले के अधिनियम में अनिवार्य शिक्षा का उत्तरदायित्व स्थानीय संस्थाओं पर छोड़ दिया था परन्तु स्थानीय संस्थाएँ इस कार्य को करने में उत्साहित प्रतीत नहीं हुई। गोखले के अधिनियम में एक दोष आयु से सम्बन्धित है। उसने ६-१० वर्ष की आयु के बच्चों

के लिए तथा पहले नगरो मे शिक्षा को अनिवार्य करने के लिए कहा। परन्तु संविधान के अनुसार अब शिक्षा केवल नगरों तक ही सीमित नही रहेगी, इसका प्रसार गाँवो मे करना होगा जहाँ देश की ८० प्रतिशत जनसंख्या निवास करती है।

(२) आँकड़ो की कमी—अनिवार्य शिक्षा को सफल बनाने के लिए गाँवो तथा नगरो में रहने वाले लड़के एवं लड़कियो के बारे मे सही आँकड़े उपलब्ध नही हैं। इसी प्रकार यह आँकड़े भी एकत्रित नही किये गये कि कौन-सी बस्तियो मे विद्यालय नहीं है। अनिवार्य स्कूल वाली आयु के बच्चो की जनगणना नही की जाती है।

(३) प्रान्तीय सरकार द्वारा असहयोग प्रान्तीय सरकारो ने अनिवार्य शिक्षा कानून को लागू करने मे रुचि नही दिखाई। इन कानूनो को बलपूर्वक लागू नही किया गया। कुछ प्रान्तो म अनिवार्य शिक्षा कानून की अवहेलना करने वालो पर मुकदमा नही चलाया गया। परिणामत अभिभावको पर कोई प्रभाव नही पड़ा।

नि:शुल्क अनिवार्य शिक्षा-प्रसार के लिए सुझाव

संविधान की ४५ वीं धारा के अनुसार ६–१४ वर्ष की आयु के समस्त बालको की शिक्षा को अनिवार्य बनाने का लक्ष्य सन् १९६० मे रखा गया। परन्तु उपर्युक्त कारणो मे लक्ष्य-प्राप्ति नही हो सकी। आज सम्पूर्ण देश मे संविधान के इस निर्देश को पूरा करने की चर्चा है। योजना आयोग के सदस्यों का मत है कि ६–११ वयोवर्ग की अनिवार्य शिक्षा की ओर सर्वप्रथम ध्यान केन्द्रित करना चाहिए।

(१) अनिवार्य शिक्षा को स्थिर नीति सरकार को सर्वप्रथम अनिवार्य शिक्षा के प्रति एक निश्चित तथा स्थिर नीति का पालन करना चाहिए। सरकार को बुनियादी शिक्षा योजना तथा अनिवार्य शिक्षा को एक साथ कार्यान्वित नही करना चाहिए, परन्तु प्रथम स्थान अनिवार्य शिक्षा योजना को देना चाहिए। सरकार को इस योजना की पूर्ति के लिए एक सीमा निश्चित कर देनी चाहिए। खाद्री आयोग ने संविधान के ४५ वें निर्देश की पूर्ति के लिए निम्न सुझाव दिये

(अ) प्रत्येक प्रान्त और यहाँ तक कि प्रत्येक जिले को प्राथमिक शिक्षा के विकास के लिए एक योजना बनानी चाहिए। इसका निर्माण करते समय स्थानीय दशाओ और समस्याओ को ध्यान में रखना चाहिए। योजना का लक्ष्य संविधान के निर्देश की पूर्ति शीघ्रातिशीघ्र करना होना चाहिए।

(आ) प्रत्येक प्रान्त या जिले को अपनी क्षमतानुसार प्रगति करने में स्वतन्त्रता दी जाय। किसी क्षेत्र मे आवश्यक सुविधाओ या धन के अभाव के कारण प्रगति बन्द रखना नही चाहिए।

(इ) सर्वाधिक प्रान्तो में तथा कुछ नगरो में संविधान का निर्देश १९५०-५६ में पूरा हो जायगा परन्तु सम्पूर्ण देश में पाँच वर्षों की शिक्षा की व्यवस्था

१६७५-७६ तक हो जानी चाहिए और ७ वर्ष की अनिवार्य शिक्षा १६८५-८६ तक पूर्ण की जाय।

प्रान्तीय सरकारो को नवीन परिस्थितियों के अनुसार अनिवार्य शिक्षा अधिनियम का निर्माण करके प्रत्येक स्थानीय संस्था पर उसको कार्यान्वित करने के लिए दबाव डाला जाय।

(२) शिक्षा-प्रशासन मे सुधार—यह ठीक है कि शिक्षा प्रान्तीय सरकारो का विषय है और केन्द्रीय सरकार प्राथमिक शिक्षा के लिए कोई सीधा उत्तरदायित्व नही रखती है परन्तु कुछ तर्क इस बात की पुष्टि करते हैं कि केन्द्रीय सरकार अपने को शिक्षा के प्रसारण सम्बन्धी कार्य से अलग नहीं कर सकती है। केन्द्रीय सरकार को प्रान्तीय सरकार के साथ सहयोग तथा सहकारिता की नीति अपनानी चाहिए। केन्द्रीय सरकार को प्राथमिक शिक्षा के लिए निम्न कार्य करने चाहिए

(१) केन्द्रीय सरकार द्वारा प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र मे अनुसधान कार्य संचालित करना चाहिए जिससे कि इस क्षेत्र मे गुणात्मक विकास हो सके।

(२) प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र मे विभिन्न प्रान्तों में जो भिन्नता विद्यमान है उसको दूर करने का प्रयास किया जाय। निर्धन राज्यो को अन्य विकसित राज्यो के बराबर लाने के लिए विशेष सहायता की जाय।

(३) केन्द्रीय सरकार द्वारा Pilot Project सचालित की जायें जिनका सामान्यीकरण सभी प्रान्तो द्वारा किया जा सकता है।

प्राथमिक शिक्षा से सम्बन्धित प्रान्तीय सरकारो के उत्तरदायित्व निम्नलिखित हैं

१ सरकार पूरे राज्य के लिए एक शिक्षा नीति निर्धारित करे।
२ सम्पूर्ण प्रान्त के लिए प्राथमिक शिक्षा के लिए कानूनी व्यवस्था का निर्माण करे।
३ प्रत्येक प्रान्त मे शक्तिशाली प्रशासकीय विभाग हो क्योकि प्राथमिक विद्यालयों का निरीक्षण करना प्रान्त का उत्तरदायित्व है। स्थानीय संस्थाओ के कार्यों का निरीक्षण करने के लिए अच्छा शिक्षा विभाग होना चाहिए।
४. राज्य सरकारो के द्वारा स्थानीय संस्थाओ को पर्याप्त आर्थिक सहायता दी जाय।
५ राज्य सरकारों का कर्तव्य यह भी है कि अध्यापको के प्रशिक्षण के लिए प्रशिक्षण विद्यालय स्थापित करें।

(३) स्थानीय संस्थाओं मे सुधार—प्रजातन्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार प्रशासन मे विकेन्द्रीकरण करना जनहित की दृष्टि मे उचित है। परन्तु इन स्थानीय संस्थाओ

(इ) प्राथमिक शिक्षा के लिए केन्द्रीय सरकार से आर्थिक सहायता प्राप्त करना जिससे कि देश के सभी क्षेत्रो मे प्राथमिक शिक्षा का समान प्रसार हो।

(ई) शिक्षा के लिए सुलभ स्थानीय निधि को बढ़ाया जाय। यह निम्न प्रकार हो सकता है

(१) शिक्षा-कर लगाया जाय, (२) वर्तमान स्थानीय राजस्व का एक बड़ा भाग प्राथमिक शिक्षा के लिए निश्चित किया जाय, (३) स्थानीय सस्थाओ की आय के स्रोतो मे वृद्धि करना, (४) धनी व्यक्तियो से दान के रूप मे धन एकत्रित किया जाय।

(उ) प्रान्तीय सरकारें अपने राजस्व का विशेष भाग प्राथमिक शिक्षा पर व्यय किया करें।

(ऊ) ७ वर्ष की शिक्षा के स्थान पर ४ वर्ष की शिक्षा को अनिवार्य बनाने के लिए प्रयत्न किये जायें। इंगलैण्ड ने भी प्रारम्भ मे ६-१० वयोवर्ग के बच्चो की शिक्षा को अनिवार्य करने पर अपना ध्यान केन्द्रित *किया था।*

५. अध्यापको की समस्या का हल—अध्यापकों की कमी से अनिवार्य शिक्षा प्रसार अवरुद्ध नही होना चाहिए। इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित उपाय काम मे ने चाहिए

(अ) कम योग्यता प्राप्त व्यक्ति, जैसे ८वी कक्षा उत्तीर्ण व्यक्तियो को अध्यापन वसाय मे प्रवेश दिया जाय। बाद मे धीरे-धीरे इनको अपनी योग्यता बढाने के ए विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की जायें। मैक्सिको मे जब प्रतिवर्ष १००० थमिक विद्यालय स्थापित किये गये तो उत्साही, सच्चरित्र व्यक्तियों को नियुक्त या गया।

(आ) पारी-प्रणाली (Shift System) को प्रारम्भ किया जाय। मार्च १९६३ केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् की ३०वी मीटिंग मे अध्यक्ष पद से तत्कालीन न्द्रीय शिक्षा मत्री डा० कालूलाल श्रीमाली ने कहा था—"दो—पारी प्रणाली की नि ही सभी सम्भव उपाय इस अवधि में प्रयोग मे लाये जाएँ।"[1]

(इ) जब तक अध्यापको की कमी है, प्रति अध्यापक छात्रो की संख्या बढ़ा दी ाय। सभी विकसित देशो मे प्रारम्भ मे एक अध्यापक को ५० से अधिक छात्र पढाने ढते थे। यह तथ्य निम्न तालिका से स्पष्ट है

. "... ... I would however urge upon you, in the meantime, to adopt all possible measures such as the double shift system."
—Dr. K. L. Shrimali.

अध्यापक-छात्र अनुपात

देश	सन्	प्रति अध्यापक के साथ छात्रों की संख्या
इंगलैंड	१८६८	६०
हंगरी	१६०४	८०
जापान	१६२१	६०
स्विट्ज़रलैंड	१६०५	७०
जर्मनी	१६२१	६०

६. विद्यालय-भवन तथा साज-सामग्री का प्रबन्ध यह तो सभी को स्पष्ट ही है कि हमारे देश में विद्यालय-भवन प्रकाश एवं हवा की दृष्टि से उपयुक्त नहीं हैं। परन्तु सभी प्रगतिशील देशों में प्रारम्भ में विद्यालय-भवनों की हमारे यहाँ से बुरी दशा थी। सन् १८७५ में रूस के ग्रामीण क्षेत्रों में पुराने झोपड़ों में बने हुए विद्यालय-भवन थे। हमको अपने यहाँ धर्मशालाओं, मन्दिरों तथा मस्जिदों में चल रहे विद्यालयों पर लज्जा अनुभव नहीं करनी चाहिए क्योंकि इंगलैंड में विद्यालय रेलवे पुलों के नीचे चला करते थे। विद्यालय-भवन के सम्बन्ध में निम्न सुझाव है

(अ) स्वच्छ आकाश के नीचे शान्ति-निकेतन की भाँति कक्षाएँ चलाई जायें।

(आ) सरकार द्वारा विद्यालय-भवन के लिए कर्जा (Loan) दिया जाय।

(इ) स्थानीय धनी व्यक्तियों को दान देने के लिए उत्साहित किया जाय तथा जो व्यक्ति धन देने में असमर्थ हों उनको शारीरिक श्रम करने का परामर्श दिया जाय।

(ई) सरकार द्वारा या स्थानीय संस्थाओं द्वारा विद्यालयों को प्रति ३ वर्ष बाद एक सर्वेक्षण करवा कर आवश्यकतानुसार साज-सज्जा का सामान देना चाहिए।

७. बालिकाओं की शिक्षा पर विशेष ध्यान--लड़कों की अपेक्षा अनिवार्य शिक्षा प्राप्त करने में लड़कियों की प्रगति बहुत कम है। सन् १६६६ में ६-११ वयोवर्ग की कुल लड़कियों का ५६.४ प्रतिशत ही प्राथमिक कक्षाओं में शिक्षा प्राप्त कर रहा था जबकि इसी वयोवर्ग के ६० प्रतिशत लड़के शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। संविधान के ४५ वें निर्देश की पूर्ति के लिए लड़कियों की शिक्षा पर विशेष ध्यान देना चाहिए। कोठारी आयोग ने स्त्री शिक्षा की राष्ट्रीय समिति द्वारा १६५८ में दिए गये सुझावों पर ही विशेष बल दिया

(अ) रूढ़िवादिता को समाप्त करने के लिए जनता को शिक्षित करना।

(आ) बालिकाओ की नि शुल्क शिक्षा, छात्रवृत्ति तथा पुस्तको आदि की व्यवस्था की जाय।

(इ) महिला अध्यापको की नियुक्ति करना।

(ई) सम्मिलित विद्यालयो को लोकप्रिय बनाना और जहाँ सम्भव हो वहाँ पृथक् बालिका विद्यालय स्थापित करना।

(उ) उन अध्यापिकाओ को विशेष सुविधाएँ देना जो गाँवो मे सेवा करने को तैयार हैं।

(ऊ) ११-१३ वयोवर्ग की लडकियो के लिए अतिरिक्त समय मे शिक्षा देने की व्यवस्था की जाय जो कि घरेलू कार्य के कारण पूरे समय विद्यालय मे नही रह सकती हैं।

८. पाठ्यक्रम मे सुधार — आदर्शवादी पाठ्यक्रम के स्थान पर यथार्थवादी पाठ्यक्रम होना चाहिए। पाठ्यक्रम को स्थानीय वातावरण के अनुसार बनाया जाय। पाठ्यक्रम मे पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा व्यावहारिक विषयो को अधिक स्थान दिया जाय। भारतवर्ष एक कृषि-प्रधान देश है। अत ग्रामीण बालको को कृषि का अध्ययन अनिवार्य रूप मे करवाना चाहिए। पाठ्यक्रम निर्माण के निम्न तीन आधार है—(१) मनोवैज्ञानिक आधार, (२) सामाजिक आधार, (३) देश की आवश्यकताएँ।

९. पिछड़ी तथा आदिम जाति की शिक्षा पर ध्यान—सन् १९६१ की जनगणना के आधार पर भारत की कुल जनसख्या का १४ ७ प्रतिशत भाग अनुसूचित जाति के लोगो का है। इसी प्रकार आदिम जातियाँ भी कुल जनसख्या का ६ ८ प्रतिशत है। परन्तु इनकी शिक्षा की अब तक उपेक्षा सी होती रही है। सविधान के ४५वे निर्देश की पूर्ति तभी सम्भव है जबकि सरकार इनकी शिक्षा के प्रसार की भी व्यवस्था करे। आदिम जाति के बच्चो की शिक्षा के लिए १९६०-६१ मे ढेबर आयोग ने निम्न सुझाव दिये

(अ) विद्यालयो के साथ छात्रावास की व्यवस्था की जाय। दो मील से अधिक पैदल चलकर बालक विद्यालय मे न आयें।

(आ) निर्धनता की बाधा को दूर करने के लिए इन बच्चो को मध्याह्न भोजन, वस्त्र, पुस्तके आदि नि शुल्क दी जायें।

(इ) हस्तकला को पाठ्यक्रम मे प्रमुख स्थान दिया जाय।

(ई) अध्यापक को आदिम जातियो की भाषा का ज्ञान होना चाहिए।

(उ) जनता मे अनिवार्य शिक्षा का प्रचार किया जाय।

१०. अपव्यय और अवरोधन—अपव्यय और अवरोधन को दूर करने के लिए परीक्षा प्रणाली मे सुधार किया जाय। प्राथमिक विद्यालय की प्रथम दो कक्षाओ मे किसी प्रकार की परीक्षा नही ली जाय। खेल-विधि के द्वारा शिक्षण हो।

प्रोत्साहित करना हो या कि छात्रों के साथ मनोवैज्ञानिक ढंग से व्यवहार करें, बच्चों के माता पिता से सम्पर्क स्थापित किया जाए।

११. राष्ट्रीय आन्दोलन की आवश्यकता सम्पूर्ण देश में अनिवार्य शिक्षा के लिए आन्दोलन प्रारम्भ किया जाए। इस आन्दोलन के साथ साथ प्रौढ़ शिक्षा का विस्तार भी आवश्यक है। शिक्षा के द्वारा ही जनता को अनिवार्य शिक्षा के अनुकूल बनाया जा सकता है। प्रौढ़ शिक्षा के प्रसार से भारतीय जनता में व्याप्त रूढ़िवादिता समाप्त होगी और माता पिता अपने बच्चों को विद्यालय भेजने में रुचि लेंगे। अनिवार्य शिक्षा के लिए जनमत तैयार करने हेतु आकाशवाणी, समाचारपत्र तथा चलचित्र आदि प्रमुख साधन बन सकते हैं।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१ किसी भी देश में शिक्षा को अनिवार्य एवं निःशुल्क बनाने की आवश्यकता पर अपने विचार लिखिए।

२ भारतवर्ष में प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य एवं निःशुल्क बनाने के लिए किए गए प्रारम्भिक प्रयासों का वर्णन कीजिए।

३ किन कारणों से अभी तक अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की योजना सफलतापूर्वक लागू नहीं हो सकी है?

४ "स्थानीय संस्थाओं को प्राथमिक शिक्षा का प्रशासन सौंप देने से अनिवार्य शिक्षा सफल नहीं हो पा रही है" इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं?

५ प्राथमिक शिक्षा की प्रमुख समस्याओं एवं उनके समाधान के उपाय बताइए।

राजस्थान विश्वविद्यालय की बी० एड० परीक्षा में पूछे गये प्रश्न

1 Discuss the problem of compulsory primary education in India What inspiration can we derive from the experiences of other countries of the world ? (1962)

2 Discuss the problems of Primary Education in your State with reference to the following issues, illustrating your answer with the experiences of U S S. R , U S. A , U K , or any State in India, where possible, also making your own suggestions

(a) Principles governing the opening of new Primary Schools, with regard to the population of the locality or distance a child has to walk.

(b) Enrolment Drives—their organization and effects.
(c) Timely appointment of teachers (specially lady teachers) particularly in villages
(d) School buildings
(e) School equipment
(f) Availability of Text-books
(g) Working hours and the possibily of children's participation in domestic affairs.
(h) Provision of midday meals
(i) Associating local community with schools
(j) Inspection or supervision of schools (1963)

3 'Man is more important than materials' Enumerate the deficiencies in ordinary primary schools in Rajasthan in point of material, and show how a good Inspector of Schools can take up a school improvement programme effectively by
(a) Mobilizing the community resources,
(b) Inspiring the school-teacher,
(c) Organizing an efficient supervisory procedure. (1964)

4 Formulate the two most fundamental problems in the field of primary education in India, analyse them and suggest measures for solving them (1965)

5. भारत में प्राथमिक शिक्षा की (अ) प्रसारात्मक (expansion), और (ब) गुणात्मक (qualitative) उन्नति से सम्बन्ध रखने वाली संस्थाएँ कौन-सी हैं ? इन दोनों में से किसी एक समस्या का विवेचन कीजिए और उसे सुधारने के उपाय बताइए । (१६६६)

6. भारत में प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में कौन-कौन अत्यधिक दुराग्रही समस्याएँ है ? अपने ज्ञान के आधार पर मूल्यांकन कीजिए कि ऐसी ही समस्याओं का समाधान रूस ने किस प्रकार किया है ? (१६६८)

अध्याय ३

विदेशों मे प्राथमिक शिक्षा

अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के प्रसार मे रुकावट डालने वाली समस्याओं का अध्ययन पिछले अध्यायो मे किया गया। विश्व के अन्य देशो मे भी शिक्षा को अनिवार्य बनाते समय इसी प्रकार की समस्याओ का सामना करना पडा होगा। आज उन देशो मे अनिवार्य शिक्षा सफलतापूर्वक चल रही है। इगलैण्ड, सयुक्त राज्य अमरीका और रूस विश्व के महान् देश हैं। इन देशों मे किस प्रकार शिक्षा को अनिवार्य किया तथा वहाँ की शिक्षा व्यवस्था एवं सगठन किस प्रकार का है, आदि बातों का अध्ययन हमको अपने यहाँ की समस्याओ के समाधान मे सहायक हो सकता है। तुलनात्मक शिक्षा अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण विषय है। इसके द्वारा अध्यापको को दूसरे देशों की शिक्षा प्रणालियो, उनके गुण एव दोषो का ज्ञान होता है। अपने देश की शिक्षा-प्रणाली के निर्माण एव सुधार करने के लिए हम दूसरे देशो के अनुभवो से लाभान्वित हो सकते हैं। इसी उद्देश्य से इस अध्याय मे इगलैण्ड, सयुक्त राज्य अमरीका और रूस की प्राथमिक शिक्षा प्रणाली का वर्णन किया जायेगा।

इङ्गलैण्ड मे प्राथमिक शिक्षा

शिक्षा-संगठन—इगलैण्ड की प्राथमिक शिक्षा का अध्ययन करने से पूर्व वहाँ का शिक्षा-सगठन तथा व्यवस्था समझना आवश्यक है। सन् १९४४ से पूर्व 'शिक्षा-बोर्ड' के अधिकार मे ही सम्पूर्ण देश की शिक्षा का नियत्रण था। परन्तु सन् १९४४ के एक्ट के अनुसार 'शिक्षा बोर्ड' का नाम 'शिक्षा मत्रालय' कर गया दिया है और इसके प्रधान को शिक्षा मत्री के नाम से पुकारते है। शिक्षा सम्बन्धी वार्षिक रिपोर्ट शिक्षा मत्री द्वारा ससद मे रखी जाती है। विश्वविद्यालयो तथा स्वतन्त्र स्कूलों पर शिक्षा मत्री का कोई अधिकार नही होता है। मत्री की सहायता के लिए एक सभा-सचिव होता है। इसके अतिरिक्त इनके नीचे एक स्थायी सचिव, एक उप-सचिव, तथा अनेक सहायक सचिव होते है। ये सभी राजकीय कर्मचारी होते हैं।

हर मंजेस्टीज इन्सपेक्टर्स—ये उच्च योग्यता वाले व्यक्ति होते है। ये शिक्षा मत्रालय और शिक्षा अधिकारियों के मध्य मध्यस्थता का कार्य करते है। इनका संगठन निम्न प्रकार होता है

सीनियर चीफ इन्सपेक्टर

प्राथमिक	माध्यमिक	अग्रिम शिक्षा	अग्रिम शिक्षा साधारण	अध्यापक प्रशिक्षण	शिक्षा विकास
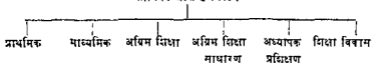
सीनियर चीफ के नीचे १० क्षेत्रीय निरीक्षक होते हैं। इनके नीचे साधारण निरीक्षक होते है।

स्थानीय शिक्षा अधिकारी—इगलैण्ड मे इस समय स्थानीय शिक्षा सस्थाओ की संख्या १४६ है। इनमे से ६२ काउन्टी काउन्सिल्स और ८३ काउन्टी बरो काउन्सिल्स हैं। शिक्षा के अतिरिक्त स्वास्थ्य, सड़क तथा अन्य बातों के लिए भी ये ही जिम्मेदार है। इनके लिए सदस्य जनमत से निर्वाचित होते हैं। प्रत्येक स्थानीय शिक्षा अधिकारी मे एक शिक्षा समिति का निर्माण किया जाता है जोकि शिक्षा की देखभाल करती है। शिक्षा समिति का मुख्य अधिकारी 'चीफ एजूकेशन ऑफीसर' या शिक्षा सचालक कहलाता है। स्थानीय शिक्षा अधिकारियो के निम्नलिखित कार्य होते है

१ नर्सरी स्कूलों की स्थापना करना।
२ अपने क्षेत्र मे प्राथमिक, माध्यमिक एव अग्रिम शिक्षा के लिए विद्यालयो की स्थापना करना।
३ मुख्य शिक्षा अधिकारी की नियुक्ति।
४ आवश्यकतानुसार बच्चो के भोजन अथवा दूध का प्रबन्ध करना।

शिक्षा की आर्थिक व्यवस्था—शिक्षा के क्षेत्र मे स्थानीय शिक्षा अधिकारी तथा केन्द्र दोनो ही व्यय करते हैं। अब स्थानीय शिक्षा अधिकारियो को भी अनुदान मिलने लगा है। स्थानीय अधिकारी करो से प्राप्त आय से भी शिक्षा पर व्यय करते हैं।

प्राथमिक शिक्षा के स्तर

इंगलैण्ड मे ५ वर्ष की अवस्था से १५ वर्ष की अवस्था तक बच्चो के लिए शिक्षा नि शुल्क और अनिवार्य है। शीघ्र ही उसको १६ तक बढ़ाने की योजनाएँ हैं। सन् १९४४ के एक्ट के अनुसार प्राथमिक शिक्षा को वैज्ञानिक ढग से सुसगठित किया गया। यहाँ पर प्राथमिक शिक्षा के तीन स्तर हैं जो कि निम्नलिखित हैं

१ नर्सरी विद्यालय या नर्सरी कक्षाएँ—२ वर्ष से ३ वर्ष तक के बालको के लिए।

(२) बालकों के शब्द-भण्डार को बढ़ाने के प्रयत्न किये जाते हैं जिससे कि वे बातचीत भली-भाँति कर सकें।

(३) बालकों की श्रवण तथा निरीक्षण शक्ति को विकसित करना।

(४) स्वस्थ आदतों का निर्माण तथा सामाजिक कुशलता का प्रशिक्षण।

सभी इनफेन्ट स्कूलों में महिलाएँ अध्यापन कार्य करती है। इन विद्यालयों में सह-शिक्षा प्रचलित है। सामूहिक खेल या क्रियाओं का आयोजन होता है जिससे कि छात्रों में सामाजिक गुणों का विकास हो सके।

जूनियर विद्यालय—इन विद्यालयों में ७ वर्ष से ११ वर्ष की आयु के बालक पढ़ने के लिए जाते हैं। इनमें से कुछ के साथ इनफेन्ट कक्षाएँ जुड़ी रहती है और कुछ पृथक होते हैं।

इस स्तर पर बालकों के सर्वाङ्गीण विकास की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। प्राकृतिक निरीक्षण द्वारा बालक बहुत-सी चीजों को देखकर समझते हैं। मातृभाषा का प्रयोग किया जाता है जिससे कि छात्र सभी बातों को सुगमता से सीख एवं समझ सकें। जूनियर कक्षाओं के पाठ्यक्रम में सम्मिलित विषय निम्न-लिखित है

(१) भूगोल, (२) विज्ञान, (३) गणित, (४) इतिहास, (५) संगीत, (६) स्वास्थ्य शिक्षा, (७) बागवानी, (८) गृह विज्ञान (बालिकाओं के लिए)। शारीरिक व्यायाम भी करवाया जाता है।

प्राथमिक विद्यालयों का संगठन

प्राथमिक विद्यालय दो प्रकार के होते हैं

१. ऐच्छिक विद्यालय—ये विद्यालय चर्च द्वारा संचालित होते हैं। इनमे धार्मिक शिक्षा पर अधिक बल दिया जाता है। ये विद्यालय भी दो प्रकार के होते हैं

(अ) सहायता प्राप्त—इनका चलाना तथा भवन को उचित अवस्था में रखना प्रबन्धकों का कार्य है।

(आ) नियंत्रित विद्यालय—ये विद्यालय स्थानीय अधिकारियों द्वारा चलाये जाते हैं। वैसे ये प्रबन्धकों द्वारा स्थापित होते हैं परन्तु स्थानीय अधिकारियों को दे दिये जाते हैं। इन विद्यालयों में धर्म की शिक्षा सप्ताह में केवल दो दिन दी जाती है।

२. काउन्टी विद्यालय—ये विद्यालय स्थानीय शिक्षा अधिकारी द्वारा स्थापित किये जाते हैं। इन विद्यालयों में किसी धर्म की शिक्षा नहीं दी जाती है।

अनिवार्य शिक्षा—अभिभावकों का यह कर्त्तव्य है कि वे अपने बच्चों को प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजें। इगलैण्ड में अनिवार्य शिक्षा कानून का पालन न करने पर अपराधी अभिभावक पर दस पौण्ड का आर्थिक

दण्ड या एक महीने की सजा मिल सकती है। वहाँ पर १२ वर्ष से कम आयु का बालक कहीं भी नौकरी नहीं कर सकता है। इस देश में अन्धे, गूँगे, बहरे या जनि मन्द बुद्धि वाले बच्चों के लिए विशेष विद्यालय हैं जहाँ उनका भेजना अनिवार्य है। हमारे देश की अपेक्षा वहाँ इस कानून का पालन अधिक कठोरता से किया जाता है।

विद्यालय का प्रबन्ध—जूनियर विद्यालय के प्रबन्ध का उत्तरदायित्व वहाँ के मुख्याध्यापक पर ही रहता है। मुख्याध्यापक अध्यापकों की सलाह से पाठ्यक्रम निश्चित करता है। इसी कारण वहाँ के विद्यालयों में पाठ्यक्रम में समानता नहीं मिलती है। मुख्याध्यापक अध्यापकों के कार्य का निरीक्षण करता है। निरीक्षकगण समय-समय पर अपनी बहुमूल्य सलाह दिया करते हैं। एक कक्षा में छात्रों की अधिकतम संख्या ४० निर्धारित की गई है। परन्तु कभी-कभी स्थानाभाव या छात्रों की संख्या बढ़ने पर ४० से भी अधिक छात्र एक कक्षा में हो जाते हैं। प्रात विद्यालय खुलने पर सामूहिक प्रार्थना करना सभी विद्यालयों के लिए अनिवार्य है।

इंग्लैण्ड में **अभिभावक-शिक्षक** समितियों की स्थापना की ओर आजकल अधिक ध्यान दिया जाता है। इस समिति का अध्यक्ष प्रधानाध्यापक होता है। इस प्रकार अभिभावकों का सहयोग प्राप्त किया जाता है। प्राथमिक विद्यालयों में **प्रशिक्षित अध्यापक** रखे जाते हैं। इन अध्यापकों को सभी प्रकार की सुविधाएँ दी जाती हैं। बच्चों के लिए **दोपहर के भोजन** की व्यवस्था की जाती है। भोजन के लिए थोड़ी फीस ली जाती है। **विद्यालय-स्वास्थ्य-सेवाएँ**—बच्चों के स्वास्थ्य का निरीक्षण करने के लिए है। छात्रों के दाँतों की भी जाँच होती है। ११ वर्ष की आयु पर एक परीक्षा होती है जिसे ११+परीक्षा कहते हैं। इस परीक्षा के द्वारा यह निश्चय किया जाता है कि छात्र किस माध्यमिक विद्यालय के योग्य है।

संयुक्त राज्य अमरीका में प्राथमिक शिक्षा

शिक्षा प्रशासन—संयुक्त राज्य अमरीका में शिक्षा राज्य सरकारों के अधीन है। परन्तु फिर भी संघीय सरकार शिक्षा की उन्नति में रुचि लेती है। संघीय सरकार का आर्थिक दृष्टि से या अन्य किसी क्षेत्र में राज्य की शिक्षा पर किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं है संघीय सरकार शिक्षा सम्बन्धी शोधकार्य, शिक्षा सेवाएँ तथा अनुदानों के कार्यक्रमों का प्रशासन सम्हालती है। संयुक्त राज्य अमरीका में ५० राज्य हैं और अपने अन्दर शिक्षा का प्रसार एवं उन्नति करना प्रत्येक राज्य का कर्त्तव्य है। इसीलिए इस सम्बन्ध में राज्यों में अलग-अलग तरीके हैं। अधिकांश राज्यों में राजकीय शिक्षा बोर्ड बनाया गया है। यह बोर्ड प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तरों की शिक्षा सम्बन्धी नीतियाँ बनाता है। प्रत्येक राज्य में मुख्य राजकीय स्कूल अधिकारी (Chief State School Officer) की नियुक्ति की जाती है जो शिक्षा

(३) प्राथमिक विद्यालय—इसमें पहली, दूसरी, तीसरी कक्षाएँ सम्मिलित रहती हैं।

(४) माध्यमिक विभाग—इसके अन्तर्गत चौथी, पाँचवी और छठवीं कक्षाएँ होती हैं।

(५) उच्च विभाग—सातवीं और आठवीं कक्षाएँ इसमें सम्मिलित हैं।

प्रारम्भ में उपनिवेशवाद के कारण प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में अधिक प्रगति नहीं हो सकी। शिक्षा केवल उच्च वर्ग के बालकों तक ही सीमित थी। परन्तु जब से प्रजातन्त्रीय शासन व्यवस्था अपनाई गई, यह अनुभव किया गया कि प्रजातंत्र की सफलता के लिए सभी देशवासियों का शिक्षित होना आवश्यक है। राज्य सरकारों ने शिक्षा को अनिवार्य बनाया। इस देश में धर्म-निरपेक्ष शिक्षा दी जाती है। धार्मिक, आर्थिक तथा सामाजिक भेदभाव को त्याग कर समस्त छात्रों को समान शिक्षा दी जाती है। यहाँ पर प्राथमिक शिक्षा समाजप्रधान है। इस शिक्षा के दो केन्द्र हैं— प्रथम बालक, और दूसरा समाज, जिसमें बालक जीवन व्यतीत करता है। बालक को सामाजिक अनुभवों का ज्ञान कराना ही शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है। विद्यालय समाज का लघु रूप होता है। अतः अभिभावकों को विद्यालय की उन्नति एवं संगठन में सहयोग देने के अवसर प्रदान किये जाते हैं।

प्राथमिक शिक्षा के उद्देश्य—संयुक्त राज्य अमरीका में प्राथमिक शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य हैं

(१) बच्चों में शुद्ध भाषा बोलने व लिखने की योग्यता पैदा करना।

(२) उनकी आलोचनात्मक एवं निरीक्षण शक्ति को विकसित करना।

(३) बच्चों के स्वास्थ्य के विकास पर ध्यान देना।

(४) अवकाश के समय को रचनात्मक कार्यों में व्यतीत करने का प्रशिक्षण।

(५) छात्रों का नैतिक विकास एवं चरित्र निर्माण करना।

विद्यालय कार्यक्रम संघीय या राज्य सरकारों द्वारा किसी प्रकार का पाठ्यक्रम निश्चित नहीं किया जाता है। प्रत्येक राज्य अपने स्कूलों के लिए पाठ्यक्रम का सुझाव देता है। यहाँ के विद्यालयों में पाठ्यचर्या का कार्यक्रम अध्यापक, पर्यवेक्षक, प्रधानाचार्य, अभिभावक आदि की समितियों द्वारा बनाया जाता है। इसीलिए विद्यालयों की पाठ्यचर्या में अधिक समानता नहीं मिलती है।

पाठ्यक्रम प्राथमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम में गणित, सामाजिक अध्ययन, विज्ञान, स्वास्थ्य शिक्षा, संगीत, कला तथा शारीरिक शिक्षा आदि विषय सम्मिलित किए जाते हैं। विज्ञान विषय सभी कक्षाओं में पढ़ाया जाता है। इसके अन्तर्गत मौसम, चुम्बक, विद्युत, नक्षत्र विज्ञान, जन्तुओं का अध्ययन कराया जाता है। शारीरिक शिक्षा के लिए बेसबाल, दौड़ तथा कुश्ती आदि का आयोजन होता है।

गणित का अध्ययन आगमन तथा निगमन विधियों द्वारा कराया जाता है। बच्चों को भाषा कला के विकास पर अधिक ध्यान दिया जाता है। सुलेख के सुधार के लिए सुझाव दिये जाते हैं। विद्यालयों को अध्यापन में सहायक सामग्री से पूर्णत सुसज्जित रखा जाता है।

छात्र की प्रगति—यहाँ पर छात्र को अपनी आयु के समूह में रखा जाता है। बच्चों को वार्षिक सफलताओं के आधार पर आगे की कक्षा में चढ़ाया जाता है। व्यक्तिगत विभिन्नता के सिद्धान्त पर ध्यान दिया जाता है। वर्ष में अधिकाश समय के लिए किसी बालक के अनुपस्थित रहने या अस्वस्थ रहने पर उसको उसी कक्षा में रोक दिया जाता है। प्रत्येक प्राथमिक विद्यालय में प्रत्येक छात्र का प्रगति-आलेख रखा जाता है।

अध्यापक—सयुक्त राज्य अमरीका में प्राथमिक विद्यालयों में ग्रेजुएट शिक्षकों की नियुक्ति की जाती है। अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए विशेष ध्यान दिया जाता है। अध्यापकों के वृत्तिक विकास के लिए प्रधानाचार्य भी व्यवस्था करते हैं। प्रधानाचार्य अध्यापकों की मीटिंग करते है तथा उच्च शिक्षा सस्थाओं के विशेषज्ञों को आमन्त्रित करते हैं। वर्कशाप और अध्ययन सम्मेलन का अध्यापकों के लिए आयोजन किया जाता है। प्राथमिक विद्यालयों के लिए अध्यापकों को प्रशिक्षित करने वाले विद्यालयों की सख्या १३० है।

अन्य सेवाएँ—प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में निम्न अनेक सेवाएँ कार्य कर रही हैं
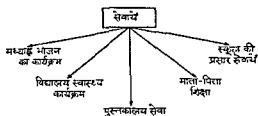
(१) मध्याह्न भोजन का कार्यक्रम—सयुक्त राज्य अमरीका के कृषि विभाग द्वारा राष्ट्रीय स्कूल आहार कार्यक्रम की व्यवस्था की जाती है। बच्चों को पौष्टिक भोजन एवं दूध दिया जाता है। इसके लिए छात्रों से थोड़ा शुल्क भी लिया जाता है।

(२) विद्यालय स्वास्थ्य कार्यक्रम—यहाँ पर विद्यालय में प्रवेश के समय छात्रों के स्वास्थ्य की परीक्षा ली जाती है। इसके बाद प्राथमिक एव माध्यमिक अवधि में तीन बार स्वास्थ्य परीक्षा ली जाती है। बच्चों की नेत्र-ज्योति, दन्त-चिकित्सा एव श्रवण-शक्ति के उपचार की विशेष रूप से व्यवस्था होती है।

(३) पुस्तकालय सेवा—प्राथमिक विद्यालयों में पुस्तकालय होते हैं। क्षेत्रों में चल पुस्तकालय सेवा प्रदान करते हैं।

(४) माता-पिता शिक्षा—अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि विद्यालय दोनों ही बच्चे के जीवन पर प्रभाव डालते हैं। इसीलिए माता-पि अध्यापक सम्मेलन, घर और विद्यालय में आना जाना तथा विद्यालय के अ क्रमों को समझाने के लिए कार्य किये जाते हैं।

(५) स्कूल की प्रसार सेवाएँ—विद्यालय जनसाधारण के लिए खेल व्यवस्था करते हैं। जिन घने बसे स्थानों में खेलने के लिए स्थान नहीं होते लम्बी छुट्टियों में बच्चों के लिए मनोरंजन की व्यवस्था स्कूल प्रसार सेवाएँ कर

प्राथमिक शिक्षा में नवीन प्रयोग

संयुक्त राज्य अमरीका में प्राथमिक शिक्षा के विकास के लिये नवीन किये जा रहे हैं जो कि ये हैं—(१) आधुनिक विदेशी भाषा का अध्ययन, (२) त्मक कार्यों को प्रोत्साहन, (३) टेलीविजन का प्रयोग, (४) प्रतिभा-सम्पन्न बच् शिक्षा पर विशेष ध्यान, (५) अन्तरराष्ट्रीय समझ का विकास, (६) शो पर बल।

सोवियत रूस की प्राथमिक शिक्षा

इस देश में १५ राज्य हैं। यह एक विशाल देश है जिसकी जनसंख्या २० २ लाख है। यहाँ पर विश्व की सम्पूर्ण जनसंख्या का लगभग १३वाँ भाग रहत इस देश में भी सामन्तशाही साम्राज्य का बोलबाला था। धीरे-धीरे इसके विरुद्ध क्रान्ति प्रारम्भ हुई। सन् १९१७ के अक्टूबर में महान् समाजवादी क्रान्ति हुई से पूँजीवाद समाप्त हुआ और साम्यवाद की स्थापना हुई। प्राचीन परम्पराएँ स होती गई और नवीन संस्कृति का निर्माण होने लगा। साम्यवादी सरकार ने विकास के लिए शिक्षा की आवश्यकता अधिक अनुभव की। परिणामस्वरूप, स ने देश में नये विद्यालय एवं विश्वविद्यालय स्थापित किये। शिक्षा के क्षेत्र अपूर्व प्रगति के कारण ही यहाँ पर उच्च विद्यालयों में अध्ययन करने वाले छात्र संख्या में आशा से अधिक वृद्धि हुई। सोवियत अर्थ मंत्री डा० ए० जी० ज्वेरे कहा कि उच्च स्कूलों में अब अमरीका की अपेक्षा लगभग तीन गुने अधिक इन्जी स्नातक होते हैं।

शिक्षा का प्रशासन—सोवियत संघ में रूस के सभी प्रदेश संगठित हैं। राज्यों को शासन की सुविधा की दृष्टि से निम्न इकाइयों में बाँटा गया है

(१) टेरीटरीज, (२) क्षेत्र (Region), (३) स्वतन्त्र रिपब्लिक, (४) स्व रीजन ,(५) एरियाज, (६) जिले, (७) नगर, और (८) ग्राम।

रूस की सर्वोच्च सत्ता सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet of U S S.

…वियत । इनमें से संघ की सोवियत कानून बनाने का काम करता है । ये दोनों …ई मिलकर मन्त्रिपरिषद् का निर्माण करती हैं । यह मन्त्रिपरिषद् ही देश की …च सत्ता है जो कि देश का शासन करती है । यह अखिल रूसीय मन्त्रिपरिषद् … के क्षेत्र में निम्नलिखित कार्य करती है—(अ) सम्पूर्ण शिक्षा प्रणाली का गठन …धार करना, (आ) अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा के लिए कानून बनाना, (इ) विद्यालयों …द निश्चित करना । यह अखिल रूसीय मन्त्रिपरिषद् शिक्षा के लिए तीन भागों …भक्त है—(१) अखिल रूसीय जन-शिक्षा विभाग, (२) अखिल रूसीय संस्कृति …द, (३) संस्कृत-शिक्षा प्रबन्ध समिति ।

इन तीनों में से प्रथम अखिल रूसीय जन-शिक्षा विभाग प्राथमिक शिक्षा का …एवं *प्रशासन सँभालती है । इस देश में साम्यवादी प्रशासन होने से सत्ता के* …करण में विश्वास किया जाता है ।

सोवियत शिक्षा के सोपान

आयु				
३ २ १ ० ९			उच्चतर शिक्षा (४–६ वर्ष)	
८ ७ ६ ५		माध्यमिक औद्योगिक विद्यालय (४ वर्ष)	माध्यमिक विद्यालय (१० वर्ष)	माध्यमिक विद्यालय (११ वर्ष) कुछ प्रान्तों में
४ ३ २		सप्त वर्षीय विद्यालय		
१ ० ९ ८	चार वर्षीय प्रारम्भिक शिक्षा			
७ ६ ५ ४	किण्डरगार्टन			पूर्व प्राथमिक शिक्षा
३ २ १	माँ शिशु केन्द्र (क्रैच)			

(१) पूर्व प्राथमिक शिक्षा— इस स्तर की शिक्षा का प्रबन्ध स्वार के अन्तर्गत है। इसका कारण यह है कि छोटी आयु मे लिखना-पढ़ना सिखाने उनके स्वास्थ्य पर ध्यान देना अति आवश्यक है। पहले की अपेक्षा अब शिक्षा का विस्तार अधिक हो रहा है। इस देश मे औद्योगिक विकास वृद्धि होने से महिलाएँ पहले की अपेक्षा अब अधिक सख्या मे कार्य-क्षेत्र मे है। अत उनके बच्चो के उचित पालन-पोषण के लिए इन विद्यालयो की अनुभव की जाने लगी है। इन विद्यालयो की स्थापना एवं सचालन मा फैक्ट्री या स्थानीय सस्थाओ के द्वारा किया जाता है। अब ग्रामीण क्षेत्रो सख्या बढ़ती जा रही है।

नगरो के इन विद्यालयो मे बच्चो की सख्या ४० के लगभग रह यो मे अध्ययन कार्य महिलाओ के द्वारा किया जाता है। बच्चो था उनके स्वास्थ्य का निरीक्षण करने के लिए एक नर्स तथा एक ता है। इन विद्यालयो मे कार्यकाल प्रात से सायकाल तक रहता ऐ अपना काम समाप्त करके जाती है तो अपने बच्चो को साथ ध्यापक की कार्य-अवधि प्रतिदिन ६ घण्टे की होती है। पूर्व प्राथमिक ो को खेलने के लिए पर्याप्त समय तथा खिलौने आदि दिये जाते है। की आयु मे बच्चो को अच्छी आदतो के निर्माण की शिक्षा दी जाती है।

(२) किण्डरगार्टन इनको भी स्थानीय सस्थाएं स्थापित करती है सचालय भी इन सस्थाओ को आर्थिक सहायता देता है। इन विद्यालयो का प्राथमिक विद्यालय के लिए तैयार किया जाता है। किण्डरगार्टन म निम्न प्रकार रहती है

(अ) पढ़ना एवं गिनना सिखाया जाता है, (आ) बालको को कार्य सिखाने के लिए भाषा के सुधार पर ध्यान दिया जाता है (इ) गायन, चित्र शिक्षा दी जाती है। किण्डरगार्टन म भी डाक्टर तथा नर्स होते है। इन विद्या चलाने के लिए एक समिति बनाई जाती है जिसके सदस्य माता-पिता होते है [illegible] विद्यालय के सास्कृतिक कार्यो मे भाग लेने के लिए प्रोत्साहित कि है। बच्चो को धर्मकोश [illegible] की शिक्षा इसी स्तर म दी जाती है। किण्डरगार्ट मे [illegible] प्रशिक्षण प्राप्त अध्यापक नियुक्त किए जाते है।

(३) प्राथमिक शिक्षा ७ वर्ष की आयु पर बालक प्राथमिक विद्[illegible] [illegible] है। यहाँ विद्यालयो का सत्र १ सितम्बर से आरम्भ होकर [illegible] समाप्त होता है। इसके बीच मे ३ लम्बी छुट्टियाँ होती है। यह सत्र चार [illegible] विभक्त होता है १ सितम्बर से ५ नवम्बर तक प्रथम भाग, ६ नवम्बर [illegible]

[illegible]

पाठ्यक्रम—प्रारम्भिक कक्षाओं के पाठ्यक्रम में कहानी, विज्ञान, भूगोल, कृतिक विज्ञान, ऐतिहासिक भवनों का निरीक्षण सम्मिलित हैं। शिक्षा का माध्यम तृभाषा होती है। प्राथमिक विद्यालय की दूसरी कक्षा में ही रूसी भाषा का ध्ययन अनिवार्य कर दिया जाता है। चौथी कक्षा में रूसी भाषा एक विषय के रूप पढ़ाई जाती है। सोवियत रूस में प्राथमिक विद्यालय दो प्रकार के है

(१) ४ कक्षाओं वाले प्राथमिक विद्यालय,

(२) ७ कक्षाओं वाले प्राथमिक विद्यालय।

इनमें ४ कक्षाओं तक पाठ्यक्रम समान रहता है। ग्रामीण क्षेत्रों में ४ कक्षाओं ले प्राथमिक विद्यालय अधिक हैं। सप्तवर्षीय विद्यालयों की अन्तिम ३ कक्षाओं छात्रों को व्याकरण, रूसी साहित्य, प्राणिशास्त्र और वनस्पतिशास्त्र, रसायनशास्त्र ौर भौतिक विज्ञान का अध्ययन करवाया जाता है। बच्चों में कलात्मक प्रवृत्ति और ला-प्रेम का विकास किया जाता है। संगीत शिक्षा पाठ्यक्रम में सम्मिलित हती है।

रूस में बच्चों के स्वास्थ्य पर ध्यान दिया जाता है। वर्ष में ३ बार प्रत्येक च्चे के स्वास्थ्य की परीक्षा होती है। रोगी बालक की चिकित्सा का प्रबन्ध किया ाता है।

प्राथमिक विद्यालयों में माध्यमिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति अध्यापक पद पर नियुक्त किये जाते हैं। अध्यापक की इच्छा पर ही स्थानान्तरण किया जाता है। अध्यापक शिक्षण पर अधिक जोर दिया जाता है। इनको बालमनोविज्ञान तथा शिक्षण विधियों का ज्ञान कराया जाता है। शिक्षक इस बात पर ध्यान देते हैं कि बच्चे का किस स्तर तक विकास हो चुका है। बच्चों को अन्तःप्रेरणा से सीखने पर अधिक बल दिया जाता है। बच्चों के लिए पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं का आयोजन होता है। अध्यापक इनके आयोजन में सहायता देते हैं।

बच्चों को मजदूर एकता का पाठ प्रारम्भ से ही सिखाया जाता है। बच्चों के मन में प्रारम्भ से ही ईश्वर के अस्तित्व को समाप्त कर दिया जाता है। सामुदायिक भावना को विकसित किया जाता है। सामूहिक गान और सामूहिक वाचन करवाये जाते हैं जिससे कि बच्चों में एकता की भावना उत्पन्न हो।

विद्यालय खुले स्थान में होते हैं। इन विद्यालयों में खेलने के लिए मैदान भी रखे जाते हैं। विज्ञान के लिए प्रयोगशालाएँ एवं पुस्तकालय भी होते हैं।

अनिवार्य शिक्षा कानून—१४ अगस्त, १९३० को अनिवार्य शिक्षा का कानून बनाया गया। इस कानून के द्वारा प्रत्येक बालक के लिए ४ वर्ष शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य हो गया। सन् १९३४ में सम्पूर्ण देश में सप्तवर्षीय शिक्षा अनिवार्य करदी। सन् १९४९ में रूस के गाँवों के लिए भी सप्तवर्षीय शिक्षा को अनिवार्य बनाया गया।

सन् १६५२ में कम्यूनिस्ट पार्टी ने कुछ नगरों में १० वर्षीय शिक्षा का कानून लागू कर दिया।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१ इंगलैण्ड के प्राथमिक शिक्षा के संगठन का वर्णन कीजिए।

२ अनिवार्य शिक्षा को इंगलैण्ड में किस प्रकार सफल बनाया गया ?

३ संयुक्त राज्य अमरीका में स्थानीय इकाइयाँ शिक्षा का प्रबन्ध किस प्रकार करती है ?

४ हमारे देश में स्थानीय संस्थाएँ यू० एस० ए० की स्थानीय इकाइयों के अनुभवों से क्या लाभ उठा सकती है ?

५ संयुक्त राज्य अमरीका में छात्रों को क्या-क्या सुविधाएँ दी जाती हैं ?

६ रूस में प्राथमिक शिक्षा का विस्तार किस प्रकार किया गया ? हमारा देश उन उपायों से कैसे लाभ उठा सकता है ?

अध्याय ४

बुनियादी शिक्षा

भारतवर्ष की तत्कालीन राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों ने गांधीजी के मस्तिष्क में बुनियादी शिक्षा का बीजारोपण किया। उन्होंने समाज में व्याप्त बुराइयों के लिए शिक्षा को उत्तरदायी ठहराया। गांधीजी ने तत्कालीन शिक्षा को दोषपूर्ण पाया तथा उसको राष्ट्र-निर्माण के लिए उपयुक्त न समझा। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है कि "मैं यह अनुभव करता हूँ कि शिक्षा की वर्तमान प्रणाली दोषपूर्ण ही नहीं, हानिकारक भी है। अधिकांश लड़के अपने माता-पिता एवं पैतृक व्यवसाय को त्याग देते हैं, बुरी आदतों को ग्रहण कर लेते हैं। वे जो कुछ भी सीखते है उसे शिक्षा के अतिरिक्त कुछ भी कह सकते हैं।" अंग्रेजी शिक्षा पद्धति भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल ही नहीं थी बल्कि इसने समाज में वर्गभेद पैदा कर दिया। मैकाले की शिक्षा पद्धति ने भारत में बाबू समाज का निर्माण किया। ये भारतीय बाबू हाथ-पैर से न केवल कुछ करने में असमर्थ थे, परन्तु ऐसा करने में वे अपना अपमान भी समझते थे। गांधीजी की विचारधारा इसके विपरीत थी। उन्होंने एक बार कहा था कि—"मैं शिक्षा के साहित्यिक पक्ष की अपेक्षा सांस्कृतिक पक्ष को अधिक महत्त्वपूर्ण समझता हूँ। संस्कृति की नींव पर ही शिक्षा का भवन बनाना चाहिए। छात्रों के चलने-फिरने, उठने-बैठने तथा वेशभूषा में संस्कृति का प्रभाव परलक्षित होना चाहिए।"

देश में दरिद्रता, बेकारी और अशिक्षा का बोलबाला था। अतः महात्मा गांधी सामाजिक तथा आर्थिक संगठन में परिवर्तन लाना चाहते थे। उन्होंने वर्गहीन, स्वावलम्बी, अहिंसक समाज की कल्पना की थी। इस प्रकार के समाज का निर्माण करने के लिए उन्होंने विशेष शिक्षा प्रणाली की आवश्यकता अनुभव की जिसका आधार भारतीय संस्कृति हो, जो पुस्तकीय न हो वरन् रचनात्मक कार्यों पर निर्भर

हो, जो शारीरिक श्रम का प्रशिक्षण दे, जो अधिक व्ययपूर्ण न हो। गांधीजी ने ३१ जुलाई सन् १६३७ में 'हरिजन' नामक पत्रिका में शिक्षा के प्रति निम्न विचार प्रकट किये :

"शिक्षा से मेरा तात्पर्य है बालक और मनुष्य की समस्त शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शक्तियों का सर्वाङ्गीण विकास। ... साक्षरता स्वयं शिक्षा नहीं है। अतः मैं बालक की शिक्षा का आरम्भ उसे एक उपयोगी हस्तकला सिखाकर करना चाहता हूँ।"

उपर्युक्त वर्णन के आधार पर तत्कालीन शिक्षा में व्याप्त दोषों का वर्णन संक्षिप्त रूप में इस प्रकार है :

१. शिक्षा का जीवन के व्यावहारिक पक्ष से सम्बन्ध नहीं था।
२. शिक्षा में सहयोग और सहकारिता को स्थान प्राप्त नहीं था।
३. पुस्तक प्रधान शिक्षा थी।
४. सम्पूर्ण ज्ञान को खण्ड रूप में प्रदान किया जाता था।
५. शिक्षा अधिक खर्चीली थी।
६. मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम न बनाकर अंग्रेजी को यह गौरवपूर्ण पद प्राप्त था।
७. सामान्य जनता के लिए शिक्षा की अवहेलना की गई थी।

वर्धा शिक्षा योजना का जन्म—२२ अक्टूबर सन् १६३७ को वर्धा में मारवाड़ी हाई स्कूल की रजत जयंती का समारोह होने जा रहा था। इस अवसर पर देश के विभिन्न भागों से शिक्षा-शास्त्री तथा विद्वानों को बुलाया गया। इस समारोह में सात प्रान्तों के शिक्षा मन्त्रियों को भी आमन्त्रित किया गया। इस रजत जयंती समारोह को अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन का रूप दिया गया। इस अवसर पर गांधीजी ने सभी के समक्ष अपनी वर्धा शिक्षा योजना को स्पष्ट किया। इस सम्मेलन में निम्नलिखित प्रस्ताव पास हुए :

१. सम्पूर्ण देश में प्रत्येक बालक के लिए ७ वर्ष की अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की जाय।
२. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा रखा जाय।
३. किसी उत्पादक हस्तकला के माध्यम से शिक्षा प्रदान की जाय।
४. विद्यालय में छात्रों द्वारा किये गये उत्पादन से अध्यापकों के वेतन का प्रबन्ध हो।

जाकिर हुसैन समिति—उपर्युक्त प्रस्तावों को स्वीकार करने के बाद जामिया मिलिया के उप-कुलपति डा० जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक समिति का निर्माण किया गया। इन प्रस्तावों के आधार पर इस शिक्षा प्रणाली की रूपरेखा तैयार करना तथा पाठ्यक्रम तैयार करना इस समिति के प्रमुख कार्य थे। इस समिति ने दिसम्बर सन् १६३७ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की।

जाकिर हुसैन रिपोर्ट की रूपरेखा—इस समिति द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट की रूप-रेखा निम्नलिखित थी

१ सम्पूर्ण ज्ञान का केन्द्रबिन्दु कोई उद्योग होना चाहिए तथा शिक्षा इस उद्योग के माध्यम से दी जानी चाहिए।

२ यह योजना स्वावलम्बी है। इस स्वावलम्बन के दो रूप है
(अ) प्रथम तो यह योजना छात्रों को आत्मनिर्भरता का पाठ सिखायेगी,
(ब) द्वितीय इससे अध्यापक का वेतन भी निकल सकेगा।

३ शारीरिक श्रम अवश्य करवाया जाये जिससे कि वे हाथ से कार्य करने मे सकोच न करें।

४ स्थानीय परिस्थितियो एव वातावरण के अनुकूल ही शिक्षा दी जाय।

५ प्रजातत्र के लिए उत्तम नागरिक बनाने के अवसर इस शिक्षा योजना मे होने चाहिए।

६ शिक्षा का अहिंसात्मक रूप होना अति आवश्यक है।

इनके अतिरिक्त इस समिति ने जो सुझाव दिये वे इस प्रकार है

(अ) ७ से १४ वर्ष की आयु के सभी बालकों एव बालिकाओ को नि शुल्क शिक्षा दी जाय।

(आ) पाठ्यक्रम का स्तर अग्रेजी को छोडकर अन्य सब मे हाईस्कूल के बराबर रहे।

(इ) शिक्षण का माध्यम मातृभाषा रहे।

(ई) किसी हस्तकला के माध्यम से सभी विषयों की शिक्षा दी जाय।

पाठ्यक्रम का रूप

१ केन्द्रीय दस्तकारी मे से एक विषय, जैसे—(अ) कताई, बुनाई, (आ) बढई-गीरी, (इ) फल और सब्जी की बागवानी, (ई) कृषि, (उ) चमडे का कार्य, (ऊ) अन्य कोई दस्तकारी जो शिक्षाप्रद होने के साथ-साथ स्थानीय वातावरण के अनुकूल हो।

२ मातृभाषा।

३ गणित।

४. सामाजिक अध्ययन (इतिहास+भूगोल+नागरिक शास्त्र)।

५. सामान्य विज्ञान।

६. सगीत और चित्रकला।

७. हिन्दुस्तानी (उर्दू और देवनागरी लिपि द्वारा)।

इस रिपोर्ट को फरवरी मे हरिपुरा काग्रेस अधिवेशन मे विचार-विमर्श के लिए रखा। काग्रेस ने इस योजना को स्वीकार कर लिया। इसके बाद सभी काग्रेसी मन्त्रिमंडलो ने अपने प्रान्तो मे इस योजना को कार्यान्वित करना प्रारम्भ कर दिया।

परन्तु द्वितीय विश्व-युद्ध प्रारम्भ होने तथा कांग्रेसी मन्त्रिमंडलों द्वारा त्याग-पत्र दिये जाने के कारण यह योजना शिथिल हो गई।

खेर समितियाँ— सन् १९३८ में 'केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड' ने बम्बई के मुख्य एव शिक्षा मंत्री श्री बी० जी० खेर की अध्यक्षता में इस योजना की जाँच करने के लिए एक समिति नियुक्त की। प्रथम खेर समिति ने निम्नलिखित सुझाव दिये

१ बुनियादी शिक्षा को सर्वप्रथम ग्रामीण क्षेत्रों में प्रारम्भ किया जाय।
२ ६ से १४ वर्ष की आयु के बालकों के लिए शिक्षा अनिवार्य की जाय।
३ पाँचवीं कक्षा अथवा ११ वर्ष की आयु के बाद ही विद्यार्थी को बुनियादी स्कूल से अन्य स्कूल में जाने की अनुमति दी जाय।
४ बुनियादी शिक्षा के अन्त में बाह्य परीक्षा का बन्धन न रखा जाय। आतरिक परीक्षाओं के आधार पर ही प्रमाण-पत्र प्रदान किये जायें।

द्वितीय खेर समिति—सन् १९३९ में द्वितीय खेर समिति की स्थापना की गई। इसने जो सुझाव दिये वे इस प्रकार हैं

१ बुनियादी विद्यालयों का पाठ्यक्रम ८ वर्ष का रखा जाय। इसमें प्रथम ५ वर्ष जूनियर बेसिक तथा अन्तिम ३ वर्ष सीनियर बेसिक स्कूल के नाम से पुकारे जायें।
२ जूनियर बेसिक शिक्षा को समाप्त करने के बाद ही सीनियर बेसिक विद्यालयों में छात्रों का प्रवेश दिया जाय।
३ उच्च बेसिक पाठ्यक्रम में लडकियों के लिए उपयुक्त पाठ्यक्रम की व्यवस्था की जाय।
४ स्कूलों में उत्पादित वस्तुओं को बेचने के लिए प्रत्येक प्रान्त में एक एजेन्सी की स्थापना की जाय।
५ बुनियादी विद्यालयों के लिए अध्यापकों को प्रशिक्षित किया जाय।

सार्जेन्ट योजना—सन् १९४४ में 'युद्धोत्तर-शिक्षा-पुनर्निर्माण योजना' प्रकाशित हुई। इसी को सार्जेन्ट योजना के नाम से भी पुकारते हैं क्योंकि तत्कालीन शिक्षा सलाहकार सर जॉन सार्जेन्ट ने इस योजना के तैयार करने में महत्वपूर्ण भाग लिया था। सार्जेन्ट ने खेर समिति की सिफारिशों को स्वीकार किया। उन्होंने भी भारत की राष्ट्रीय शिक्षा के पद पर नई तालीम को बिठाने की सिफारिश की। सार्जेन्ट ने स्वावलम्बन के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार प्राथमिक विद्यालय में शिक्षा कभी भी स्वावलम्बी नहीं हो सकती है परन्तु इसके साथ-साथ 'क्रिया के द्वारा ज्ञान' के सिद्धान्त का समर्थन किया।

बुनियादी शिक्षा स्थायी समिति—केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् ने अपने २२वें अधिवेशन में एक केन्द्रीय बुनियादी समिति की स्थापना के लिए सिफारिश की। सिफारिश के आधार पर इस समिति को स्थापित किया गया। इस समिति के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं

१ केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों को बुनियादी शिक्षा के लिए सलाह देना।

२ केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकार द्वारा बुनियादी शिक्षा के क्षेत्र में किये गये कार्य का सर्वेक्षण तथा मूल्यांकन करना।

३ बुनियादी शिक्षा के क्षेत्र में उत्पन्न समस्याओं का समाधान अनुसन्धान कार्य द्वारा ढूँढ़ना।

अनुमान निर्धारण समिति— सन् १९५५ में केन्द्रीय सरकार ने अनुमान निर्धारण समिति नियुक्ति की। इस समिति ने निम्नलिखित सिफारिशें की

१ बुनियादी शिक्षा के प्रसार के लिए सरकार को एक केन्द्रीय अनुसन्धान सस्था की स्थापना करनी चाहिए।

२ ग्रामो की समाज-सेवी सस्थाओं का सहयोग बुनियादी शिक्षा के प्रसार के लिए अति आवश्यक है।

३ प्रत्येक राज्य मे विश्वविद्यालयो द्वारा उत्तर-स्नातक-प्रशिक्षण महाविद्यालय स्थापित किये जायें।

४ प्रत्येक राज्य सरकार को अल्प समय मे अपने राज्य के समस्त प्राथमिक विद्यालयो एव प्रशिक्षण विद्यालयो को बुनियादी विद्यालयो मे बदल देना चाहिए।

५ बुनियादी विद्यालयों से उत्तीर्ण छात्रों को हाईस्कूलो मे पढने की पूरी सुविधा देनी चाहिए।

६ बुनियादी विद्यालयों मे छात्रो को दस्तकारी सिखाने के लिए कुशल कारीगर नियुक्त किये जायें।

बुनियादी विद्यालयों के विभिन्न स्तर—सन् १९४५ मे सेवाग्राम मे अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन का आयोजन बुनियादी शिक्षा के भावी कार्यक्रम को निर्धारित करने के लिए किया गया। इस सम्मेलन मे गाधीजी ने अपने भाषण मे कहा—

"बुनियादी शिक्षा का क्षेत्र सात से चौदह वर्ष के बच्चो की शिक्षा तक ही सीमित नही करना चाहिए। यह शिक्षा मानव-जीवन मे गर्भाधान से आरम्भ होकर मृत्युपर्यन्त तक चलती है।"

"मैं चाहता हूँ कि बुनियादी शिक्षा एवं कताई-बुनाई के मध्य का अन्तर आपको स्पष्ट हो जाय। एक बढ़ई मुझे लकड़ी का काम सिखाता है, मैं इस कार्य को mechanically सीख लूँगा और इसके परिणामस्वरूप मैं विभिन्न औजारों का उपयोग सीख जाऊँगा। परन्तु यह मेरा बौद्धिक विकास नहीं करेगा। अगर यही कार्य बढ़ई के कार्य का वैज्ञानिक प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति मुझे सिखाये तो वह मेरी बुद्धि को भी प्रेरित करेगा। मैं इस प्रकार एक कुशल कारीगर ही नहीं वरन् एक इंजीनियर भी बन जाऊँगा क्योंकि वह विशेषज्ञ मुझे गणित सिखायगा, विभिन्न प्रकार की इमारती लकड़ी का अन्तर समझायेगा, स्थान जहाँ से वे आती हैं, बताएगा, इस प्रकार भूगोल तथा कृषि का ज्ञान देगा। औजारों के नमूने खींचना तथा ज्यामिति कला सिखायेगा। मानसिक प्रशिक्षण के साथ-साथ शारीरिक प्रशिक्षण भी देना चाहिए। बुनियादी शिक्षा में बुद्धि को प्रेरित करने का मुख्य साधन शारीरिक श्रम होना चाहिए।"[1]

भारत सरकार ने सन् १९५६ में 'The Concept of Basic Education' पुस्तक प्रकाशित कर बुनियादी शिक्षा को स्पष्ट करने का प्रयास किया। इन्होंने भी जाकिर हुसैन समिति द्वारा बुनियादी शिक्षा का स्पष्ट किया गया रूप ही स्वीकार किया है। यहाँ पर बुनियादी शिक्षा की कुछ विशेषताओं को स्पष्ट किया जा रहा है

(१) बुनियादी शिक्षा जीवन के लिए जीवन द्वारा शिक्षा है। अहिंसक समाज का निर्माण करना इसका उद्देश्य है। इसीलिए उत्पादक, रचनात्मक एवं समाज के लिए उपयोगी कार्य को बुनियादी शिक्षा का आधार बनाया है जिसको सभी जाति एवं वर्ग के लड़के एवं लड़कियाँ निःसकोच रूप से करें।

(२) किसी दस्तकारी का प्रभावशील अध्यापन केवल सम्बन्धित ज्ञान को अर्जित करने तक ही सीमित नहीं रहता वरन् यह छात्रों के चरित्र एवं व्यक्तित्व के विकास में अधिक सहयोग देता है। इसके अध्यापन से बालकों में समाज के लिए उपयोगी कार्यों के प्रति सम्मान एवं प्रेमभाव पैदा किया जाता है। छात्रों द्वारा निर्मित वस्तुओं के विक्रय से प्राप्त धन विद्यालय को चलाने, मध्याह्न भोजन, कुर्सी, मेज या अन्य सामान के खरीदने पर व्यय किया जायेगा।

(३) दस्तकारी का चयन करने में उदारता की आवश्यकता है। ऐसी दस्तकारी को चुनना चाहिए जो बौद्धिक विकास में तथा ज्ञान-वृद्धि में सहयोग दे तथा कार्य-दक्षता में निपुण बनाये। इसके साथ-साथ दस्तकारी विद्यालय के प्राकृतिक एवं सामाजिक वातावरण के अनुकूल होनी चाहिए। अतः यह धारणा कि कताई-बुनाई प्रारम्भ करने से ही बुनियादी विद्यालय हो गया, पूर्णतः गलत है।

---

१. महात्मा गांधी, शिक्षा संरचना, पृ० १७।

(४) बुनियादी शिक्षा मे ज्ञान का सम्बन्ध क्रिया, व्यावहारिक अनुभव और निरीक्षण मे स्थापित करना चाहिए। ज्ञान समन्वित रूप मे प्रदान करना चाहिए। इसीलिए पाठ्यक्रम के विषयों को सहसम्बन्ध के तीन केन्द्र-- हस्तकला, प्राकृतिक वातावरण तथा सामाजिक वातावरण -मे सम्बन्ध स्थापित करते हुए पढ़ाना चाहिए। अगर अध्यापक ऐसा नही करता है तो इसका कारण यह है कि या तो अध्यापक मे आवश्यक योग्यता का अभाव है या पाठ्यक्रम मे अनावश्यक चीजें सम्मलित करदी है जो इस स्तर के लिए महत्त्वपूर्ण नही हैं। जहाँ पर सह-सम्बन्ध द्वारा पढ़ाना सम्भव न हो तो अध्यापक को forced correlation स्थापित न करके अन्य किसी विधि द्वारा अध्यापन करना चाहिए।

(५) किसी उत्पादक कार्य या दस्तकारी पर विशेष बल देने मे तात्पर्य यह नही है कि बुनियादी विद्यालय मे पाठ्य पुस्तक के अध्ययन की अवहेलना की जाय। अत अन्य विद्यालयो की भाँति ही बुनियादी विद्यालय मे उत्तम पुस्तकालय का होना आवश्यक है।

(६) बुनियादी शिक्षा विद्यालय तथा समाज के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने पर बल देती है जिससे कि बच्चो को सामाजिकता एव सहयोग का ज्ञान कराया जा सके। बुनियादी विद्यालयों मे इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सामाजिक एव सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन होना चाहिए। दूसरे, छात्रो को स्थानीय समाज मे कुछ सामाजिक कार्य करना चाहिए। बुनियादी विद्यालयों मे छात्रो को प्रजातन्त्रीय जीवन की शिक्षा देने के लिए छात्र सघ का निर्माण किया जाय।

विभिन्न दर्शन और बुनियादी शिक्षा

शिक्षा पर विभिन्न विचारधाराओं का प्रभाव पडता रहा है। प्रकृतिवाद, आदर्शवाद और प्रयोजनवाद प्रमुख विचारधाराएँ है जिन्होने समय-समय पर शिक्षा के उद्देश्य, रचना तथा पद्धति को प्रभावित किया है। बुनियादी शिक्षा का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि गाधीजी भी इन वादो से प्रभावित हुए और उन्होंने बुनियादी शिक्षा मे इन तीनो विचारधाराओ को समन्वित करने का प्रयत्न किया।

प्रकृतिवाद- रूसो, पेस्टालोजी तथा हर्बर्ट स्पेंसर आदि दार्शनिक इस विचार-धारा के पोषक माने जाते है। ये बालक को मनुष्य का लघु रूप नही मानते है। उसका स्वय का अपना ही व्यक्तित्व होता है। रूसो ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'एमील' मे अपने शिक्षा सम्बन्धी विचार प्रकट किये हैं। प्रचलित दमनात्मक शिक्षा का विरोध करते हुए रूसो ने कहा है-—"उस शिक्षा कोई लाभ नही जो बालक की क्षमताओ और रुचियों के अनुकूल नही होती है। ऐसी शिक्षा को बलपूर्वक बालक पर थोपना, उसके साथ अन्याय करना है। यह तो पशुओ की सी शिक्षा हो गई।" रूसो ने बाल-केन्द्रित शिक्षा पर बल दिया है। उसके अनुसार बालक की प्राकृतिक शक्तियों और रुचियो

का स्वतंत्र रूप से विकास ही सच्ची शिक्षा है। प्रकृतिवादियों के अनुसार बालक को समाज से दूर ही रखना चाहिए, क्योंकि बालक सभी बुराइयों को समाज से सीखता है। रूसो का मत था कि "परमात्मा सब कुछ अच्छा ही उत्पन्न करता है परन्तु मनुष्य ही उसको बिगाड़ देता है।" इसलिए वह बालक का शिक्षण समाज से दूर रखकर प्रकृति की गोद में चाहता था।

गांधीजी भी रूढ़िगत शिक्षा-प्रणाली एवं शिक्षण-विधियों के विरुद्ध थे। वे भी प्रकृतिवादियों की भांति बच्चे के स्वतंत्र व्यक्तित्व में विश्वास रखते थे। यहाँ गांधीजी का रूसो से केवल एक स्थान पर मतभेद है। गांधीजी समाज को प्रधानता देते थे। उनके अनुसार मनुष्य समाज में रहकर ही अपनी विशेषताओं का विकास कर सकता है। गांधीजी भी रूसो की भांति प्रत्यक्ष क्रिया के माध्यम से कर्मेन्द्रियों और उनके द्वारा ज्ञानेन्द्रियों के शिक्षण के समन्वय के पक्षपाती थे। इसी-लिए बुनियादी शिक्षा रचना में प्रकृतिवादी है।

आदर्शवाद—आदर्शवादी विचारधारा के प्रवर्त्तक सुकरात, प्लेटो, कान्ट, फिचे आदि हैं। इन्होंने भौतिकवाद की अपेक्षा आध्यात्मिकवाद पर अधिक बल दिया है। आदर्शवादी विचारधारा का शिक्षा के क्षेत्र में निम्नलिखित प्रभाव है

(अ) आदर्शवाद के अनुसार शिक्षा का प्रथम उद्देश्य आत्म-साक्षात्कार (Self-realization) ही है।

(आ) प्रकृतिवाद के विपरीत आदर्शवाद के अनुसार व्यक्ति की समस्त सुषुप्त शक्तियों का विकास एक समाज में ही हो सकता है क्योंकि वह समाज का एक अंग होता है।

(इ) बालक का सर्वाङ्गीण विकास अथवा व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास करना शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य है। बालक का विकास शारीरिक एवं मानसिक दोनों दृष्टियों से होना आवश्यक है।

(ई) आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति ही शिक्षा का लक्ष्य हो। सत्य, शिव, सुन्दरम् की अनुभूति कराना आवश्यक ही नहीं परन्तु अनिवार्य भी है।

(उ) आदर्शवादी विद्यालय को एक बाग, बालक को एक कोमल पौधा तथा अध्यापक को माली मानता है।

गांधीजी आदर्शवाद से अधिक प्रभावित हुए। उनके अनुसार अपने ईश्वर को जगाकर सृष्टि के साथ एकाकार कर देना ही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। गांधी जी ने समाज को प्रधानता देते हुए कहा है कि जो ईश्वर की पूजा करना चाहता है वह सामाजिक सेवा कार्यों में लगे। उन्होंने शिक्षा के उद्देश्यों में चरित्र के विकास पर विशेष जोर दिया। आध्यात्मिक विकास करना शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य माना गया। गांधीजी आदर्शवादियों की भांति सतुलित व्यक्तित्व का विकास करना शिक्षा का उद्देश्य मानते थे। उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि बुनियादी शिक्षा उद्देश्यों में आदर्श-वादी है।

(४) बुनियादी शिक्षा में ज्ञान का सम्बन्ध क्रिया, व्यावहारिक अनुभव और निरीक्षण से स्थापित करना चाहिए। ज्ञान समन्वित रूप से प्रदान करना चाहिए। इसीलिए पाठ्यक्रम के विषयों को सहसम्बन्ध के तीन केन्द्र—हस्तकला, प्राकृतिक वातावरण तथा सामाजिक वातावरण—से सम्बन्ध स्थापित करते हुए पढ़ाना चाहिए। अगर अध्यापक ऐसा नहीं करता है तो इसका कारण यह है कि या तो अध्यापक में आवश्यक योग्यता का अभाव है या पाठ्यक्रम में अनावश्यक चीजें सम्मलित करदी हैं जो इस स्तर के लिए महत्वपूर्ण नहीं हैं। जहाँ पर सह-सम्बन्ध द्वारा पढ़ाना सम्भव न हो तो अध्यापक को forced correlation स्थापित न करके अन्य किसी विधि द्वारा अध्यापन करना चाहिए।

(५) किसी उत्पादक कार्य या दस्तकारी पर विशेष बल देने से तात्पर्य यह नहीं है कि बुनियादी विद्यालय में पाठ्य पुस्तक के अध्ययन की अवहेलना की जाय। अन्य विद्यालयों की भांति ही बुनियादी विद्यालय में उत्तम पुस्तकालय का होना आवश्यक है।

(६) बुनियादी शिक्षा विद्यालय तथा समाज के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने पर बल देती है जिसमें कि बच्चों को सामाजिकता एवं सहयोग का ज्ञान कराया जा सके। बुनियादी विद्यालयों में इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन होना चाहिए। दूसरे, छात्रों को स्थानीय समाज में कुछ सामाजिक कार्य करना चाहिए। बुनियादी विद्यालयों में छात्रों को प्रजातंत्रीय जीवन की शिक्षा देने के लिए छात्र संघ का निर्माण किया जाय।

विभिन्न दर्शन और बुनियादी शिक्षा

शिक्षा पर विभिन्न विचारधाराओं का प्रभाव पड़ता रहा है। प्रकृतिवाद, आदर्शवाद और प्रयोजनवाद प्रमुख विचारधाराएँ हैं जिन्होंने समय-समय पर शिक्षा के उद्देश्य, रचना तथा पद्धति को प्रभावित किया है। बुनियादी शिक्षा का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि गांधीजी भी इन वादों से प्रभावित हुए और उन्होंने बुनियादी शिक्षा में इन तीनों विचारधाराओं को समन्वित करने का प्रयत्न किया।

प्रकृतिवाद रूसो, पेस्टालोजी तथा हर्बर्ट स्पेंसर आदि दार्शनिक इस विचारधारा के पोषक माने जाते हैं। ये बालक को मनुष्य का लघु रूप नहीं मानते हैं। उसका स्वयं का अपना ही व्यक्तित्व होता है। रूसो ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'एमील' में अपने शिक्षा सम्बन्धी विचार प्रकट किये हैं। प्रचलित दमनात्मक शिक्षा का विरोध करते हुए रूसो ने कहा है- "उस शिक्षा कोई लाभ नहीं जो बालक की क्षमताओं और रुचियों के अनुकूल नहीं होती है। ऐसी शिक्षा को बलपूर्वक बालक पर थोपना, उसके साथ अन्याय करना है। यह तो पशुओं की सी शिक्षा हो गई।" रूसो ने बाल-केन्द्रित शिक्षा पर बल दिया है। उसके अनुसार बालक की प्राकृतिक शक्तियाँ और रुचियों

का स्वतन्त्र रूप से विकास ही सच्ची शिक्षा है। प्रकृतिवादियो के अनुसार बालक को समाज से दूर ही रखना चाहिए, क्योंकि बालक सभी बुराइयो को समाज से सीखता है। रूसो का मत था कि "परमात्मा सब कुछ अच्छा ही उत्पन्न करता है परन्तु मनुष्य ही उसको बिगाड देता है।" इसलिए वह बालक का शिक्षण समाज से दूर रखकर प्रकृति की गोद मे चाहता था।

गाधीजी भी रूढ़िगत शिक्षा-प्रणाली एव शिक्षण-विधियो के विरुद्ध थे। वे भी प्रकृतिवादियो की भांति बच्चे के स्वतन्त्र व्यक्तित्व मे विश्वास रखते थे। यहाँ गाधीजी का रूसो से केवल एक स्थान पर मतभेद है। गाधीजी समाज को प्रधानता देते थे। उनके अनुसार मनुष्य समाज मे रहकर ही अपनी विशेषताओ का विकास कर सकता है। गाधीजी भी रूसो की भाँति प्रत्यक्ष क्रिया के माध्यम से कर्मेन्द्रियो और उनके द्वारा ज्ञानेन्द्रियो के शिक्षण के समन्वय के पक्षपाती थे। इसी-लिए बुनियादी शिक्षा रचना मे प्रकृतिवादी है।

आदर्शवाद—आदर्शवादी विचारधारा के प्रवर्तक सुकरात, प्लेटो, कान्ट, फिचे आदि है। इन्होने भौतिकवाद की अपेक्षा आध्यात्मिकवाद पर अधिक बल दिया है। आदर्शवादी विचारधारा का शिक्षा के क्षेत्र मे निम्नलिखित प्रभाव है

(अ) आदर्शवाद के अनुसार शिक्षा का प्रथम उद्देश्य आत्म-साक्षात्कार (Self-realization) ही है।

(आ) प्रकृतिवाद के विपरीत आदर्शवाद के अनुसार व्यक्ति की समस्त सुषुप्त शक्तियो का विकास एक समाज मे ही हो सकता है क्योकि वह समाज का एक अग होता है।

(इ) बालक का सर्वाङ्गीण विकास अथवा व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास करना शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य है। बालक का विकास शारीरिक एव मानसिक दोनों दृष्टियो से होना आवश्यक है।

(ई) आध्यात्मिक मूल्यो की प्राप्ति ही शिक्षा का लक्ष्य हो। सत्य, शिव, सुन्दरम् की अनुभूति कराना आवश्यक ही नही परन्तु अनिवार्य भी है।

(उ) आदर्शवादी विद्यालय को एक बाग, बालक को एक कोमल पौधा तथा अध्यापक को माली मानता है।

गाधीजी आदर्शवाद से अधिक प्रभावित हुए। उनके अनुसार अपने ईश्वर को जगाकर सृष्टि के साथ एकाकार कर देना ही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। गाधी जी ने समाज को प्रधानता देते हुए कहा है कि जो ईश्वर की पूजा करना चाहता है वह सामाजिक सेवा कार्यों मे लगे। उन्होने शिक्षा के उद्देश्यो मे चरित्र के विकास पर विशेष जोर दिया। आध्यात्मिक विकास करना शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य माना गया। गाधीजी आदर्शवादियो की भांति सतुलित व्यक्तित्व का विकास करना शिक्षा का उद्देश्य मानते थे। उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि बुनियादी शिक्षा उद्देश्यो से आदर्श-वादी है।

प्रयोजनवाद—प्रयोजनवादी अच्छा उसी को मानते हैं जो उपयोगी हो। डीवी, किलपैट्रिक तथा जेम्स इस विचारधारा के पोषक हैं। प्रयोजनवाद के प्रमुख सिद्धान्त ये है

(अ) विचार की अपेक्षा क्रिया पर जोर दिया जाता है। ये पुस्तकीय शिक्षा के विरुद्ध है। ये बालक को जीवन की वास्तविक परिस्थितियों में रखकर अनुभव अर्जित करने का प्रशिक्षण देते हैं। (आ) प्रयोजनवादी सामाजिक कुशलता का विकास करना शिक्षा का उद्देश्य स्वीकार करते हैं। इसीलिए विद्यालय को समाज का लघु रूप मानते हैं। (इ) बालक स्वय अपने मूल्यो का निर्माण वातावरण के अनुसार करता है।

गाधीजी ने भी प्रयोजनवाद की भाँति 'क्रिया द्वारा ज्ञान प्राप्त करने' के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। इसीलिए उत्पादक उद्योगो को बुनियादी शिक्षा में प्रमुख स्थान प्राप्त हैं। ये समवाय द्वारा ज्ञान को समन्वित रूप मे देने के पक्षपाती थे। उनके अनुसार, विभिन्न विषयो को पृथक् रूप मे नही पढ़ाना चाहिए। बुनियादी शिक्षा की पद्धति प्रयोजनवाद के सिद्धान्तो के अनुसार ही है।

बुनियादी शिक्षा के आधारभूत सिद्धान्त

(१) राष्ट्रव्यापी नि:शुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा—देश की तत्कालीन सामाजिक दशा ने गाधीजी मे इस विचार का बीजारोपण किया कि भारतवर्ष मे शिक्षा का प्रसार किये बिना देश का हित नही है। शिक्षित व्यक्तियो मे राजनीतिक एवं सामाजिक चेतना का विकास शीघ्र किया जा सकता है। अशिक्षित व्यक्तियो की अपेक्षा शिक्षित वर्ग को पराधीनता की बुराइयों का ज्ञान शीघ्र कराकर देश मे राजनीतिक एव सामाजिक क्रान्ति लाई जा सकती है। अत गाधीजी इस बात के पक्षपाती थे कि देश मे सार्वभौमिक शिक्षा होनी चाहिए। गाधीजी ने इस योजना के अन्तर्गत ७ से १४ वर्ष के बालको के लिए नि शुल्क अनिवार्य शिक्षा का आयोजन रखा। प्रजातन्त्र की सफलता शिक्षा प्रसार पर ही निर्भर रहती है क्योंकि शिक्षित व्यक्ति ही शासन व्यवस्था ठीक प्रकार से चला सकते है। गाधीजी का कथन था कि "जनसाधारण की अशिक्षा भारत का पाप और कलक है। अत उसका अन्त करना आवश्यक है।"

(२) हस्तकला द्वारा शिक्षा—भारत के लिए नवीन शिक्षा की रूप-रेखा प्रस्तुत करते हुए गाधीजी ने ३१ जुलाई सन् १९३७ के 'हरिजन' मे लिखा था—"साक्षरता स्वय शिक्षा नही है। अत मैं बच्चे की शिक्षा उसे एक उपयोगी हस्तकला सिखाकर और जिस समय से वह अपनी शिक्षा प्रारम्भ करता है, उसे उत्पादन करने योग्य बनाकर प्रारम्भ करना चाहता हूँ।" केवल पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त कर लेना ही पर्याप्त नहीं है परन्तु इसके साथ-साथ हाथो को शिक्षित करने से ही पूर्ण शिक्षा प्राप्त होती है। अत हाथ-पैर की शिक्षा बुद्धि की शिक्षा के साथ ही दी जानी चाहिए।

हस्तकला की शिक्षा से छात्रों में नैतिक और आत्मिक शक्तियों का विकास होगा। उनमें आत्म-विश्वास का गुण पैदा होगा। इसके द्वारा शारीरिक श्रम के प्रति घृणा की भावना कम होगी तथा बालक आत्मनिर्भर बन सकेगा। शिक्षा को अधिक खर्चीली बनने से रोका जा सकता है।

(३) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा—बुनियादी शिक्षा में मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम रखा गया है। इसका प्रमुख उद्देश्य यह था कि बालक स्वाभाविक रूप से शिक्षा ग्रहण कर सकें। वह अपने विचारों को भी सरलता से अभिव्यक्त कर सकें। अंग्रेजी भाषा को माध्यम बनाने से छात्रों का बहुत सा समय इस भाषा को सीखने में लगता था। इतने पर भी विदेशी भाषा पर अधिकार नहीं हो पाता है। मातृभाषा के माध्यम होने पर बालक अपने समय तथा शक्ति को दूसरे कार्यों में लगा सकते हैं। अंग्रेजी भाषा को माध्यम रखने से बालक में मानसिक दासता का जन्म होता है। अपने देश की सभ्यता तथा संस्कृति को समझने तथा उनको विकसित करने के लिए भारतीय भाषाओं को ही शिक्षा का माध्यम बनाना उपयुक्त है।

(४) स्वावलम्बी शिक्षा—बुनियादी शिक्षा का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त शिक्षा का स्वावलम्बी होना है। गांधीजी का कथन था कि—"शिक्षा को स्वावलम्बी होना चाहिए अर्थात् शिक्षा से पूँजी के अतिरिक्त वह सब धन मिल जाना चाहिए जो उसे प्राप्त करने में व्यय किया गया है।" शिक्षा में आत्मनिर्भरता लाने का प्रमुख कारण देश की निर्धनता थी। जब भी भारतीयों ने शिक्षा को अनिवार्य बनाने के लिए अंग्रेजों से माँग की तो उन्होंने धन की कमी बताते हुए माँग पर कोई ध्यान नहीं दिया। गांधीजी का विचार था कि स्वतन्त्रता के बाद भारत सरकार को ही शिक्षा का प्रबन्ध करना होगा। अनेक क्षेत्रों में विकास एवं निर्माण कार्य करने से सरकार शिक्षा पर पर्याप्त धन व्यय नहीं कर सकती है, अतः शिक्षा को आत्मनिर्भर बनाना आवश्यक है। यहाँ स्वावलम्बी शिक्षा से दो तात्पर्य हैं—प्रथम, शिक्षाकाल में बालक में जीविकोपार्जन की क्षमता का विकास करना जिससे कि वह भी शिक्षित वर्ग में बेकारी की समस्या का शिकार न हो जाय, दूसरे अर्थ में, शिक्षा के स्वावलम्बन से तात्पर्य है कि छात्रों द्वारा निर्मित वस्तुओं के बेचने पर होने वाली आय से अध्यापकों का वेतन या अन्य व्यय चल सके।

(५) शिक्षा का जीवन से सम्बन्धित होना—जाकिर हुसैन समिति के अनुसार "जहाँ तक पाठ्यक्रम का सम्बन्ध है, हमने इस सिद्धान्त पर विशेष बल दिया है कि सब प्रकार की शिक्षा वास्तविक जीवन के द्वारा, उसे हस्तकला अथवा सामाजिक और भौतिक वातावरण से सम्बन्धित करके ही दी जाय।" तत्कालीन शिक्षा का प्रमुख दोष यह था कि यह अपने इस उद्देश्य की अवहेलना कर रही है कि छात्र को भावी जीवन के लिए वास्तविक परिस्थितियों एवं वातावरण में रखकर प्रशिक्षण दिया जाय। इसमें केवल बौद्धिक शक्तियों के विकास को ही महत्व प्रदान किया जाता है। गांधीजी चाहते थे कि शिक्षा जीवन से पूर्णतः सम्बन्धित होनी चाहिए। हस्तकला के

चुनाव के लिए उनका विचार था कि यह बालक के स्थानीय एवं सामाजिक वातावरण में से चुनी जानी चाहिए।

(६) सहसम्बद्ध शिक्षण—बुनियादी शिक्षा में सहसम्बद्ध शिक्षण पर विशेष बल दिया जाता है। इसमें सभी विषयों को हस्तकला पर केन्द्रित करके पढ़ाया जाता है। इसीलिए बुनियादी शिक्षा को हस्तकला-प्रधान शिक्षा कहते हैं। विभिन्न हस्त-कलाओं में एक-दो हस्तकलाओं का चयन करके बालक उन पर कार्य प्रारम्भ करता है। अध्यापक इन हस्तकलाओं से अन्य विषयों को सम्बन्धित करके ज्ञान प्रदान करता है। ऐसा करने से विषय सरलता से समझ में आ जाता है।

(७) स्वतन्त्रता प्रधान प्रणाली— वर्तमान शिक्षा पद्धति की आलोचना करते हुए कहा जाता है कि इसमें परीक्षा उत्तीर्ण करने का लक्ष्य होने से छात्रों को मुख्य तथ्यों को रटने का प्रोत्साहन दिया जाता है। छात्र रचनात्मक कार्य करने तथा आत्म-अभिव्यक्ति का अवसर प्राप्त नहीं कर पाते हैं। बुनियादी शिक्षा में अध्यापक एवं छात्रों को कार्य करने की स्वतन्त्रता रहती है। अध्यापकों को अपनी इच्छानुसार प्रयोग करने एवं नवीन शिक्षण विधियों के अनुसार अध्यापन करने की स्वतन्त्रता रहती है। छात्रों को स्वतन्त्र रूप से हस्तकला का कार्यक्रम बनाने और उसको कार्यान्वित करने की छूट रहती है। इसमें उनमें आत्मविश्वास बढ़ता है तथा अपनी रुचि के अनुसार कार्य करने का अवसर प्राप्त होता है।

(८) नागरिकता का आदर्श—बुनियादी शिक्षा में बालक को एक कुशल नागरिक बनने के प्रशिक्षण हेतु अनेक अवसर प्राप्त होते हैं। भारत जैसे प्रजातन्त्रीय देश के लिए ऐसे कुशल नागरिकों का होना अति आवश्यक है जो अपने कर्त्तव्य एवं अधिकारों को भली प्रकार समझते हों। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो बालक की मान-सिक, नैतिक, कलात्मक एवं शारीरिक शक्तियों का विकास करे। बुनियादी शिक्षा में इन सभी क्षेत्रों के विकास पर ध्यान दिया जाता है। प्रजातन्त्र की सफलता एवं समाज की भलाई के लिए ऐसे नागरिक पैदा करने चाहिए जो एक दूसरे के प्रति सहानुभूति एवं प्रेम रखते हों तथा आत्म-संयम एवं सहनशीलता के गुणों का विकास हो। बुनियादी शिक्षा हस्तकला के माध्यम से इन गुणों के विकसित होने का अवसर प्रदान करती है। छात्र जब किसी क्रिया में सामूहिक रूप में भाग लेते हैं तो वे अपने कर्त्तव्य को सीखते हैं तथा उनमें एक दूसरे के साथ सहयोग करने की इच्छा बढ़ती ।

(९) अहिंसा—बुनियादी शिक्षा का अंतिम आधारभूत सिद्धान्त है—अहिंसा। यहाँ अहिंसा से तात्पर्य प्रत्येक प्राणी से सहानुभूति एवं प्रेम उत्पन्न करना, धनी एवं निर्धन व्यक्तियों का भेद समाप्त करना और उच्च तथा निम्न वर्गों में समता लाना है। बुनियादी शिक्षा में छात्र क्रिया को समूह में पूरा करने से सहयोग की भावना से प्रेरित होते हैं। उनमें यह विचार समाप्त हो जाता है कि कोई भी हस्त उद्योग किसी जाति से सम्बन्धित है। जाति-भावना तथा ऊँच-नीच की भावना समाप्त होती है

क्योंकि सभी वर्गों के छात्र उस क्रिया मे बिना भेद-भाव के भाग लेते हैं। ऐसे छात्र सुयोग्य नागरिक बनकर अहिंसा की भावना पैदा करेंगे। अहिंसा तो व्यवहार मे प्रकट होनी चाहिए और जीवन के अन्तिम व्यवहार तक उसका अस्तित्व रहना चाहिए। बुनियादी शिक्षा इस लक्ष्य की प्राप्ति मे अधिक सहयोग दे सकेगी।

बुनियादी शिक्षा की वर्तमान स्थिति

बुनियादी शिक्षा की वर्तमान स्थिति का अध्ययन दो आधारों पर किया जाएगा

(अ) सख्यात्मक विकास, (आ) गुणात्मक विकास।

(अ) संख्यात्मक विकास (Quantitative Expansion)—स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व अग्रेजो की दोषपूर्ण एवं अवहेलनापूर्ण नीति के कारण बुनियादी शिक्षा का अधिक प्रसार न हो सका। द्वितीय विश्वयुद्ध ने भी इस नवीन प्रयोग को सफलता-पूर्वक लागू करने मे बाधा उत्पन्न कर दी। भारतवर्ष के स्वतत्र होने के बाद यहाँ की केन्द्रीय एव प्रातीय सरकारो ने इसको राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली घोषित कर दिया। इस घोषणा ने प्रथम पचवर्षीय योजना मे बुनियादी शिक्षा के विस्तार के लिए विशेष निधि रखने के लिए योजना आयोग के सदस्यों को बाध्य किया। निम्न तालिका से बुनियादी शिक्षा के क्षेत्र मे किये गए प्रयत्नो के परिणाम स्पष्ट हैं

सन् १९५०-५१ से बुनियादी शिक्षा की प्रगति

बुनियादी विद्यालय	१९५०-५१	१९५५-५६	१९६०-६१	१९६५-६६ (लक्ष्य)
१. विद्यालय				
(अ) जूनियर बेसिक स्कूल	३३,३७९	४२,९७१	१,००,०००	१,५३,०००
(आ) कुल प्राथमिक विद्यालयो मे जूनियर बेसिक स्कूलो का प्रतिशत	१५ ९	१५ ४	२६ २	३६ ९
(इ) सीनियर बेसिक स्कूल	३८८	४,८४२	११,९४०	१६,७००
(ई) कुल माध्यमिक विद्यालयो मे सीनियर बेसिक स्कूलो का प्रतिशत	२ ९	२२ ३	३० २	२८ ९
२. छात्र				
(अ) कक्षा प्रथम से आठ तक मे छात्रो की संख्या (लाखों मे)	२२ ७	२९ ४६	४० ६३	५९ ३९

(आ) कक्षा प्रथम से आठ तक के कुल छात्रों का बुनियादी विद्यालयों में प्रतिशत	१३ १	१७ २	२३ ३	—
३. बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालय				
(अ) बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालयों की सख्या	११४	५२०	७१५	१४२४
(आ) कुल प्रशिक्षण सस्थानो मे बुनियादी प्रशिक्षण सस्थानो का प्रतिशत	१५	५६	७०	१००

तालिका से स्पष्ट है कि प्रथम पचवर्षीय योजना में कुल प्राथमिक विद्यालयों में जूनियर बेसिक विद्यालयों का प्रतिशत १५.६ से घटकर १५.४ ही रह गया। परन्तु द्वितीय योजना में यह प्रतिशत बढ़कर २६.२ हो गया। तृतीय पचवर्षीय योजना में इनकी वृद्धि की गति द्वितीय योजना से भी कम रहेगी जैसा कि तालिका में अंकित लक्ष्य से स्पष्ट है। इससे स्पष्ट है कि जिस गति से प्राथमिक विद्यालयों की सख्या बढ़ेगी उस अनुपात से जूनियर बेसिक स्कूल नहीं बढ़ेंगे। सीनियर बेसिक विद्यालयों की दशा इससे भी अधिक शोचनीय है। १९५०-५१ से प्रथम योजना में २२.३ प्रतिशत वृद्धि हुई परन्तु द्वितीय योजना में ३०.२ प्रतिशत वृद्धि हुई। तीसरी योजना के लक्ष्य के अनुसार यह प्रतिशत द्वितीय योजना से १.३ प्रतिशत कम है। इससे स्पष्ट है कि सीनियर बेसिक स्कूलों की ओर सरकार का ध्यान अधिक नहीं है।

बुनियादी शिक्षा जो कि सार्वभौमिक शिक्षा कहलाती है, प्रथम तीन योजनाओं में सतोषजनक प्रगति नहीं कर सकी। प्रथम योजना में प्रथम से आठवीं कक्षा तक पढ़ने वाले कुल छात्रों के केवल १७.२ प्रतिशत छात्र ही बुनियादी विद्यालयों में अध्ययन कर रहे थे। यह प्रतिशत द्वितीय योजना में २३.३ हो गया। सन् १९५५-५६ में ६ वर्ष से १४ वर्ष की आयु के सभी बालकों का ४० प्रतिशत भाग परम्परागत विद्यालयों में पढ़ रहा था। १९६०-६१ में यह ४८.३ प्रतिशत हुआ और १९६५-६६ में ६० प्रतिशत तक बढ़ाने का लक्ष्य है। बुनियादी विद्यालयों में प्रवेश पाने वालों का प्रतिशत प्रथम योजना में ४.१ से बढ़कर ६.९ हुआ। इस प्रकार २.८ प्रतिशत की वृद्धि हुई जबकि परम्परागत विद्यालयों में ८ प्रतिशत की वृद्धि हुई। यही बात द्वितीय तथा तृतीय योजनाओं के बारे में है। इससे स्पष्ट है कि प्रथम दो योजनाओं में बुनियादी शिक्षा की प्रगति परम्परागत शिक्षा के समान भी नहीं हुई।

बुनियादी शिक्षा के लिए अध्यापकों को प्रशिक्षण देना भी आवश्यक है। सरकार ने बुनियादी शिक्षक प्रशिक्षण विद्यालयों की स्थापना के क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया है। तीसरी पचवर्षीय योजना के अत तक सभी प्राथमिक अध्या

क्षण विद्यालयों को बुनियादी शिक्षा के रूप में परिवर्तित करने का लक्ष्य रखा । परन्तु मात्रात्मक विकास से गुणात्मक विकास में सहयोग नहीं मिल रहा है । का कारण यह है कि अध्यापकों के प्रशिक्षण को वर्तमान दशाएँ सतोषजनक नहीं प्रशिक्षण विद्यालयों में योग्य अध्यापकों का अभाव, भवन तथा साज-सामान की है । प्रशिक्षण का पाठ्यक्रम भी उच्चकोटि का नहीं है ।

(आ) गुणात्मक विकास (Qualitative Development)– बुनियादी शिक्षा क्षेत्र में *गुणात्मक विकास की ओर सरकार का विशेष ध्यान नहीं है । अनेक प्रान्तों* विद्यालयों का नाम परिवर्तित करके बुनियादी विद्यालय कर दिया है । परन्तु उनमें छात्रों को बुनियादी पाठ्यक्रम उपयुक्त शिक्षण विधियों के द्वारा नहीं पढ़ाया जाता है । विद्यालयों में हस्तकला के स्थान पर नकली में केवल बनाई का काम कराया जाता है । इससे स्पष्ट है कि हस्तकला के सम्बन्ध में ही गलत धारणाएँ पैदा हो गई । कुछ व्यक्ति कहते हैं कि उत्पादक कार्य के अन्तर्गत उपयोगी वस्तुओं का निर्माण होना चाहिए जबकि दूसरे लोगों का विचार है कि यह तो सेल विधि का ही दूसरा रूप है । बुनियादी विद्यालयों के अध्यापकों को सह-सम्बन्ध विधि का पर्याप्त ज्ञान नहीं होता है । वे समवाय विधि का प्रयोग ठीक प्रकार से नहीं कर पाते है । इस क्षेत्र में गहन अनुसधान कार्य की आवश्यकता है ।

बुनियादी शिक्षा की समस्याएँ व कठिनाइयाँ

यहाँ उन सभी कठिनाइयों पर विचार करना तर्कसगत होगा जिनके कारण बुनियादी शिक्षा के क्षेत्र में आशातीत सफलता एवं प्रगति न हो सकी ।

(१) धन का अभाव—गाधीजी ने बुनियादी शिक्षा के सम्बन्ध में कहा था कि "यह तो एक स्वावलम्बी शिक्षा प्रणाली है । छात्रों से विद्यालय में हस्तकला के रूप में कुछ उत्पादन कार्य करवाया जायेगा । इस प्रकार छात्रों द्वारा निर्मित वस्तुओं के बेचने से विद्यालय को जो आय होगी उससे अध्यापकों का वेतन निकल सकेगा ।" परन्तु बुनियादी विद्यालयों का सर्वेक्षण करने से पता लगा है कि इस बात की कोई सम्भावना नहीं कि बुनियादी विद्यालय आत्मनिर्भर हो सकें । सन् १९५०-५१ में सेवाग्राम के बुनियादी विद्यालय का अध्ययन करने से ज्ञात हुआ कि वह विद्यालय ६३ प्रतिशत तक ही आत्मनिर्भर था जबकि उसको सम्पूर्ण भारत में आदर्श विद्यालय माना जाता है । सन् १९५८ में बुनियादी शिक्षा की द्वितीय राष्ट्रीय सेमीनार के अवसर पर विनोबाजी ने कहा कि १४ वर्ष तक की आयु के छात्रों की *शिक्षा पर व्यय करना* राज्य का उत्तरदायित्व है । अतः विद्यालयों को आत्मनिर्भर बनाने के लिए उत्पादक उद्योग को साधन नहीं बनाना चाहिए । बुनियादी शिक्षा में परम्परागत शिक्षा की *अपेक्षा अधिक धन की आवश्यकता होती है । इस समय तीन प्रकार के कार्यों के* लिए धन की आवश्यकता है—(१) सामान्य शालाओं को बुनियादी शालाओं में बदलना, (२) नवीन बुनियादी विद्यालय खोलना, और (३) अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा के

लिए । परन्तु भारत सरकार पर्याप्त धन व्यय नहीं कर पा रही है । इसका कारण हमारे देश में अनेक विकास कार्यों का होना है ।

(२) अध्यापक—बुनियादी विद्यालयों के लिए प्रशिक्षित अध्यापकों की भी एक समस्या है । इसके लिए ऐसे अध्यापकों की आवश्यकता है जो विभिन्न विषयों को किसी हस्तकार्य से सम्बन्धित करके पढ़ा सकें । बुनियादी शिक्षा के अध्यापक को बालक तथा स्थानीय समाज के प्रति उचित अभिवृत्ति रखनी चाहिए । उसे बालक में रुचि लेनी चाहिए । बुनियादी शिक्षा के लिए ऊँची योग्यता का व्यक्ति होना चाहिए क्योंकि इसमें बच्चों को जीवन की वास्तविक परिस्थितियों में रखकर शिक्षित किया जाता है । इसके साथ-साथ अध्यापक समाज की आवश्यकताओं के प्रति जागरूक हो एवं छात्रों को प्रजातन्त्रीय नागरिक बनाने में सहायता दे सकें । कम वेतन, समाज में हेय दृष्टि से देखना आदि कारणों से योग्य व्यक्ति इस व्यवसाय की ओर आकर्षित ही नहीं होते हैं । सर्वेक्षण से ज्ञात हुआ है कि अधिकतर ८वीं कक्षा उत्तीर्ण व्यक्ति ही अध्यापन कार्य कर रहे हैं । अनेक प्रान्तों में केवल एक ही वर्ष का प्रशिक्षण काल है । यह अवधि कम है ।

(३) सरकार की उदासीनता--सरकार की उदासीनता के कारण सरकार प्राथमिक बेसिक शिक्षा के प्रसार की ओर ध्यान नहीं दे रही है । अंग्रेजों की भाँति आज भी सरकार अपना ध्यान उच्च शिक्षा की ओर केन्द्रित किये हुए है । यह इससे स्पष्ट है कि भारत सरकार ने उच्च शिक्षा के लिए तो आयोगों की नियुक्ति की, परन्तु इन आयोगों ने प्राथमिक शिक्षा के लिए कोई सुझाव नहीं दिए जबकि यह स्तर ही उच्च शिक्षा का आधार है ।

(४) बेसिक शिक्षा के प्रति जनता की धारणा--बुनियादी शिक्षा के प्रति भारतीय जनता की उचित धारणा न होने से अभी तक ये लोग परम्परागत चली आ रही शिक्षा प्रणाली को प्रधानता देते हैं । उनको बेसिक शिक्षा का स्वरूप ही स्पष्ट नहीं है । कताई-बुनाई को ही वे बुनियादी शिक्षा मानते हैं । परिणामस्वरूप, उनका विचार बन गया है कि अगर बच्चों को विद्यालय में कताई-बुनाई के लिए भेजें तो इससे अच्छा है कि घर पर ही उनसे कार्य करवायें । सरकार ने बेसिक शिक्षा के विषय में साधारण जनता को कुछ भी नहीं समझाया ।

(५) उच्च वर्ग के व्यक्तियों का दृष्टिकोण—निम्नवर्ग के व्यक्ति सदैव उच्चवर्ग के व्यक्तियों का अनुकरण करते आये हैं । भारतवर्ष में आज भी उच्च वर्ग के व्यक्ति अपने बच्चों को पब्लिक स्कूल तथा अंग्रेजी स्कूल में पढ़ने के लिए भेजते हैं जबकि ये ही लोग बेसिक शिक्षा के महत्त्व पर लम्बे-लम्बे भाषण देते हैं । ये लोग अपने बच्चों को जनसाधारण के बच्चों के साथ वर्ग-विभेद के कारण पढ़ाना पसन्द नहीं करते हैं । अभी तक उच्च वर्ग के लोग शारीरिक श्रम को घृणा की दृष्टि से देखते हैं । कुछ व्यक्ति बेसिक शिक्षा प्रणाली को राजनीति के प्रभाव से भी घृणा करने लगे हैं । अन्य राजनीतिक दलों के लोग बेसिक शिक्षा को कांग्रेस की देन

समझते हैं। अतः ये लोग अपने राजनीतिक विचारों का प्रचार करते समय जन-साधारण में बुनियादी शिक्षा की आलोचना करके गलत धारणा पैदा करते हैं। साम्यवादी इस योजना का विरोध करते हैं। उनके विरोध का कारण हस्तकलाएँ हैं जो कि उनके मतानुसार समय के अनुकूल नहीं हैं। वे तो अब मशीनों को प्राथमिकता देते हैं। जब तक जनता में से ऊँच-नीच का भेद-भाव समाप्त नहीं होता तथा गन्दा राजनीतिक प्रचार बन्द नहीं होता तब तक बेसिक स्कूल समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं कर सकेंगे।

(६) प्रशासन सम्बन्धी—बुनियादी शिक्षा को प्रशासक वर्ग की भी सहानुभूति प्राप्त नहीं हो सकी। यहाँ के प्रशासकीय कर्मचारियों ने इस नवीन योजना में कोई रुचि ही नहीं ली जबकि किसी भी योजना की सफलता या असफलता प्रशासन पर निर्भर रहती है। नवीन योजना होने से इसे कार्यान्वित करने में अनेक कठिनाइयाँ एवं समस्याएँ आने आईं। परन्तु प्रशासक वर्ग में पर्याप्त योग्यता एवं कल्पना शक्ति के अभाव के कारण वे इन समस्याओं एवं इनके समाधान के उपायों को समझ भी नहीं सके। बेसिक शिक्षा की मूल्यांकन समिति ने अपने सन् १९५६ के प्रतिवेदन में कहा है—"किसी भी प्रान्त में यह नहीं देखा गया कि जन-शिक्षा के सचालक के लिए बुनियादी शिक्षा महत्त्व का विषय हो और न उनमें से कोई अपने प्रान्त की बुनियादी शिक्षा की समस्याओं से परिचित था।"[1] इन कर्मचारियों को बुनियादी शिक्षा का स्वरूप स्पष्ट न होने से ये लोग पर्याप्त मात्रा में उत्पादन कार्य के लिए साज-सामान एवं कच्चा माल विद्यालयों को नहीं भेजते हैं और न अभी तक तैयार माल को बेचने की विधि ही निश्चित कर पाये हैं। विद्यालयों का निरीक्षण करने वाले अधिकारी अध्यापकों की शंकाओं को दूर नहीं कर पाते हैं। ये लोग अध्यापकों के साथ बैठकर उत्पन्न समस्याओं पर विचार भी नहीं करते हैं।

(७) विद्यालय-भवनों का अभाव—बेसिक शिक्षा के सम्बन्ध में एक कठिनाई विद्यालय-भवनों का अभाव है। जिस गति से छात्रों की संख्या बढ़ रही है उस गति से विद्यालय-भवनों का निर्माण नहीं हो रहा है। वे भवन जिनमें आजकल विद्यालय चल रहे हैं, अच्छी दशा में नहीं हैं। ये अस्वस्थ एवं अस्वच्छ वातावरण में स्थित हैं। ग्रामीण विद्यालयों की दशा तो और भी अधिक खराब है। वहाँ पर कक्षाएँ वृक्षों के नीचे, झौंपड़ियों या मन्दिर आदि में लगती हैं। ऐसे भवनों में बेसिक विद्यालय चलाना कठिन है। बेसिक विद्यालय में तो पर्याप्त स्थान चाहिए जिसमें

---

1. "In none of the states did we find a Driector of Public Instruction to whom Basic Education was an issue of the utmost importance nor did we find any of them fully conversant with the problems of Basic Education in their respective states"—Report of the Assessment Committee on Basic Education, p. 8.

[illegible] में कर सके। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित कारण भी बताये जाते हैं

(अ) [illegible] का अभाव

(आ) [illegible]।

(८) उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकों का अभाव — आरम्भ अवस्था में बुनियादी विद्यालयों में पाठ्यक्रम के अनुसार पाठ्य-पुस्तकों का प्रयोग नहीं कराया। यह माना गया कि बुनियादी शिक्षा स्वयं ही एक शिक्षा का माध्यम मानी है तथा समवाय के सिद्धान्त पर शिक्षा आधारित है। परन्तु हम किसी भी शिक्षण विधि में पुस्तकों की अवहेलना नहीं कर सकते हैं। पाठ्य-पुस्तकें अध्यापक एवं छात्र दोनों के लिए ही महत्वपूर्ण होती हैं। अध्यापक को पाठ्यक्रम की रूपरेखा पुस्तकों से ही प्राप्त होती है। बेसिक शिक्षा में पाठ्य-पुस्तकों के अभाव में अध्यापक यह समझ ही नहीं पाते कि विभिन्न विषयों को किस प्रकार समवाय विधि में पढ़ाया जाय। छात्रों में स्वाध्ययन की आदत का निर्माण करने में पाठ्य-पुस्तकें अधिक सहायक होती हैं। छात्र जो कुछ भी कक्षा में पढ़ते हैं उसको घर पर पुस्तकों की सहायता से दोहरा लेते हैं। परन्तु कक्षा में जिस प्रकार से अध्यापक ने पढ़ाया उस ढंग से पुस्तकों में न मिलने से छात्रों में भी बेसिक शिक्षा के प्रति अरुचि पैदा हो गई।

(९) अनुसन्धान कार्य का अभाव — बुनियादी शिक्षा के क्षेत्र में एक समस्या अनुसन्धान कार्य के प्रति उपेक्षापूर्ण मनोवृत्ति भी रही है। बेसिक शिक्षा एक नवीन प्रणाली होने से इसके क्षेत्र में समस्याओं का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। परन्तु वैज्ञानिक ढंग से उन समस्याओं के समाधान के लिए सरकार ने कोई प्रयत्न नहीं किये जबकि सन् १९३८ में ही जाकिर हुसैन समिति ने सिफारिश की थी कि प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा बोर्ड की स्थापना की जाय जिसका प्रमुख कार्य बेसिक शिक्षा के क्षेत्र में अनुसंधान कार्य को सगठित एवं कार्यान्वित करना होगा। इस सुझाव को भी सरकार ने कार्यान्वित नहीं किया। इसी प्रकार सन् १९५६ में बेसिक शिक्षा की मूल्यांकन समिति ने सर्वेक्षण के आधार पर पता लगाया कि किसी भी बेसिक प्रशिक्षण संस्थान में कोई भी अनुसंधान कार्य नहीं किया गया। बुनियादी शिक्षा के विभिन्न क्षेत्र, जैसे तैयार माल को बेचने का ढंग, समवाय विधि, हस्तकला का चयन, पाठ्यक्रम को व्यावहारिक बनाना, अध्यापकों का प्रशिक्षण आदि में अनुसंधान कार्य की अधिक आवश्यकता है।

बुनियादी शिक्षा की समालोचना

बुनियादी शिक्षा प्रणाली के प्रारम्भ होने के साथ ही भारतीय शिक्षा शास्त्रियों ने इसकी आलोचना आरम्भ की तथा अनेक दोष बताये। इस योजना में व्याप्त दोषों का जोकि आलोचना के प्रमुख विषय है, वर्णन यहाँ दिया जा रहा है

(१) बुनियादी शिक्षा का स्वावलम्बी न होना—कुछ लोगों का मत है कि बेसिक शिक्षा कभी भी स्वावलम्बी नहीं हो सकती है। सार्जेन्ट रिपोर्ट में भी यह स्पष्ट किया गया है कि प्राथमिक शिक्षा कभी भी स्वावलम्बी नहीं हो सकती है। इसका कारण यह है कि छात्रों के द्वारा तैयार माल कभी भी कुशल कारीगरों द्वारा निर्मित माल के सामने नहीं टिक सकता है। बालकों द्वारा निर्मित वस्तुएँ बाजार में बिकने लायक नहीं हो सकती है।

कुछ विद्वानों का मत है कि अगर इसी सिद्धान्त पर बल दिया गया तो शिक्षण संस्थाएँ शिल्प कुटीर केन्द्र बन जायेंगे। बुनियादी शिक्षा के आलोचक इस योजना को व्यावहारिक की अपेक्षा आदर्शवादी अधिक मानते हैं। छात्रों द्वारा निर्मित वस्तुओं की आय से विद्यालय का खर्चा या शिक्षकों का वेतन निकल सकेगा, यह कल्पनालोक जैसी बात लगती है। जाकिर हुसैन समिति ने भी बाद में यह स्वीकार करते हुए कहा कि "यद्यपि बेसिक शिक्षा आत्म-निर्भर नहीं हो सकती है, परन्तु तो भी इसकी आवश्यकता है क्योंकि राष्ट्रीय संगठन में यह अधिक सहायक हो सकती है।"

(२) बच्चे की अपेक्षा उद्योग-केन्द्रित शिक्षा मनोवैज्ञानिक प्रयोगों एवं आविष्कारों ने इस बात पर जोर दिया है कि बाल-केन्द्रित शिक्षा होनी चाहिए। बालक की योग्यता, रुचि, अभियोग्यता आदि को ध्यान में रखकर शिक्षा दी जानी चाहिए। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि व्यक्तिगत भिन्नता के सिद्धान्त के आधार पर ही अध्यापक को कक्षा में अध्यापन करना चाहिए। परन्तु बुनियादी शिक्षा में उद्योग पर अधिक जोर दिया जाता है। इसमें सम्पूर्ण शिक्षा का आधार या माध्यम उद्योग ही होता है। परिणामस्वरूप, बालक की रुचियों एवं योग्यता की उपेक्षा होती है।

उद्योग-प्रधान शिक्षा होने से शिक्षा का स्तर भी गिरता है। इसमें ५½ घण्टे के दैनिक कार्यक्रम में ३ घण्टे २० मिनट केन्द्रीय दस्तकारी के लिए निर्धारित किये गये हैं। केवल २ घण्टे अन्य विषयों का अध्ययन करने के लिए बचते हैं। इतने कम समय में अन्य विषयों से सम्बन्धित पर्याप्त ज्ञान छात्रों को नहीं दिया जा सकता है।

(३) अस्वाभाविक समवाय—बेसिक शिक्षा पर एक आक्षेप समवाय से सम्बन्धित है। समवाय स्वाभाविक तथा सहज होना चाहिए। परन्तु यह भी ध्यान देने योग्य है कि सभी विषयों का ज्ञान केन्द्रीय उद्योग से समवाय करके नहीं दिया जा सकता है। अधिक खींचतान करने पर समवाय अस्वाभाविक हो जाता है। इसके साथ एक विचारणीय प्रश्न यह भी है कि क्या कम योग्यता का अध्यापक जो कि ८वीं या १०वीं कक्षा उत्तीर्ण है, सभी विषयों का ज्ञान प्रधान उद्योग से समवाय करके दे सकेगा। बुनियादी शिक्षा के विद्वानों ने इस दोष को स्वीकार किया और नयी तालीम के सन् १९३९ के सम्मेलन में निर्णय किया—"बेसिक शिक्षा प्रणाली में समवाय

का प्रयोग शिक्षण के समय जबर्दस्ती नहीं करना चाहिए। समवाय को प्रमुख हस्तकला तक ही सीमित न करके इसको छात्रों के भौतिक एवं सामाजिक वातावरण से भी स्थापित किया जाय।"

(४) धार्मिक शिक्षा की अवहेलना– बुनियादी शिक्षा आध्यात्मिक पक्ष की अवहेलना करके भौतिक पक्ष पर अधिक जोर देती है। इस शिक्षा में धार्मिक शिक्षा को कोई स्थान नहीं है। वैसे धार्मिक शिक्षा के सम्बन्ध में गांधीजी के विचार थे कि "बेसिक शिक्षा में धार्मिक शिक्षा को स्थान न देने का कारण यह है कि आजकल जिस ढंग से धर्म सिखाये जाते हैं उसमें एकता के स्थान पर परस्पर वैमनस्य बढ़ता है। परन्तु मेरा विचार है कि प्रमुख सिद्धान्त तो सभी धर्मों के समान ही होते हैं जो कि प्रत्येक बच्चे को सिखाये जाने चाहिए।"

बेसिक शिक्षा की कठिनाइयों को दूर करने के उपाय

बुनियादी शिक्षा एक नवीन शिक्षा पद्धति होने के कारण सम्पूर्ण देश में एक साथ लागू नहीं की जानी चाहिए थी। सरकार ने इस क्षेत्र में विवेकपूर्ण निश्चय नहीं किया। नवीन शिक्षा योजना होने से इसके लागू करने में अधिक धन व्यय होना स्वाभाविक ही था। इधर सरकार ने संविधान में १० वर्ष के अन्दर ही सम्पूर्ण देश में १४ वर्ष तक की आयु के बालकों की शिक्षा अनिवार्य और निःशुल्क बनाने का निश्चय किया। इस प्रकार सरकार के समक्ष दो कार्य हो गये। प्रथम तो परम्परागत प्राथमिक विद्यालयों को बुनियादी विद्यालय में बदलना तथा दूसरे अनिवार्य निःशुल्क अधिनियम को लागू करना। परिणामस्वरूप, इस कार्य पर अधिक धन व्यय होना निश्चित ही था। सरकार को पहले एक कार्य हाथ में लेना चाहिए था। अच्छा यह रहता कि सरकार अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा को निश्चित अवधि में लागू करने का प्रयास करती तथा इसके साथ ही प्रत्येक प्रान्त में कुछ निश्चित स्थानों पर बुनियादी विद्यालयों की स्थापना इनके स्थापित करने एवं अन्य कठिनाई को ज्ञात करने के लिए करती जिससे कि उन कठिनाइयों को दूर करने के लिए पहले से ही विचार कर लिया जाता। बाद में इस योजना को सम्पूर्ण देश में लागू किया जाता। ऐसा करने से एक समस्या यह भी नहीं होती कि बुनियादी विद्यालय के छात्र उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में प्रवेश नहीं प्राप्त कर पाते हैं।

१ पाठ्यक्रम में सुधार—बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम में सुधार इस प्रकार किया जाय जिससे कि शिक्षा का स्तर ऊँचा उठ सके तथा इस आलोचना को दूर किया जा सके कि परम्परागत शिक्षा के पाठ्यक्रम का स्तर ऊँचा है। भारत एक प्रजातन्त्रीय देश है। अतः बुनियादी शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य बालकों को लोकतन्त्रीय समाज की नागरिकता का पाठ सिखाना है। इसके लिए आवश्यक है कि पाठ्यक्रम ऐसे छात्रों को अवसर प्रदान करे कि वे अपनी समस्याओं, अधिकारों एवं उत्तरदायित्व को समझ सकें, इसके साथ ही छात्रों को उन दक्षताओं, ज्ञान और

अभिवृत्तियों के शिक्षण का अवसर भी पाठ्यक्रम को प्रदान करना चाहिए जो कि प्रजातन्त्रीय जीवन के लिए आवश्यक हैं। बुनियादी पाठ्यक्रम का निर्माण करने के लिए सर्वप्रथम उत्पादक, सामाजिक, शारीरिक, सांस्कृतिक एवं रचनात्मक क्रियाओं की सूची तैयार करनी चाहिए। डॉ० सलामतुल्लाखां ने पाठ्यक्रम की रचना के सम्बन्ध में लिखा है "कि उपर्युक्त क्रियाओं में से प्रत्येक क्रिया द्वारा क्या अनुभव सीखने योग्य प्रदान किये जायेंगे उनका अनुसंधान द्वारा पता लगाया जाय। ये ही अनुभव इस प्रकार विकसित किये जायें कि वे व्यक्तियों के जीवन की सामान्य आवश्यकताओं की सन्तुष्टि कर सके। अनुसंधान द्वारा इन आवश्यकताओं का भी पता लगाया जायगा। वे ही इन अनुभवों के क्षेत्र को निश्चित करेंगी जोकि नागरिकता का प्रशिक्षण देने के लिए आवश्यक है। बाद में छात्रों की परिपक्वता के अनुसार ही इन अनुभवों को पाठ्यक्रम में स्थान दिया।"[1] पाठ्यक्रम में उद्योग के समान ही अन्य विषयों को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाय।

२ अध्यापकों का प्रशिक्षण—बुनियादी शिक्षा की सफलता अधिकतर अध्यापकों पर निर्भर है। अतः अध्यापकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था पर ध्यान देना चाहिए। इसके सम्बन्ध में प्रथम बात यह है कि बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालयों में १०वीं कक्षा उत्तीर्ण छात्रों को प्रवेश दिया जाय क्योंकि अध्यापकों की सामान्य शिक्षा योग्यता पर ही अध्यापक के प्रशिक्षण का विकास निर्भर रहता है। इसके लिए एक सीमारेखा निश्चित करदी जाय कि उसके बाद कम योग्यता के व्यक्तियों को प्रवेश न दिया जाय। इसके साथ ही प्रशिक्षण-अवधि को भी बढ़ाने की आवश्यकता है। १०वीं उत्तीर्ण छात्रों के लिए प्रशिक्षण अवधि २ वर्ष की हो तथा मिडिल उत्तीर्ण के लिए तीन वर्ष की अवधि हो। इन प्रशिक्षण विद्यालयों में पाठ्यसहगामी कार्यक्रम में परिवर्तन किया जाय। शिक्षण की नवीन विधियों का ज्ञान छात्रों को करवाया जाय। प्रशिक्षण विद्यालयों में अध्यापक ऐसी शिक्षण विधि प्रयोग में लायें जिसमें कि छात्रों को सभी बातें स्पष्ट हो जायें। वे उनको समझते जायें। इन छात्रों के लिए पुस्तकों की रचना की जाय। अभी तक बुनियादी प्रशिक्षण के लिए साहित्य का अभाव है। सेवाकालीन प्रशिक्षण (Inservice training) की सुविधा भी होनी चाहिए। इसके द्वारा इन अध्यापकों को नवीन विधियों का ज्ञान कराया जा सकता है। इस प्रशिक्षण की अवधि दो या तीन माह की हो तथा इसमें अध्यापकों को सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ शिक्षण अभ्यास भी करवाया जाय।

मूल्यांकन समिति ने बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालय के लिए निम्न आवश्यक सिद्धान्तों का सुझाव दिया

(अ) बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालय को एक लोकतन्त्रीय सहकारिक संस्था होना चाहिए।

1. The Indian Year Book of Education, 1964, pp. 326-27.

(आ) बुनियादी प्रशिक्षण विद्यालयों में अध्यापकों को दस्तकारी में इतनी कुशलता करवा दी जाय कि आवश्यकता पड़ने पर वे अपनी जीविकोपार्जन भी कर सकें। उनको इतना दक्ष बनाया जाय कि आवश्यकता पड़ने पर वे अपने यन्त्रों की मरम्मत आदि कर सकें।

(इ) छात्राध्यापकों को शिक्षण कला में निपुण बनाया जाय ताकि वे उत्पादक कार्य द्वारा तथा जीवन की यथार्थ परिस्थितियों में छात्रों को रख कर शिक्षा दे सकें।

(ई) छात्राध्यापकों को सह-सम्बन्ध का ज्ञान करवाया जाय जिससे कि वे दस्तकारी या सामाजिक वातावरण के साथ सम्बन्ध स्थापित करके नवीन ज्ञान प्रदान कर सकें।

(उ) छात्राध्यापक समाज की आवश्यकताओं के प्रति सजग रहें और राष्ट्र निर्माण के लिए तत्पर रहें।

(ऊ) छात्राध्यापकों के समन्वित व्यक्तित्व के विकास के लिए प्रयास किये जायें और छात्रों का भी [illegible] व्यक्तित्व के विकास के साथ उनका बनाया जाय।

३. प्रशासकीय सुधार — बुनियादी शिक्षा योजना की असफलता का एक कारण प्रशासन अधिकारियों की बुनियादी शिक्षा के क्षेत्र में अज्ञानता है। प्रशासकीय सुधार के लिए आचार्य समिति ने निम्नलिखित सुझाव दिये हैं :

(अ) प्रत्येक प्रान्त में बुनियादी शिक्षा के लिए एक उच्च अधिकारी हो जिसको अतिरिक्त शिक्षा संचालक का पद दिया जाय। इस व्यक्ति को बुनियादी शिक्षा का उत्तम ज्ञान होना चाहिए।

(आ) इस अधिकारी के अधिकार में प्रारंभिक विद्यालयों को बुनियादी विद्यालयों में परिवर्तन सम्बन्धी कार्य किया जाय। [illegible] प्रारंभिक शिक्षा के सम्पूर्ण क्षेत्र पर इसका नियंत्रण होना चाहिए। इसके द्वारा [illegible] सरकार के सम्मुख [illegible] चाहिए।

(इ) सरकार द्वारा बुनियादी शिक्षा के लिए दी गई धनराशि को व्यय करने का पूर्ण अधिकार इस उच्च अधिकारी को होना चाहिए।

(ई) प्रशासकीय अधिकारियों को बुनियादी शिक्षा का [illegible] होना चाहिए। [illegible] बुनियादी विद्यालयों का [illegible] है। [illegible]

जिनके द्वारा समाज के विभिन्न सगठन जैसे पचायत, भारत सेवक समाज, भारत स्काउट्स आदि विद्यालय के कार्यक्रमो में सहयोग प्रदान कर सके। निरीक्षको को अध्यापको के समक्ष विभिन्न नवीन शिक्षण विधियो का प्रदर्शन देना चाहिए। छोटे विद्यालयो मे निरीक्षको को सभी अध्यापको के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करना चाहिए। परन्तु बडे विद्यालयों में उनको सामूहिक विधियों का प्रयोग करना चाहिए। उनको विचार गोष्ठी, सम्मेलन, शैक्षिक भ्रमण आदि सगठित करने चाहिए।

४. **अनुसन्धान**—जाकिर हुसैन समिति ने अपने प्रतिवेदन में एक सिफारिश यह की थी कि प्रत्येक प्रान्त मे अनुसन्धान केन्द्र की स्थापना की जाय। बुनियादी शिक्षा एक नवीन योजना होने से अनेक समस्याओं एव कठिनाइयों का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। बुनियादी शिक्षा के निम्नलिखित क्षेत्रो मे अनुसधान की आवश्यकता अधिक है

(i) शिक्षण विधि—बुनियादी शिक्षा मे सह-सम्बन्ध के सिद्धान्त को अध्यापको को स्पष्ट करना अति आवश्यक है। अनुसन्धान द्वारा यह विधि स्पष्ट की जानी चाहिए, (ii) पाठयक्रम, (iii) मूल्याकन, (iv) दस्तकारी, (v) अध्यापक शिक्षण आदि अन्य क्षेत्र हैं जिनमें अनुसधान की आवश्यकता है।

५. **बुनियादी शिक्षा का प्रचार एवं प्रसार**—यह एक नवीन योजना होने से भारतवासी इसके प्रति सशकित रहे। उन्होंने इसको सफल बनाने में उदारता प्रदर्शित नहीं की। इसका कारण यह भी है कि उनको इस योजना का स्वरूप ही स्पष्ट नहीं था। किसी नवीन योजना को सफल बनाने मे जनमत को अनुकूल बनाने के लिए प्रथम प्रयास होना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि शिक्षालयो के कार्यक्रमों का विस्तार समाज तक किया जाय। इसमें हमारा तात्पर्य है कि विद्यालय के कार्यक्रमों मे जनता भाग ले व जनता के कार्यक्रमो मे विद्यालय का प्रवेश हो। बुनियादी शिक्षा की उपयोगिता स्पष्ट करने के लिए प्रदर्शनी, शिक्षा मेले, उत्सवो एवं सास्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन करना चाहिए। अध्यापक जनमत तैयार करने में अधिक सहयोग दे सकते हैं। अध्यापक-अभिभावक सघ स्थापित करने चाहिए। अभिभावक दिवस का आयोजन प्रत्येक विद्यालय में किया जाय जहाँ पर अभिभावकों को बुनियादी विद्यालयों के कार्यक्रम में अवगत कराया जा सके।

६. **उद्योग या दस्तकारी**—बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम मे हस्तकला को प्रमुख स्थान प्राप्त है। किसी हस्तकला का चुनाव करने के लिए उसमें दो बातो का होना आवश्यक है.

(अ) शिक्षा की दृष्टि से हस्तकला उपयोगी होनी चाहिए।

(आ) दूसरे, हस्तकला बालक के सामाजिक वातावरण से सम्बन्धित होनी चाहिए। यह बिन्दु स्पष्ट करता है कि ग्रामीण और नागरिक क्षेत्र की दस्तकारी भिन्न होनी चाहिए।

अब एक प्रश्न यह उठता है कि किस कक्षा मे दस्तकारी को प्रारम्भ किया जाय। विद्वानों का मत है कि निम्न स्तर पर छात्रों द्वारा कच्चे माल का अपव्यय अधिक होता है। वे अधिक परिपक्व न होने से कच्चा माल अधिक बिगाड़ते हैं और उतना होने पर भी किसी उपयोगी तथा बिक्री के योग्य वस्तु का निर्माण नहीं कर पाते है। अत लोगों का सुझाव यह है कि उत्तर-बुनियादी स्तर से ही दस्तकारी को प्रारम्भ किया जाय। राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् को एक उपसमिति ने सुझाव दिया कि प्रथम दो कक्षाओं मे सफाई, बागवानी आदि से सम्बन्धित क्रियाएँ ही छात्रों से करवाई जायें। धीरे-धीरे इन क्रियाओं के करने से छात्रों मे हस्तकार्य करने की कुशलता बढ़ेगी। इस सुझाव के अनुसार बुनियादी शिक्षा के पाठ्यक्रम मे सुधार की आवश्यकता है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१ बुनियादी शिक्षा के मूलभूत सिद्धान्तो का विवेचन कीजिए। इन सिद्धान्तो को कहाँ तक काम मे लाया जा सकता है ?
२ बुनियादी शिक्षा के विभिन्न आधारो का विस्तृत वर्णन कीजिए।
३ बेसिक शिक्षा के प्रसार मे प्रमुख क्या कठिनाइयाँ आई हैं ? केन्द्रीय तथा राजस्थान सरकार ने उनको दूर करने के क्या उपाय किये है ?
४ "बुनियादी शिक्षा भारतीय समाज मे सामाजिक, आर्थिक एव मनोवैज्ञानिक ढाँचे मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उपस्थित करेगी।" आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं ?
५. "बुनियादी शिक्षा मे कोई नवीनता नही है, यह तो विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओ का ही समन्वित रूप है।" इस कथन पर अपने विचार युक्तिसगत ढग से प्रकट कीजिए।
६ बुनियादी शिक्षा योजना की असफलता के बारे में अपने विचार प्रकट कीजिए।

राजस्थान विश्वविद्यालय की बी० एड० परीक्षा मे पूछे गये प्रश्न

1. What is the ideology behind Basic Education ? How far, in your opinion, can Basic Education fufil the objectives of a national System of Education ? (1961)
२ बुनियादी शिक्षा के प्रसार मे कौन-कौनसी विशेष कठिनाइयाँ रही है ? इन कठिनाइयो को दूर करने के लिए केन्द्रीय सरकार तथा राजस्थान सरकार ने क्या प्रयत्न किये है ?

अध्याय ५

माध्यमिक शिक्षा का संक्षिप्त इतिहास

भारत की शिक्षा व्यवस्था मे माध्यमिक शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस का महत्त्व दो दृष्टियो से है—(१) प्रथम तो माध्यमिक शिक्षा प्राथमिक और उच्च शिक्षा के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने वाली एक कडी है। (२) दूसरे, माध्यमिक शिक्षा स्वयं मे एक पूर्ण शिक्षा है जिसको प्राप्त करके छात्र मे आत्मनिर्भरता का विकास होता है। *शिक्षा की इस महत्त्वपूर्ण कडी का विकास अग्रेजो के आगमन के बाद* हुआ। प्राचीन भारत मे प्राथमिक विद्यालय या फिर उच्च विद्यालय हुआ करते थे। ईसाई मिशनरियो के आगमन के बाद भारतीय शिक्षा व्यवस्था मे परिवर्तन आरम्भ हुए। इन मिशनरियो का प्रमुख उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार करना था। सन् १८१३ के आज्ञा-पत्र ने भी उन्हें देश मे धर्म प्रचार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करदी थी। इन मिशनरियो ने भारत मे सर्वप्रथम कक्षा व्यवस्था प्रारम्भ की थी। इनके समय मे *भी वर्तमान माध्यमिक शिक्षा जैसा स्वरूप नही था। उस समय* कुछ माध्यमिक शालाओ को स्कूल तो कुछ को विश्वविद्यालय के नाम से पुकारते थे। बगाल, मद्रास और बम्बई प्रान्त मे मिशनरियो द्वारा विद्यालयो की स्थापना प्रमुख रूप से की गई। इन विद्यालयो मे शिक्षा का माध्यम अग्रेजी भाषा थी। सन् १८५४ के बाद धीरे-धीरे सरकार द्वारा भी माध्यमिक स्कूलो की स्थापना की गई। परिणामत मिशनरी स्कूलो की सख्या एव महत्त्व कम होने लगा।

सन् १८५४ से १८८२ तक

वुड के शिक्षा घोषणा-पत्र के आदेशानुसार इस युग मे माध्यमिक शिक्षा ने पर्याप्त उन्नति की। इस युग मे सरकार द्वारा अनेक माध्यमिक विद्यालयो की स्थापना की गई। इसके साथ-साथ सरकार द्वारा व्यक्तिगत प्रयासो को अनुदान सहायता द्वारा नवीन विद्यालय खोलने के लिए प्रोत्साहित किया गया। सन् १८५४ मे माध्यमिक

विद्यालयों की संख्या १६६ से बढ़कर सन् १८८२ में १,६६३ तक पहुँच गई। सन् १८८२ तक भारतीयों द्वारा स्थापित विद्यालयों की संख्या १३४१ तक पहुँच गई थी। उस समय चल रहे माध्यमिक विद्यालयों में अनेक दोष थे जो निम्नलिखित है :

(i) प्रशिक्षित अध्यापकों का अभाव था, (ii) औद्योगिक शिक्षा का अभाव था, (iii) मातृभाषाओं की उपेक्षा तथा अंग्रेजी का जोर था, (iv) निरीक्षकों की संख्या कम थी, (v) धनाभाव के कारण विद्यालय सर्वसाधन सज्जित नहीं थे, (vi) जीवन की दृष्टि से शिक्षा उद्देश्यहीन थी, (vii) परीक्षा का प्रभाव बढ़ने लगा।

सन् १८८२ का भारतीय शिक्षा आयोग

इस आयोग के प्रधान सर विलियम हन्टर थे। इस आयोग के सदस्यों ने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण करके शिक्षा सम्बन्धी असली समस्याओं को जानने का प्रयत्न किया तथा १ वर्ष परिश्रम करने के बाद भारत सरकार को अपना प्रतिवेदन दिया। इस आयोग ने माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम के विषय में अधिक उपयोगी सुझाव दिया जोकि इस प्रकार था माध्यमिक शिक्षा में दो प्रकार का पाठ्यक्रम हो

(अ) यह पाठ्यक्रम साहित्यिक विषयों के अध्ययन पर अधिक जोर देता हो, इसका प्रमुख उद्देश्य छात्रों को विश्वविद्यालय के लिए तैयार करना होना चाहिए।

(आ) यह औद्योगिक पाठ्यक्रम हो, जिसमें व्यापारिक और व्यावसायिक विषयों का सम्मिलित किया जाय।

इस आयोग ने एक सुझाव यह भी दिया कि माध्यमिक विद्यालयों को जनता के हाथों में सौंप देना चाहिए। सरकार को राजकीय विद्यालय स्थापित नहीं करने चाहिए। सरकार को सहायता अनुदान प्रणाली का अनुसरण करना चाहिए। परन्तु जिन स्थानों की जनता धनाभाव के कारण विद्यालय स्थापित न कर सके तो ऐसे स्थानों पर सरकार विद्यालयों का निर्माण कर सकती है।

सन् १८८२ से सन् १९०२ तक माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में अधिक विस्तार हुआ। आयोग के सुझाव के विपरीत सरकार माध्यमिक शिक्षा के प्रसार में व्यस्त रही। इस प्रसार को हम निम्नलिखित आंकड़ों से समझ सकते है

सन्	माध्यमिक विद्यालय
१८८२	३,९१६
१९०२	५,१२४

सन्	माध्यमिक विद्यालयों में छात्रों की संख्या
१८८२	२,१४,०७७
१९०२	[illegible]

आयोग के पाठ्यक्रम सम्बन्धी सुझाव को स्वीकार तो किया गया परन्तु औद्योगिक एवं व्यावसायिक विषय लोकप्रिय नहीं बन सके। छात्र अधिकतर 'अ' कोर्स का ही अध्ययन करते थे। इस काल में माध्यमिक शिक्षा के विकास के स्तर को ऊँचा

उठाने के लिए प्रशिक्षण महाविद्यालयों की स्थापना हो गई। सन् १८८२ में भारत में केवल दो प्रशिक्षण महाविद्यालय थे परन्तु १६०२ में इनकी संख्या बढ़ कर ६ हो गई। माध्यमिक विद्यालयों में अंग्रेजी ही शिक्षा का माध्यम रही। इस प्रकार अंग्रेजी का आधिपत्य स्थापित हो जाने से भारतीय भाषाओं का विकास अवरुद्ध हो गया।

लार्ड कर्जन और माध्यमिक शिक्षा

राष्ट्रीय जागरण के समय सन् १८६६ में लार्ड कर्जन भारत का गवर्नर-जनरल होकर आया। वह एक कुशल प्रशासक तथा पाश्चात्य सभ्यता का महान् पुजारी था। उसने भारत की शिक्षा में भी रुचि ली। उसका विचार था कि भारतीय शासन को पुनर्संगठित करने के लिए शिक्षा में सुधार किया जाना अति आवश्यक है। इसी हेतु उसने सन् १६०१ में शिमला में एक गुप्त शिक्षा सम्मेलन आयोजित किया। यह सम्मेलन १५ दिन तक चला। सन् १६०२ में लार्ड कर्जन ने विश्वविद्यालय आयोग की नियुक्ति की। सरकार ने इस आयोग की सिफारिशों के आधार पर ही सन् १६०४ में भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम का निर्माण किया।

सन् १६०४ का शिक्षा-नीति सम्बन्धी सरकारी प्रस्ताव

११ मार्च सन् १६०४ को लार्ड कर्जन ने अपनी शिक्षा-नीति को सरकारी प्रस्ताव के रूप में प्रकाशित किया। लार्ड कर्जन ने माध्यमिक शिक्षा के सुधार हेतु भी अनेक कार्य किये क्योंकि भारतीय शिक्षा आयोग की सिफारिशों के आधार पर देश में माध्यमिक विद्यालय भारतीयों द्वारा संचालित होते थे। धनाभाव के कारण इन विद्यालयों की दशा सन्तोषजनक नहीं थी। शिक्षा का स्तर गिरता जा रहा था। माध्यमिक शिक्षा में सुधार लाने के लिए लार्ड कर्जन के सुझाव निम्नलिखित थे

(१) शिक्षा विभाग द्वारा मान्यता प्रदान करना—भारतीय शिक्षा आयोग की सिफारिश के आधार पर सहायता प्राप्त विद्यालय ही शिक्षा विभाग के नियन्त्रण में रहते थे। परन्तु गैर-सहायता प्राप्त विद्यालय अपनी इच्छानुसार कार्य करते थे। परिणामतः इन विद्यालयों में अनेक दोष उत्पन्न हो गये। इन दोषों को दूर करने के लिए ऐसे नियम बनाये गये जिससे सहायता प्राप्त तथा गैर-सहायता प्राप्त विद्यालय शिक्षा विभाग के नियन्त्रण में रहें। सन् १६०४ के प्रस्ताव में कुछ शर्तें शिक्षा-विभाग से मान्यता प्राप्त करने के लिए निर्धारित करदी गई। ये शर्तें निम्नलिखित थी

१. विद्यालय की स्थापना उस स्थान पर की जाय जहाँ उसकी माँग अधिक हो।
२. विद्यालय की समिति का गठन उचित प्रकार से हो।
३. पर्याप्त संख्या में अध्यापक हों और वे शिक्षण कार्य में रुचि लेते हों।
४. विद्यालय में आवश्यक विषयों के अध्यापन की उचित व्यवस्था हो।
५. विद्यालय शुल्क दर इतनी हो कि पड़ोस के विद्यालय पर बुरा प्रभाव न पड़े।

५ विद्यार्थियों के स्वास्थ्य, मनोरंजन और अनुशासन की उचित व्यवस्था हो।

(७) विश्वविद्यालयों द्वारा मान्यता—सन् १९०४ से पूर्व विश्वविद्यालय की मैट्रिकुलेशन परीक्षा में उन विद्यालयों के छात्र भी बैठ सकते थे जिनको मान्यता प्राप्त नहीं होती थी। परन्तु सन् १९०४ में समस्त माध्यमिक विद्यालयों के लिए आवश्यक हो गया कि वे अपने विषय के विश्वविद्यालयों से मान्यता प्राप्त करें। इस प्रकार माध्यमिक विद्यालयों पर शिक्षा विभाग और विश्वविद्यालय का नियंत्रण हो गया।

(८) गैर मान्यता प्राप्त विद्यालयों के छात्रों के प्रवेश पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। जो छात्र गैर मान्यता प्राप्त मिडिल स्कूल से उत्तीर्ण होकर माध्यमिक कक्षा में प्रवेश लेना चाहें उनको प्रवेश नहीं दिया जायगा। इसका परिणाम यह हुआ कि मिडिल स्कूल भी सरकार से मान्यता प्राप्त करने लगे।

(९) माध्यमिक विद्यालयों की गुणात्मक उन्नति—लार्ड कर्जन ने माध्यमिक विद्यालयों के गुणात्मक विकास के लिए निम्नलिखित आदेश दिए

१ माध्यमिक विद्यालयों में प्रशिक्षित अध्यापक रखे जावें।
२ माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम में व्यावसायिक विषयों को सम्मिलित किया जाय।
३ मिडिल स्कूल की कक्षाओं में शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाएँ हों।
४ प्रत्येक जिले में आदर्श राजकीय विद्यालय की स्थापना की जाय जिसे गैर-राजकीय विद्यालय उनको अपना आदर्श मानें।
५ गैर-राजकीय विद्यालयों को शिक्षण-सुधार के लिए अधिक सहायता अनुदान दिया जाय।
६ निरीक्षण के लिए निरीक्षकों की संख्या में वृद्धि की जाय।

सन् १९१३ का शिक्षा-नीति सम्बन्धी सरकारी प्रस्ताव—२१ फरवरी सन् १९१३ को सरकार ने शिक्षा-नीति सम्बन्धी अपना प्रस्ताव पास किया। इस प्रस्ताव के अन्तर्गत माध्यमिक शिक्षा के विकास के लिए निम्नलिखित सिफारिशें की गईं

१ माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र से सरकार को पूर्ण रूप से नहीं हटना चाहिए।
२ राजकीय विद्यालयों की संख्या में वृद्धि न की जाय।
३ अध्यापकों का वेतन निश्चित कर दिया जाय।
४ परीक्षा प्रणाली तथा पाठ्यक्रम में सुधार किया जाय।
५ माध्यमिक विद्यालयों में प्रशिक्षित स्नातक ही अध्यापक नियुक्त किये जावें।
६ गैर-राजकीय विद्यालयों को पर्याप्त सरकारी सहायता अनुदान दिया जाय।

७. राजकीय विद्यालयों में छात्रों के लिए छात्रावास की सुविधा का प्रबन्ध किया जाय।
८. पाठ्यक्रम में विज्ञान तथा मैनुअल प्रशिक्षण जैसे आधुनिक विषयों को स्थान दिया जाय।
९. छात्रों के स्वास्थ्य परीक्षण की व्यवस्था की जाय।
१० माध्यमिक विद्यालयों की कार्यक्षमता में वृद्धि करने के लिए उन पर कठोर नियन्त्रण रखा जाय।

कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग (१९१७)

१४ सितम्बर, १९१७ को इस आयोग की नियुक्ति की गई। इस आयोग के अध्यक्ष लीड्स विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० माइकेल सैडलर बनाये गये। इसीलिए अध्यक्ष के नाम पर इसको सैडलर आयोग के नाम से भी पुकारते है। इस आयोग ने मार्च १९१९ में अपना प्रतिवेदन सरकार को दिया। विश्वविद्यालय आयोग होते हुए भी इसने माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में भी सुझाव दिये। आयोग ने सर्वप्रथम देश के शिक्षा अधिकारियों का ध्यान माध्यमिक शिक्षा के दोषो की ओर आकर्षित किया।

१. माध्यमिक विद्यालयों का वेतन कम होने से योग्य व्यक्ति इस व्यवसाय की ओर आकर्षित नहीं हो पाते हैं। इसीलिए शिक्षा का स्तर गिरता जा रहा है।
२. विद्यालयों में महत्त्वपूर्ण विषयों की अवहेलना की जाती है।
३. माध्यमिक शिक्षा में विस्तार के अनुसार ही गुणात्मक उन्नति नहीं हुई है।
४ माध्यमिक विद्यालयों में अध्यापन सामग्री का अभाव रहता है।
५. माध्यमिक विद्यालयों पर परीक्षाओं का भय छाया रहता है।
६. धन की कमी के कारण अधिकांश माध्यमिक विद्यालयों की कार्य-क्षमता न्यून रहती है।

आयोग ने माध्यमिक शिक्षा के पुनर्संङ्गठन के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये

१. बी० ए० के कोर्स की अवधि ३ वर्ष की कर दी जाय।
२. इन्टरमीडिएट कक्षाओं को विश्वविद्यालय से पृथक् कर दिया जाय।
३. इन्टर की परीक्षा उत्तीर्ण करने पर ही छात्र को विश्वविद्यालय में प्रवेश दिया जाय।

४. इन्टर की कक्षाओं में नवीन विषय, जैसे चिकित्सा, वाणिज्य, शिक्षा शास्त्र, कृषि और कला आदि की शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था की जाय।

५ प्रत्येक प्रान्त में माध्यमिक शिक्षा परिषद् की स्थापना की जाय।

सन् १९०५ से १९२१ तक माध्यमिक शिक्षा की प्रगति

राजकीय नियंत्रण अधिक कड़ा होने पर भी माध्यमिक विद्यालयों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई। इसका प्रमुख कारण अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों के लिए सरकारी नौकरी का मिलना था। अधिक संख्या में भारतीय बच्चे विद्यालयों में प्रविष्ट हुए और तदनुसार विद्यालयों की संख्या में वृद्धि हुई। यह वृद्धि निम्नलिखित आंकड़ों में स्पष्ट है

१९०५	५,१२४	माध्यमिक विद्यालय।
	५,९०,१२९	छात्रों की संख्या।
१९२१	७,५३०	माध्यमिक विद्यालय।
	११,०६,८०३	छात्रों की संख्या।

इसी प्रकार भारतीय शिक्षा आयोग की सिफारिश के आधार पर माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में व्यावसायिक एवं औद्योगिक विषयों को स्थान दिया गया। एक नवीन परीक्षा जिसका नाम 'स्कूल लीविंग सार्टिफिकेट' रखा गया, प्रारम्भ की गई। १९१०–११ में सम्पूर्ण भारत में मैट्रीकुलेशन परीक्षा में १६,९९२ और सार्टीफिकेट परीक्षा में १०,१९१ छात्र बैठे थे। इससे सार्टीफिकेट परीक्षा की लोकप्रियता स्पष्ट होती है।

इस काल में भी अंग्रेजी ही शिक्षा का माध्यम बनी रही। परिणामस्वरूप भारतीय भाषा में विकसित न हो सकी। मिडिल स्कूल की कक्षाओं में शिक्षा का माध्यम मातृभाषा थी।

अध्यापकों के प्रशिक्षण की ओर भी ध्यान दिया गया। १९१२ तक १५ प्रशिक्षण महाविद्यालय स्थापित हो चुके थे।

द्वैध शासन में माध्यमिक शिक्षा की प्रगति (१९२२–१९३७)

माटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट के आधार पर सन् १९२१ में द्वैध शासन की स्थापना की गई। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रान्तों के विषयों को दो भागों में विभाजित किया गया (क) संरक्षित, (ख) हस्तान्तरित। शिक्षा को हस्तान्तरित विषय बनाया गया। परिणामस्वरूप, शिक्षा का उत्तरदायित्व भारतीय मन्त्रियों के हाथ में आ गया। परन्तु अनेक कठिनाइयों के कारण भारतीय मन्त्री शिक्षा के क्षेत्र में इच्छानुसार कार्य न कर सके। इसका विरोध होने में सन् १९२७ में साइमन आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग की एक उपसमिति भारतीय शिक्षा की जाँच करने के लिए नियुक्त की गई। इस

उपसमिति के अध्यक्ष सर फिलिप हर्टाग थे। इन्होने १९२९ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र मे हर्टाग समिति ने निम्नलिखित दोष बताये

१. मैट्रीकुलेशन परीक्षा को प्रधानता।
२. अनुत्तीर्ण छात्रों की विशाल संख्या।

हर्टाग समिति ने सर्वेक्षण के बाद बताया कि अभी तक विद्यार्थियो के मस्तिष्क मे यही विचार रहता है कि माध्यमिक शिक्षा तो छात्रो को विश्वविद्यालय के लिए तैयार करती है। यह जीवन के लिए तैयारी की शिक्षा प्रदान नही करती है। दूसरी बात जिसकी ओर इस आयोग ने संकेत किया, वह परीक्षाओ का आतंक है। छात्र परीक्षा में उत्तीर्ण होना ही अपना ध्येय मानते हैं। इसी प्रकार दूसरा दोष अधिक संख्या मे छात्रो का अनुत्तीर्ण होना है। इसका कारण पाठ्यक्रम का संकुचित होना है। छात्र अपनी रुचि एवं योग्यता के आधार पर विषय का चयन नही कर पाते हैं। पाठ्यक्रम मे औद्योगिक एवं व्यावसायिक विषय सम्मिलित नही किये गये। अनुत्तीर्ण होने वाले छात्रो में धन एवं शक्ति का अपव्यय होता है। इन दोषो को दूर करने के लिए इस समिति ने माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र मे निम्नलिखित सुझाव दिये

१. माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम को औद्योगिक एवं व्यावसायिक विषय सम्मिलित करके विस्तृत किया जाय।
२ मिडिल स्कूल के पाठ्यक्रम मे ऐसे विषय सम्मिलित किये जायँ जो छात्रो को धनोपार्जन के योग्य बना सकें।
३ शिक्षा की गुणात्मक उन्नति के लिए अध्यापको के वेतन एवं सेवा-प्रतिबन्धो मे सुधार किया जाय।
४. शिक्षको के लिए प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था की जाय।
५. प्रशिक्षण महाविद्यालयों की दशा मे भी सुधार किया जाय, उनमें अभिनवन पाठ्यक्रम (Refresher Course) की व्यवस्था की जाय।
६ गैर-राजकीय विद्यालयो मे अध्यापको को अस्थायी नियुक्ति दी जाती है। इस प्रकार प्रबन्धक समिति ग्रीष्मावकाश का वेतन बचा लेती है। अध्यापक को अपने पद की सुरक्षा प्रदान करने के लिए उनसे संविदा (Agreement) भरवाना चाहिए।
७. माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम मे ऐसे वैकल्पिक [illegible] न दिया जाय जिससे छात्र अपनी रुचि के [illegible] सकें।

सन् १९२१ से १९३७ के मध्य माध्यमिक शिक्षा की प्रगति निम्नलिखित आँकड़ों से स्पष्ट है

	सन् १९२१	सन् १९३७
१ मान्यता प्राप्त माध्यमिक विद्यालयों की संख्या	७,५३०	१३,०५६
२ माध्यमिक विद्यालयों में छात्रों की संख्या	११,०६,८०३	२२,८७,८७२

माध्यमिक शिक्षा (१९३७-१९४७)

इस काल में द्वितीय विश्वयुद्ध होने से माध्यमिक शिक्षा की तीव्र प्रगति नहीं हो सकी। इस काल की प्रगति निम्नलिखित आँकड़ों से स्पष्ट है

	सन् १९३७	सन् १९४७
१ माध्यमिक विद्यालयों की संख्या	१३,०५६	११,९०७
२ माध्यमिक विद्यालयों में छात्रों की संख्या	२२,८७,८७२	२६,८१,९८१

सन् १९४७ में माध्यमिक विद्यालयों की संख्या में कमी होने का कारण यह है कि कुछ माध्यमिक विद्यालय विभाजन के कारण पाकिस्तान में चले गये। इस काल में मन्द गति के निम्नलिखित कारण है

१ विश्वयुद्ध के कारण यह आर्थिक संकट का काल था। अत सरकार ने बहुत से विद्यालयों की अनुदान सहायता में कमी करदी।

२ युद्ध के कारण महँगाई बढ़ गई। मध्यम वर्ग के व्यक्तियों के लिए अपने बच्चों को पढ़ाना असम्भव हो गया।

इस काल की माध्यमिक शिक्षा में निम्नलिखित दोष थे :

१. शिक्षा का स्तर गिरता गया। इसका कारण अप्रशिक्षित अध्यापकों का अध्यापन व्यवसाय में प्रवेश था।

२. यह महँगाई का समय था, परन्तु अध्यापकों के वेतन में कोई वृद्धि नहीं की गई। परिणामस्वरूप, उनमें असन्तोष फैल गया।

३ माध्यमिक परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने वाले छात्रों के लिए कोई उपाय नहीं किये गये।

४. योग्य अध्यापकों के अभाव के कारण छात्रों में अनुशासनहीनता फैल गई।

सार्जेंट योजना, १९४४

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर सरकार ने शिक्षा के लिए युद्धोत्तर विकास की योजना बनाई। इस कार्य के लिए तत्कालीन भारतीय शिक्षा सलाहकार सर जॉन सार्जेंट की नियुक्ति की। सार्जेंट ने सन् १९४४ में अपना प्रतिवेदन 'केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद्' के समक्ष प्रस्तुत किया। इस योजना को तीन नामों से पुकारा जाता है—(अ) भारत में युद्धोत्तर शिक्षा विकास योजना, (आ) सार्जेंट योजना, (इ) केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् का प्रतिवेदन। यह एक महत्त्वपूर्ण योजना है जिसमें पूर्व प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालय तक की समस्याओं, उनके संगठन एवं उन समस्याओं के निवारण के उपाय भी बताये गये हैं। माध्यमिक शिक्षा के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये गये हैं

१ हाईस्कूल की शिक्षा ११ से १७ वर्ष की आयु के बालकों के लिए हो। ११ वर्ष से कम आयु के बालकों को इन स्कूलों में प्रवेश नहीं मिलेगा।

२ इन विद्यालयों में योग्य एवं प्रतिभाशाली छात्रों को ही प्रवेश दिया जाय।

३ पचास प्रतिशत छात्रों को नि:शुल्क शिक्षा दी जाय। निर्धन छात्रों को छात्रवृत्ति दी जाय।

४ हाईस्कूलों में शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होगी। अंग्रेजी की शिक्षा द्वितीय अनिवार्य विषय के रूप में प्रदान की जायगी।

५ हाईस्कूल दो प्रकार के होंगे—साहित्यिक तथा प्राविधिक।

६ साहित्यक हाईस्कूलों में—(i) मातृभाषा, (ii) अंग्रेजी, (iii) आधुनिक भाषाएँ, (iv) भारत और विश्व का इतिहास, (v) भारत एवं विश्व का भूगोल, (vi) गणित, (vii) विज्ञान, (viii) अर्थशास्त्र, (ix) कृषि, (x) कला, (xi) शारीरिक शिक्षा विषय होंगे। इनके अतिरिक्त प्राच्य भाषाओं और नागरिक शास्त्र के विषय भी होंगे।

७ प्राविधिक हाईस्कूलों में—(i) काष्ठकला, (ii) धातुकला, (iii) ड्राइंग, (iv) वाणिज्य, (v) बुक-कीपिंग, (vi) शार्टहैण्ड, (vii) टाइप-राइटिंग, (viii) व्यापार प्रणाली आदि विषय पढ़ाये जायेंगे।

८. बालिकाओं को गृह-विज्ञान की शिक्षा प्रदान की जायेगी।

९. इस योजना के अनुसार अध्यापकों को केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् द्वारा स्वीकृत वेतन दिया जायेगा।

१०. नये प्रशिक्षण महाविद्यालयों की स्थापना की जायेगी।

स्वातन्त्र्योत्तर काल—इस काल मे एक समिति और तीन प्रसिद्ध आयोगों ने माध्यमिक शिक्षा पर अपने विचार प्रकट किये। ये आयोग एव समितियाँ निम्न हैं :

१. ताराचन्द समिति—सन् १६४८ मे ताराचन्द जी की अध्यक्षता मे शिक्षा के क्षेत्र मे सुझाव देने के लिए एक समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने सुझाव दिया कि प्राथमिक एव माध्यमिक शिक्षा का अवधिकाल १२ वर्ष का हो। इस १२ वर्ष की अवधि का विभाजन इस प्रकार हो—५ वर्ष जूनियर बेसिक, ३ वर्ष सीनियर बेसिक तथा ४ वर्ष उच्चतर माध्यमिक। उच्चतर माध्यमिक स्कूल बहुउद्देशीय बनाने का सुझाव दिया। इस समिति का एक महत्वपूर्ण सुझाव माध्यमिक शिक्षा की जाँच करने के लिए आयोग की नियुक्ति के सम्बन्ध मे था।

२. विश्वविद्यालय आयोग—सन् १६४८ मे विश्वविद्यालय शिक्षा की जाँच करने के लिए डा० राधाकृष्णन् की अध्यक्षता मे एक आयोग की नियुक्ति की गई। इस आयोग ने सन् १६४६ मे सर्वेक्षण करने के बाद अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इस आयोग का प्रधान कार्यक्षेत्र विश्वविद्यालय की शिक्षा तक सीमित था, परन्तु आयोग ने माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण सुझाव दिया। प्रथम सुझाव था कि बिना इण्टरमीडिएट उत्तीर्ण किये किसी भी छात्र को विश्वविद्यालय मे प्रवेश न दिया जाय। दूसरा सुझाव दिया कि विश्वविद्यालय शिक्षा के स्तर को सुधारने के लिए माध्यमिक शिक्षा के स्तर को सुधारा जाय।

३. माध्यमिक शिक्षा आयोग—केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् और ताराचन्द समिति के सुझाव पर केन्द्रीय सरकार ने २३ सितम्बर, १६५२ मे माध्यमिक शिक्षा आयोग की नियुक्ति की। इसके अध्यक्ष मद्रास विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० लक्ष्मन स्वामी मुदालियर थे। इस आयोग के सुझावो का विस्तृत अध्ययन अगले अध्याय मे किया जायेगा।

४. कोठारी आयोग—विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष श्री कोठारी जी की अध्यक्षता मे भारत सरकार ने एक विशिष्ट प्रकार के आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग ने प्राथमिक, माध्यमिक एव विश्वविद्यालय तीनों शिक्षा-स्तरों का अध्ययन करने के बाद अपने सुझाव दिये।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. हन्टर आयोग ने माध्यमिक शिक्षा के सुधार के लिए क्या सुझाव दिये थे ?
२ लार्ड कर्जन का भारतीय शिक्षा के विकास मे योगदान का मूल्याकन कीजिए।
३ पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत माध्यमिक शिक्षा की प्रगति का वर्णन कीजिए।
४ राजस्थान मे माध्यमिक शिक्षा के प्रसार के लिए किये गये प्रयत्नों का वर्णन कीजिए।

अध्याय ६

माध्यमिक शिक्षा आयोग

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश मे तीव्र गति के साथ सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्र मे परिवर्तन प्रारम्भ हुए। इन परिवर्तनो के साथ शिक्षा का सामजस्य बनाये रखने के लिए माध्यमिक शिक्षा के पुनर्निर्माण की आवश्यकता अनुभव की गई। सन् १९४८ में सर्वप्रथम 'केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद्' ने सरकार को माध्यमिक शिक्षा की जॉच करने के लिए एक आयोग की नियुक्ति करने का सुझाव दिया। सन् १९५१ मे इस परिषद् ने अपनी माँग को पुन दुहराया। परिणामस्वरूप, सरकार ने २३ सितम्बर, १९५२ को माध्यमिक शिक्षा आयोग की नियुक्ति की। इसको मुदालियर आयोग के नाम से भी पुकारते हैं क्योंकि इसके अध्यक्ष डाक्टर ए० लक्ष्मण स्वामी मुदालियर थे। इनके अतिरिक्त आयोग के प्रमुख सदस्यो मे प्रधानाचार्य जॉन क्रिस्टी, श्रीमती हंसामेहता, के० जी० सैयदन तथा प्रधानाचार्य ए० एन० बसु थे।

आयोग की नियुक्ति के उद्देश्य

माध्यमिक शिक्षा आयोग की नियुक्ति निम्नलिखित उद्देश्यो से की गई

१ भारत मे वर्तमान माध्यमिक शिक्षा की दशा का प्रत्येक दृष्टिकोण से अध्ययन करना।

२ माध्यमिक शिक्षा के पुनर्संङ्गठन एवं सुधार के लिए सुझाव देना
   (अ) माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य, विषय-वस्तु और उसका सगठन।
   (आ) माध्यमिक शिक्षा का प्राथमिक, बुनियादी व उच्च शिक्षा के साथ सम्बन्ध निश्चित करना।
   (इ) माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन व उन्नति के लिए अपने सुझाव देना।
   (ई) माध्यमिक शिक्षा सम्बन्धी अन्य समस्याओ के समाधान बताना।

(ख) व्यावसायिक कुशलता में वृद्धि—आर्थिक क्षेत्र में प्रगति करने के लिए हमारे देश में पचवर्षीय योजनाओ के द्वारा औद्योगिक विकास किया जा रहा है। इन उद्योगो में कार्य करने के लिए व्यावसायिक कुशलता प्राप्त व्यक्तियो की आवश्यकता है। अत माध्यमिक शिक्षा का सगठन इस प्रकार किया जाय कि वह छात्र में किसी व्यावसायिक कुशलता की वृद्धि करे और इस प्रकार उसको जीविकोपार्जन के लिए स्वावलम्बी बना सके।

(ग) व्यक्तित्व का विकास—माध्यमिक शिक्षा का उद्देश्य छात्र का सर्वाङ्गीण विकास करना हो, अत शिक्षा की व्यवस्था इस प्रकार से की जाय कि छात्र के जन्मजात गुणो का विकास हो सके और इन गुणो को वह व्यावहारिक दृष्टि से प्रयोग में ला सके। छात्रो का साहित्यिक, कलात्मक और सास्कृतिक विकास करना भी शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए।

(घ) नेतृत्व का विकास—प्रजातत्र में दो प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। एक तो नेतृत्व करने वाले होते हैं और दूसरे उनका अनुकरण करने वाले। माध्यमिक शिक्षा की व्यवस्था इस प्रकार से की जाय जो कि ऐसे नेताओं का निर्माण करे जो सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में जनता का पथप्रदर्शन कर सके। इसके साथ ही अन्धानुकरण करने वाली जनता भी नही होनी चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य उनकी चिन्तन शक्ति एव विवेक का विकास करना हो, जिससे वे विवेकपूर्ण अनुकरण कर सके।

(३) माध्यमिक शिक्षा का पुनर्गठन—आयोग ने माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन के सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिए

(अ) माध्यमिक शिक्षा ११ से १७ वर्ष तक की आयु के बालक एव बालिकाओं के लिए होनी चाहिए।

(आ) माध्यमिक शिक्षा की अवधि ७ वर्ष की होनी चाहिए।

(इ) प्राथमिक या जूनियर बेसिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद बालक को माध्यमिक शिक्षा प्रारम्भ होनी चाहिए।

(ई) उच्चतर माध्यमिक शिक्षा की अवधि ४ वर्ष की हो।

(उ) इण्टरमीडिएट कक्षाओ को समाप्त करके उसकी ११वी कक्षा को माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में और १२वी कक्षा को डिग्री पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर दिया जाय।

(ऊ) डिग्री पाठ्यक्रम ३ वर्ष का कर दिया जाय।

(ए) जो छात्र १०वी कक्षा उत्तीर्ण करके महाविद्यालय में प्रवेश ले उनके लिए एक वर्ष का पूर्व-विश्वविद्यालय कोर्स (Pre-University Course) रखा जाय।

(ऐ) छात्रों की विभिन्न रुचियो एवं उद्देश्यों की प्राप्ति के बहुउद्देशीय विद्यालयो की स्थापना की जाय।

आयोग ने प्रश्नावली की सहायता से तथा विभिन्न प्रान्तों का भ्रमण कर माध्यमिक शिक्षा की समस्याओं का अध्ययन करके २९ अगस्त, १९५३ को १४ अध्यायों में विभाजित २४४ पृष्ठ का एक प्रतिवेदन सरकार के समक्ष प्रस्तुत किया।

आयोग के सुझाव

आयोग द्वारा विभिन्न समस्याओं पर प्रकट किये गये विचार एवं सुझावों का विवरण यहाँ दिया जा रहा है

(१) माध्यमिक शिक्षा के दोष—आयोग ने तत्कालीन माध्यमिक शिक्षा में विद्यमान दोषों का वर्णन अपने प्रतिवेदन में निम्न प्रकार से किया

(अ) माध्यमिक शिक्षा सकीर्ण है और इसका जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(आ) माध्यमिक शिक्षा प्रदान करने का कोई निश्चित उद्देश्य नहीं है।

(इ) कक्षाएँ बड़ी होने से शिक्षक-छात्र सम्पर्क स्थापित नहीं हो पाता है।

(ई) अंग्रेजी भाषा के कारण छात्रों की शक्ति नष्ट होती है।

(उ) अत्यन्त प्राचीन शिक्षण की रीतियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं।

(ऊ) माध्यमिक शिक्षा संकुचित और एक-मार्गीय होने से छात्रों के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास नहीं करती है।

(ए) वर्तमान शिक्षा छात्रों का चारित्रिक एवं नैतिक विकास करने में असफल रही है।

(ऐ) दोषपूर्ण शिक्षण-विधियों के कारण छात्रों में स्वतन्त्र चिन्तन शक्ति का विकास नहीं हो पाता है।

(ओ) परीक्षा प्रणाली दोषपूर्ण है और इसका आतंक छात्र एवं अध्यापक दोनों पर छाया रहता है।

(औ) पाठ्यक्रम दोषपूर्ण है। छात्र अपनी रुचि एवं योग्यता के आधार पर पाठ्य-विषयों का चयन नहीं कर पाते हैं।

(२) माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य—भारतवर्ष की वर्तमान अवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए आयोग ने माध्यमिक शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य बताए

(क) प्रजातंत्रवादी नागरिकता की भावना का विकास—भारतवर्ष विश्व का एक बड़ा जनतंत्रात्मक देश है। यहाँ के प्रजातन्त्र की सफलता लोगों की शिक्षा पर निर्भर करती है। शिक्षा इस प्रकार की हो जो देश के लिए योग्य, सच्चे, ईमानदार नागरिक तैयार करे। इन आदर्श नागरिकों में राष्ट्र-प्रेम, भाषण एवं लेखन में स्पष्टता, सामाजिकता, अनुशासन, सहयोग की भावना आदि गुण अवश्य होने चाहिए। अतः शिक्षा का उद्देश्य छात्रों में उपर्युक्त गुणों का विकास करना होना चाहिए।

ब—(i) सामाजिक अध्ययन का पाठ्यक्रम (केवल प्रथम दो वर्षों के लिए)

(ii) सामान्य विज्ञान गणित सहित (केवल प्रथम दो वर्षों के लिए)

स—निम्नलिखित में से एक हस्तकला

(i) कताई एवं बुनाई, (ii) काष्ठकला, (iii) धातुकला, (iv) बागबानी, (v) सिलाई का कार्य, (vi) कसीदाकारी, (vii) मिट्टी का काम ।

(ख) वैकल्पिक विषय

निम्नलिखित ७ वर्गों में से किसी एक वर्ग के तीन विषय चुनने होंगे

वर्ग १—मानव विज्ञान (Humanities)

(i) एक शास्त्रीय भाषा, या (अ-ii) में से न ली गई भाषा, (ii) भूगोल, (iii) इतिहास, (iv) अर्थशास्त्र तथा नागरिकशास्त्र, (v) मनोविज्ञान तथा तर्क-शास्त्र, (vi) गणित, (vii) संगीत, और (viii) गृह विज्ञान ।

वर्ग २—विज्ञान (Science)

(i) भौतिक शास्त्र, (ii) रसायन शास्त्र, (iii) जीव शास्त्र, (iv) भूगोल, (v) गणित, (vi) जीव-विज्ञान तथा स्वास्थ्य-विज्ञान के तत्त्व (जीव शास्त्र के साथ नहीं) ।

वर्ग ३—तकनीकी (Technical)

(i) व्यावहारिक गणित और रैखिकीय कला, (ii) व्यावहारिक विज्ञान, (iii) यान्त्रिक इंजीनियरिंग के तत्त्व, (iv) विद्युत इंजीनियरिंग के तत्त्व ।

वर्ग ४—वाणिज्य (Commerce)

(i) व्यावहारिक अभ्यास, (ii) बहीखाता, (iii) वाणिज्य भूगोल तथा अर्थशास्त्र एवं नागरिक शास्त्र के तत्त्व, (iv) आशुलिपि तथा टंकण ।

वर्ग ५—कृषि (Agriculture)

(i) सामान्य कृषि, (ii) पशु-पालन, (iii) बागबानी, (iv) कृषि रसायन तथा वनस्पति विज्ञान ।

वर्ग ६—ललित कलाएँ (Fine Arts)

(i) कला का इतिहास, (ii) कला तथा रूपांकन, (iii) चित्र कला, (iv) प्रतिरूपण, (v) संगीत, (vi) नृत्य ।

वर्ग ७—गृह-विज्ञान (Home Science)

(i) गृह-अर्थशास्त्र, (ii) पाक-कला, (iii) शिशु-पालन और मातृ-कला, (iv) गृह-प्रबन्ध ।

३ छात्रों को सामुदायिक जीवन का पाठ सिखाने के लिए आवश्यक है कि पाठ्यक्रम में ऐसी क्रियाओं का समावेश किया जाय जिससे छात्रों को सामुदायिक जीवन की समस्याओं को समझने का अवसर मिल सके।

४. छात्रों को अवकाश के समय का सदुपयोग सिखाने के लिए पाठ्यक्रम में कुछ मनोरंजक क्रियाओं को स्थान दिया जाय।

५ सभी विषयों का समन्वित ज्ञान देने के लिए पाठ्यक्रम के विभिन्न विषय परस्पर सम्बन्धित होने चाहिए।

७. पाठ्यक्रम के विषय

(१) मिडिल अथवा सीनियर बेसिक स्कूलों का पाठ्यक्रम—आयोग ने सुझाव दिया कि उपर्युक्त दोनों प्रकार के विद्यालयों के पाठ्यक्रम में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। मिडिल स्तर पर क्रियाओं पर अधिक जोर देना चाहिए। इस स्तर पर निम्नलिखित विषयों को पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने का सुझाव दिया गया

(अ) भाषाएँ, (आ) सामाजिक अध्ययन, (इ) सामान्य विज्ञान, (ई) गणित, (उ) कला तथा संगीत, (ऊ) हस्त उद्योग, (ए) शारीरिक शिक्षा।

(२) उच्चतर माध्यमिक स्तर पर पाठ्यक्रम के विषय—इस पाठ्यक्रम की विविधता का सुझाव दिया गया। आयोग ने सुझाव दिया कि इस स्तर पर पाठ्यक्रम के विषयों को दो भागों में बाँटा जाय—प्रथम अनिवार्य विषय (Core subjects), दूसरे वैकल्पिक विषय। आयोग ने इन वैकल्पिक विषयों को ७ भागों में विभाजित किया।

(क) अनिवार्य विषय (Core subjects)

अ—(i) मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा अथवा मातृभाषा तथा एक शास्त्रीय भाषा का मिश्रित पाठ्यक्रम।

(ii) निम्नलिखित भाषाओं में से एक भाषा

(क) हिन्दी (जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है)

(ख) प्रारम्भिक अंग्रेजी (जिन्होंने मिडिल स्तर पर इसका अध्ययन नहीं किया)

(ग) उच्च अंग्रेजी (जिन्होंने अंग्रेजी का अध्ययन किया है)

(घ) हिन्दी के अतिरिक्त एक अन्य भारतीय भाषा।

(ङ) अंग्रेजी के अतिरिक्त एक आधुनिक विदेशी भाषा।

(च) एक शास्त्रीय भाषा।

(ग) उच्च से उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों को निरीक्षक बनाया जाय।

(घ) निरीक्षक समिति बनाई जाये जिसमें तीन सदस्य होने चाहिए।

(३) *व्यक्तिगत विद्यालयों का प्रबन्ध*—(क) *विद्यालयों की प्रबन्ध समिति* रजिस्टर्ड होनी चाहिए और प्रधानाध्यापक इसका स्थायी सदस्य होना चाहिए।

(ख) शिक्षा-विभाग के नियमो के अनुसार छात्रो से शुल्क लिया जाय।

(ग) विद्यालयो को मान्यता तभी दी जाय जब वे मान्यता सम्बन्धी शर्तों को पूरा कर दें।

(४) **विद्यालय-भवन**—(क) एक विद्यालय मे ७५० से अधिक छात्र नहीं होने चाहिए।

(ख) कक्षा के कमरे मे प्रत्येक छात्र को कम से कम १० वर्ग फीट स्थान देना आवश्यक है।

(ग) गाँवो मे केन्द्रीय स्थान पर तथा नगरो मे शोरगुल के वातावरण से दूर विद्यालयो की स्थापना करनी चाहिए।

(घ) *प्रत्येक विद्यालय में सहकारी स्टोर होने चाहिए।*

(५) **कार्यकाल**—(क) जलवायु के अनुसार कार्य-समय निश्चित करना चाहिए।

(ख) वर्ष मे विद्यालय २०० दिन अवश्य खुलना चाहिए। दो माह का ग्रीष्मावकाश हो।

(६) **आर्थिक पक्ष**—(क) प्रान्तीय सरकारो के द्वारा विद्यालयो को अनुदान दिया जाना चाहिए।

(ख) विद्यालय के भवन पर किसी प्रकार का कर न लगाया जाय।

(ग) विद्यालय के सामान पर चुंगी न लगे।

(घ) तकनीकी विद्यालयों के लिए कारखानो पर कर लगाया जाय।

माध्यमिक शिक्षा आयोग का मूल्यांकन

मुदालियर आयोग के प्रतिवेदन के गुण

१ आयोग का यह कार्य सराहनीय है कि उसने माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्य निर्धारित किये।

२. बालको की व्यक्तिगत विभिन्नता के आधार पर विविध पाठ्यक्रम का सुझाव देकर आयोग ने एक क्रान्तिकारी परिवर्तन की माँग की।

३ बहु-उद्देशीय विद्यालयों की स्थापना का सुझाव शिक्षा मे एक नवीन प्रयोग है। ये विद्यालय छात्रो के अर्जित ज्ञान को प्रयोग मे लाने का अवसर प्रदान करते हैं।

६. समान योग्यता एवं समान कार्य करने वालो को समान वेतन दि जाय ।

७ अध्यापको के लिए त्रिमुखी लाभ-योजना—पेंशन, प्राविडेण्ट फण्ड औ जीवन-बीमा की सुविधा कार्यान्वित की जाय ।

८ अध्यापको को ट्यूशन पढाने की अनुमति न दी जाय ।

९. अध्यापको को निम्न सुविधाएँ दो जायें ·
(i) बच्चो को नि शुल्क शिक्षा, (ii) आवास की सुविधा, (iii) शिक्ष सम्मेलन मे जाने की सुविधा, (iv) मुफ्त चिकित्सा, (v) ग्रीष्मावकाश मे भ्रमण के लिए किराये मे रियायत ।

१४. **अध्यापको का प्रशिक्षण**—आयोग के सुझाव निम्न प्रकार थे

१ दो प्रकार के प्रशिक्षण विद्यालय हों—(अ) प्रथम माध्यमिक शिक्षा प्राप्त व्यक्तियो के लिए । इनका प्रशिक्षण काल २ वर्ष का होना चाहिए । (आ) दूसरे विद्यालय स्नातको के लिए हों । इनका प्रशिक्षण काल अभी १ वर्ष का रहे, बाद मे इसको २ वर्ष का कर दिया जाय ।

२. प्रशिक्षण काल मे छात्राध्यापको को छात्रवृत्तियाँ दी जायें ।

३ प्रशिक्षण सस्थानो मे अभिनवन पाठ्यक्रम, लघुगहन पाठ्यक्रम आदि की व्यवस्था की जाय ।

(१५) **प्रशासन की समस्या**—प्रशासन के क्षेत्र मे आयोग के निम्नलिखित सुझाव है

(१) **शिक्षा का संगठन**—(क) शिक्षा मत्री को प्रशासन की समस्याओ पर परामर्श देने का उत्तरदायित्व शिक्षा सचालक पर होना चाहिए ।

(ख) केन्द्र व प्रान्तो मे शिक्षा समितियाँ गठित की जायें । ये समितियाँ शिक्षा के लिए उपयुक्त योजनाएँ बनाये ।

(ग) माध्यमिक शिक्षा परिषद मे २५ से अधिक सदस्य नही होने चाहिए । इस परिषद का प्रधान उस प्रान्त का शिक्षा सचालक हो ।

(घ) इस परिषद की एक उपसमिति परीक्षाओं की व्यवस्था करे ।

(ङ) प्रत्येक प्रान्त मे अध्यापको के प्रशिक्षण की योजना तथा उसके कुशल संचालन के लिए 'शिक्षक-प्रशिक्षण परिषद' की स्थापना की जाय ।

(२) **निरीक्षण**—(क) विशेष विषयो के लिए अलग-अलग निरीक्षकों की नियुक्ति की जाय ।

(ख) निरीक्षकों को चाहिए कि वे अध्यापको को समय-समय पर उचित परामर्श दें ।

स्वीकार ही नही किया। राजस्थान प्रान्त ने आयोग की सिफारिशो को स्वीकार किया। यहाँ पर दो कार्य प्रमुख रूप से किये गये

१ हाई स्कूलो को उच्चतर माध्यमिक शालाओ मे परिवर्तित करना।
२ बहु-उद्देशीय विद्यालयो की स्थापना।

राजस्थान मे इस समय दो प्रकार के विद्यालय है

१ पहले माध्यमिक विद्यालय जिनमे ९वी, १०वी कक्षाओ तक ही अध्ययन की सुविधा होती है।
२ दूसरे उच्चतर माध्यमिक विद्यालय जिनमे ११वी कक्षा भी होती है।

इस समय दो परीक्षाएँ होती हैं—पहली सेकेण्डरी और दूसरी हायर-सेकेण्डरी परीक्षा। सेकेण्डरी स्कूल के विद्यार्थियो के लिए प्रथम परीक्षा मे सम्मिलित होना आवश्यक है। इसके बाद पूर्व-विद्यालय परीक्षा उत्तीर्ण करने पर ही छात्र स्नातक कक्षा मे प्रवेश ले सकते है। हायर सेकेण्डरी स्कूल के छात्र ३ वर्ष के बाद दूसरे प्रकार की परीक्षा मे बैठते हैं। परन्तु उनको प्रथम दो वर्ष के लिए निश्चित विषयो मे परीक्षा १०वीं कक्षा मे देनी होती है, जो हायर सेकेण्डरी परीक्षा, भाग १ कहलाती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१ माध्यमिक शिक्षा के सुधार के लिए मुदालियर आयोग ने क्या सिफारिशें की है? इन सिफारिशो का वर्तमान शिक्षा-संगठन पर क्या प्रभाव पड़ा है?
२ शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए माध्यमिक शिक्षा आयोग के सुझावो पर प्रकाश डालिए।
३ हमारी शिक्षा पद्धति मे माध्यमिक शिक्षा को सबसे कमजोर कड़ी कहा गया है। इसकी प्रमुख खराबियो को बताइए।
४ आयोग द्वारा माध्यमिक शिक्षा के नवीन संगठन के सम्बन्ध मे दिये गये सुझावो की व्याख्या कीजिए।

राजस्थान विश्वविद्यालय की बी० एड० परीक्षा मे पूछे गये प्रश्न

1. Discuss the recommendations of the Secondary Education Commission regarding improvement in the economic and social status of the teacher (1961)
2. Estimate the effect of reorganization of Secondary Education in Rajasthan What suggestions do you have to offer for complete success in the Scheme? (1962)

४. भारत जैसे कृषि-प्रधान देश के ग्रामीण विद्यालयों में कृषि को अनिवार्य विषय बनाने का उत्तम सुझाव दिया।

५. आयोग का यह सुझाव उपयोगी है कि शिक्षण विधियों में क्रिया को प्रमुख स्थान दिया जाय।

६. वर्तमान समय में छात्रों में बढ़ती हुई अनुशासनहीनता एक चिन्ता का विषय है। छात्रों को अनुशासन की शिक्षा और चारित्रिक शिक्षा के लिए आयोग ने सुझाव देकर एक महान कार्य किया है। आज देश में नैतिकता का अभाव है।

७. अध्यापकों की दशा सुधारने के लिए उनके वेतन, प्रशिक्षण तथा सेवा शर्तों के विषय में प्रशंसनीय सुझाव दिए हैं।

८. आयोग ने विद्यालयों में पाठ्यक्रम सहगामी क्रियाओं के आयोजन का सुझाव देकर छात्रों के सर्वाङ्गीण विकास की आवश्यकता को स्पष्ट किया है।

९. परीक्षा में सुधार तथा शैक्षिक एवं व्यावसायिक निर्देशन की व्यवस्था का सुझाव देकर आयोग ने एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

दोष

१. इन्टरमीडिएट कक्षाओं को तोड़कर उच्चतर माध्यमिक शिक्षा में १ वर्ष बढ़ाने का सुझाव उपयोगी होते हुए भी समस्यापूर्ण था क्योंकि इस कार्य के लिए एक बड़ी धनराशि की आवश्यकता होगी।

२. आयोग ने स्त्री शिक्षा के विस्तार के लिए कोई महत्त्वपूर्ण सुझाव नहीं दिया है।

३. दो भाषाओं के साथ अन्य आन्तरिक विषयों का अध्ययन तथा एक ग्रुप के तीन विषयों का अध्ययन अनिवार्य होने से पाठ्यक्रम बहुत भारी हो जाता है।

४. बालक और बालिकाओं के पाठ्यक्रम में कोई भेद नहीं है।

५. आयोग ने व्यक्तिगत विद्यालयों की प्रबन्ध समिति के सदस्यों की योग्यता के सम्बन्ध में कोई सुझाव नहीं दिया है।

उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी यह निर्विवाद सत्य है कि आयोग के अनेक सुझाव अत्यन्त उपयोगी और व्यावहारिक हैं।

राजस्थान में माध्यमिक शिक्षा आयोग के सुझावों का प्रभाव

शिक्षा एक प्रान्तीय विषय है। अतः माध्यमिक शिक्षा आयोग के सुझावों की क्रियान्विति भिन्न भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न प्रकार से हुई। कुछ प्रान्तों ने इनके सुझावों को स्वीकार किया। परन्तु कुछ प्रान्तों ने इन सुझावों को थोड़े अन्तर के साथ स्वीकार किया। इनमें कुछ प्रान्त ऐसे भी हैं जिन्होंने आयोग के सुझावों को

अध्याय ७

बहु-उद्देशीय विद्यालय

यह निर्विवाद सत्य है कि देश की राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ वहाँ की शिक्षा प्रणाली को प्रभावित करती हैं। स्वतन्त्रता से पूर्व शिक्षा के उद्देश्य आज के लोकतन्त्रीय भारत मे शिक्षा के उद्देश्यो से भिन्न थे। ब्रिटिश शासन काल मे माध्यमिक शिक्षा का एक ही प्रधान उद्देश्य था—"अपने राजकीय तथा व्यापारिक कार्यालयों मे काम करने के लिए लिपिक तैयार करना।" अंग्रेजो ने देश के आर्थिक विकास मे कभी कोई रुचि नही दिखाई। परिणामस्वरूप, यहाँ पर आर्थिक उन्नति के लिए नवीन उद्योगों की स्थापना भी नही की गई। इन सब का प्रभाव शिक्षा पर यह पड़ा कि माध्यमिक शिक्षा मे साहित्यिक पक्ष की प्रधानता रही। माध्यमिक विद्यालयो के दो कार्य थे—प्रथम, प्रशासकीय कार्य मे सहायता देने वाले स्वामिभक्त कर्मचारी तैयार करना और द्वितीय, छात्रो को विश्वविद्यालय की शिक्षा के लिए तैयार करना। यहाँ पर तकनीकी शिक्षा के प्रसार के लिए अंग्रेजो के द्वारा कोई प्रयत्न नही किये गये और न व्यावसायिक शिक्षा के लिए विद्यालयो की स्थापना की गई। इसका परिणाम यह हुआ कि माध्यमिक शिक्षा एक-मार्गीय (Unilateral) बनकर रह गई। इस प्रकार की शिक्षा विभिन्न अभियोग्यताओ वाले छात्रो की आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयास नही करती है। स्वतन्त्रता के पश्चात् देश के सभी क्षेत्रो—राजनीतिक, आर्थिक, एवं सामाजिक आदि मे तीव्र गति से परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों के कारण देश मे विभिन्न शिक्षा तथा प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्तियो की माँग बढ़ती जा रही है। एक-मार्गीय शिक्षा प्रदान करने वाले विद्यालयो के द्वारा देश के विभिन्न क्षेत्रो मे बढ़ती हुई माँग की पूर्ति नही हो सकती है, अत यह आवश्यक ही नही परन्तु अनिवार्य हो गया है कि परिवर्तित परिस्थितियो के अनुसार ही शिक्षा के रूप मे भी परिवर्तन लाया जाय।

3 Examine the desirability and the possibility of evolving a programme of secondary education with emphasis on vocational training in India *You are advised to make use of your knowledge of secondary education in other countries in formulating your point of view* (1968)

4 High light some of significant countributions made by our schools in realising the proper goals of education If you feel the schools have not been able to make such significant contribution analyse the reasons for the failure and suggest measures for remedying them (1965)

५ *भविष्य के सामाजिक स्वरूप की कल्पना करते हुए विवरण दीजिए कि आपके विचार में राष्ट्र की कौन-सी नवीन आवश्यकताएं हैं जिनके अनुकूल माध्यमिक शिक्षा को होना चाहिए।* (१९६६)

६ आपके विचार में भारत तथा राजस्थान में माध्यमिक शिक्षा की कौन-कौन-सी प्रमुख समस्याएं हैं? *हाल ही में उनके समाधान के लिए क्या-क्या प्रयत्न किये गये हैं? उन दिये गये सुझावों से आप कहाँ तक सहमत हैं?* (१९६७)

विविध पाठ्यक्रम पढ़ाने की व्यवस्था है उनको इंगलैण्ड तथा अमरीका में अलग-अलग नाम से पुकारते हैं।

इंगलैण्ड—इंगलैण्ड में निम्नलिखित प्रकार के माध्यमिक विद्यालय पाये जाते हैं

माध्यमिक विद्यालयों के प्रकार

कॉम्प्रीहेंसिव स्कूल (Comprehensive Schools)	बहुमुखी विद्यालय (Mululaterl Schools)	ग्रामर स्कूल (Grammar Schools)	तकनीकी स्कूल (Technical Schools)	माडर्न स्कूल (Modern Schools)
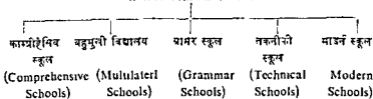
इंगलैण्ड में ग्रामर स्कूल माध्यमिक शिक्षा के पुराने विद्यालय हैं। इन विद्यालयों की स्थापना १७वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुई। ग्रामर स्कूल छात्रों को विश्व-विद्यालय की शिक्षा के लिए तैयार करते हैं। इन विद्यालयों में अंग्रेजी साहित्य, आधुनिक विदेशी भाषा, गणित, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, कला और संगीत विषय पढ़ाये जाते हैं। धार्मिक शिक्षा का अध्ययन सभी छात्रों के लिए अनिवार्य होता है। तकनीकी माध्यमिक विद्यालयों में तकनीकी शिक्षा का पाठ्यक्रम पढ़ाने की व्यवस्था होती है। ग्रामर स्कूलों की अपेक्षा तकनीकी विद्यालयों की संख्या कम ही है। इसका कारण जनता ग्रामर स्कूलों को तकनीकी विद्यालयों की अपेक्षा उच्च कोटि का समझती है। अतः जो अभिभावक अपने बच्चे को ग्रामर स्कूल में प्रवेश नहीं दिला सकता है उसको फिर तकनीकी स्कूल में प्रवेश दिलाता है। तीसरे प्रकार के माध्यमिक विद्यालय सेकेण्डरी माडर्न स्कूल हैं। इन विद्यालयों की स्थापना माध्यमिक शिक्षा का नवीनीकरण करने के उद्देश्य से की गई है। ये विद्यालय शीघ्र ही जनता में लोकप्रिय हो गये क्योंकि इनमें सामान्य शिक्षा के साथ-साथ व्यावसायिक शिक्षा की भी व्यवस्था की गई। २०वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में द्विमार्गीय (Bilateral) विद्यालयों की स्थापना की गई। इन विद्यालयों में तथा ग्रामर, तकनीकी या माडर्न स्कूलों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। द्विमार्गीय विद्यालय में ग्रामर, तकनीकी या माडर्न स्कूल में से किन्हीं दो का सम्मिलित रूप पाया जाता है। काम्प्रीहेंसिव स्कूल भी अधिक संख्या में स्थापित हुए। इन विद्यालयों की स्थापना का उद्देश्य सम्पूर्ण माध्यमिक शिक्षा की एक ही विद्यालय में व्यवस्था करना था परन्तु ये विद्यालय भी उद्देश्य की प्राप्ति में सफल नहीं हो सके। इंगलैण्ड में बहुमुखी विद्यालयों की स्थापना भी की गई है। किसी विशेष वर्ग के सभी छात्रों को शिक्षा प्रदान करना ही इन विद्यालयों का प्रमुख उद्देश्य है। बहुमुखी विद्यालयों में तीनों प्रकार के विद्यालयों की प्रमुख बात सम्मिलित रहती है। इंगलैण्ड में बहुमुखी विद्यालय अधिक लोकप्रिय नहीं हो पा रहे हैं।

बहु-उद्देशीय विद्यालयों के लिए प्रयास

समय समय पर भारतीय नेताओं ने शिक्षा के संगठन में परिवर्तन करने के लिए केन्द्र से आग्रह किया। उनके अनुरोध पर शिक्षा आयोग या समिति माध्यमिक शिक्षा के संगठन में परिवर्तन करने के लिए नियुक्त की जाती रही है।

(१) प्रथम आचार्य नरेन्द्रदेव समिति—इस समिति की नियुक्ति सन् १९३९ में हुई थी। आचार्य नरेन्द्रदेव समिति ने सर्वप्रथम यह सिफारिश की कि विभिन्न योग्यता तथा अभिरुचि वाले छात्रों के लिए विविध पाठ्यक्रम होना चाहिए। विविध पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में आयोग का सुझाव था कि माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम को चार वर्गों में विभाजित किया जाए—(१) साहित्यिक, (२) वैज्ञानिक, (३) रचनात्मक, (४) कलात्मक। माध्यमिक विद्यालयों में उपर्युक्त सभी वर्ग पढ़ाने की व्यवस्था हो।

(२) ताराचन्द समिति—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सन् १९४८ में ताराचन्द समिति नियुक्त की गई। इस समिति ने माध्यमिक शिक्षा का पुनर्गठन करने के लिए एक आयोग की नियुक्ति करने की सिफारिश की। इसके साथ ही यह सुझाव दिया कि माध्यमिक विद्यालयों को बहुमुखी बनाया जाय परन्तु एकमुखी (Unilateral) विद्यालय समाप्त नहीं किये जाय। परिस्थितियों के अनुसार ये विद्यालय भी चलते रहें।

(३) द्वितीय आचार्य नरेन्द्रदेव समिति—उत्तर प्रदेश सरकार ने सन् १९५२-५३ में आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में दूसरी बार शिक्षा समिति गठित की। इस समिति ने बहु-उद्देशीय विद्यालय स्थापित करने तथा उनमें विविध पाठ्य के अध्यापन की व्यवस्था करने के सम्बन्ध में सुझाव दिया। इसके साथ ही तकनीकी विद्यालय अधिक संख्या में खोलने के लिए भी सिफारिश की, जिनसे देश में तकनीकी शिक्षा का प्रसार हो सके।

(४) माध्यमिक शिक्षा आयोग—भारत सरकार ने सन् १९५२-५३ में ताराचन्द समिति की सिफारिश के आधार पर मुदालियर की अध्यक्षता में माध्यमिक शिक्षा के लिए एक आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग से माध्यमिक शिक्षा के पुनर्गठन तथा अन्य सुधार के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए कहा गया। पिछले अध्याय में माध्यमिक शिक्षा आयोग की सिफारिशों का वर्णन किया गया है। उन सिफारिशों में से एक प्रमुख सिफारिश बहुमुखी विद्यालयों की स्थापना से सम्बन्धित है। कुछ प्रान्तीय सरकारों ने आयोग के सुझावों को कार्यान्वित किया और बहु-उद्देशीय विद्यालयों की स्थापना का कार्य आरम्भ कर दिया।

पाश्चात्य देशों में बहु-उद्देशीय विद्यालय

पाश्चात्य देशों में इंगलैण्ड और अमरीका ही ऐसे देश हैं जहाँ पर बहु-उद्देशीय विद्यालय चल रहे हैं। इन देशों में मनोवैज्ञानिक विकास अधिक होने से विविध पाठ्यक्रम की आवश्यकता बहुत पहले ही अनुभव कर ली गई थी। जिन विद्यालयों में

बहु-उद्देशीय विद्यालय की रचना

मुदालियर आयोग के पाठ्यक्रम सम्बन्धी सुझावों का वर्णन पिछले अध्याय में दिया गया है। आयोग ने जिस विविध पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में सिफारिश की है उसके अध्यापन की सुविधा जिन विद्यालयों में प्रदान की जाएगी, उनको बहु-उद्देशीय विद्यालय के नाम से पुकारते हैं। इनमें दो प्रकार के विषय होते हैं—(१) अनिवार्य, (२) वैकल्पिक।

अनिवार्य विषय—(अ) भाषाएँ, (आ) सामान्य विज्ञान और गणित, (इ) सामाजिक अध्ययन, (ई) हस्तकला।

वैकल्पिक विषय—वैकल्पिक के अन्तर्गत विषयों के ७ समूह बनाए गये हैं। इनमें से अपनी रुचि के अनुसार छात्र एक समूह में से तीन विषयों को चुनेगा। ये समूह निम्नलिखित प्रकार हैं (१) मानवीय विषय, (२) विज्ञान, (३) तकनीकी विषय, (४) वाणिज्य विषय, (५) कृषि, (६) ललित कलाएँ, (७) गृह-विज्ञान।

बहु-उद्देशीय विद्यालय के उद्देश्य

जून १९५७ में नैनीताल में एक विचारगोष्ठी आयोजित की गई। इस गोष्ठी में सदस्यों ने बहु-उद्देशीय विद्यालयों के उद्देश्यों के सम्बन्ध में विचार विनिमय किया। सदस्यों ने निम्नलिखित उद्देश्य निश्चित किये

उद्देश्य

- व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास
- राष्ट्रीय चरित्र का विकास
- स्वतन्त्र कार्यक्षमता का विकास
- रचनात्मक शक्ति का विकास
- छात्रों की आवश्यकताओं की पूर्ति
- व्यावसायिक दक्षता का विकास
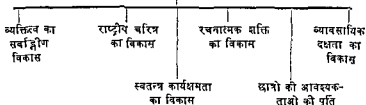
१ *बहु-उद्देशीय विद्यालयों को छात्रों के व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास का* प्रयास करना चाहिए। विद्यालयों में छात्रों के केवल मानसिक या बौद्धिक विकास की ओर ही ध्यान नहीं देना चाहिए। वहाँ तो ऐसा वातावरण, परिस्थितियाँ तथा ऐसी सुविधाएँ प्रदान करनी चाहिए जिससे बालक के व्यक्तित्व के सभी अंगों का विकास हो।

२ विद्यालयों को छात्रों में राष्ट्रीयता की भावना का विकास करना चाहिए तथा उनकी क्षमताओं का राष्ट्रीय चरित्र एवं राष्ट्रीय सम्पत्ति के निर्माण की दिशा में निर्देशित करना चाहिए। आज देश में सभी स्थानों पर इस बात की चर्चा की जाती है—आज के नवयुवक राष्ट्रीय सम्पत्ति के निर्माण के स्थान पर विघटन कार्य अधिक करते हैं। इसका कारण उनमें राष्ट्र-प्रेम का अभाव है। बहु-उद्देशीय विद्यालय छात्रों की क्षमताओं को उचित कार्य करने को प्रेरित करेंगे।

(१) सामाजिक लाभ—वर्तमान युग में शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य पर अधिक बल दिया जाता है ताकि छात्र में सभी सामाजिक गुणों का विकास करके उसको समाज का एक उपयोगी सदस्य बनाया जा सके। भारतवर्ष में आज ऐसे नवयुवकों की आवश्यकता है जो भारतीय समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर कर सके और उसके विकास में सहयोग दे सके। ऐसे नवयुवक तैयार करना तो विद्यालयों का ही कार्य है। इसीलिए आजकल विद्यालयों को समाज का लघु रूप कहा जाता है। बहु-उद्देशीय विद्यालय सामाजिक पक्ष के विकास के लिए अधिक अवसर प्रदान करते हैं। इनसे निम्नलिखित सामाजिक लाभ है

(अ) राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति—स्वतन्त्रता के पश्चात् हमारे देश में आर्थिक, सामाजिक तथा औद्योगिक विकास हो रहे हैं। परिणामस्वरूप, इन विभिन्न क्षेत्रों के लिए कुशल कार्यकर्त्ताओं की माँग बढ़ रही है। बहु-उद्देशीय विद्यालय कृषि, वाणिज्य तथा प्राविधिक कार्य में दक्ष नवयुवक तैयार करते हैं।

(आ) सामुदायिक एकता का विकास---हमारे समाज में व्यक्तियों और समूहों के मध्य निरन्तर बढ़ती हुई पृथकता एक बड़ा दोष है। राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रीय भावनों की सुरक्षा तथा उनकी उन्नति करने के लिए आवश्यक है कि छात्रों को सामुदायिक एकता का पाठ पढ़ाया जाए। ये विद्यालय सामूहिक रूप में कार्य करने को प्रोत्साहन देते हैं।

(इ) बेकारी की समस्या---भारतवर्ष के शिक्षित वर्ग में बढ़ रही बेकारी की समस्या एक चिन्ता का विषय है। बहु-उद्देशीय विद्यालय छात्रों को एक हस्तकला में दक्ष बनाकर उनको जीविकोपार्जन के योग्य बना देते हैं। शिक्षा समाप्त करने के बाद उनको किसी व्यवसाय में प्रवेश के समय तक बेकार बैठकर प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है।

(ई) वर्ग-भेद की न्यूनता—आज हमारा समाज अनेक वर्गों में बँटा हुआ है। उच्च वर्ग के लोग निम्न वर्ग के व्यक्तियों से घृणा करते हैं। परिणामस्वरूप, सामाजिक एकता की शक्ति का ह्रास होता है। बहु-उद्देशीय विद्यालयों में सभी वर्गों के बच्चे एक साथ पढ़ेंगे तो परस्पर मिलन से उनमें एक-दूसरे के प्रति प्रेम बढ़ेगा।

(उ) शारीरिक श्रम का सम्मान— यहाँ अंग्रेजों के समय से बौद्धिक शिक्षा पर अधिक बल दिया गया। परिणामस्वरूप, शिक्षित व्यक्ति शारीरिक श्रम से घृणा करने लगे। बहु-उद्देशीय विद्यालयों में छात्रों को विभिन्न हस्त-कलाएँ सीखनी पड़ेंगी। धीरे-धीरे छात्र इस प्रकार हस्त-कार्य करने में रुचि लेंगे तथा यह भावना भी दूर होगी कि कोई कार्य किसी जाति विशेष से सम्बन्धित है। वे तो प्रत्येक कार्य को हस्तकला के रूप में देखेंगे।

(२) शक्षिक लाभ—बुनियादी विद्यालयों से निम्नलिखित शैक्षिक लाभ हैं :

विद्यालयों को छात्रों में स्वतन्त्र रूप से कार्य करने की योग्यता उत्पन्न करनी चाहिए। आज विद्यालयों में अध्यापक इस प्रकार की शिक्षण विधि अपनाते है कि छात्र निष्क्रिय हो जाते हैं। छात्रों में यह विश्वास पैदा नहीं हो पाता है कि वे स्वयं भी कुछ कार्य कर सकते है।

छात्रों में रचनात्मक मूलप्रवृत्ति के विकास के लिए वर्तमान माध्यमिक विद्यालयों में कुछ भी नहीं किया जाता है। बहु-उद्देशीय विद्यालयों का एक उद्देश्य छात्रों को रचनात्मक और समाज के लिए हितकर कार्य करने की शिक्षा देना होना चाहिए।

माध्यमिक विद्यालयों को सभी प्रकार के छात्रों की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए। ये विद्यालय विश्वविद्यालय में प्रवेश लेने वाले छात्रों को तैयार करें तथा इसके साथ ही उन छात्रों को जो कि माध्यमिक शिक्षा पूर्ण करने के पश्चात् अध्ययन समाप्त कर देंगे, स्वावलम्बन की शिक्षा दें।

विद्यालयों को छात्रों में एक शिल्प की इतनी दक्षता उत्पन्न कर देनी चाहिए कि वे उससे सम्बन्धित व्यवसाय को कर सकें।

ीय विद्यालयों से लाभ

ेशीय विद्यालयों मे अनेक लाभ है जो कि निम्नलिखित रेखाचित्र से स्पष्ट है
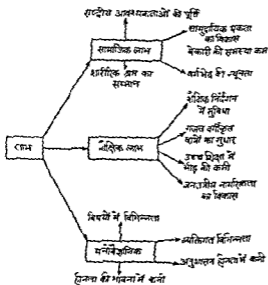
(१) सामाजिक लाभ—वर्तमान युग में शिक्षा के सामाजिक उद्देश्य पर अधिक बल दिया जाता है ताकि छात्र में सभी सामाजिक गुणों का विकास करके उसको समाज का एक उपयोगी सदस्य बनाया जा सके। भारतवर्ष में आज ऐसे नवयुवकों की आवश्यकता है जो भारतीय समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर कर सकें और उसके विकास में सहयोग दे सकें। ऐसे नवयुवक तैयार करना तो विद्यालयों का ही कार्य है। इसीलिए आजकल विद्यालयों को समाज का लघु रूप कहा जाता है। बहु-उद्देशीय विद्यालय सामाजिक पक्ष के विकास के लिए अधिक अवसर प्रदान करते हैं। इनमें निम्नलिखित सामाजिक लाभ हैं

(अ) राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति—स्वतन्त्रता के पश्चात् हमारे देश में आर्थिक, सामाजिक तथा औद्योगिक विकास हो रहे हैं। परिणामस्वरूप, इन विभिन्न क्षेत्रों के लिए कुशल कार्यकर्त्ताओं की माँग बढ़ रही है। बहु-उद्देशीय विद्यालय कृषि, वाणिज्य तथा प्राविधिक कार्य में दक्ष नवयुवक तैयार करते हैं।

(आ) सामुदायिक एकता का विकास—हमारे समाज में व्यक्तियों और समूहों के मध्य निरन्तर बढ़ती हुई पृथकता एक बड़ा दोष है। राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रीय भावनों की सुरक्षा तथा उनकी उन्नति करने के लिए आवश्यक है कि छात्रों को सामुदायिक एकता का पाठ पढ़ाया जाए। ये विद्यालय सामूहिक रूप से कार्य करने को प्रोत्साहन देते हैं।

(इ) बेकारी की समस्या—भारतवर्ष के शिक्षित वर्ग में बढ़ रही बेकारी की समस्या एक चिन्ता का विषय है। बहु-उद्देशीय विद्यालय छात्रों को एक हस्तकला में दक्ष बनाकर उनको जीविकोपार्जन के योग्य बना देते हैं। शिक्षा समाप्त करने के बाद उनको किसी व्यवसाय में प्रवेश के समय तक बेकार बैठकर प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है।

(ई) वर्ग-भेद की न्यूनता—आज हमारा समाज अनेक वर्गों में बँटा हुआ है। उच्च वर्ग के लोग निम्न वर्ग के व्यक्तियों से घृणा करते हैं। परिणामस्वरूप, सामाजिक एकता की शक्ति का ह्रास होता है। बहु-उद्देशीय विद्यालयों में सभी वर्गों के बच्चे एक साथ पढ़ेंगे तो परस्पर मिलन से उनमें एक-दूसरे के प्रति प्रेम बढ़ेगा।

(उ) शारीरिक श्रम का सम्मान—यहाँ अंग्रेजों के समय में बौद्धिक शिक्षा पर अधिक बल दिया गया। परिणामस्वरूप, शिक्षित व्यक्ति शारीरिक श्रम से घृणा करने लगे। बहु-उद्देशीय विद्यालयों में छात्रों को विभिन्न हस्त-कलाएँ सीखनी पड़ेंगी। धीरे-धीरे छात्र इस प्रकार हस्त-कार्य करने में रुचि लेंगे तथा यह भावना भी दूर होगी कि कोई कार्य किसी जाति विशेष से सम्बन्धित है। वे तो प्रत्येक कार्य को हस्तकला के रूप में देखेंगे।

(२) शैक्षिक लाभ—बुनियादी विद्यालयों में निम्नलिखित शैक्षिक लाभ हैं :

(अ) शैक्षिक निर्देशन में सुविधा—इन विद्यालयों में विभिन्न विषयों समावेश होता है जिसके कारण विद्यार्थियों को अध्ययन के लिए चुनाव करने में अधि सहायता की जा सकती है

(आ) गलत वर्गीकृत छात्रों में सुधार—इन विद्यालयों में उन छात्रों की समस्या का समाधान सरलता से हो जाता है जो गलत विषयों का चयन कर लेते है। गलत वर्ग चुनने वाले छात्र को दूसरे वर्ग में स्थानान्तरित किया जा सकता है।

(इ) उच्च शिक्षा में भीड़ की कमी—भारतवर्ष में माध्यमिक शिक्षा का एक दोष अपने में ही पूर्णता का अभाव था। माध्यमिक शिक्षा समाप्त करने के बाद छात्र के समक्ष समय का सदुपयोग करने का एक ही उपाय था कि वे उच्च शिक्षा प्राप्त करें। इस प्रकार विश्वविद्यालयों में छात्रों की भीड़ बढ़ जाती है। बहु-उद्देशीय विद्यालय छात्र को किसी हस्तकला में निपुण बनाकर उनके आत्मविश्वास में वृद्धि करते है। ये छात्र इसके द्वारा जीवन-यापन कर सकते हैं और अग्रिम शिक्षा का विचार त्याग सकते हैं। इस प्रकार विश्वविद्यालयों में भीड़ की कमी हो जाती है।

(ई) जनतंत्रीय नागरिकता का विकास—सभी छात्र यहाँ सामूहिक रूप से कार्य करते है, परिणामस्वरूप उनमे परस्पर प्रेम और सहानुभूति की भावना का विकास होता है। वे यहाँ पर कर्तव्य पूरा करने का पाठ सीखते है। यहाँ कुछ अनिवार्य विषय पढ़ाये जाते हैं जिनका अध्ययन करना जनतन्त्र के प्रत्येक नागरिक के लिए आवश्यक है।

(३) मनोवैज्ञानिक लाभ—इसमे निम्नलिखित मनोवैज्ञानिक लाभ है

(अ) विषयों में विभिन्नता—इन विद्यालयों में विभिन्न विषयों का अध्यापन होता है। इस प्रकार छात्रों को अपनी रुचि एवं योग्यता के अनुसार अध्ययन के विषयों का चयन करने में सुविधा रहती है।

(आ) व्यक्तिगत विभिन्नता—वर्तमान समय में व्यक्तिगत विभिन्नता के सिद्धान्त पर अधिक बल दिया जाता है। इसीलिए इन विद्यालयों में इस सिद्धान्त के आधार पर ही शिक्षण होता है। छात्रों की रुचियों, क्षमताओं एवं योग्यता के आधार पर उनको हस्तकला की शिक्षा दी जाती है।

(इ) अनुशासनहीनता में कमी—माध्यमिक शिक्षा ग्रहण करने वाले छात्रों की किशोरावस्था होती है। इस अवस्था में छात्रों की विभिन्न रुचियों को रचनात्मक कार्य की ओर लगाना चाहिए। यदि उनकी रुचियों का ध्यान नहीं रखा गया तो उनमे अनुशासनहीनता बढ़ती जाएगी। बहु-उद्देशीय विद्यालयों में छात्रों की रुचियों का पूरा ध्यान रखा जाता है। उनकी रचनात्मक प्रवृत्ति के विकास के लिए अधिक अवसर प्रदान किए जाते हैं। इसमें छात्रों में अनुशासनहीनता कम होगी।

(ई) हीनता की भावना में कमी—अधिकांशतया विज्ञान तथा व्यावसायिक ...ा प्राप्त करने वाले छात्र साहित्य और कला के छात्रों को हीन दृष्टि से देखते ...

जब सभी वर्गों के छात्र एक ही विद्यालय में पढ़ेंगे, एक-सा ही क्राफ्ट कार्य करेंगे और साथ-साथ खेलेंगे तो उनमें हीनता की भावना समाप्त हो जाएगी।

बहु-उद्देशीय विद्यालयों की समस्याएँ

मुदालियर आयोग की सिफारिश के आधार पर भारतवर्ष में माध्यमिक विद्यालयों की स्थापना की गई परन्तु इनको स्थापित करने एवं इनको सफल बनाने में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। ये समस्याएँ निम्नलिखित हैं

१ आयोग ने पाठ्यक्रम की विभिन्नता के लिए इनको सात वर्गों में विभाजित किया। सम्पूर्ण देश में शिक्षा का समान स्तर बनाने के लिए निर्देश दिया कि यही विविध पाठ्यक्रम सभी प्रान्तों में लागू किया जाय। देश के कुछ प्रान्तों ने इस सुझाव को स्वीकार किया तथा 'अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षा परिषद्' के सहयोग से निश्चित किया कि विभिन्न कक्षाओं में इन विषयों का कितना अंश पढ़ाना है ? आयोग के इस सुझाव में दो प्रमुख दोष हैं

(अ) सभी राज्यों में शिक्षा का समान स्तर न होना।

(आ) पाठ्यक्रम के निर्माण में स्थानीय आवश्यकताओं को ध्यान में नहीं रखा गया है। शिक्षा का स्थानीय आवश्यकताओं की ओर ध्यान न देने से यह शिक्षा स्थानीय समाज के लिए उपयोगी नहीं हो सकती है। गांधीजी ने भी बुनियादी शिक्षा में हस्तकला के चुनाव के लिए स्थानीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखने पर विशेष बल दिया है परन्तु आयोग ने तो कुछ हस्तकलाओं को लिख दिया है चाहे वे किसी स्थान के उपयुक्त हैं या नहीं।

२ **हस्तकला को गौण स्थान**—आयोग का सुझाव था कि प्रत्येक छात्र को एक हस्तकला का अध्ययन अनिवार्य रूप से करवाया जाय और उसको उसमें इतना निपुण बना दिया जाय कि वे स्वतन्त्र रूप से उस उद्योग को चला सकें, परन्तु खेद का विषय है कि इन विद्यालयों से निकले छात्र स्वतन्त्र रूप से हस्त-उद्योग को चलाने की क्षमता नहीं रखते हैं। इसका कारण विद्यालयों में हस्त-उद्योग सिखाने के लिए पर्याप्त साधनों का अभाव है। हस्त-उद्योग कक्ष विद्यालयों में नहीं पाये जाते हैं और जिनमें उद्योग-कक्ष हैं, वे नाम-मात्र के लिए हैं क्योंकि महँगे यन्त्र होने से ये सुसज्जित नहीं हो पाते हैं। इस कारण हस्तकला का पाठ्यक्रम में गौण स्थान होता जा रहा है।

३ **विद्यालयों की स्थापना सम्बन्धी समस्या**—देश में अनेक माध्यमिक तथा उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों को बहु-उद्देशीय विद्यालयों में *परिवर्तित किया जा* रहा है तथा इसके साथ ही नवीन बहु-उद्देशीय विद्यालयों की स्थापना भी की जा रही है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक २,४८६ बहु-उद्देशीय विद्यालय स्थापित करने का लक्ष्य सरकार ने रखा परन्तु इन बहु-उद्देशीय विद्यालयों की स्थापना के

लिए इस पर विचार नहीं किया गया कि किन विद्यालयों को बहु-उद्देशीय विद्यालयों में परिणत किया जायगा तथा किन स्थानों पर नवीन बहु-उद्देशीय विद्यालय स्थापित करने की आवश्यकता है। परिणामस्वरूप, अनेक ऐसे स्थानों पर बहु-उद्देशीय विद्यालय प्रारम्भ किये गये हैं जहाँ उनकी उपयोगिता अधिक नहीं था जहाँ पर छात्रों की संख्या अधिक नहीं है। अनेक ऐसे विद्यालयों को बहु-उद्देशीय विद्यालयों में परिणत किया है जिनके पास समुचित स्थान नहीं है या भवन का अभाव है।

४. **समय-सारिणी की समस्या**—बहु-उद्देशीय विद्यालयों में विविध पाठ्यक्रम होने से प्रधानाध्यापकों के समक्ष उपयुक्त समय-सारिणी बनाने की भी कठिनाई है। इस कठिनाई के दो कारण हैं

(i) प्रधानाध्यापकों को अनेक विषयों के व्यावहारिक महत्त्व का ज्ञान नहीं है।

(ii) पहले की अपेक्षा पाठ्य-विषयों की संख्या में वृद्धि होती है।

बहु-उद्देशीय विद्यालय के पाठ्यक्रम में अनेक व्यावहारिक विषय सम्मिलित किये गये हैं। प्रधानाध्यापकों को इन विषयों के महत्त्व का ज्ञान न होने से इन विषयों को समय-सारिणी में पर्याप्त समय नहीं देते हैं। अधिकांश प्रधानाध्यापक पुरानी शिक्षा प्रणाली के अनुसार कार्य करते रहे हैं। अतः वे सामान्य शिक्षा के विषयों को प्रधानता देते हैं। बहु-उद्देशीय विद्यालय में सात वर्गों के विभिन्न विषय तथा अनिवार्य विषय होने से इनकी संख्या में इतनी वृद्धि हो गई है कि सीमित समय में ही इनकी व्यवस्था करना कठिन कार्य हो जाता है।

५ **पाठ्य-पुस्तकों का अभाव**—साधारण विद्यालयों के लिए पहले से ही पाठ्य-पुस्तकों की समस्या थी। इन बहु-उद्देशीय विद्यालयों की स्थापना से तो पाठ्य-पुस्तकों की कमी और अधिक हो गई। वैकल्पिक विषयों की संख्या अधिक बढ़ गई तथा इनमें से जिन विषयों में छात्रों की संख्या कम होती है, उनके लिए पुस्तकें कम लिखी गई। अनेक नवीन विषयों के लिए पाठ्य-पुस्तक प्राप्त करने में कठिनाई अनुभव की गई।

६. **शिक्षकों की समस्या**—देश में प्रशिक्षित अध्यापकों का अभाव पहले से ही बना हुआ है परन्तु इन बहु-उद्देशीय विद्यालयों की स्थापना से योग्य अध्यापकों का मिलना और भी अधिक दुष्कर हो गया है। विज्ञान तथा प्राविधिक विषयों के लिए अध्यापकों का अभाव बना ही रहता है। इसका कारण न्यून वेतन होने से इन विषयों के व्यक्ति अध्यापन व्यवसाय की ओर आकर्षित नहीं होते हैं। हस्तकला के लिए भी अध्यापकों की समस्या बनी रहती है।

७. **निर्देशन की समस्या**—विविध पाठ्यक्रम की सुविधा होने पर विद्यालय में निर्देशन सेवा भी होनी चाहिए ताकि छात्रों को विषयों का चुनाव करते समय उचित परामर्श दिया जा सके। हमारे यहाँ के बहु-उद्देशीय विद्यालयों में निर्देशन

सेवा प्रारम्भ नही की गई है तथा जहां यह कार्य कर रही है उनके लिए प्रशिक्षित निर्देशन अधिकारी प्राप्त नही हो पाते हैं। अभी तक प्रमापीकृत परीक्षाओं Tests) का अभाव बना हुआ है। इनके बिना छात्रों की योग्यताओं एवं रुचियों का मापन नही हो पाता है।

८. **अभिभावकों का विरोध**—धीरे-धीरे अभिभावक भी बहु-उद्देशीय विद्यालयों का विरोध करने लगे हैं। इसका कारण यह है कि अनेक बार वर्ग के चयन पर अध्यापक और प्रधानाध्यापक एक मत नही हो पाते है। छात्र की योग्यता तथा अभिरुचि के आधार पर छात्र को वाणिज्य वर्ग लेने का सुझाव दिया जाता है, परन्तु अभिभावक विज्ञान वर्ग दिलवाने पर जोर देता है। ऐसे अवसर पर प्रधानाध्यापक को एक जटिल समस्या का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार के मतभेद से अभिभावक इन विद्यालयों का विरोध करने लगे हैं।

९. **पाठ्य-विषयों की अधिकता**—विविध पाठ्यक्रम होने से छात्र को अनिवार्य या आन्तरिक तथा वैकल्पिक विषयों का अध्ययन करना होता है। इनका भार इतना अधिक है कि परीक्षा में उत्तीर्ण छात्रों का प्रतिशत कम हो गया है। अधिक विषय होने से छात्र सभी विषयों में सन्तोषजनक ज्ञान प्राप्त नही कर पाते हैं। परिणामस्वरूप, शिक्षा का स्तर गिरता जा रहा है। बहु-उद्देशीय विद्यालय की अपेक्षा पुराने ढग के विद्यालय फिर से लोकप्रिय होते जा रहे हैं।

सुझाव

बहु-उद्देशीय विद्यालयों की समस्याओं एवं कठिनाइयों का अध्ययन करने से स्पष्ट है कि आयोग के इस सुझाव को सफल बनाने के लिए इन समस्याओं के समाधान पर विचार करना होगा

१. **पाठ्यक्रम में सुधार**—यह ठीक ही है कि सम्पूर्ण देश के लिए समान पाठ्यक्रम चलाना तर्कसगत नही है। यह आवश्यक नही कि शिक्षा आयोग ने पाठ्यक्रम के जिस रूप का वर्णन किया है उसको उसी रूप में सभी प्रान्तों में पढ़ाया जाय। पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में निश्चय करते समय स्थानीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखना होगा अन्यथा विद्यालय स्थानीय समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकेंगे। स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार ही हस्तकला का चुनाव करना चाहिए।

२. **हस्तकला के लिए कर्मशालाएँ**—हस्त-उद्योग को बहु-उद्देशीय विद्यालय में प्रमुख स्थान मिलना चाहिए। ऐसा न होने से माध्यमिक शिक्षा अपूर्ण ही रहेगी। इन विद्यालयों में हस्त-उद्योग के लिए कर्मशालाएँ बनाई जाएँ। इन कर्मशालाओं को पूर्णत सुसज्जित किया जाय। हस्त-उद्योग के अभ्यास के लिए छात्रों को अधिक अवसर दिया जाय। जब तक कर्मशालाएँ नहीं बनती हैं, किसी निकटवर्ती फैक्ट्री में प्रायोगिक और कर्मशाला सम्बन्धी कार्य किया जा सकता है। रूस में इसी प्रकार से

किया जाता है। यहाँ प्रत्येक छात्र को कुछ समय निकट की फैक्ट्री में कार्य करना होता है। इस प्रकार छात्र फैक्ट्री की कार्य-प्रणाली से परिचित हो जाता है और दूसरे विद्यालय में कर्मशाला स्थापित करने के भार से विद्यालय बच जाता है।

३. **माँग के क्षेत्रों में विद्यालयों की स्थापना**—नवीन बहु-उद्देशीय विद्यालयों की स्थापना उन्हीं स्थानों पर की जाय जहाँ उनकी माँग अधिक है। नवीन विद्यालय स्थापित करने से पूर्व कुछ बातों पर विचार करना चाहिए—(i) आवागमन की सुविधा, (ii) समुचित स्थान का चुनाव। प्राविधिक शिक्षा की व्यवस्था उन विद्यालयों में की जाय जिनके निकट कोई फैक्ट्री या मिल हो। सरकार को सम्पूर्ण देश का सर्वेक्षण करके आवश्यक स्थानों का पता लगाना चाहिए जहाँ बहु-उद्देशीय विद्यालय स्थापित किये जा सकते हैं। उपर्युक्त बातों को ही पुराने माध्यमिक विद्यालयों को बहु-उद्देशीय विद्यालय में परिणत करते समय ध्यान में रखना चाहिए। जिन विद्यालयों के पास धन की कमी न हो, भवन सम्बन्धी समस्या न हो तथा साथ ही छात्रों की संख्या अधिक हो उनको ही बहु-उद्देशीय विद्यालय बनाया जाय।

४. **आदर्श समय-सारिणी**—विषयों की अधिकता तथा हस्त-उद्योग के कारण प्रधानाध्यापक समय-सारिणी बनाने में कठिनाई अनुभव करते हैं। सरकार को विशेषज्ञों से आदर्श समय-सारिणी का निर्माण करवा कर प्रधानाध्यापकों के पास मार्ग-प्रदर्शन हेतु भेजना चाहिए। प्रधानाध्यापकों को समय-सारिणी बनाने का प्रशिक्षण देने के लिए ग्रीष्मावकाश में कुछ शिविरों का आयोजन करना चाहिए। हमारे देश में अभी तक इस क्षेत्र में अधिक कार्य नहीं किया गया है।

५. **पाठ्य-पुस्तकों का प्रबन्ध**—सरकार को पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन में रुचि लेनी चाहिए। लेखकों को पुस्तकें लिखने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। कुछ प्रान्तीय सरकारों ने पुस्तकों का प्रकाशन अपने हाथ में ले लिया है परन्तु उसमें अभी और अधिक सुधार की आवश्यकता है। लेखकों को पुस्तक लेखन का सन्तोषजनक पारिश्रमिक मिलना चाहिए।

६. **प्रशिक्षित अध्यापकों का प्रबन्ध**—बहु-उद्देशीय विद्यालयों में कार्य करने के लिए कुछ विषयों के अध्यापक प्राप्त नहीं होते हैं। सरकार को इस प्रकार के प्रशिक्षण महाविद्यालय स्थापित करने चाहिए जहाँ पर विज्ञान तथा प्राविधिक विषयों के अध्यापक तैयार किये जा सकें। वैसे भारत सरकार ने क्षेत्रीय प्रशिक्षण महाविद्यालयों की स्थापना की है परन्तु भारत जैसे देश के लिए जहाँ धनाभाव है, नवीन प्रशिक्षण महाविद्यालय स्थापित करने के स्थान पर पुराने प्रशिक्षण विद्यालयों को ही विकसित किया जाता तो कम धन में ही यह कार्य सम्भव हो जाता। बहु-उद्देशीय विद्यालयों में अध्यापकों की कमी को दूर करने के लिए निम्नलिखित उपाय काम में लाने चाहिए—(i) अधिक योग्य तथा उच्च शैक्षिक योग्यता वाले अध्यापकों के लिए आकर्षक वेतन की व्यवस्था की जाय, (ii) इन अध्यापकों को नौकरी की सुरक्षा का

आश्वासन दिया जाय, (iii) प्रशिक्षण संस्थानों मे बहु-उद्देशीय विद्यालयो के लिए अध्यापक तैयार किये जायें, (iv) अध्यापको को शैक्षिक योग्यता बढाने की सुविधाएँ दी जायें।

७. **निर्देशन अधिकारियो का प्रशिक्षण**—बहु-उद्देशीय विद्यालयो मे निर्देशन सेवा की व्यवस्था करना अति आवश्यक है, परन्तु इस निर्देशन कार्य के लिए प्रशिक्षित व्यक्ति उपलब्ध नही होते है। आवश्यकता इस बात की है कि निर्देशन अधिकारी तथा जीविकोपार्जन शिक्षको (Career Masters) को प्रशिक्षण देने के लिए कम से कम प्रत्येक प्रान्त मे एक प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किया जाय। भारत सरकार द्वारा प्रमापीकृत परीक्षाएँ तैयार करनी चाहिए।

८. **अभिभावको के दृष्टिकोण मे परिवर्तन**—अभिभावको को बहु-उद्देशीय विद्यालयो का महत्त्व स्पष्ट किया जाय। विद्यालयो मे निर्देशन सेवा को विकसित किया जाय तथा उनको विश्वास दिलाया जाय कि छात्र को जिस वर्ग का अध्ययन करने का परामर्श दिया है, वह उसके लिए उपयोगी तथा लाभप्रद सिद्ध होगा।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१ पाठ्यक्रम की विविधता पर टिप्पणी लिखिए।

२ मुदालियर आयोग द्वारा सुझाये गये बहु-उद्देशीय विद्यालयो की क्या प्रमुख विशेषताएँ हैं ?

३ बहु-उद्देशीय विद्यालयों के प्रमुख उद्देश्यो पर प्रकाश डालिए।

४ बहु-उद्देशीय विद्यालयो की समस्याओ तथा उनको दूर करने के उपायो का वर्णन कीजिए।

राजस्थान विश्वविद्यालय की बी० एड० परीक्षा मे पूछे गये प्रश्न

1. Discuss the functions of the 'core subjects' and the 'electives' in the Secondary School curriculum, and say what subjects or groups of subjects are to be included under each category Explain how the aims of the secondary education are to be realised through this curriculum (1963)

2 Suppose that you are the Head of a Higher Secondary institution Choose a subject and justify its place in the curriculum. Show to what extent the object of keeping the subject in the curriculum is realised, and point out the weaknesses which are observed to remain and the way you will remedy them (1964)

३. क्या आप समझते हैं कि बहु-उद्देशीय विद्यालयो की योजना आपके क्षेत्र मे सुचारु रूप मे चल रही है ? आपके विचार मे इसमें क्या कमियाँ हैं और आप उन्हे किस प्रकार दूर करेंगे ? (१६६८)

अध्याय ८

शिक्षा में अपव्यय तथा अवरोधन

केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारें देश मे से निरक्षरता-उन्मूलन के लिए अनेक प्रयत्न कर रही है। शिक्षा के प्रसार के लिए ही संविधान मे अनिवार्य तथा नि शुल्क शिक्षा करने का प्रावधान रखा गया है। संविधान के इस प्रावधान की पूर्ति के लिए प्रान्तीय सरकार अपने प्रान्तो मे नवीन विद्यालयो की स्थापना कर रही है। अध्यापको के प्रशिक्षण के लिए नित नवीन प्रशिक्षण विद्यालयो की स्थापना की जा रही है। परन्तु अपव्यय एव अवरोधन के कारण शिक्षा के विस्तार मे आशातीत सफलता नही मिल रही है।

अपव्यय एव अवरोधन को समस्या कोई नवीन नही है। सन् १९२७ मे ब्रिटिश सरकार ने सायमन कमीशन की नियुक्ति भारत के विभिन्न क्षेत्रो, जैसे सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक आदि, मे हुई प्रगति का निरीक्षण करने के लिए की। सायमन कमीशन ने भारत मे शिक्षा को प्रगति की जाँच करने के लिए एक सहायक समिति सर फिलिप हर्टाग की अध्यक्षता मे सन् १९२९ म बनाई। इस समिति ने ही सर्वप्रथम प्राथमिक शिक्षा मे अपव्यय एव अवरोधन की ओर देश का ध्यान आकर्षित किया। समिति के अनुसार अपव्यय तथा अवरोधन से प्राथमिक शिक्षा मे अनेक दोष उत्पन्न हो गये है जिनके कारण साक्षरता-प्रसार के कार्य मे बाधा पैदा हो गई है।

अपव्यय तथा अवरोधन का अर्थ

(१) अपव्यय प्राथमिक शिक्षा की पढाई पूर्ण करने से पूर्व ही बालक का विद्यालय से हटा लेना अपव्यय कहलाता है। हर्टाग समिति ने अपने प्रतिवेदन के पृष्ठ न० ८३ पर अपव्यय की परिभाषा इस प्रकार दी है– "By wastage we mean the premature withdrawal of children from school at any stage before the completion of primary course" उदाहरण के लिए,

कोई छात्र विद्यालय मे प्रवेश करने के २ या ३ वर्ष बाद विद्यालय छोड देता है तो उसकी पढ़ाई अधूरी रह जाती है। विद्यालय छोडने के बाद जो कुछ भी उसने सीखा, उसको भूल जाता है। इस प्रकार समय, धन तथा छात्र की शक्ति का अपव्यय होता है।

(२) अवरोधन—किसी छात्र का एक ही कक्षा मे एक वर्ष से अधिक रुक जाना ही अवरोधन कहलाता है। हर्टाग समिति ने अवरोधन की परिभाषा देते हुए लिखा है— "By stagnation we mean the retention in a lower class of a child for a period of more than one year" छात्र के एक ही कक्षा मे बार-बार अनुत्तीर्ण होने से उसकी शिक्षा की प्रगति मारी जाती है। छात्र निरुत्साहित भी होता है। अनुत्तीर्ण होने मे छात्र का बहुमूल्य समय नष्ट हो जाता है। इसके साथ ही जब उसके साथी उससे आगे बढ जाते हैं तो उसमे हीनता की भावना घर कर जाती है। अवरोधन के कारण प्राथमिक विद्यालय के ४ या ५ वर्ष की अवधि के पाठ्यक्रम को छात्र ६ या ७ वर्ष मे पूरा करते हैं। अवरोधन से दो हानियाँ होती हैं-- (१) एक तो छात्रो के समय एवं शक्ति का अपव्यय होता है, तथा (२) दूसरे एक ही कक्षा मे अधिक छात्रों के अनुत्तीर्ण होने पर नवीन छात्रो का प्रवेश रुक जाता है।

के० जी० सैयदन ने अपव्यय की समस्या को स्पष्ट करने के लिए कुछ आँकडे प्रस्तुत किये हैं। सन् १९५२-५३ मे कक्षा १ मे शिक्षा प्राप्त करने वाले १०० छात्रो मे से सन् १९५५-५६ तक कक्षा ४ मे केवल ४३ छात्र ही पहुँच पाये। इस प्रकार ५७ प्रतिशत छात्रो पर धन और समय का अपव्यय हुआ।

अपव्यय और अवरोधन के कारण

१ शारीरिक या व्यक्तिगत कारण

(अ) अस्वस्थता—हमारे देश मे बच्चो को सन्तुलित भोजन प्राप्त नही हो पाता है और न सरकार की ओर से स्वास्थ्य परीक्षण की ही सुविधा है। इसका परिणाम यह होता है कि अनेक बच्चे लम्बी बीमारी के कारण विद्यालय मे अनुपस्थित रहते हैं। इस अवधि मे पाठ्यक्रम का अधिकाश भाग कक्षा मे पढाये जाने के कारण ये अस्वस्थ बालक पिछड जाते हैं। अस्वस्थता के कारण छात्र एक कक्षा मे अनुत्तीर्ण हो जाते हैं और यह उनके अवरोधन का कारण होती है।

(आ) पढ़ाई मे कमजोर—भारतवर्ष मे दोषपूर्ण परीक्षा प्रणाली के कारण अनेक छात्र आगे की कक्षा मे संयोगवश चढ़ जाते हैं। इन छात्रो का सम्प्राप्ति का आधार कमजोर ही रहता है। उच्च कक्षाओ मे पहुँचने पर ये छात्र अनुत्तीर्ण होते रहते हैं या कभी-कभी कुछ छात्र बुद्धि कम होते हुए भी उच्च कक्षाओ मे ऐसे विषयो का चयन कर लेते हैं जिनको वे समझ नही सकते, उदाहरण के लिए, विभिन्न पाठ्य-क्रमो के लिए निम्नलिखित बुद्धि-लब्धि होनी चाहिए

पाठ्यक्रम	बुद्धि-लब्धि का मध्यमान
प्रायोगिक	११४
विज्ञान	१०८
साहित्य	१६०
वाणिज्य	१०४

गलत पाठ्य विषय का चयन करने के कारण छात्र उसमें कई वर्षों तक अनुत्तीर्ण होते रहते हैं। कभी-कभी गलत पाठ्य विषय का चयन माता-पिता की उच्च महत्त्वाकांक्षाओं के कारण भी हो जाता है।

(इ) पाठ्यक्रम में अरुचि—प्राथमिक विद्यालयों का पाठ्यक्रम इतना जटिल, नीरस और अनुपयोगी होता है कि छात्रों का मन उसको पढ़ने में नहीं लगता है। प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर के पाठ्यक्रम में अनेक विषयों की भरमार कर दी गई है। अधिकांश विषय ऐसे होते हैं जिनमें छात्रों की रुचि नहीं होती है। परिणामस्वरूप, छात्र अधिक संख्या में इन विषयों में अनुत्तीर्ण होते हैं।

(ई) अध्यापक के प्रति अरुचि—कभी-कभी कुछ छात्र कुछ अध्यापकों से उनके व्यवहार या अप्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण घृणा करने लगते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जब भी वह अध्यापक कक्षा में आता है तो उसके अध्यापन में छात्र रुचि नहीं लेते या अध्यापक के आने से पूर्व ही कक्षा छोड़ कर चले जाते हैं। ऐसे छात्र उस अध्यापक द्वारा पढ़ाये जाने वाले विषय में कमजोर रहते हैं और अधिकतर उस विषय में अनुत्तीर्ण हो जाते हैं। यह भी अवरोधन का एक कारण है।

२. सामाजिक कारण

(अ) रूढ़िवादिता—हमारा समाज परम्परागत रूढ़ियों में इतना जकड़ा हुआ है कि अनेक कुत्सित प्रथाओं के कारण बालिकाओं की शिक्षा का ग्रामीण क्षेत्रों में विरोध किया जाता है। गाँवों में बालिकाओं के लिए पृथक् विद्यालयों का अभाव है। ग्रामीण अभिभावक बालिकाओं को बालकों के विद्यालय में पढ़ने हेतु भेजने के विरोधी हैं। कभी-कभी दो या तीन वर्ष बाद ही अपनी लड़कियों को प्राथमिक शिक्षा पूर्ण किये बिना ही विद्यालय से हटा लेते हैं। इस प्रकार यह अपव्यय का कारण है।

(आ) पर्दा-प्रथा तथा बाल-विवाह—भारतवर्ष में पर्दा-प्रथा तथा बाल-विवाह की कुरीति के कारण दूसरी या तीसरी कक्षा में ज्योंही बालिका पहुँची कि अभिभावक उसका विवाह कर देते हैं। इस प्रकार उसका अध्ययन पूर्ण नहीं हो पाता है। यह बाल-विवाह बालकों में भी अपव्यय और अवरोधन का कारण होता है।

(इ) अछूत प्रथा—हमारे देश में अछूत प्रथा के प्रचलन से भी अछूत बालकों की शिक्षा पूर्ण नहीं हो पाती है, परन्तु अब धीरे-धीरे इस क्षेत्र में अधिक परिवर्तन हो रहे हैं।

(ई) बुरी संगत—विद्यालयों में सभी प्रकार के छात्र पाये जाते हैं। कुछ गन्दी आदतों वाले छात्रों का एक समूह बन जाता है जो विद्यालय से बाहर ही अपना समय व्यतीत करते है। जब छात्र इस बुरी संगत में फँस जाते हैं तो उनके प्रभाव में आकर कक्षाएँ छोड़ना तो एक सामान्य बात हो जाती है। ये छात्र एक कक्षा में ही दो या तीन वर्ष तक रुके रहते हैं। कभी-कभी पुराने छात्र नवीन छात्रों को तंग करते हैं। इस परेशानी के कारण कुछ छात्र विद्यालय छोड़ देते है।

३. विद्यालय से सम्बन्धित कारण

(अ) अप्रभावशाली अध्यापन—प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर पर नीरस तथा अमनोवैज्ञानिक शिक्षण विधियों का प्रयोग होता है। अप्रभावशाली शिक्षण के अनेक कठिन विषयों को समझने में छात्रों को कठिनाई होती है, अप्रभावशाली अध्यापन का कारण योग्य तथा प्रशिक्षित अध्यापकों का अभाव है। प्रशिक्षित अध्यापक भी उपेक्षा की नीति के कारण प्रभावशाली शिक्षण विधियों का प्रयोग नहीं करते हैं। अध्यापकों द्वारा प्रतिभाशाली तथा मन्द बुद्धि के बालकों को एक ही शिक्षण विधि द्वारा पढ़ाया जाता है। परिणामस्वरूप, दोनों ही प्रकार के छात्रों को लाभ नहीं हो पाता है। छात्रों को विषय स्पष्ट न होने पर वे उसमें अनुत्तीर्ण हो जाते है।

(आ) शारीरिक दण्ड—भारतवर्ष में आज भी नवीन अध्यापक इस मनोवैज्ञानिक युग में अपने पूर्वज अध्यापकों का अनुकरण करने में तनिक भी नहीं हिचकिचाते है। प्राथमिक विद्यालयों में अध्यापक छात्रों को छोटी-छोटी बातों पर ही मारने-पीटने लगते है। इस प्रकार के अनेक छात्र मिलेंगे जो कि मार-पीट के कारण विद्यालय छोड़ कर घर बैठ जाते हैं।

(इ) अध्यापकों में सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार का अभाव—कहा यह जाता है कि अध्यापक को छात्र का एक अच्छा मित्र होना चाहिए। उसको छात्र की प्रत्येक कठिनाई समझ कर उसके निवारण हेतु प्रयास करना चाहिए, परन्तु आज के अध्यापकों में बच्चों के प्रति स्नेह का अभाव पाया जाता है। उनमें सांवेगिक अस्थिरता पाई जाती है। छोटी-छोटी बातों पर ही वे भड़क उठते हैं। इसके साथ ही कार्य करने की इच्छा से तो वैराग्य सा लिया प्रतीत होता है। छात्र अपनी कठिनाई या समस्या लेकर पहुंचता है तो अध्यापक महोदय की भृकुटी तन जाती है, चेहरे पर ऐसा भाव आ जाता है कि छात्र को अपनी बात कहने का साहस तक नहीं होता। अपनी उन समस्याओं के कारण बहुत से छात्र बीच में ही अध्ययन छोड़ देते हैं।

(ई) विद्यालय के वातावरण का आकर्षक न होना—प्राथमिक विद्यालयों में जहाँ छोटी आयु के बालक अध्ययन हेतु आते हैं उनके लिए विद्यालय का वातावरण आकर्षक होना चाहिए। आजकल विद्यालयों में खेल-कूद की व्यवस्था होने तथा सभी उपकरणों एवं फर्नीचर आदि के अभाव से बच्चों का मन विद्यालय में नहीं लगता

को नहीं समझते हैं। वे अपनी इच्छानुसार चाहे जब तनिक आवश्यकता होने पर बालकों को विद्यालय जाने से बन्द कर देते हैं।

(आ) अध्यापिकाओं का अभाव—जिन स्थानों पर बालिका विद्यालय स्थापित भी किये हैं उनके लिए पर्याप्त संख्या में अध्यापिकाएँ न मिलने की समस्या रहती है। पर्याप्त संख्या में अध्यापिकाएँ न होने पर छात्राओं पर सन्तोषजनक ध्यान नहीं दिया जा सकता है। उनकी पढ़ाई ठीक नहीं चल पाती है। इसका परिणाम अधिक संख्या में छात्राओं की असफलता होती है।

(इ) विद्यालयों का दूर-दूर होना—भारतवर्ष तो गाँवों का देश है। यहाँ के अनेक गाँवों में प्राथमिक विद्यालय तक नहीं है। बालकों को दूर-दूर के गाँवों में पढ़ने के लिए जाना पड़ता है। कुछ समय बाद अनेक बालक दूरी से ऊबकर विद्यालय जाना छोड़ देते हैं।

अपव्यय एवं अवरोधन-निवारण के उपाय

प्राथमिक स्तर पर

प्राथमिक शिक्षा में अपव्यय एवं अवरोधन रोकने के लिए निम्नलिखित उपाय अधिक सहायक हो सकते हैं

(अ) अनिवार्य शिक्षा—सभी बालकों के लिए शिक्षा अनिवार्य की जाय तथा ऐसा अधिनियम बनाया जाय कि शिक्षा की अवधि को पूर्ण किये बिना कोई भी बालक बीच में विद्यालय नहीं छोड़ सके। ऐसा करने वाले बच्चे के अभिभावक पर दण्ड होना चाहिये।

(आ) उपस्थिति अधिकारियों की नियुक्ति—अधिक संख्या में उपस्थिति अधिकारियों की नियुक्ति की जाय। ये अधिकारी ऐसे व्यक्तित्व वाले हों जो अभिभावकों से सम्पर्क स्थापित करके उनको इस बात के लिए तैयार करें ताकि वे बीच में से ही बालक को विद्यालय जाने से न रोकें।

(इ) निर्धन छात्रों को निःशुल्क भोजन, वस्त्र तथा पुस्तकें—जिन बच्चों के पिता निर्धनता के कारण अपने बच्चों को पुस्तकें आदि भी नहीं खरीद पाते हैं, सरकार की ओर से उनको मुफ्त भोजन, वस्त्र तथा पुस्तकों की सुविधा मिलनी चाहिए।

(ई) कक्षा में कम छात्र—कक्षा के आकार को बढ़ाया न जाये। एक कक्षा में कम छात्र रखे जायें ताकि अध्यापक छात्रों पर व्यक्तिगत ध्यान दे सके।

(उ) अध्यापक-अभिभावक संघ—विद्यालयों में अध्यापक-अभिभावक संघ बनाया जाय जिसमें अभिभावकों के साथ भी इस समस्या के निवारण के लिए विचार विमर्श किया जा सके।

(ऊ) शिक्षण-व्यवस्था में सुधार—प्राथमिक विद्यालयों के शिक्षण स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयास किया जाये। प्रशिक्षित अध्यापकों की नियुक्ति की जाय। अध्यापकों को मनोवैज्ञानिक शिक्षण विधियाँ प्रयोग में लाने के लिए प्रेरित किया जाये।

(ए) एक अध्यापक वाले विद्यालयों की समाप्ति—एक अध्यापक व विद्यालयों को समाप्त कर देना चाहिए क्योंकि एक अध्यापक न तो सभी छात्रों देख-भाल कर सकता है और न पढ़ा ही सकता है।

(ऐ) प्रौढ़ शिक्षा का प्रसार—ग्रामीण निरक्षर अभिभावकों को शिक्षा क महत्त्व समझाने के लिए प्रौढ़ शिक्षा का प्रसार किया जाय। इसके प्रसार से सामा- जिक समस्याओं का निराकरण होगा। रूढ़िवादिता समाप्त होगी।

(ओ) स्वास्थ्य निरीक्षण—सरकार की ओर से छात्रों के स्वास्थ्य का निरी- क्षण करने के लिए चिकित्सकों की व्यवस्था की जाय। व्यक्तिगत तथा सरकारी प्रयत्नों से बच्चों के लिए पौष्टिक भोजन की व्यवस्था की जाय।

माध्यमिक स्तर के लिए सुझाव

(अ) विविध पाठ्यक्रम—माध्यमिक कक्षाओं में विविध पाठ्यक्रम की व होनी चाहिए ताकि छात्र अपनी विभिन्न आवश्यकताओं, योग्यताओं एवं अभि के अनुसार पाठ्य-विषयों का चुनाव कर सकें। माध्यमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम वि होना चाहिए। माध्यमिक शिक्षा आयोग ने सन् १६५२-५३ में विविध पाठ्यक्र ही सुझाव दिया था।

(आ) ८वीं कक्षा के बाद छात्रों की छंटनी—८वीं कक्षा उत्तीर्ण करने के ब छात्र को विविध पाठ्यक्रम में से एक पाठ्यक्रम चुनना होगा। इस अवसर पर छा की सहायता की जाय ताकि वे अपनी योग्यता तथा बुद्धि के अनुसार ही पाठ्य-विष चुनें।

(इ) निर्देशन की व्यवस्था—इस स्तर पर छात्रों को विषयों के चुनाव, व्यवसाय के चुनाव तथा उचित समायोजन के लिए शैक्षिक एवं व्यावसायिक निर्देशन की आवश्यकता होती है। छात्रों की रुचियों का पता लगाने के लिए विद्यालय में विविध क्रियाओं की व्यवस्था होनी चाहिए। उदाहरण के लिए, कला क्लब, संगीत क्लब, काष्ठ कला, कताई-बुनाई, बाहरी खेल, बागवानी, प्रकाशन, छात्र संघ आदि की व्यवस्था विद्यालयों में हो जिससे छात्र उनमें रुच्यनुसार भाग ले सकें।

(ई) परीक्षा का व्यवस्थित रूप हो—परीक्षा के सम्बन्ध में कहा जाता है कि यह एक अच्छा सेवक तथा बुरा मालिक है (The examination system is a good servant and a bad master)। आजकल निबन्ध परीक्षाएँ प्रयोग में आती हैं। इनमें अनेक दोष होते हैं। अतः इनके स्थान पर वस्तुनिष्ठ परीक्षाओं का प्रयोग होना चाहिए। मुदालियर आयोग ने वाह्य परीक्षाओं की संख्या कम करने का सुझाव दिया है। इसके साथ ही आन्तरिक मूल्यांकन को प्रोत्साहन दिया जावे।

(उ) पुस्तकालय की सुविधा—प्रत्येक माध्यमिक तथा उच्च माध्यमिक विद्यालय में छात्रों को अच्छे पुस्तकालय की सुविधा दी जाय। इससे छात्रों को पुस्तकें

पढ़ने में रुचि विकसित होती है। पुस्तकालय का वातावरण ऐसा हो जिसमें छात्रों को अध्ययन की प्रेरणा मिल सके।

(ऊ) योग्य तथा कुशल प्रधानाध्यापकों की नियुक्ति—प्रधानाध्यापक की कार्यकुशलता पर विद्यालय की प्रगति निर्भर करती है। उसमें संगठन शक्ति, दृढ़ता, उत्तम चरित्र, आत्म नियंत्रण, मौलिकता, कर्त्तव्यनिष्ठा आदि गुण होने चाहिए। उसके कुशल प्रशासन से विद्यालय में अध्यापन का स्तर ऊँचा उठ सकता है।

(ए) फसल के समय छुट्टी—ग्रीष्मावकाश तथा अन्य छुट्टियों में कमी करके फसल बोने या काटने के समय छुट्टियाँ की जायें तो बच्चे घर पर बिना हानि के अपने माता-पिता की कार्य में सहायता कर सकते हैं।

सामान्य सुझाव

१. बाल-विवाह को रोकने के लिए कड़े कानून बनाये जायें।
२. पाठ्यक्रम को सरल तथा रोचक बनाया जाय। गणित, विज्ञान आदि कठिन विषयों को छात्रों के सम्मुख आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया जाय।
३. विद्यालयों के वातावरण को रोचक बनाने के लिए विद्यालयों में खेल-कूद, मनोरंजन आदि की व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए।
४. विद्यालयों में विभिन्न हस्तकलाओं को सिखाने की व्यवस्था की जाय।
५. विद्यालयों की स्थापना ऐसे स्थानों पर की जाय जहाँ छात्र सरलता से पहुँच जायें।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. शिक्षा में अपव्यय-अवरोधन के प्रमुख कारणों का वर्णन कीजिए।
२. माध्यमिक स्तर पर अवरोधन को रोकने के लिए अपने सुझाव दीजिए।

राजस्थान विश्वविद्यालय की बी० एड० परीक्षा में पूछे गये प्रश्न

१. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
(अ) शिक्षा में अपव्यय एवं अवरोधन (१९६६)।

अध्याय ६

शिक्षा का प्रबन्ध करने वाली संस्थाएँ

भारतवर्ष प्राचीन काल से ही शिक्षा का केन्द्र रहा है। एफ० डब्लू० थोमस ने भी अपनी एक पुस्तक में यह वर्णन किया है कि "भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा देश नहीं है जहाँ ज्ञान के प्रति प्रेम इतने प्राचीन समय में प्रारम्भ हुआ हो।" इससे स्पष्ट है कि भारतवासी सर्दैव से शिक्षा के प्रसार में रुचि लेते रहे हैं। भारतीय शिक्षा के इतिहास का अध्ययन करने से स्पष्ट है कि वैदिक काल या बौद्ध काल में यहाँ पर विद्यालयों का रूप कुछ भी रहा हो परन्तु उनको समाज से सभी प्रकार की सहायता प्राप्त होती थी। मुस्लिम काल में भी शिक्षा का प्रसार हुआ। यह दूसरी बात है कि मुस्लिम शासकों में कुछ उदार तथा कुछ अनुदार थे। उदाहरण के लिए, अलाउद्दीन, औरंगजेब आदि अनुदार शासक थे जिन्होंने हिन्दू शिक्षा को नष्ट करके उसके स्थान पर इस्लामी शिक्षा और सिद्धान्तों का प्रसार किया। वैसे दोनों प्रकार के शासकों द्वारा शिक्षा संस्थाएँ स्थापित की गईं। फिर यहाँ पर पश्चिमी देशों ने व्यापार के लिए प्रवेश किया। परन्तु धीरे-धीरे इनमें से ही कुछ यहाँ के शासक बन गये। इनके साथ ईसाई मिशनरियों ने इस देश में प्रवेश किया। इन मिशनरियों का प्रमुख उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार करना था। इसीलिए इन्होंने शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित कीं। भारतीय शिक्षा के इतिहास में पाश्चात्य मिशनरियों का स्थान अति महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने तो भारत में आधुनिक शिक्षा-व्यवस्था को प्रारम्भ किया। उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारतवर्ष में शिक्षण संस्थाओं की स्थापना केवल राज्य द्वारा ही नहीं की गई परन्तु उदार हृदय तथा शिक्षा प्रेमी अनेक धनी-मानी व्यक्तियों या धार्मिक संस्थाओं द्वारा भी शिक्षा प्रसार हेतु शिक्षण-संस्थाओं को स्थापित किया गया है।

भारतवर्ष में जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी का साम्राज्य था तभी से अंग्रेजों ने भारतीय शिक्षा में रुचि लेना प्रारम्भ किया। परन्तु उस समय अनेक देशी विद्यालय

ॅपय उठ खडे हुए कि कम्पनी शिक्षा के क्षेत्र मे कुछ अधिक सतोषजनक कार्य न र सकी। धीरे-धीरे अग्रेज सरकार भारतवासियों द्वारा बार-बार कहने पर शिक्षा : क्षेत्र मे रुचि लेने लगी। परिणामस्वरूप, उन्होंने अनेक स्थानों पर राजकीय ाध्यमिक विद्यालयों की स्थापना की। भारतवर्ष के स्वतन्त्र होने के बाद ारत सरकार का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह देश मे शिक्षा के प्रसार के लिए ाधिक से अधिक प्रयत्न करे।

व्यवस्था के प्रकार—माध्यमिक शिक्षा आयोग ने सर्वेक्षण काल में यह देखा क माध्यमिक विद्यालय सरकार के अतिरिक्त अनेक संस्थाओं और व्यक्तियों के द्वारा ी चलाये जाते है। इसी आधार पर आयोग ने प्रबन्ध एव व्यवस्था की दृष्टि से ाध्यमिक विद्यालयों को निम्नलिखित भागों मे विभक्त किया

व्यवस्था के प्रकार

- राज्य
  - संघीय सरकार
    - सुरक्षा मन्त्रालय
    - रेलवे मन्त्रालय
  - प्रान्तीय सरकार
- स्थानीय संस्थाएँ
  - नगरपालिका
  - जिला परिषद्
- धार्मिक संस्था
- व्यक्तिगत प्रबन्ध समिति
  - एक व्यक्ति
  - प्रबन्ध समिति
  - ट्रस्ट
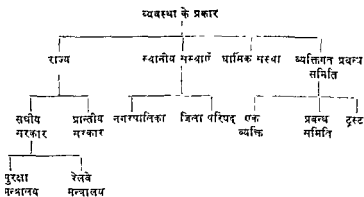
(१) राज्य द्वारा स्थापित एव संचालित विद्यालय—भारतवर्ष में प्राचीन समय से ही विद्यालयों की स्थापना राज्य द्वारा होती रही है। माध्यमिक शिक्षा जो शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण स्तर माना जाता है, के विकास मे सरकार ने सदैव सहयोग दिया है। अग्रेजो ने भी अपने समय मे प्राथमिक या विश्वविद्यालय शिक्षा की अपेक्षा माध्यमिक शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया। उन्होंने अनेक माध्यमिक विद्यालयों की स्थापना की। यह दूसरी बात है कि माध्यमिक विद्यालयों की स्थापना का उद्देश्य आज की सरकार के उद्देश्य से भिन्न था। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् यहाँ की केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों ने भी माध्यमिक विद्यालयों की स्थापना की है।

(अ) केन्द्रीय सरकार—यद्यपि शिक्षा प्रान्तीय विषय है तो भी भारतवर्ष की केन्द्रीय सरकार शिक्षा के प्रसार के लिए सदैव प्रयत्न करती रही है। समय-समय पर शिक्षा आयोगों का गठन करके प्रान्तीय सरकारों का पथ-प्रदर्शन भी केन्द्रीय सरकार द्वारा किया जाता रहा है। केन्द्रीय सरकार ने केन्द्र-प्रशासित क्षेत्रों में तो माध्यमिक विद्यालय स्थापित किए ही हैं परन्तु इसके साथ ही और भी प्रान्तों में इनकी

स्थापना कर अपने उत्तरदायित्व का पूरा किया है। केन्द्रीय सरकार के तीन मन्त्रालय प्रमुख रूप से माध्यमिक विद्यालयों की स्थापना में सक्रिय रुचि लेते हैं जो कि निम्नलिखित हैं

(i) शिक्षा मन्त्रालय,
(ii) सुरक्षा मन्त्रालय,
(iii) रेलवे मन्त्रालय।

शिक्षा मन्त्रालय—केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय द्वारा भी सेकेण्डरी विद्यालयों की स्थापना की गई है। इस प्रकार के विद्यालयों में सभी प्रकार की सुविधाएँ अध्यापकों एवं छात्रों को उपलब्ध होती रहती है। योग्य अध्यापकों की नियुक्ति की जाती है तथा छात्रों के शारीरिक विकास के लिए खेलों की व्यवस्था होती है। पर्याप्त सामग्री और बड़े-बड़े क्रीडांगण इन विद्यालयों के अधिकार में होते हैं। अध्यापकों को केन्द्रीय कर्मचारियों का वेतन मिलता है।

सुरक्षा मन्त्रालय—सुरक्षा मन्त्रालय भी शिक्षा प्रसार में सहयोग देता है। इसके द्वारा देश में 'सैनिक स्कूल' तथा 'किंग जार्ज स्कूल' की स्थापना अनेक स्थानों पर की गई है। कुछ विद्यालय तो सैनिकों के बच्चों को शिक्षा सम्बन्धी सुविधा प्रदान करने की दृष्टि से स्थापित किए गये हैं। सैनिक स्कूलों में छात्रों को शिक्षित करके सुरक्षा सेना के लिए उनको तैयार किया जाता है। इन विद्यालयों में छात्रों के शारीरिक एवं मानसिक विकास के लिए पूर्ण व्यवस्था रहती है।

रेलवे मन्त्रालय—रेलवे मन्त्रालय अपने कर्मचारियों को सभी प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करता है। इनमें से एक सुविधा कर्मचारियों के बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध करना भी है। इसीलिए रेलवे मन्त्रालय ने भी देश में कुछ माध्यमिक विद्यालयों की स्थापना की है। इन विद्यालयों में रेलवे कर्मचारियों के बच्चों को प्रवेश में प्राथमिकता दी जाती है।

(ब) प्रान्तीय सरकार—शिक्षा प्रान्तीय विषय होने से इसका प्रसार करना प्रान्तीय सरकार का कर्त्तव्य है। इसीलिए प्रान्तीय सरकारों ने अपने-अपने राज्यों में राजकीय माध्यमिक तथा उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों को स्थापित किया है। विद्यालयों की स्थापना के सम्बन्ध में सभी प्रान्तों में समान नीति नहीं है। कुछ प्रान्तों में राजकीय विद्यालयों की स्थापना आदर्श विद्यालय के रूप में की जाती है ताकि अन्य विद्यालय उनका ही अनुकरण करें और उसी प्रकार की कार्य-व्यवस्था अपने यहाँ भी अपनाएँ। यह नीति उन प्रान्तों में ही अपनाई जाती है जहाँ पर व्यक्तिगत प्रबन्ध समितियों द्वारा स्थापित विद्यालयों की संख्या अधिक होती है। उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश सरकार ने प्रत्येक जिले में केवल एक माध्यमिक या इन्टरमीडिएट विद्यालय खोला है। इसका कारण वहाँ पर व्यक्तिगत विद्यालयों की संख्या का अधिक होना है। इसके विपरीत, कुछ प्रान्तों में ... संख्या राजकीय विद्यालयों की है। यह नीति उन प्रान्तों में ही रहती है जहाँ

पर विद्यालयों की संख्या कम होती है या जो राज्य शिक्षा की दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। इन प्रान्तों में शिक्षा के प्रसार तथा जनता को कम व्ययपूर्ण शिक्षा की सुविधा प्रदान करने के लिए प्रान्तीय सरकार को विद्यालय स्थापित करने होते है। राजस्थान प्रान्त में अन्य प्रान्तों की अपेक्षा राजकीय विद्यालयों की संख्या अधिक है। इसका कारण इस प्रान्त का शिक्षा के क्षेत्र में अन्य प्रान्तों की अपेक्षा पिछड़ा होना है।

राजकीय नियंत्रण के दोष- यह सत्य है कि राजकीय विद्यालयों में प्रशिक्षित एवं योग्य अध्यापक होते है, वे साधन-सम्पन्न होते हैं तथा छात्रों एवं अध्यापकों को अनेक प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। राजकीय विद्यालय के अध्यापक को सेवा की सुरक्षा का विश्वास रहता है। इसी विशेषता के कारण योग्य व्यक्ति व्यक्तिगत संस्थाओं की अपेक्षा राजकीय संस्थाओं में जाना अधिक पसन्द करता है। इतना सब होते हुए भी ऐसी बात नहीं कि राजकीय विद्यालयों में कोई दोष न हो। राजकीय नियंत्रण में दो प्रमुख दोष हैं

(अ) विभागीय नियंत्रण, (आ) स्थानान्तरण।

विदेशों की शिक्षा व्यवस्था का अध्ययन करते समय हमने यह देखा था कि वहाँ के अध्यापकों को कार्य करने की अधिक स्वतंत्रता है। किसी विद्यालय के अध्यापक तथा प्रधानाध्यापक मिलकर विद्यालय का पाठ्यक्रम निश्चित कर लेते हैं। परन्तु हमारे यहाँ अध्यापकों को विभागीय आदेशों का पालन करना होता है। उनको कार्य करने की स्वतंत्रता बहुत कम मिलती है। राजकीय विद्यालयों में दूसरा प्रमुख दोष अध्यापकों के स्थानान्तरण से सम्बन्धित है। इन विद्यालयों में अध्यापकों को एक विद्यालय में अधिक समय तक नहीं रहने दिया जाता है। परिणामतः अध्यापक उस विद्यालय की समस्याओं में कोई रुचि नहीं लेता है जबकि उस से आशा की जाती है कि वह स्थानीय समाज तथा छात्रों के निकट सम्पर्क में आकर उनकी समस्याओं को समझे तथा उनके विकास के लिए प्रयत्न करे। राजकीय विद्यालय में कोई अध्यापक पहुँचकर जब तक उस शिक्षण-संस्था की कार्य प्रणाली को समझ पाता है तब तक *उसको अन्य विद्यालय में भेज दिया जाता है। ये स्थानान्तरण भी राजनीतिक कारण* या व्यक्तिगत वैमनस्य के कारण होते है।

(२) **स्थानीय संस्थाओं द्वारा सचालित विद्यालय**—कुछ प्रान्तों में स्थानीय *संस्थाओं द्वारा भी माध्यमिक विद्यालयों की स्थापना की गई है।* इन स्थानीय संस्थाओं में दो प्रमुख हैं जो कि शिक्षा के प्रसार में अधिक सहयोग दे रही है—प्रथम नगरपालिका और दूसरी जिला परिषद। नगरों में माध्यमिक विद्यालयों की स्थापना तथा उनका सचालन नगरपालिका या महानगरपालिका करती हैं। परन्तु सभी प्रान्तों में तथा प्रत्येक नगरपालिका में ऐसा नहीं है। उसी प्रकार कुछ जिला परिषदों द्वारा भी माध्यमिक विद्यालय ग्रामीण क्षेत्रों में चलाये जा रहे हैं। इनके द्वारा सचालित विद्यालय राजकीय विद्यालयों की भाँति आदर्श विद्यालय नहीं होते हैं। स्थानीय

ो विशिष्ट स्थान प्राप्त नही है जिसकी शिक्षा प्रदान की जा सके। कुछ विद्यालयो द्वारा साम्प्रदायिकता की भावना पैदा की जाती है। देश मे आज राष्ट्रीय एवं भावात्मक एकता की आवश्यकता है। कुछ धार्मिक संस्थाओ द्वारा स्थापित विद्यालय साम्प्रदायिकता की भावना फैलाकर देश की राष्ट्रीय एकता को समाप्त करते हैं। धार्मिक संस्थाओ के विद्यालयो मे अध्यापको की नियुक्ति निष्पक्षता से नही की जाती है। नियुक्ति के अवसर पर योग्य व्यक्ति की अपेक्षा अपने धर्म के व्यक्ति को प्राथमिकता दी जाती है। अध्यापको से उनकी इच्छा के विरुद्ध अनेक धार्मिक कार्य करवाये जाते हैं। प्रबन्ध समिति सभी अध्यापको और छात्रो के साथ पक्षपात-रहित व्यवहार नही करती है।

(४) व्यक्तिगत प्रबन्ध समितियो द्वारा संचालित विद्यालय—प्रारम्भ मे इस प्रकार के विद्यालयो की स्थापना छात्रो मे राष्ट्रीयता की भावना पैदा करने के लिए की गई जिससे इस प्रकार से शिक्षित छात्र अंग्रेजी प्रशासन को उखाड़ फेंकने मे सहायता दें। इनकी शिक्षा पद्धति विदेशी पद्धति से भिन्न थी। वर्तमान प्रजातंत्रीय प्रणाली मे व्यक्तिगत प्रबन्ध समिति द्वारा स्थापित विद्यालय प्रजातंत्रीय सिद्धान्तो को प्रदर्शित करते हैं। जिस देश के व्यक्ति स्वयं शिक्षा-प्रसार मे रुचि ले तथा उसका संचालन उचित प्रकार से करें यह एक सफल प्रजातंत्रीय प्रणाली का द्योतक है। भारतवर्ष शिक्षा की दृष्टि से पिछड़ा देश है। अशिक्षित व्यक्ति देश के लिए कलंक हैं। संविधान के अनुसार शिक्षा प्रसार का उत्तरदायित्व प्रांतीय सरकारो का है। परन्तु भारत जैसे पिछड़े देश मे जहाँ पर शिक्षा प्रसार की अभी अत्यधिक आवश्यकता है, राज्य को सहयोग देना अति आवश्यक है। क्योकि राज्य स्वयं इतने विस्तृत कार्य को नहीं कर सकता है; अतः व्यक्तिगत प्रबन्ध समितियाँ माध्यमिक विद्यालयो की स्थापना करके देश मे शिक्षा के प्रचार सम्बन्धी कार्य मे राज्य का हाथ बँटा रही है।

(क) एक व्यक्ति द्वारा स्थापित विद्यालय—देश के विभिन्न भागो मे शिक्षा प्रेमी धनी व्यक्तियो ने माध्यमिक विद्यालयो की स्थापना की है। इनके द्वारा स्थापित विद्यालयों की दशा अधिक शोचनीय नही है। परन्तु इस प्रकार के विद्यालय उस व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर होते हैं। वह विद्यालय के कार्यक्रम से सम्बन्धित नीति निर्धारित करता है। विद्यालय को स्थापित करने वाले व्यक्ति इनको अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति मानते हैं। अध्यापको एवं प्रधानाध्यापक को कार्य करने की स्वतंत्रता नही होती है। कुछ लोगो के मतानुसार इस प्रकार के विद्यालयों मे अच्छा वातावरण पाया जाता है। एक व्यक्ति ही प्रबन्धक होने से अध्यापको मे गुटबन्दी नही पाई जाती है तथा इसके साथ ही अध्यापको को प्रबन्ध समिति के अनेक सदस्य प्रसन्न नहीं करने पड़ते हैं। मुदालियर आयोग ने इस प्रकार के विद्यालियो की अधिक आलोचना की है। उनके अनुसार ऐसे व्यक्ति एक बार विद्यालय की स्थापना करने के बाद फिर उसमे कोई रुचि नहीं लेते हैं। आयोग ने लिखा है कोई भी माध्यमिक विद्यालय एक व्यक्ति

संस्थाओं पर धनाभाव के कारण विद्यालयों की साज-सामग्री पर अधिक धन व्यय नहीं किया जाता है। इन विद्यालयों में एक दोष स्थानीय संस्थाओं की राजनीतिक गुटबन्दी का प्रभाव है। इन विद्यालयों के प्रधानाध्यापक या अध्यापक स्वतंत्र नहीं होते हैं। नगरपालिका के सदस्य समय-समय पर विद्यालय की कार्य प्रणाली में हस्तक्षेप करते है। स्थानीय संस्थाओं के सदस्य अध्यापकों को अधिक परेशान करते हैं। इनकी गुटबन्दी के कारण विद्यालय के अध्यापकों में भी गुटबन्दी हो जाती है और विद्यालय का वातावरण दूषित हो जाता है।

माध्यमिक शिक्षा आयोग ने स्थानीय संस्थाओं द्वारा संचालित विद्यालयों के सम्बन्ध में सुझाव दिया कि किसी संस्था के विद्यालयों का प्रबन्ध करने के लिए अधिक से अधिक ९ सदस्यों की एक कार्यकारिणी समिति बनानी चाहिए। संस्थाओं के सदस्यों को विद्यालय के मामलों में अनुचित हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। यह समिति विद्यालयों से सम्बन्धित नीति निर्धारित किया करें। ऐसा नहीं होना चाहिए कि स्थानीय संस्था के सभी सदस्य विद्यालयों का निरीक्षण करने पहुँच जायें और वहाँ प्रधानाध्यापक तथा अध्यापकों के कार्य में हस्तक्षेप करें।

(३) धार्मिक संस्थाओं द्वारा स्थापित विद्यालय—कुछ धार्मिक संस्थाएँ विद्यालयों की स्थापना करके शिक्षा के प्रसार में प्राचीन समय से ही सहयोग देती रही हैं। भारतवर्ष में आज भी अनेक माध्यमिक विद्यालय इन धार्मिक संस्थाओं के नियंत्रण में चल रहे है। यह सत्य है कि धार्मिक संस्थाएँ विद्यालयों की स्थापना अपने धर्म-प्रचार के लिए करती है। परन्तु आज के धर्म-निरपेक्ष राज्य में यह सब करना सम्भव नहीं है क्योंकि सरकार की नीति ही अब यह है कि किसी भी धर्म की शिक्षा अनिवार्य रूप में नहीं दी जा सकती है। अंग्रेज मिशनरियों ने ईसाई धर्म के प्रचार के लिए भारत के विभिन्न भागों में माध्यमिक विद्यालय स्थापित किये जो कि आज भी शिक्षा प्रसारण में सक्रिय सहयोग दे रहे है। इन विद्यालयों को भी अब राजकीय आर्थिक अनुदान प्राप्त होता है। वैसे इनको मिशन के द्वारा ही आर्थिक सहायता पर्याप्त मात्रा में मिल जाती है। इसी कारण अच्छे भवन, खेल के मैदान तथा अन्य सामग्री आदि की दृष्टि से इन विद्यालयों की स्थिति संतोषजनक है। भारतवर्ष की दूसरी प्रमुख धार्मिक संस्था आर्य समाज है जिसने देश में अनेक दयानन्द माध्यमिक विद्यालयों की स्थापना की है। इन विद्यालयों को स्थापित करने का उद्देश्य हिन्दू धर्म की रक्षा करना रहा है। शिक्षा प्रसार के क्षेत्र में आर्य समाज के विद्यालयों का सहयोग सभी धार्मिक संस्थाओं से अधिक है। इनके अतिरिक्त रामकृष्ण मिशन, सनातन धर्म आदि ने भी विद्यालय स्थापित किए हैं।

दोष—धार्मिक संस्थाओं के द्वारा संचालित माध्यमिक विद्यालयों में कुछ गुण होने के साथ ही दोष भी अनेक है। सर्वप्रथम बात तो भारतवर्ष की वर्तमान परिस्थितियाँ है। संविधान के अनुसार भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य माना गया है। अतः किसी धर्म की शिक्षा छात्रों को नहीं दी जा सकती है। यहाँ किसी विशेष धर्म

को विशिष्ट स्थान प्राप्त नहीं है जिसकी शिक्षा प्रदान की जा सके। कुछ विद्यालयों के द्वारा साम्प्रदायिकता की भावना पैदा की जाती है। देश में आज राष्ट्रीय एवं भावात्मक एकता की आवश्यकता है। कुछ धार्मिक संस्थाओं द्वारा स्थापित विद्यालय साम्प्रदायिकता की भावना फैलाकर देश की राष्ट्रीय एकता को समाप्त करते हैं। धार्मिक संस्थाओं के विद्यालयों में अध्यापकों की नियुक्ति निष्पक्षता से नहीं की जाती है। नियुक्ति के अवसर पर योग्य व्यक्ति की अपेक्षा अपने धर्म के व्यक्ति को प्राथमिकता दी जाती है। अध्यापकों से उनकी इच्छा के विरुद्ध अनेक धार्मिक कार्य करवाये जाते हैं। प्रबन्ध समिति सभी अध्यापकों और छात्रों के साथ पक्षपात-रहित व्यवहार नहीं करती है।

(४) **व्यक्तिगत प्रबन्ध समितियों द्वारा संचालित विद्यालय**- प्रारम्भ में इस प्रकार के विद्यालयों की स्थापना छात्रों में राष्ट्रीयता की भावना पैदा करने के लिए की गई जिससे इस प्रकार से शिक्षित छात्र अंग्रेजी प्रशासन को उखाड़ फेंकने में सहायता दें। इनकी शिक्षा पद्धति विदेशी पद्धति से भिन्न थी। वर्तमान प्रजातन्त्रीय प्रणाली में व्यक्तिगत प्रबन्ध समिति द्वारा स्थापित विद्यालय प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों को प्रदर्शित करते हैं। जिस देश के व्यक्ति स्वयं शिक्षा-प्रसार में रुचि लें तथा उसका संचालन उचित प्रकार से करें यह एक सफल प्रजातन्त्रीय प्रणाली का द्योतक है। भारतवर्ष शिक्षा की दृष्टि से पिछड़ा देश है। अशिक्षित व्यक्ति देश के लिए कलंक हैं। संविधान के अनुसार शिक्षा प्रसार का उत्तरदायित्व प्रान्तीय सरकारों का है। परन्तु भारत जैसे पिछड़े देश में जहाँ पर शिक्षा प्रसार की अभी अत्यधिक आवश्यकता है, राज्य को सहयोग देना अति आवश्यक है। क्योंकि राज्य स्वयं इतने विस्तृत कार्य को नहीं कर सकता है, अतः व्यक्तिगत प्रबन्ध समितियाँ माध्यमिक विद्यालयों की स्थापना करके देश में शिक्षा के प्रचार सम्बन्धी कार्य में राज्य का हाथ बँटा रही है।

(क) **एक व्यक्ति द्वारा स्थापित विद्यालय**—देश के विभिन्न भागों में शिक्षा प्रेमी धनी व्यक्तियों ने माध्यमिक विद्यालयों की स्थापना की है। इनके द्वारा स्थापित विद्यालयों की दशा अधिक शोचनीय नहीं है। परन्तु इस प्रकार के विद्यालय उस व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर होते हैं। वह विद्यालय के कार्यक्रम से सम्बन्धित नीति निर्धारित करता है। विद्यालय को स्थापित करने वाले व्यक्ति इनको अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति मानते है। अध्यापकों एवं प्रधानाध्यापक को कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं होती है। कुछ लोगों के मतानुसार इस प्रकार के विद्यालयों में अच्छा वातावरण पाया जाता है। एक व्यक्ति ही प्रबन्धक होने से अध्यापकों में गुटबन्दी नहीं पाई जाती है तथा इसके साथ ही अध्यापकों को प्रबन्ध समिति के अनेक सदस्य प्रसन्न नहीं करने पड़ते है। मुदालियर आयोग ने इस प्रकार के विद्यालयों की अधिक आलोचना की है। इनके अनुसार ऐसे व्यक्ति एक बार विद्यालय की स्थापना करने के बाद फिर उसमें कोई रुचि नहीं लेते है। आयोग ने लिखा है कोई भी माध्यमिक विद्यालय एक व्यक्ति

संस्थाओं पर धनाभाव के कारण विद्यालयों की पाठ्य-सामग्री पर अधिक धन व्यय नहीं किया जाता है। इन विद्यालयों में एक दोष स्थानीय संस्थाओं की राजनीतिक गुटबन्दी का प्रभाव है। इन विद्यालयों के प्रधानाध्यापक या अध्यापक स्वतंत्र नहीं होते हैं। नगरपालिका के सदस्य समय-समय पर विद्यालय की कार्य प्रणाली में हस्तक्षेप करते हैं। स्थानीय संस्थाओं के सदस्य अध्यापकों को अधिक परेशान करते हैं। इनकी गुटबन्दी के कारण विद्यालय के अध्यापकों में भी गुटबन्दी हो जाती है और विद्यालय का वातावरण दूषित हो जाता है।

माध्यमिक शिक्षा आयोग ने स्थानीय संस्थाओं द्वारा संचालित विद्यालयों के सम्बन्ध में सुझाव दिया कि किसी संस्था के विद्यालयों का प्रबन्ध करने के लिए अधिक से अधिक ६ सदस्यों की एक कार्यकारिणी समिति बनानी चाहिए। संस्थाओं के सदस्यों को विद्यालय के मामलों में अनुचित हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। यह समिति विद्यालयों से सम्बन्धित नीति निर्धारित किया करे। ऐसा नहीं होना चाहिए कि स्थानीय संस्था के सभी सदस्य विद्यालयों का निरीक्षण करने पहुँच जायें और वहाँ प्रधानाध्यापक तथा अध्यापकों के कार्य में हस्तक्षेप करें।

(३) धार्मिक संस्थाओं द्वारा स्थापित विद्यालय कुछ धार्मिक संस्थाएँ विद्यालयों की स्थापना करके शिक्षा के प्रसार में प्राचीन समय से ही सहयोग देती रही हैं। भारतवर्ष में आज भी अनेक माध्यमिक विद्यालय इन धार्मिक संस्थाओं के नियंत्रण में चल रहे हैं। यह सत्य है कि धार्मिक संस्थाएं विद्यालयों की स्थापना अपने धर्म-प्रचार के लिए करती हैं। परन्तु आज के धर्म-निरपेक्ष राज्य में यह सब करना सम्भव नहीं है क्योंकि सरकार की नीति ही अब यह है कि किसी भी धर्म की शिक्षा अनिवार्य रूप से नहीं दी जा सकती है। अंग्रेज मिशनरियों ने ईसाई धर्म के प्रचार के लिए भारत के विभिन्न भागों में माध्यमिक विद्यालय स्थापित किये जो कि आज भी शिक्षा प्रसारण में सक्रिय सहयोग दे रहे हैं। इन विद्यालयों को भी अब राजकीय आर्थिक अनुदान प्राप्त होता है। वैसे इनको मिशन के द्वारा ही आर्थिक सहायता पर्याप्त मात्रा में मिल जाती है। इसी कारण अच्छे भवन, खेल के मैदान तथा अन्य सामग्री आदि की दृष्टि से इन विद्यालयों की स्थिति सन्तोषजनक है। भारतवर्ष की दूसरी प्रमुख धार्मिक संस्था आर्य समाज है जिसने देश में अनेक दयानन्द माध्यमिक विद्यालयों की स्थापना की है। इन विद्यालयों को स्थापित करने का उद्देश्य हिन्दू धर्म की रक्षा करना रहा है। शिक्षा प्रसार के क्षेत्र में आर्य समाज के विद्यालयों का सहयोग सभी धार्मिक संस्थाओं से अधिक है। इनके अतिरिक्त रामकृष्ण मिशन, सनातन धर्म आदि ने भी विद्यालय स्थापित किए हैं।

दोष—धार्मिक संस्थाओं के द्वारा संचालित माध्यमिक विद्यालयों में कुछ गुण होने के साथ ही दोष भी अनेक हैं। सर्वप्रथम बात तो भारतवर्ष की वर्तमान परिस्थितियाँ हैं। संविधान के अनुसार भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य माना गया है। अतः किसी धर्म की शिक्षा छात्रों को नहीं दी जा सकती है। यहाँ किसी विशेष धर्म

को विशिष्ट स्थान प्राप्त नहीं है जिसकी शिक्षा प्रदान की जा सके। कुछ विद्यालयों के द्वारा साम्प्रदायिकता की भावना पैदा की जाती है। देश में आज राष्ट्रीय एवं भावात्मक एकता की आवश्यकता है। कुछ धार्मिक संस्थाओं द्वारा स्थापित विद्यालय साम्प्रदायिकता की भावना फैलाकर देश की राष्ट्रीय एकता को समाप्त करते हैं। धार्मिक संस्थाओं के विद्यालयों में अध्यापकों की नियुक्ति निष्पक्षता से नहीं की जाती है। नियुक्ति के अवसर पर योग्य व्यक्ति की अपेक्षा अपने धर्म के व्यक्ति को प्राथमिकता दी जाती है। अध्यापकों से उनकी इच्छा के विरुद्ध अनेक धार्मिक कार्य करवाये जाते हैं। प्रबन्ध समिति सभी अध्यापकों और छात्रों के साथ पक्षपात-रहित व्यवहार नहीं करती है।

(४) व्यक्तिगत प्रबन्ध समितियों द्वारा संचालित विद्यालय—प्रारम्भ में इस प्रकार के विद्यालयों की स्थापना छात्रों में राष्ट्रीयता की भावना पैदा करने के लिए की गई जिससे इस प्रकार से शिक्षित छात्र अंग्रेजी प्रशासन को उखाड़ फेंकने में सहायता दें। इनकी शिक्षा पद्धति विदेशी पद्धति से भिन्न थी। वर्तमान प्रजातन्त्रीय प्रणाली में व्यक्तिगत प्रबन्ध समिति द्वारा स्थापित विद्यालय प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तों का प्रदर्शन करते हैं। जिस देश के व्यक्ति स्वयं शिक्षा-प्रसार में रुचि लें तथा उसका संचालन उचित प्रकार से करें यह एक सफल प्रजातन्त्रीय प्रणाली का द्योतक है। भारतवर्ष शिक्षा की दृष्टि से पिछड़ा देश है। अशिक्षित व्यक्ति देश के लिए कलंक हैं। संविधान के अनुसार शिक्षा प्रसार का उत्तरदायित्व प्रान्तीय सरकारों का है। परन्तु भारत जैसे पिछड़े देश में जहाँ पर शिक्षा प्रसार की अभी अत्यधिक आवश्यकता है, राज्य को सहयोग देना अति आवश्यक है। क्योंकि राज्य स्वयं इतने विस्तृत कार्य को नहीं कर सकता है, अतः व्यक्तिगत प्रबन्ध समितियाँ माध्यमिक विद्यालयों की स्थापना करके देश में शिक्षा के प्रचार सम्बन्धी कार्य में राज्य का हाथ बँटा रही है।

(क) एक व्यक्ति द्वारा स्थापित विद्यालय—देश के विभिन्न भागों में शिक्षा प्रेमी धनी व्यक्तियों ने माध्यमिक विद्यालयों की स्थापना की है। इनके द्वारा स्थापित विद्यालयों की दशा अधिक सोचनीय नहीं है। परन्तु इस प्रकार के विद्यालय उस व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर होते हैं। वह विद्यालय के कार्यक्रम में सम्बन्धित नीति निर्धारित करता है। विद्यालय को स्थापित करने वाले व्यक्ति इनको अपनी व्यक्तिगत [illegible]

[illegible]

इसके साथ ही अध्यापकों को प्रबन्ध समिति के अनेक सदस्य प्रसन्न नहीं करने पड़ते हैं। मुदालियर आयोग ने इस प्रकार के विद्यालयों की अधिक आलोचना की है। उनके अनुसार ऐसे व्यक्ति एक बार विद्यालय की स्थापना करने के बाद फिर उसमें कोई रुचि नहीं लेते हैं। आयोग ने लिखा है कोई भी माध्यमिक विद्यालय एक व्यक्ति

धनाभाव के कारण विद्यालयों की साज-सामग्री पर अधिक धन व्यय नह
है। इन विद्यालयों में एक दोष स्थानीय संस्थाओं की राजनीतिक गुटबन्द
। इन विद्यालयों के प्रधानाध्यापक या अध्यापक स्वतंत्र नहीं होते हैं
के सदस्य समय-समय पर विद्यालय की कार्य प्रणाली में हस्तक्षेप करते
संस्थाओं के सदस्य अध्यापकों को अधिक परेशान करते हैं। इनके
ारण विद्यालय के अध्यापकों में भी गुटबन्दी हो जाती है और विद्यालय
दूषित हो जाता है।

ामिक शिक्षा आयोग ने स्थानीय संस्थाओं द्वारा संचालित विद्यालयों के
भाव दिया कि किसी संस्था के विद्यालयों का प्रबन्ध करने के लिए
क 8 सदस्यों की एक कार्यकारिणी समिति बनानी चाहिए। संस्थाओं
विद्यालय के मामलों में अनुचित हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। यह
लयों से सम्बन्धित नीति निर्धारित किया करें। ऐसा नहीं होना चाहिए
स्था के सभी सदस्य विद्यालयों का निरीक्षण करने पहुँच जायें और
ापक तथा अध्यापकों के कार्य में हस्तक्षेप करें।

धार्मिक संस्थाओं द्वारा स्थापित विद्यालय—कुछ धार्मिक संस्थाएँ
स्थापना करके शिक्षा के प्रसार में प्राचीन समय से ही सहयोग देती
रतवर्ष में आज भी अनेक माध्यमिक विद्यालय इन धार्मिक संस्थाओं के
न रहे हैं। यह सत्य है कि धार्मिक संस्थाएँ विद्यालयों की स्थापना
ार के लिए करती है। परन्तु आज के धर्म-निरपेक्ष राज्य में यह सब
नहीं है क्योंकि सरकार की नीति ही अब यह है कि किसी भी धर्म की
रूप में नहीं की जा सकती है। अंग्रेज मिशनरियों ने ईसाई धर्म के
भारत के विभिन्न भागों में माध्यमिक विद्यालय स्थापित किये जो कि
प्रसारण में सक्रिय सहयोग दे रहे हैं। इन विद्यालयों को भी अब
क अनुदान प्राप्त होता है। वैसे इनको मिशन के द्वारा ही आर्थिक
मात्रा में मिल जाती है। इसी कारण अच्छे भवन, खेल के मैदान
ग्री आदि की दृष्टि से इन विद्यालयों की स्थिति सतोषजनक है।
दूसरी प्रमुख धार्मिक संस्था आर्य समाज है जिसने देश में अनेक
मिक विद्यालयों की स्थापना की है। इन विद्यालयों को स्थापित करने
दू धर्म की रक्षा करना रहा है। शिक्षा प्रसार के क्षेत्र में आर्य समाज
ा सहयोग सभी धार्मिक संस्थाओं में अधिक है। इनके अतिरिक्त
न, सनातन धर्म आदि ने भी विद्यालय स्थापित किए हैं।

-धार्मिक संस्थाओं के द्वारा संचालित माध्यमिक विद्यालयों में कुछ गुण
ी दोष भी अनेक हैं। सर्वप्रथम बात तो भारतवर्ष की वर्तमान
। संविधान के अनुसार भारत को धर्म-निरपेक्ष राज्य माना गया है।
की शिक्षा छात्रों को नहीं दी जा सकती है। यहाँ [illegible]

प्राप्ति के लिए प्रयास नहीं होते है। अतः इसी के परिणामस्वरूप आज छात्रों मे इतनी अनुशासनहीनता बढ़ती जा रही है। व्यक्तिगत प्रबन्ध समितियों को जिन कठिनाइयो का सामना करना पड़ रहा है, उनका अध्ययन करना आवश्यक है।
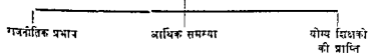
राजनैतिक प्रभाव—भारतवर्ष मे अनेक राजनीतिक पार्टियाँ है। ये सभी अपने राजनीतिक सिद्धान्तो का प्रचार करने का प्रयत्न करती हैं। विद्यालय राजनीतिक प्रचार के लिए उपयुक्त साधन है। व्यक्तिगत प्रबन्ध समिति द्वारा संचालित विद्यालयो को सरकार से आर्थिक सहायता मिलती है। इस कारण प्रबन्ध समितियो के सदस्य भी विद्यालय के लिए अधिक आर्थिक सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से राजनीतिक दलबन्दी मे फँस जाते हैं। आजकल यह गलत परम्परा सी पड़ती जा रही है कि राजनीति का प्रवेश विद्यालयो मे भी हो गया है। विद्यार्थियों मे पाई जाने वाली अनुशासनहीनता का एक कारण यह राजनीति भी है। छात्रों द्वारा जितने भी . . . . राजनीतिक दल का हाथ होता . . . . . . ा है कि राजनीति को विद्यालयो

आर्थिक समस्या—प्रबन्ध समिति द्वारा चलाए जा रहे विद्यालयो पर धन का अभाव रहता है। इस कारण वे छात्रों के लिए अनेक सुविधाओ की व्यवस्था नही कर पाते हैं और न समय पर गरीब अध्यापकों को वेतन ही मिल पाता है। पहले की अपेक्षा अब दान देने की प्रवृत्ति मे परिवर्तन हुआ है। पहले शिक्षा मे रुचि लेने वाले धनी व्यक्ति इन शिक्षण संस्थाओ को धन देकर अपनी उदारता का परिचय देते थे परन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात् सरकार की नीति ने इन दान देने वाले व्यक्तियों की संख्या मे कमी कर दी है। सरकार उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करती जा रही है तथा धनी व्यक्तियों पर अनेक कर बढ़ाती जा रही है। परिणामस्वरूप, अब प्रबन्ध समितियो को अर्थ संग्रह करने मे अधिक कठिनाई का सामना करना होता है। वैसे अब राज्य द्वारा विद्यालयों को कुछ आर्थिक सहायता मिलती है परन्तु यह पर्याप्त नही होती है। प्रबन्ध समिति अब इस कमी की पूर्ति के लिए भी पर्याप्त धन संग्रह नही कर पाती है। परिणामस्वरूप, इन संस्थाओ को अनेक कठिनाइयो का सामना करना होता है। इनमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित है :

(१) **विद्यालय-भवनों का अभाव**—इस समस्या का अध्ययन तो प्राथमिक शिक्षा की समस्याओं का अध्ययन करते समय ही किया था। विद्यालय के भवन

द्वारा नही चलाये जाने चाहिए बल्कि कम्पनी के नियमानुसार उसकी प्रबन्ध समिति हो जो विद्यालय का प्रबन्ध सँभाले।

(ख) प्रबन्ध समिति द्वारा--कुछ विद्यालय समाज के सभी वर्गों के व्यक्तियो की सहायता से स्थापित किये जाते हैं। इनका सचालन करने के लिए कुछ व्यक्तियों की एक समिति गठित की जाती है। इस समिति के सदस्यों का निर्वाचन कुछ निश्चित अवधि के लिए होता है। इस समिति का उत्तरदायित्व होता है कि वह विद्यालय की आवश्यकताओ की पूर्ति एव अध्यापको की नियुक्ति करे। व्यक्तिगत प्रबन्ध समिति द्वारा सचालित विद्यालयो मे भी अनेक दोष पाये जाते है।

(ग) रजिस्टर्ड ट्रस्ट द्वारा--कुछ धनी व्यक्ति कार्य-भार को अधिकता से ऐसे 'ट्रस्ट' की स्थापना करते है जो कि सस्थापक के नाम से विद्यालय का सचालन करते हैं। इस प्रकार के 'ट्रस्ट' आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होते हैं। अत इनके द्वारा सचालित विद्यालयो की दशा अधिक दयनीय नही होती है। कुछ ट्रस्ट अन्य विद्यालयों की आर्थिक समस्या के समाधान के लिए उनको आवश्यक धन प्रदान करते हैं। ट्रस्ट द्वारा चलाए जाने वाले विद्यालयो मे भी अनेक दोष पाए जाते है। इनका प्रमुख दोष छात्रो को प्रवेश देने से सम्बन्धित है। कुछ ट्रस्ट किसी एक जाति अथवा धर्म के मानने वाले छात्रो की शिक्षा का प्रबन्ध करते हैं। परन्तु वर्तमान भारत मे इनकी परम्परा नही चल सकती है क्योंकि सविधान मे स्पष्ट लिखा है कि छात्रो को प्रवेश देते समय कोई भी सस्था जाति, धर्म अथवा लिंग के आधार पर उनमे विभेद नही कर सकती है। धर्म-निरपेक्ष भारत मे इन सस्थाओ को अपने नियमो मे परिवर्तन करना होगा।

व्यक्तिगत प्रबन्ध समितियो की कठिनाइयाँ

व्यक्तिगत प्रबन्ध समितियो द्वारा स्थापित विद्यालयो मे विद्यमान दोषो के वर्णन से स्पष्ट है कि इनके सचालन मे सुधार होना चाहिए। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, राज्य के ऊपर ही शिक्षा प्रचार का भार नही होना चाहिए बल्कि जनता को भी सहृदयता का परिचय देना चाहिए तभी शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाएँ छात्रों को प्रदान की जा सकती है। स्वतन्त्रता के पश्चात् धीरे-धीरे यह माँग बढ़ती जा रही है कि विद्यालयों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय। परन्तु यह माँग तर्क सगत नही है। राज्य के अधीन प्रसार कार्य के लिए केवल शिक्षा का ही क्षेत्र नही है जहाँ पर वह सम्पूर्ण धन व्यय करे। अत स्पष्ट है कि राज्य के लिए सभी विद्यालयों का राष्ट्रीयकरण करना सम्भव नहीं है। प्रबन्ध समितियों द्वारा विद्यालयो मे अनेक अवाछनीय कार्य किए जाते है। परन्तु इन विद्यालयो में सुधार लाने की आवश्यकता है। आज व्यक्तिगत प्रबन्ध समितियों को अनेक कठिनाइयो का सामना करना पड रहा है जिनके कारण उनकी दशा बिगड़ती जा रही है। छात्रो के सर्वांगीण विकास के लिए प्रयत्न नही होते हैं। आयोग द्वारा बताए गए माध्यमिक शिक्षा के उद्देश्यों की

प्राप्ति के लिए प्रयास नहीं होते हैं। अतः इसी के परिणामस्वरूप आज छात्रों में इतनी अनुशासनहीनता बढ़ती जा रही है। व्यक्तिगत प्रबन्ध समितियों को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है, उनका अध्ययन करना आवश्यक है।
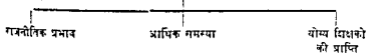
राजनीतिक प्रभाव—भारतवर्ष में अनेक राजनीतिक पार्टियाँ हैं। ये सभी अपने राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रचार करने का प्रयत्न करती हैं। विद्यालय राजनीतिक प्रचार के लिए उपयुक्त साधन है। व्यक्तिगत प्रबन्ध समिति द्वारा संचालित विद्यालयों को सरकार से आर्थिक सहायता मिलती है। इस कारण प्रबन्ध समितियों के सदस्य भी विद्यालय के लिए अधिक आर्थिक सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से राजनीतिक दलबन्दी में फँस जाते हैं। आजकल यह गलत परम्परा सी पड़ती जा रही है कि राजनीति का प्रवेश विद्यालयों में भी हो गया है। विद्यार्थियों में पाई जाने वाली अनुशासनहीनता का एक कारण यह राजनीति भी है। छात्रों द्वारा जितने भी आन्दोलन प्रारम्भ किये जाते हैं, उनमें किसी न किसी राजनीतिक दल का हाथ होता है। वर्तमान भारत में यह विवाद का विषय बन गया है कि राजनीति को विद्यालयों में प्रवेश नहीं करना चाहिए।

आर्थिक समस्या—प्रबन्ध समिति द्वारा चलाए जा रहे विद्यालयों पर धन का अभाव रहता है। इस कारण वे छात्रों के लिए अनेक सुविधाओं की व्यवस्था नहीं कर पाते हैं और न समय पर गरीब अध्यापकों को वेतन ही मिल पाता है। पहले की अपेक्षा अब दान देने की प्रवृत्ति में परिवर्तन हुआ है। पहले शिक्षा में रुचि लेने वाले धनी व्यक्ति इन शिक्षण संस्थाओं को धन देकर अपनी उदारता का परिचय देते थे

प्रबन्ध समिति अब इस कमी की पूर्ति के लिए भी पर्याप्त धन संग्रह नहीं कर पाती है। परिणामस्वरूप, इन संस्थाओं को अनेक कठिनाइयों का सामना करना होता है। इनमें से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं :

(१) **विद्यालय-भवनों का अभाव**—इस समस्या का अध्ययन तो प्राथमिक शिक्षा की समस्याओं का अध्ययन करते समय ही किया था। विद्यालय के भवन

निर्माण के लिए धन का संग्रह न हो पाने के कारण इन विद्यालयों में कमरों की पर्याप्त संख्या नहीं है। परिणामस्वरूप, कुछ कक्षाओं को बाहर बैठना होता है। पहले धनी व्यक्ति ही एक-एक कमरा अपने नाम का बनवा कर भवन-निर्माण में सहयोग दिया करते थे। आज भौतिकवाद के युग में व्यक्तियों की धर्म में आस्था कम होती जा रही है। इसका प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षण संस्थाओं के ऊपर पड़ता है।

(२) क्रीडांगण का अभाव—धनाभाव के कारण व्यक्तिगत प्रबन्ध समितियाँ छात्रों के लिए खेल के मैदान की व्यवस्था भी नहीं कर पाती हैं। ऐसा न होने से छात्रों की शिक्षा अधूरी रह जाती है। उनके व्यक्तित्व के एक अंग का विकास नहीं हो पाता है। शारीरिक शिक्षा एवं शारीरिक व्यायाम की व्यवस्था न होने से छात्रों का स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता है।

(३) प्रयोगशालाओं का अभाव—विज्ञान के शिक्षण के लिए प्रयोगशालाओं का होना अति आवश्यक है। हमारे देश में विज्ञान का अध्ययन करने वाले छात्रों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है परन्तु उनको विज्ञान के क्षेत्र में अनेक प्रयोग करने की सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं। माध्यमिक विद्यालयों में नाम के लिए प्रयोगशालाएँ हैं परन्तु उनमें साज-सामान का अभाव रहता है। धनाभाव के कारण ये शिक्षण संस्थाएँ प्रयोगशालाएँ, भूगोल कक्ष आदि का निर्माण नहीं कर पाती हैं। अगर एक बार उनका निर्माण भी कर दिया तो प्रतिवर्ष आवश्यक सामान को नहीं खरीदा जाता है।

(४) छात्रावास का अभाव—इन माध्यमिक विद्यालयों के पास छात्रावास नहीं होते हैं। परिणामस्वरूप, छात्रों को नगर में रहना पड़ता है जहाँ पर दूषित वातावरण का प्रभाव उन पर पड़ता है। ये छात्र खेल-कूद में भी भाग नहीं ले पाते हैं।

(५) राष्ट्रीय विद्यालयों की स्वतंत्रता का समाप्त होना—इन विद्यालयों की स्थापना छात्रों में राष्ट्रीयता की भावना को पैदा करने के लिए की गई थी। देश के अनेक स्वतन्त्रता-प्रेमी व्यक्ति इन संस्थाओं को आर्थिक सहायता देते रहते थे। परन्तु वर्तमान समय में विद्यालय सरकार से आर्थिक सहायता प्राप्त करते हैं। इस कारण इन पर सरकार का नियंत्रण बढ़ता जा रहा है। सरकार की नीति के अनुसार ही इन संस्थाओं को कार्य करना पड़ता है। जो उत्साही व्यक्ति पहले इस प्रकार की शिक्षण संस्थाओं को आर्थिक सहायता दिया करते थे, उनकी दान देने की प्रवृत्ति में अब परिवर्तन आ गया है। इसलिए इन विद्यालयों को धन मिलना कठिन हो गया है। विभागीय हस्तक्षेप के कारण विद्यालयों की स्वतन्त्र परीक्षण करने की प्रवृत्ति भी समाप्त होती जा रही है।

योग्य अध्यापकों का अभाव—व्यक्तिगत प्रबन्ध समिति द्वारा चलाए जा रहे विद्यालयों में सदैव अध्यापकों का अभाव बना रहता है। इन विद्यालयों में सेवा करने के लिए योग्य व्यक्ति तैयार नहीं होते हैं। इसके अनेक कारण हैं जो कि अग्रांकित हैं

(१) आकर्षक वेतन-शृंखला का न होना—भारतवर्ष के अनेक प्रान्तों में राजकीय विद्यालयों के अध्यापक तथा निजी संस्थाओं में काम करने वाले अध्यापकों का वेतन समान नहीं है। राजकीय सेवा में अधिक वेतन मिलता है। परिणामस्वरूप, योग्य व्यक्ति इन राजकीय संस्थाओं में चले जाते हैं। निजी संस्थाओं में अगर कोई अच्छी योग्यता का व्यक्ति पहुंच भी जाता है तो वह थोड़े समय ही वहाँ ठहरता है। धनाभाव के कारण अनेक निजी संस्थाएं समय पर अध्यापकों को वेतन नहीं दे पाती हैं।

(२) नौकरी की सुरक्षा का अभाव—*योग्य व्यक्ति इन प्राइवेट संस्थाओं में* का कार्य करते हुए भी नौकरी की असुरक्षा से भयभीत रहते हैं। इन संस्थाओं में भी परम्परा सी पड़ गई है कि जो अध्यापक विद्यालय के प्रबन्धक की इच्छानुसार कार्य नहीं करता है, उसको सेवा-कार्य से शीघ्र ही मुक्त किया जाता है।

(३) ग्रामीण क्षेत्रों में सुविधाओं का अभाव—नगरों की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्रों *अध्यापकों का मिलना अधिक कठिन है। नगर में अनेक सुविधाएं होने से अध्यापक* नगरों की ओर अधिक आकर्षित होते हैं। ग्रामीण क्षेत्र के विद्यालयों में विज्ञान विषय के अध्यापकों का अभाव सदैव बना रहता है।

(४) अध्यापकों को योग्यता बढ़ाने के अवसर नहीं दिये जाते हैं। जो अध्यापक स्नातकोत्तर परीक्षा देना चाहते हैं, उनको परीक्षा की स्वीकृति प्रदान नहीं की जाती है। *इसी प्रकार अध्यापकों को प्रशिक्षण सम्बन्धी सुविधा या किसी शिक्षा* सम्मेलन में सम्मिलित होने की स्वीकृति नहीं दी जाती है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. राज्य द्वारा चलाये जा रहे माध्यमिक विद्यालयों में क्या दोष पाये जाते हैं ?
२. स्थानीय संस्थाएँ माध्यमिक विद्यालयों का प्रबन्ध करने में क्या कठिनाइयाँ अनुभव करती हैं ?
३. व्यक्तिगत प्रबन्ध समिति द्वारा चलाये जा रहे विद्यालयों का शिक्षा के प्रसार में क्या सहयोग रहा है ?
४. व्यक्तिगत प्रबन्ध वाले विद्यालयों में कौन-कौनसे प्रमुख दोष पाये जाते हैं ?

राजस्थान विश्वविद्यालय की बी० एड० परीक्षा में पूछे गये प्रश्न

1 What place do privately managed primary and secondary schools occupy in the national pattern of education in this country ? Discuss the special problems which they have to face (1961)

सम्भव हो सकी है। संयुक्त राज्य अमरीका आज विश्व की महान् शक्ति केवल अपनी खनिज सम्पत्ति की अधिकता के आधार पर ही नहीं बना है परन्तु वहाँ के लोगों की तकनीकी दक्षता एवं उनकी सूझ-बूझ का परिणाम है। वर्तमान समय में रूस जो कि एक पिछड़ा हुआ देश था, आज वैज्ञानिक प्रगति के कारण चन्द्रलोक तक पहुँचने के प्रयासों में संलग्न है। रूस खनिज की दृष्टि से सम्पन्न देश है लेकिन वहाँ औद्योगिक विकास तभी हुआ जबकि वहाँ की सरकार ने तकनीकी शिक्षा का प्रबन्ध करके अपने देश के व्यक्तियों की कार्यक्षमता एवं तकनीकी कुशलता में वृद्धि की। भारतवर्ष खनिज की दृष्टि से निर्धन देश नहीं है। कुछ खनिजों में तो भारत को विश्व में एकाधिकार सा प्राप्त है परन्तु अंग्रेजों ने अपने स्वार्थ के कारण भारत में तकनीकी शिक्षा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। परिणामस्वरूप, यहाँ के निवासी अपने यहाँ की प्राकृतिक सम्पत्ति का उचित प्रयोग न करने से अन्य देशों की तुलना में पिछड़ गये। हुमायूँ कबीर का कथन इस सम्बन्ध में सत्य है कि किसी देश अथवा राष्ट्र की सम्पन्नता का आधार विज्ञान तथा तकनीकी शिक्षा है।

तकनीकी शिक्षा का इतिहास

प्राचीन काल में तकनीकी शिक्षा—इस बात के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में तकनीकी शिक्षा का अधिक विस्तार था। मोहनजोदड़ो की खुदाई से पता चलता है कि हजारों वर्ष पूर्व भी हमारे पूर्वज भवन-निर्माण सम्बन्धी ज्ञान रखते थे। कुतुबमीनार के निकट स्थित लोहे का स्तम्भ उस समय के शिल्पकारों के ज्ञान का गुणगान करता है। हमारे देश का स्थान सम्पूर्ण विश्व में विख्यात था। उस काल में तकनीकी ज्ञान किसी शिक्षण संस्था में प्रदान नहीं किया जाता था। उस समय तो विभिन्न जातियों के कार्य एवं व्यवसाय निश्चित थे। घर घर ही पिता अपने पुत्रों को इन व्यवसायों की शिक्षा दिया करता था। वैदिक युग में भी सूती-रेशमी वस्त्र बनते थे तथा उनको रँगने एवं छपाई सम्बन्धी कार्य होता था। राजा-महाराजाओं के यहाँ कारीगर लोग अस्त्र-शस्त्र बनाने का काम करते थे।

मुस्लिम काल में तकनीकी शिक्षा—मुस्लिम शासकों की भोग विलासिता के कारण यहाँ पर ललित कलाओं को अधिक प्रोत्साहन मिला। इनके समय में रेशम, जरी, दरियाँ, कालीन, आभूषण आदि सामग्री का निर्माण हुआ। सूती वस्त्र उद्योग इस काल में अधिक विकसित हुआ। उत्तम वस्त्र बनाने वाले कारीगरों को पारितोषिक भी प्रदान किये जाते थे। इनके समय में युद्ध भी अधिक हुए। परिणामस्वरूप, युद्ध की सामग्री का निर्माण अधिक हुआ। बारूद, गोला आदि के बनने से इस काल में तकनीकी ज्ञान का विस्तार हुआ। आज भी मुस्लिम काल की शिल्प कला अधिक प्रसिद्ध है।

ब्रिटिश शासन काल में तकनीकी शिक्षा—ब्रिटिश काल में यहाँ पर उद्योग-धन्धों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे धीरे-धीरे समाप्त होने गये। अंग्रेजों की यह

नीति यही थी कि वे यहाँ से कच्चा माल अपने देश को ले जायें और वहाँ से निर्मित माल यहाँ के बाजारों में बेचें। भारतीय उद्योगों को इनका कोई संरक्षण प्राप्त नहीं हुआ। परिणामस्वरूप, भारत के अनेक शिल्पी बेकार हो गये। सबसे अधिक आघात सूती वस्त्र व्यवसाय को पहुँचा। सन् १८३४ में भारत के तत्कालीन अंग्रेज गवर्नर जनरल ने अपनी रिपोर्ट में उस समय के जुलाहों की दशा का वर्णन इस प्रकार किया है—"वाणिज्य के इतिहास में ऐसे दुर्भाग्य का अन्य उदाहरण मिलना कठिन ही है। सूती वस्त्र बुनकरों की हड्डियों ने भारत के मैदान को सफेद कर दिया है।"[1] कम्पनी की सरकार ने तकनीकी शिक्षा की ओर कोई भी ध्यान नहीं दिया परन्तु कम्पनी के साम्राज्य को समाप्त करके यहाँ पर ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के साथ अनेक विभागों में वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप, इनमें काम करने के लिए विशेषज्ञों की आवश्यकता पड़ी। अंग्रेजों ने भारतीयों को ही इन विशेष विषयों की शिक्षा देने की व्यवस्था की ओर ध्यान दिया क्योंकि इंग्लैंड से सभी विभागों के लिए विशेषज्ञ लाना एक समस्या थी। प्रारम्भ में ईसाई मिशनरियों ने व्यावसायिक शिक्षा के लिए शिक्षण संस्थाएँ खोलीं। तदन्तर अंग्रेज सरकार के द्वारा भी व्यावसायिक विद्यालय स्थापित किये गये। इंजीनियरों की शिक्षा के लिए कुछ कक्षाएँ बम्बई, मद्रास तथा रुड़की में स्थापित की गईं। सन् १८४७ में उत्तर प्रदेश में रुड़की में टामस इंजीनियरिंग कालेज की स्थापना की गई। सन् १८५६ में कलकत्ता में तथा १८८० में बंगाल में शिवपुरी नामक स्थान पर इंजीनियरिंग कालेज स्थापित किये गये।

१८८२ से १९०२ तक—सन् सन् १८८२ में अंग्रेज सरकार ने भारतीय शिक्षा का सुधार करने के लिए हण्टर आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग ने प्रथम माध्यमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम के विभिन्नीकरण का सुझाव दिया। आयोग ने पाठ्यक्रम को दो वर्गों में विभाजित किया—(१) साहित्यिक, (२) व्यावसायिक। सन् १८८७ में कांग्रेस ने अपने तीसरे अधिवेशन में तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षा की जोरदार माँग की क्योंकि अब भारतीय नेता भी देश के आर्थिक विकास की ओर सजग हो चुके थे। सन् १८८८ में सरकार ने तकनीकी तथा व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था के लिए प्रस्तावित किया कि इस शिक्षा के लिए संस्थाएँ स्थापित की जायें। सन् १८८७ में बम्बई में विक्टोरिया जुबली टैक्नीकल इस्टीट्यूट की स्थापना की गई। इस समय तक स्थापित कालेजों में पढ़ने वाले छात्रों की संख्या ८६४ थी। सर्वे स्कूलों में ७६६ छात्र अध्ययन कर रहे थे। सन् १९०२ तक सम्पूर्ण भारत में कुल ८० तकनीकी संस्थाएं थीं, परन्तु इनमें से अधिकांश देशी कला-कौशल की ही शिक्षा प्रदान करते थे।

---

1 The misery hardly finds a parallel in the history of commerce. The bones of the cotton weavers are *bleaching the* plains of India.—Lord Bentick

सन् १६०२ से १६२१ तक—लार्ड कर्जन ने यह अनुभव किया कि भारत मे तकनीकी शिक्षा का विस्तार अधिक नही हुआ है और न यहाँ परदेश के उद्योगो की आवश्यकता एवं माँग के अनुसार तकनीकी शिक्षा की व्यवस्था है। लार्ड कर्जन ने इस क्षेत्र मे महत्वपूर्ण पग उठाये। उन्होंने यहाँ के योग्य तथा कुशाग्र बुद्धि वाले छात्रो को छात्रवृत्ति की सुविधा देकर विदेशो मे तकनीकी शिक्षा सीखने के लिए भेजा। कर्जन ने भारत मे कृषि की शिक्षा के लिए विशेष प्रयास किए। उसने ग्रामीण विद्यालय मे कृषि को अनिवार्य विषय बनाया। सन् १६१७ मे कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग ने तकनीकी एव व्यावसायिक शिक्षा के सम्बन्ध मे सुझाव दिया कि

(अ) विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम मे तकनीकी शिक्षा को सम्मिलित किया जाय।

(आ) इन्टरमीडिएट कक्षा के पाठ्यक्रम मे व्यवसाय की सामान्य शिक्षा की व्यवस्था हो।

सन् १६२१ मे व्यावसायिक शिक्षा-संस्थाओं तथा उनमे अध्ययन करने वाले छात्रो की संख्या निम्नलिखित तालिका मे स्पष्ट है

व्यावसायिक संस्थाएँ	संस्थाओं की संख्या	छात्रो की संख्या
कानून के कालेज	१३	५,८६५
चिकित्सा कालेज	७	३,८६३
वाणिज्य कालेज	५	६७६
कृषि कालेज	२	३२६
इंजीनियरिंग कालेज	५	८०३

सन् १६२१ से १६३७ तक—इस काल को द्वैध शासन के नाम से भी पुकारते है। इस काल मे भारतीयो ने इसका विरोध किया कि भारतीय छात्रो को विदेशो मे तकनीकी शिक्षा का अध्ययन करने हेतु भेजा जाय। ऐसा करने से भारत मे तकनीकी शिक्षा का विकास नही हो सकेगा। भारतीय नेताओं का विचार था कि देश मे ही उच्च तकनीकी शिक्षा के महाविद्यालय स्थापित किये जायें। इस माँग के आधार पर सरकार ने लार्ड लिटिन की अध्यक्षता मे एक समिति का गठन किया। इस समिति ने विदेशो मे अध्ययन करने वाले भारतीय छात्रों की कठिनाई को दूर करने का सुझाव दिया तथा भारत मे ही तकनीकी तथा व्यावसायिक संस्थाओं की स्थापना के लिए सरकार से अनुरोध किया। इस काल मे निम्नलिखित संस्थाओं की स्थापना हुई

(१) बोस रिसर्च इंस्टीट्यूट, कलकत्ता—इस संस्था की स्थापना भारत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर जगदीश चन्द्र बोस ने की थी।

। एग्रीकल्चर रिसर्च इंस्टीट्यूट, नई दिल्ली—इस संस्था में
ी जाती है। इसके अतिरिक्त अनुसन्धान कार्य भी होता है।
स्कूल आफ साइंस—इसकी स्थापना सन् १९२६ में धनबाद
ी शिक्षा देने के लिए की गई।
बटलर टेक्नोलॉजिकल इंस्टीट्यूट—इसकी स्थापना कानपुर
में हुई।
यन इंस्टीट्यूट आफ साइंस—टाटा परिवार ने बंगलौर में यह
किया।

३७ से १९४७ तक—सन् १९३७ में 'केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद्'
आधार पर 'ऐबट एण्ड वुड' समिति की नियुक्ति की गई। इस
सायिक शिक्षा के लिए उपयोगी सुझाव दिये

व्यावसायिक शिक्षा को साहित्यिक शिक्षा के समान ही स्तर प्रदान
किया जाय।
प्रत्येक प्रान्त की औद्योगिक एवं व्यापारिक परिस्थितियों के अनुसार ही
व्यावसायिक शिक्षा का रूप निश्चित किया जाय।
व्यावसायिक शिक्षा के लिए पृथक् विद्यालय स्थापित किए जायें।
उद्योग, व्यापार और शिक्षा में परस्पर निकट सम्पर्क स्थापित करने के
लिए प्रत्येक प्रान्त में 'व्यावसायिक शिक्षा परामर्शदात्री समिति' का
सगठन किया जाय।
५ व्यावसायिक शिक्षा के पूर्णकालीन तथा अंशकालीन विद्यालय हों।

'ऐबट एण्ड वुड' प्रतिवेदन में दिये गये सुझावों के आधार पर सरकार ने कार्य
किया। इस काल में तकनीकी शिक्षा की प्रगति के निम्नलिखित कारण थे

(१) विश्वयुद्ध के कारण भारत में नवीन उद्योगों की स्थापना युद्ध सामग्री
र करने के लिए की गई। परिणामस्वरूप, तकनीकी शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों की
बढ़ी।

(२) देश में निजी उद्योग के क्षेत्र में भी विकास हुआ। धनी व्यक्तियों ने
नेक उद्योग प्रारम्भ किये। अनेक व्यक्तिगत तकनीकी संस्थाओं की स्थापना हुई।

(३) केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों ने तकनीकी शिक्षा में रुचि ली।

सन् १९४५ में एन० आर० सरकार समिति गठित की गई। इस समिति ने
तकनीकी शिक्षा के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये

(१) देश के उत्तर, पश्चिम, दक्षिण एवं पूर्वी भागों में चार बड़े कालेज
स्थापित किये जायें।

(२) इन संस्थाओं में योग्य अध्यापक नियुक्त किये जायें।

(३) प्रतिभाशाली छात्रों को प्रवेश में प्राथमिकता तथा अन्य सुविधाएँ दी जायें।

सन् १९४६ में भारत सरकार ने 'अखिल भारतीय तकनीकी शिक्षा समिति' का निर्माण किया। इस समिति का कार्य केन्द्रीय सरकार को तकनीकी शिक्षा के सम्बन्ध में सलाह देना था।

युद्धोत्तर शिक्षा प्रगति की योजना बनाने का कार्य तत्कालीन भारतीय शिक्षा सलाहकार सर जॉन सार्जेन्ट को दिया। उन्होंने अपने प्रतिवेदन में तकनीकी शिक्षा के सम्बन्ध में भी सुझाव दिया.

(१) तकनीकी शिक्षा के लिए पूर्णकालिक तथा अंशकालिक विद्यालय स्थापित किये जायें।

(२) दो प्रकार के हाईस्कूल हों—(अ) साहित्यिक, और (आ) तकनीकी। इन दोनों विद्यालयों में कुछ विषय समान रूप से पढ़ाये जायें। इनके अतिरिक्त तकनीकी तथा व्यावसायिक विद्यालयों में काष्ठ-कला, इंजीनियरिंग, वाणिज्य, धातु-कला आदि विषयों के शिक्षण की व्यवस्था हो।

(३) सार्जेन्ट ने भारतीय उद्योगों की आवश्यकता के आधार पर कार्यकर्ताओं को चार भागों में बाँटा :

(अ) उच्च श्रेणी—मुख्य कार्याधिकारी तथा अनुसन्धानकर्त्ता इस श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं। तकनीकी हाईस्कूल का पाठ्यक्रम समाप्त करके ये किसी विश्वविद्यालय के तकनीकी विभाग में उच्च श्रेणी की शिक्षा ग्रहण करेंगे।

(आ) निम्न श्रेणी—निम्न कार्याधिकारी जैसे फोरमैन आदि को इस श्रेणी में सम्मिलित किया जाता है। तकनीकी हाईस्कूल में शिक्षा ग्रहण करके इन छात्रों को अंशकालिक पाठ्यक्रम के अन्तर्गत राष्ट्रीय डिप्लोमा लेना आवश्यक होगा।

(इ) कुशल शिल्पकार—तकनीकी हाईस्कूल तक की शिक्षा प्राप्त किये हुए व्यक्तियों को कुशल शिल्पकार माना जाता है।

(ई) अर्द्धकुशल एवं अकुशल कारीगर—सीनियर बेसिक शिक्षा प्राप्त किये हुए छात्र इस श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं।

सन् १९४७ के पश्चात्—स्वतन्त्रता के पश्चात् देश में औद्योगिक विकास प्रारम्भ हुए। परिणामस्वरूप, दिन प्रतिदिन तकनीकी व्यक्तियों की माँग अधिक बढ़ने लगी। इनकी माँग की वृद्धि ने सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। सन् १९४८ में डा० राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग नियुक्त किया गया। इस आयोग ने तकनीकी शिक्षा के लिए महत्वपूर्ण सुझाव दिये। आयोग ने व्यावसायिक शिक्षा का अर्थ स्पष्ट करने के लिए लिखा है—"पुरुष एवं स्त्रियों को

३. जन-शिक्षा विभाग को किसी योग्य तकनीकी शिक्षा सलाहकार की सेवाएँ प्राप्त न हो सकी।
४. सरकार के विभिन्न विभागो मे परस्पर कोई सम्पर्क नही रहता है। परिणामस्वरूप, तकनीकी शिक्षा की समन्वित योजना नही बन पाती है।
५. धनाभाव के कारण भी अनेक योजनाएं पूरी नही हो सकी।

आयोग ने तकनीकी शिक्षा के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये

१. बहुत बडी संख्या मे तकनीकी संस्थाएँ स्थापित की जाएँ।
२ तकनीकी संस्थाओ की स्थापना यथासम्भव कारखानो के निकट की जाय और उनमे परस्पर सहयोग हो।
३ अधिनियम द्वारा कल-कारखानो के लिए अनिवार्य कर दिया जाय कि वे तकनीकी विद्यालय के छात्रो को व्यावहारिक ज्ञान दें।
४ तकनीकी शिक्षा के लिए उद्योगो पर उद्योग कर लगाया जाय।

कोठारी आयोग—२ अक्टूबर, १९६४ को श्री दौलत सिंह कोठारी की अध्यक्षता मे शिक्षा आयोग नियुक्त किया गया। इस आयोग ने भी तकनीकी शिक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये है

१. सामान्य एवं तकनीकी शिक्षा के बीच मे बहुत अन्तर नही करना चाहिए। वे एक दूसरे के पूरक को तरह कार्य कर।
२. शिक्षा संस्थाओ एव उद्योगों का घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए।
३ जूनियर टेकनिकल स्कूलो का नाम परिवर्तन करके टेकनिकल हाईस्कूल कर दिया जाय।
४. विद्यालय छोडकर रोजगार मे प्रवेश पाने वाले छात्रों को योग्यता बढाने के लिए अंशकालो तथा पत्राचार शिक्षा की व्यवस्था की जाय।
५ शिल्पियो की शिक्षा के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये
   (अ) सन् १९७५ तक इंजीनियर और शिल्पियो का अनुपात १ २ ५ तथा १९८६ तक ३ या ४ कर दें।
   (आ) सर्वेक्षण आदि के द्वारा इनके पाठ्यक्रम मे सुधार किया जाय।
   (इ) पोलीटेकनिको की स्थापना औद्योगिक क्षेत्रो मे की जाय।
   (ई) इनमे व्यावहारिक शिक्षा पर बल दिया जाय।
   (उ) लड़कियों के लिए पृथक् पाठ्यक्रम हो।

पंचवर्षीय योजनाएँ और तकनीकी शिक्षा

भारत के विभिन्न क्षेत्रो, जैसे आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक आदि, के विकास के लिए पचवर्षीय योजनाएँ बनाई गई। आर्थिक विकास के लिए यहाँ पर भारी उद्योग स्थापित किये गये। इन नवीन उद्योगो मे कार्य करने के लिए कुशल तथा

तृतीय पंचवर्षीय योजना—इस योजना मे तकनीकी शिक्षा के लिए १४२ करोड़ रुपये रखे गये। यह कुल शिक्षा व्यय का २५ प्रतिशत है जबकि प्रथम तथा द्वितीय योजनाओं मे यह प्रतिशत क्रमश १३% एवं १६% था।

१. इस योजना काल मे १७ नये इंजीनियरिंग कालेज स्थापित करने का निश्चय किया। इनमे से ७ क्षेत्रीय महाविद्यालय होंगे।
२. ६७ पालीटैकनिक स्कूल स्थापित किये जायें जिनमे १८० छात्रों को प्रवेश देने की क्षमता हो।
३. २० वर्ष से ३५ वर्ष की अवस्था के छात्रों के लिए पत्र-व्यवहार पाठ्यक्रम होगा।
४. तीसरी योजना मे छात्रवृत्ति के लिए ८ करोड़ रुपया रखा गया।

नवीन योजनाएँ—तकनीकी शिक्षा की प्रगति के लिए सरकार ने निम्नलिखित योजनाएँ कार्यान्वित की हैं

(१) उच्चतर तकनीकी संस्थाएँ—भारतवर्ष के चारों भागों मे से प्रत्येक मे उच्चतर तकनीकी संस्था स्थापित करने की सिफारिश 'सरकार' समिति ने की थी। इस समिति ने इन चार उच्च संस्थाओं की स्थापना सम्बन्धी सिफारिश भारत मे भारी उद्योगों का विस्तार एवं उनमे कार्य करने वाले उच्च तकनीशियों की माँग के आधार पर की। सन् १९५१ मे कलकत्ते के पास खड़गपुर नामक स्थान पर सर्वप्रथम भारतीय प्राद्यौगिकी संस्था स्थापित हुई। बम्बई, कानपुर तथा मद्रास अन्य स्थान हैं जहाँ पर ये उच्च विद्यालय चल रहे हैं।

(२) नवीन पाठ्यक्रम—देश मे नवीन उद्योग प्रारम्भ होने से नवीन विषयों के अध्ययन की माँग बढ़ रही है। आवश्यकता इस बात की है कि उद्योगों की आवश्यकतानुसार ही पाठ्यक्रम मे भी परिवर्तन होना चाहिए। अखिल भारतीय प्रायौगिक शिक्षा परिषद् की सिफारिश के आधार पर निम्नलिखित नवीन पाठ्यक्रम का शिक्षण प्रारम्भ किया गया

(अ) मुद्रण कला, (आ) धातु कर्म, (इ) नगर-आयोजन, (ई) भवन-निर्माण, (उ) खनिज-विज्ञान, (ऊ) प्रबन्ध-व्यवस्था।

सरकार उपर्युक्त विषयों के शिक्षण की व्यवस्था के प्रति जागरूक है। केन्द्रीय सरकार तथा कुछ प्रान्तीय सरकारों ने मिलकर मद्रास, बम्बई, इलाहाबाद और कलकत्ता मे मुद्रण स्कूल स्थापित किये हैं। कुछ संस्थाओं मे प्रबन्ध-व्यवस्था सम्बन्धी पाठ्यक्रम प्रारम्भ कर दिया है। दिल्ली मे 'ग्राम-नगर-आयोजन' का प्रशिक्षण देने हेतु विद्यालय स्थापित हुआ है।

(३) विज्ञान मन्दिर—ग्रामीण क्षेत्रों मे विज्ञान का प्रचार करने के लिए विज्ञान मन्दिरों की स्थापना की जा रही है। अब तक सम्पूर्ण देश मे ३६ विज्ञान

की ओर भी सरकार ने विशेष ध्यान दिया। सरकार तकनीकी तथा औद्योगिक शिक्षा का प्रसार करने में व्यस्त है परन्तु आशातीत सफलता नहीं मिल रही है। अनेक बाधाओं एवं समस्याओं के कारण तकनीकी शिक्षा की प्रगति बहुत धीमी रही है। यहाँ पर तकनीकी शिक्षा की समस्याओं पर विचार किया जायेगा

(१) तकनीकी विद्यालयों का अभाव—स्वतन्त्रता के बाद सरकार ने अनेक तकनीकी संस्थाओं की स्थापना की परन्तु देश की जनसंख्या एवं उद्योगों की आवश्यकताओं को देखते हुए उनकी संख्या को पर्याप्त नहीं कहा जा सकता है। इस समय सम्पूर्ण देश में केवल २६४ संस्थाएँ है। परिणामस्वरूप, तकनीकी शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले लगभग ६० प्रतिशत छात्र विद्यालयों में प्रवेश पाने से वंचित रह जाते हैं।

समाधान—इस समस्या का समाधान करने के लिए आवश्यक है कि देश में और अधिक तकनीकी विद्यालय प्रारम्भ किये जायें। इन विद्यालयों में विभिन्न योग्यता वाले छात्रों को तकनीकी शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा होनी चाहिए।

(२) संकीर्ण पाठ्यक्रम—हमारे यहाँ के तकनीकी विद्यालयों का पाठ्यक्रम संकीर्ण है क्योंकि उनमें छात्रों को केवल तकनीकी शिक्षा ही प्रदान की जाती है। उनका सामान्य शिक्षा का अध्ययन नहीं करवाया जाता है। परिणामस्वरूप, ये नवयुवक उत्पादन कार्य के सामाजिक उद्देश्यों तथा मानव सम्बन्धों को नहीं समझ पाते हैं। उनको केवल कारीगर बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य नहीं होना चाहिए परन्तु इसके साथ ही उनके सामाजिक एवं मानवीय पक्ष के विकास के लिए भी प्रयास किये जायें।

समाधान—पाठ्यक्रम के इस दोष को दूर करने के लिए तकनीकी पाठ्यक्रम के साथ सामान्य शिक्षा के विषय भी सम्मिलित करने चाहिए। अमरीका में इस संकीर्णता को सामान्य शिक्षा को पाठ्यक्रम में सम्मिलित करके दूर किया गया है।

(३) शिक्षकों का अभाव—सरकार पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत तकनीकी शिक्षा का विस्तार कर रही है। नवीन तकनीकी विद्यालय स्थापित किये जा रहे हैं परन्तु इन विद्यालयों के लिए पर्याप्त संख्या में अध्यापक उपलब्ध नहीं होते हैं। इसका कारण यह है कि उद्योगों में अधिक वेतन एवं अन्य सुविधाएँ मिलने से प्राविधिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद व्यक्ति तकनीकी विद्यालयों में कार्य करने के लिए तैयार नहीं होता है। वह उद्योगों को ही प्राथमिकता देता है।

समाधान—इस समस्या के समाधान के लिए वेतन को आकर्षक बनाना आवश्यक है तभी योग्य व्यक्ति इन संस्थाओं में कार्य करने के लिए तैयार होंगे। वेतन के अतिरिक्त सामान्य शर्तों में सुधार किया जाय और सुविधाओं में वृद्धि की जाय। जो व्यक्ति इन विद्यालयों में अध्यापन कार्य कर रहे हैं, उनको अपनी शैक्षिक योग्यता बढ़ाने के अवसर दिये जायें।

मन्दिरों की स्थापना हो चुकी है। इसमें एक प्रयोगशाला तथा प्रशिक्षित कर्मचारी होते हैं। प्रत्येक का सम्बन्ध एक उच्चतर माध्यमिक विद्यालय से रहेगा।

(४) छात्रवृत्ति - मेधावी निर्धन छात्रों को आर्थिक सहायता प्रदान करके तकनीकी शिक्षा का अध्ययन करने की सुविधा दी जाती है। छात्रवृत्ति के द्वारा ही तकनीकी तथा वैज्ञानिक शोध कार्य को प्रोत्साहन दिया जाता है। तीन प्रकार की छात्रवृत्तियों का आयोजन किया गया है

(अ) प्रयोगात्मक प्रशिक्षण वृत्ति,

(आ) राष्ट्रीय शोध शिष्य वृत्ति,

(इ) विश्वविद्यालय शोध वृत्ति।

प्रथम प्रकार की वृत्ति दो प्रकार के व्यक्तियों को दी जाती है---(१) स्नातक, (२) डिप्लोमा प्राप्त व्यक्ति। प्रथम को १५० रु० तथा डिप्लोमा प्राप्त व्यक्ति को १०० रु० की छात्रवृत्ति दी जाती है। दूसरी योजना में ४०० रु० मासिक की ८० राष्ट्रीय शोध शिष्य वृत्ति का आयोजन रखा गया। विश्वविद्यालय शोध वृत्ति की ८०० शोध वृत्तियाँ रखी गई जोकि २०० रु० मासिक की थी।

(५) शिक्षक प्रशिक्षण---अब तक तकनीकी विद्यालयों में अध्यापकों का अभाव रहा है परन्तु तकनीकी क्षेत्र में स्नातकोत्तर शिक्षा का प्रबन्ध हो जाने से अब शिक्षकों का अभाव नहीं रहेगा, परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि इन विद्यालयों के वेतन में वृद्धि करके इनको आकर्षक बनाया जाय।

(६) अनुसंधान-- भारत सरकार ने सन् १९४२ में वैज्ञानिक तथा तकनीकी शोध के लिए 'वैज्ञानिक तथा औद्योगिक शोध-परिषद्' की स्थापना की थी। आज यह परिषद् अनुसंधान कार्य को प्रोत्साहन दे रही है। तीसरी योजना में अनुसंधान सम्बन्धी कार्य की उन्नति के लिए निम्नलिखित कार्यक्रम की योजना रखी गई

१ वर्तमान अनुसंधानशालाओं को सुविधाएँ देकर अनुसंधान कार्य के लिए मजबूत बनाना।

२ विश्वविद्यालय में अनुसंधान कार्य को प्रोत्साहित करना।

३ वैज्ञानिक और औद्योगिक औजारों के निर्माण में अनुसंधान कार्य करवाना।

४ विभिन्न संस्थाओं द्वारा किये जा रहे अनुसंधान कार्य में समन्वय रखना।

५ अनुसंधानकर्त्ता को प्रशिक्षण देना।

तकनीकी शिक्षा की समस्याएँ---तकनीकी शिक्षा के इतिहास का अध्ययन करने से स्पष्ट है कि अंग्रेजों ने भारत में तकनीकी एवं औद्योगिक शिक्षा की सदैव अवहेलना की। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् सरकार ने भारी उद्योगों के विकास की योजनाएँ बनाई परन्तु इन उद्योगों में कार्य करने वाले तकनीशियों को तैयार करने

की ओर भी सरकार ने विशेष ध्यान दिया। सरकार तकनीकी तथा औद्योगिक शिक्षा का प्रसार करने में व्यस्त है परन्तु आशातीत सफलता नहीं मिल रही है। अनेक बाधाओं एवं समस्याओं के कारण तकनीकी शिक्षा की प्रगति बहुत धीमी रही है। यहाँ पर तकनीकी शिक्षा की समस्याओं पर विचार किया जायेगा

(१) तकनीकी विद्यालयों का अभाव—स्वतन्त्रता के बाद सरकार ने अनेक तकनीकी संस्थाओं की स्थापना की परन्तु देश की जनसंख्या एवं उद्योगों की आवश्यकताओं को देखते हुए उनकी संख्या को पर्याप्त नहीं कहा जा सकता है। इस समय सम्पूर्ण देश में केवल २६८ संस्थाएँ हैं। परिणामस्वरूप, तकनीकी शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले लगभग ६० प्रतिशत छात्र विद्यालयों में प्रवेश पाने से वंचित रह जाते हैं।

समाधान—इस समस्या का समाधान करने के लिए आवश्यक है कि देश में और अधिक तकनीकी विद्यालय प्रारम्भ किये जायें। इन विद्यालयों में विभिन्न योग्यता वाले छात्रों को तकनीकी शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा होनी चाहिए।

(२) संकीर्ण पाठ्यक्रम—हमारे यहाँ के तकनीकी विद्यालयों का पाठ्यक्रम संकीर्ण है क्योंकि उनमें छात्रों को केवल तकनीकी शिक्षा ही प्रदान की जाती है। उनको सामान्य शिक्षा का अध्ययन नहीं करवाया जाता है। परिणामस्वरूप, ये नवयुवक उत्पादन कार्य के सामाजिक उद्देश्यों तथा मानव सम्बन्धों को नहीं समझ पाते हैं। उनको केवल कारीगर बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य नहीं होना चाहिए परन्तु इसके साथ ही उनके सामाजिक एवं मानवीय पक्ष के विकास के लिए भी प्रयास किये जायें।

समाधान—पाठ्यक्रम के इस दोष को दूर करने के लिए तकनीकी पाठ्यक्रम के साथ सामान्य शिक्षा के विषय भी सम्मिलित करने चाहिए। अमरीका में इस संकीर्णता को सामान्य शिक्षा को पाठ्यक्रम में सम्मिलित करके दूर किया गया है।

(३) शिक्षकों का अभाव—सरकार पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत तकनीकी शिक्षा का विस्तार कर रही है। नवीन तकनीकी विद्यालय स्थापित किये जा रहे हैं परन्तु इन विद्यालयों के लिए पर्याप्त संख्या में अध्यापक उपलब्ध नहीं होते हैं। इसका कारण यह है कि उद्योगों में अधिक वेतन एवं अन्य सुविधाएँ मिलने से प्रायोगिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद व्यक्ति तकनीकी विद्यालयों में कार्य करने के लिए तैयार नहीं होता है। वह उद्योगों को ही प्राथमिकता देता है।

समाधान—इस समस्या के समाधान के लिए वेतन को आकर्षक बनाना आवश्यक है तभी योग्य व्यक्ति इन संस्थाओं में कार्य करने के लिए तैयार होंगे। वेतन के अतिरिक्त सामान्य शर्तों में सुधार किया जाय और सुविधाओं में वृद्धि की जाय। जो व्यक्ति इन विद्यालयों में अध्यापन कार्य कर रहे हैं, उनको अपनी शैक्षिक योग्यता बढ़ाने के अवसर दिये जाएँ।

(४) शिक्षा का माध्यम—तकनीकी शिक्षा के माध्यम की समस्या अभी तक समाप्त नहीं हुई है। तकनीकी संस्थाओं में अब भी शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा है। क्षेत्रीय भाषाओं को माध्यम बनाने के प्रयास तो चल रहे हैं परन्तु सफलता की अभी तक इनके पक्ष में नहीं है। जैसे उच्चतर माध्यमिक स्तर तक शिक्षा का माध्यम मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा है परन्तु इन छात्रों को तकनीकी संस्था में अंग्रेजी माध्यम से पढ़ने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उनके समय तथा शक्ति का अपव्यय होता है।

समाधान—यह आवश्यक नहीं है कि अंग्रेजी भाषा को माध्यम बनाने से ही तकनीकी शिक्षा का विकास हो सकता है। विश्व में कुछ ऐसे देशों के भी उदाहरण हैं जहाँ शिक्षा का माध्यम अपने देश की भाषाएँ हैं। जर्मनी, रूस और जापान में तकनीकी तथा वैज्ञानिक शिक्षा के क्षेत्र में बहुत आगे बढ़े हुए हैं। इन देशों में छात्रों को अपने देश की भाषा में ज्ञान दिया जाता है। भारत में भी तकनीकी शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाएँ हों। यह ठीक है कि प्रारम्भ में कुछ कठिनाई अवश्य होगी परन्तु भारतीय भाषाओं में ही पुस्तकें उपलब्ध होने पर यह कठिनाई भी दूर हो जायगी।

(५) पाठ्य-पुस्तकों का अभाव—हमारे देश में तकनीकी शिक्षा के क्षेत्र में बहुत कम पुस्तकें लिखी गई हैं। अधिकांश पुस्तकें विदेशों से आती हैं। रुपए का अवमूल्यन होने से पुस्तकें और भी अधिक महँगी हो गई हैं। दूसरी ओर छात्रों की संख्या में प्रतिवर्ष वृद्धि होते जाने से पुस्तकों की माँग भी बढ़ती जा रही है। पुस्तकों के अभाव में छात्र बहुत से विषयों की तैयारी संतोषजनक ढंग से नहीं कर पाते हैं।

समाधान—इस क्षेत्र में सरकार ने यह प्रशंसनीय कार्य किया है कि संयुक्त राज्य अमरीका तथा ब्रिटेन में प्रकाशित तकनीकी पुस्तकों के प्रकाशन का अधिकार प्राप्त कर लिया है। परिणामस्वरूप, कम मूल्य पर ही पुस्तकें छात्रों को पर्याप्त संख्या में प्राप्त हो जाती हैं। सरकार को कुछ पुस्तकों का अनुवाद भारतीय भाषाओं में करवाना चाहिए। लेखकों को भी मौलिक पुस्तकें लिखने के लिए प्रोत्साहित किया जाय।

(६) अध्ययन समाप्ति के उपरान्त शिक्षा का अभाव—तकनीकी शिक्षा ग्रहण करने के उपरान्त नवयुवक किसी व्यवसाय में प्रवेश करते हैं। धीरे-धीरे इनका ज्ञान सीमित होता जाता है और वे बहुत सी बातें भूल जाते हैं। परिणामस्वरूप, उनकी कुशलता में कमी आ जाती है। इसके साथ ही अपने देश में काम करते हुए शैक्षिक योग्यता बढ़ाने के लिए शिक्षा संस्थाएँ नहीं हैं जहाँ पर अल्पकालीन पाठ्यक्रम की ... हो।

समाधान—वर्तमान शताब्दी में दिन-प्रतिदिन तकनीकी ज्ञान में वृद्धि हो अतः एक शिल्पी को नवीन ज्ञान प्राप्त करने की सुविधा की ओर सरकार को

देना चाहिए। यहाँ पर अशकालीन तथा पत्र-व्यवहार पाठ्यक्रम तकनीकी ों में ही प्रारम्भ करने चाहिए। इसके साथ ही अभिनव पाठ्यक्रमों की भी ा करनी चाहिए। हमारे देश में अवकाश काल का सदुपयोग करने के लिए ओं की व्यवस्था नहीं की गई है। सरकार तथा औद्योगिक संस्थाओं को के लिए क्रीडास्थल, पुस्तकालय, तरणताल तथा नाट्यशालाएँ बनानी ।

(७) कर्मशाला अभ्यास—तकनीकी शिक्षा में छात्रों को व्यावहारिक ज्ञान अधिक आवश्यकता होती है। विद्यालयों में जो भी सैद्धान्तिक ज्ञान छात्रों को ाता है, उसकी व्यावहारिकता की जाँच प्रयोग द्वारा होती है। प्रयोग करने विद्यालयों में प्रयोगशालाएँ या कर्मशालाएँ होनी चाहिए। हमारे देश के तकनीकी विद्यालयों में प्रयोगशालाओं का अभाव है। परिणामस्वरूप छात्रों ान्तिक ज्ञान तो होता है परन्तु प्रयोगात्मक ज्ञान नहीं होता। जिन विद्यालयों गशालाएँ या कर्मशालाएँ है, वे नाममात्र की है क्योंकि उनमें यन्त्रों एव मशीनों ाव है।

समाधान—इस कार्य के लिए तीन महत्त्वपूर्ण सुझाव है—(अ) सरकार द्वारा ालाओं को सुसज्जित करने हेतु पर्याप्त धन दिया जाना चाहिए। (आ) तकनीकी य तथा उद्योगों के मध्य सीधा सम्बन्ध होना चाहिए। तकनीकी विद्यालय भारी उद्योग या फैक्ट्री के निकट ही स्थापित किये जायें जिससे छात्रों को त्मक कार्य करने की सुविधा उनमें मिल सके। (इ) छात्र व्यापारी फर्मों में लिक नौकरी करें। इससे होने वाले लाभ यह हैं—(१) छात्रों को वेतन के रूप थिक सहायता मिलती है। (२) उनको स्वाभाविक वातावरण में प्रयोग करने का मिलेगा। (३) वहाँ कार्य करते हुए स्थायी नौकरी भी हो सकती है। भिन्न स्तर के कर्मचारियों के सम्पर्क में आने से सामाजिक पक्ष विकसित होगा।

(८) अनुसन्धान—भारतवर्ष में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद शोध-कार्य की ओर ध्यान दिया गया परन्तु अभी तक अनेक क्षेत्र तथा समस्याएँ ऐसी है जिनमें की और अधिक आवश्यकता है। कृषि एव उद्योग के क्षेत्र में शोध-कार्य सन्तोष- तथा पर्याप्त नहीं हो रहे है।

समाधान—सरकार ने इस समस्या की ओर विशेष ध्यान दिया है। देश में शोधशालाएँ स्थापित की गई हैं। शोध-कार्य करने वालों को पूर्ण आर्थिक ा दी जानी चाहिए जिससे उनको आर्थिक समस्या के कारण शोध ही नहीं छोड़ना पड़े। शोधशालाओं में प्रयोगशालाएँ पूर्णत सुसज्जित होनी ए।

(९) सरकार, उद्योग तथा तकनीकी शिक्षा में सहयोग—भारतवर्ष में उद्योग क्षा-संस्थाओं में परस्पर सम्पर्क नहीं है। परिणामस्वरूप, विद्यालयों को उद्योगों

[illegible] नहीं होता है। [illegible]
[illegible] है। [illegible] तकनीकी [illegible]
[illegible] है। [illegible]
कि [illegible] सुविधा [illegible] नहीं [illegible] है। [illegible]
[illegible] है। [illegible]
[illegible] करेगी।

समाधान [illegible] सरकार को [illegible] कि
[illegible] किस प्रकार के और कितने तकनीशियनों की आवश्यकता है। इस सर्वेक्षण के
आधार पर ही तकनीकी शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश दिए जाने चाहिए। [illegible]
[illegible] को तकनीकी शिक्षा संस्थाओं द्वारा ही [illegible] सहायता [illegible] का
ज्ञान कराया जाए और उनको व्यावहारिक अनुभव की सुविधा देने के लिए [illegible]
किया जाए।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारतवर्ष में तकनीकी शिक्षा की उन्नति में ह्रास
के कारण अनेक कठिनाइयाँ तथा समस्याएँ हैं जिनका वर्णन ऊपर किया गया।
सरकार तथा [illegible] मिलकर ही इन समस्याओं के समाधान पर विचार करें तो
तकनीकी शिक्षा का विकास देश में अवश्य होगा।

विदेशों में तकनीकी शिक्षा

दूसरे देशों में तकनीकी शिक्षा का विकास किस प्रकार हुआ? वहाँ पर
तकनीकी शिक्षा की क्या व्यवस्था है? उन्होंने किस प्रकार तकनीकी शिक्षा की
समस्याओं का समाधान किया? और इनका के ऊपर हमका भला यहाँ तकनीकी
शिक्षा के विस्तार में सहायता करेगा। यहाँ प्रमुख रूप से जर्मनी, रूस तथा इंगलैंड
की तकनीकी शिक्षा का वर्णन किया जाएगा। ये तीनों ही देश औद्योगिक शिक्षा में
बहुत अधिक विकसित हैं।

जर्मनी में तकनीकी तथा व्यावसायिक शिक्षा जर्मनी तकनीकी शिक्षा
के क्षेत्र में अत्यधिक विकसित देश है। विश्वयुद्ध में इसको बहुत अधिक हानि
उठानी पड़ी परन्तु फिर भी अपने तकनीकी ज्ञान के बल पर जर्मनवासियों ने फिर से
जर्मनी देश को प्रगतिशील बना दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी दो भागों में
विभाजित कर दिया गया। पश्चिमी जर्मनी के ऊपर इंगलैंड और संयुक्त राज्य अमरीका
का प्रभाव है परन्तु पूर्वी जर्मनी पर साम्यवादियों का प्रभाव है। जर्मनी में विदेशी
छात्र भी अधिक संख्या में तकनीकी शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते हैं। वहाँ पर
छोटी-छोटी पुस्तकें प्रकाशित करके विदेशों में छात्रों की सहायता की जाती है जिनसे
वे यहाँ के विश्वविद्यालयों के बारे में जानकारी प्राप्त करते हैं। इस समय वहाँ पर
लगभग १८ विश्वविद्यालय हैं तथा पश्चिमी बर्लिन के महान् टैक्नीकल विश्वविद्यालय
के अतिरिक्त यहाँ ८ टैक्नीकल महाविद्यालय हैं। यहाँ पर तकनीकी संस्थाओं को

होशायुन के नाम से पुकारते हैं। इन संस्थाओं में उन छात्रों को प्रवेश दिया जो ६ वर्षीय माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करते हैं।

आयु के आधार पर छात्रों का वर्गीकरण—वैसे जर्मनी में १८ वर्ष तक की बालक-बालिकाओं के लिए तकनीकी तथा व्यावसायिक शिक्षा अनिवार्य तथा है। यहाँ पर प्राथमिक शिक्षा १० वर्ष की आयु पर समाप्त होती है। क शिक्षा सभी के लिए अनिवार्य और नि:शुल्क है। इस देश में प्राथमिक शिक्षा ार लेने पर छात्रों को तीन वर्गों में बाँट दिया जाता है

वर्गीकरण

र्ष की आयु	१६ वर्ष की आयु	१६ वर्ष की आयु
↓	↓	↓
प्राइमरी शिक्षा के बाद	हाईस्कूल शिक्षा के बाद	सेकेण्डरी शिक्षा के बाद
↓	↓	↓
स का प्रशिक्षण	शिल्प स्कूल मे प्रवेश	विश्वविद्यालय में प्रवेश

उपर्युक्त रेखाचित्र से स्पष्ट है कि १० वर्ष की आयु के बाद छात्रों को तीन में विभाजित कर दिया जाता है। लगभग ८० प्रतिशत छात्र १४ वर्ष की आयु ार प्राइमरी शिक्षा समाप्त करके किसी व्यावसायिक स्कूल में अप्रेन्टिस बन जाते हाँ पर ये आंशिक रूप से ही प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। दूसरे प्रकार के छात्र जो १६ वर्ष की आयु तक हाईस्कूल शिक्षा प्राप्त करते हैं और बाद में किसी स्कूल में तकनीकी शिक्षा प्राप्त करते हैं। तीसरे वर्ग के छात्र १६ वर्ष की आयु केण्डरी स्कूल तक शिक्षा प्राप्त करते हैं और इसके बाद किसी विश्वविद्यालय ला लेते हैं। परन्तु विश्वविद्यालय शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों की संख्या बहुत ही है। अधिकांश छात्र व्यावसायिक अथवा तकनीकी शिक्षा प्राप्त करते हैं। पर तकनीकी शिक्षा के पूर्णकालीन तथा अंशकालीन दोनों ही पाठ्यक्रम है।

विस्तृत पाठ्यक्रम—जैसा कि हमने अपने यहाँ पर देखा कि तकनीकी शिक्षा करने वाले छात्रों को केवल तकनीकी विषय ही पढ़ाए जाते हैं। उनके सामाजिक मानवीय पक्ष के विकास की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है, परन्तु यह दोष के पाठ्यक्रम में नहीं है। यहाँ पर व्यावसायिक शिक्षा ग्रहण करने वाले छात्रों ांस्कृतिक विकास के लिए पाठ्यक्रम में ही व्यवस्था की गई है। व्यावसायिक सामान्य शिक्षा के मध्य घनिष्ट सम्बन्ध है। अतः यहाँ छात्रों को व्यावसायिक ा के साथ ही सामाजिक शिक्षा का भी अध्ययन करना होता है। बालकों के

टैक्नीसी होशयूल के नाम से पुकारते हैं। इन संस्थाओं मे उन छात्रों को प्रवेश दिया जाता है जो ६ वर्षीय माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करते हैं।

आयु के आधार पर छात्रों का वर्गीकरण—जैसे जर्मनी मे १८ वर्ष तक की आयु के बालक-बालिकाओं के लिए तकनीकी तथा व्यावसायिक शिक्षा अनिवार्य तथा नि शुल्क है। यहाँ पर प्राथमिक शिक्षा १० वर्ष की आयु पर समाप्त होती है। प्राथमिक शिक्षा सभी के लिए अनिवार्य और नि शुल्क है। इस देश मे प्राथमिक शिक्षा प्राप्त कर लेने पर छात्रों को तीन वर्गों मे बाँट दिया जाता है

वर्गीकरण

१४ वर्ष की आयु	१६ वर्ष की आयु	१६ वर्ष की आयु
↓	↓	↓
अपर प्राइमरी शिक्षा के बाद	हाईस्कूल शिक्षा के बाद	सेकेण्डरी शिक्षा के बाद
↓	↓	↓
अप्रेन्टिस का प्रशिक्षण	शिल्प स्कूल मे प्रवेश	विश्वविद्यालय मे प्रवेश
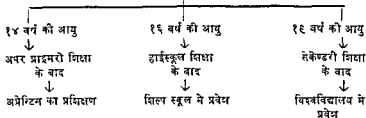
उपर्युक्त रेखाचित्र मे स्पष्ट है कि १० वर्ष की आयु के बाद छात्रों को तीन वर्गों मे विभाजित कर दिया जाता है। लगभग ८० प्रतिशत छात्र १४ वर्ष की आयु मे अपर प्राइमरी शिक्षा समाप्त करके किसी व्यावसायिक स्कूल मे अप्रेन्टिस बन जाते हैं। यहाँ पर ये आंशिक रूप मे ही प्रशिक्षण प्राप्त करते है। दूसरे प्रकार के छात्र वे हैं जो १६ वर्ष की आयु तक हाईस्कूल शिक्षा प्राप्त करते हैं और बाद मे किसी शिल्प स्कूल मे तकनीकी शिक्षा प्राप्त करते हैं। तीसरे वर्ग के छात्र १६ वर्ष की आयु तक सेकेण्डरी स्कूल तक शिक्षा प्राप्त करते हैं और इसके बाद किसी विश्वविद्यालय में प्रवेश लेते हैं। परन्तु विश्वविद्यालय शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों की संख्या बहुत कम ही है। अधिकांश छात्र व्यावसायिक अथवा तकनीकी शिक्षा प्राप्त करते है। यहाँ पर तकनीकी शिक्षा के पूर्णकालीन तथा अंशकालीन दोनो ही पाठ्यक्रम चलते हैं।

विस्तृत पाठ्यक्रम—जैसा कि हमने अपने यहाँ पर देखा कि तकनीकी शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों को केवल तकनीकी विषय ही पढ़ाए जाते हैं। उनके सामाजिक तथा मानवीय पक्ष के विकास की ओर ध्यान नहीं दिया जाता है, परन्तु यह दोष यहाँ के पाठ्यक्रम मे नहीं है। यहाँ पर व्यावसायिक शिक्षा ग्रहण करने वाले छात्रों के सांस्कृतिक विकास के लिए पाठ्यक्रम मे ही व्यवस्था की गई है। व्यावसायिक तथा सामान्य शिक्षा के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध है। अत यहाँ छात्रों को व्यावसायिक शिक्षा के साथ ही सामाजिक शिक्षा का भी अध्ययन करना होता है। बालकों के

सर्वांगीण विकास पर ध्यान दिया जाता है। छात्रों को सामान्य शिक्षा धार्मिक शिक्षा का अध्ययन अनिवार्य रूप से कराया जाता है।

व्यावसायिक निर्देशन- विद्यालयों में अध्ययन करने वाले छा व्यावसायिक निर्देशन की सुविधा प्रदान की जाती है। यह शिक्षा का एक अ अंग माना जाता है जिससे छात्र अपनी रुचि तथा अभियोग्यता के आधा उचित व्यवसाय का चुनाव करके उसमें आगे बढ़ सकें। जर्मनी में श्रम मंत्राल छात्रों को व्यावसायिक निर्देशन सहायता निःशुल्क प्रदान की जाती है। श्रम म का पदाधिकारी प्राइमरी विद्यालय के छात्रों की जाँच मनोवैज्ञानिक परीक्ष द्वारा करता है। बालकों के अभिभावकों की सहायता से वह छात्रों के व्याव प्रशिक्षण का निश्चय करता है।

व्यावसायिक योग्यता बढ़ाने की सुविधा—जर्मनी में तकनीकी शिक्षा में योग्यता बढ़ाने के लिए छात्रों को अनेक सुविधाएँ दी जाती हैं। यह रात्रिशालाएँ चलती हैं जहाँ पर कर्मचारी शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। जर्म पत्र-व्यवहार पाठ्यक्रम की सुविधा व्यवसायों में लगे हुए व्यक्तियों को प्रद जाती है। यहाँ एक सुविधा कर्मचारियों को यह भी दी जाती है कि पाँच व किसी व्यवसाय में नौकरी करने के बाद वह स्नातकोत्तर परीक्षा (Masters Ex nation) में बैठ सकता है। इसके अतिरिक्त यहाँ पर कर्मचारियों के मनोरंज व्यवस्था औद्योगिक संस्थानों में की जाती है।

उद्योगपतियों का सहयोग--जर्मनी में उद्योगपतियों ने कुशल कर्मचारिय आवश्यकता अनुभव की है। परिणामस्वरूप, ये लोग भी व्यावसायिक तथा तक शिक्षा में रुचि लेने लगे हैं। ये आर्थिक सहायता भी देते हैं। इसीलिए यहाँ तकनीकी शिक्षा अधिक विकसित हो सकी है।

रूस में तकनीकी शिक्षा- रूस में भी जर्मनी की भाँति तकनीकी औद्योगिक शिक्षा की प्रगति अत्यधिक हुई है। लगभग ५० वर्ष पूर्व जो देश पिछड़ा हुआ था, आज चन्द्रलोक की यात्रा में बहुत आगे बढ़ गया है। आशा जाती है कि शीघ्र ही यह अपने मानव को चन्द्रमा पर उतार देगा। रूस में उद्य के क्षेत्र में अधिक विकास हुआ है। यह सब कुछ तकनीकी ज्ञान से ही सम्भव सका है। यहाँ पर छात्रों को पॉलीटेक्निकल प्रशिक्षण दिया जाता है। यह प्रशि व्यावसायिक शिक्षा से भिन्न है। पॉलीटेक्निकल प्रशिक्षण द्वारा छात्रों को आधुनि औद्योगिक और कृषि-उत्पादन की महत्त्वपूर्ण शाखाओं का ज्ञान कराया जाता है मार्क्स भी पालीटेक्निक शिक्षा के पक्ष में था। उसने एक बार कहा था, "शिक्षा हमारे लिए अर्थ है—(१) शारीरिक विकास, (२) बौद्धिक विकास, तथा (३) पाल टेक्निकल शिक्षा। पालीटेक्निक शिक्षा से उसका तात्पर्य था कि छात्रों को उत्पाद प्रक्रिया का ज्ञान कराने के साथ-साथ उनको उसकी प्रत्येक शाखा में प्रयुक्त उपक

का ज्ञान कराना। रूस जैसे साम्यवादी देश के लिए इस प्रकार की शिक्षा को आवश्यक समझा गया। सन् १९२० के बाद लेनिन ने भी पालीटेक्निकल प्रशिक्षण पर बल दिया परन्तु वैज्ञानिक प्रगति के कारण वैज्ञानिक तरीके प्रयोग में लाये जाने लगे। पुरानी विधियों का स्थान नई विधियों द्वारा लिया जाने लगा। उस समय पालीटेक्निक शिक्षा से तात्पर्य हाथ के काम से था। इस शिक्षा को पाठ्यक्रम से हटाकर उसका स्थान विज्ञान को दिया गया परन्तु १९५५-५६ से पालीटेक्निकल प्रशिक्षण नये रूप से पुनः आरम्भ हो गया है।

प्रारम्भिक व्यावसायिक शिक्षा रूस में व्यावसायिक शिक्षा प्रदान करने के लिए व्यावसायिक शिल्पिक स्कूल और कारखाना प्रशिक्षण के स्कूल भी हैं। ये स्कूल भिन्न-भिन्न उद्योगों एवं विभागों के द्वारा संचालित होते हैं। व्यावसायिक या रेलवे स्कूलों में प्रवेश आयु १४-१५ तथा कारखाना-स्कूलों में १६-१८ वर्ष है। यहाँ निःशुल्क व्यावसायिक प्रशिक्षण दिया जाता है। इन विद्यालयों में सामान्य शिक्षा का अध्ययन भी कराया जाता है। प्रयोगात्मक कार्य के लिए यान्त्रिक साजसज्जा से पूर्ण कर्मशालाएँ होती हैं।

माध्यमिक व्यावसायिक शिक्षा इन स्कूलों से प्रशिक्षण प्राप्त करके निकले हुए व्यक्ति मध्यम श्रेणी के विशेषज्ञ होते हैं। ये लोग उसी स्तर का कार्य कृषि, प्राथमिक विद्यालय के अध्यापक, चिकित्सकों के सहायक तथा अन्य उद्योगों में करते हैं। सन् १९५४-५५ में इस प्रकार के टैक्नीकल स्कूलों की संख्या ३,६४२ थी। इन विद्यालयों में सप्तवर्षीय शिक्षा प्राप्त तरुणों को प्रवेश दिया जाता है। प्रवेश की आयु-अवधि १४ से ३० वर्ष है। माध्यमिक व्यावसायिक शिक्षा का प्रशिक्षण काल ३ से लेकर ४ वर्ष तक का होता है। इन विद्यालयों में भी छात्रों को सामान्य विषयों का ज्ञान करवाया जाता है। सामान्य शिक्षा के प्रमुख विषय जो पाठ्यक्रम में सम्मिलित हैं वे इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान तथा साहित्य हैं। यहाँ का अध्ययन समाप्त करने पर छात्रों को डिप्लोमा दिया जाता है। माध्यमिक व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्रों को उच्च शिक्षा की सुविधा भी दी जाती है। परन्तु इस सुविधा की शर्त है कि उस व्यक्ति ने अपने विशिष्ट कार्य में कम से कम ३ वर्ष कार्य किया हो, या वे ही छात्र सीधे उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं जिन्होंने सर्वोच्च अंक प्राप्त किये हों।

रूस में पत्र-व्यवहार तथा सन्ध्याकालीन कक्षाओं के द्वारा भी शिक्षा प्रदान की जाती है। सन् १९५६-५७ में पत्र व्यवहार के द्वारा शिक्षा देने वाले लगभग ४१ तकनीकी विद्यालय थे। यहाँ पर उपर्युक्त दोनों प्रकार के विद्यालयों का प्रशिक्षण कार्य बढ़ाने का निश्चय किया गया है।

फैक्टरी स्कूल—रूस में तकनीकी प्रशिक्षण देने के लिए फैक्टरी स्कूल की भी व्यवस्था है। इन विद्यालयों का मुख्य उद्देश्य विभिन्न उद्योगों के लिए प्रशिक्षित

चारी तैयार करना है। इन विद्यालयों में उन छात्रों को प्रवेश दिया जाता है जो
वीं कक्षा में साधारण अंक प्राप्त करते हैं। फैक्टरी स्कूल तीन प्रकार के हैं.

(१) प्रथम प्रकार के स्कूल वे हैं जो खनिज उद्योग जैसे अन्य उद्योगों के
अर्द्ध-कुशल कर्मचारी तैयार करते हैं। यहाँ प्रशिक्षण काल ६ माह का होता है।

(२) दूसरे प्रकार के विद्यालयों में दो वर्ष का पाठ्यक्रम होता है। ये
ालय मिल, फैक्ट्री आदि के लिए मिकैनिक तैयार करते हैं।

(३) तीसरे प्रकार के विद्यालय रेलवे या टेलीफोन विभाग के लिए व्यक्ति
र करते है, इनमें भी दो वर्ष का प्रशिक्षण दिया जाता है।

इङ्गलेण्ड में तकनीकी शिक्षा—ब्रिटेन भी एक औद्योगिक देश है। अतः यहाँ
व्यावसायिक एवं तकनीकी शिक्षा का विस्तार अधिक हुआ है। इस देश में तक-
ी शिक्षा की प्रगति धीमी गति से हुई। यहाँ पर तकनीकी और व्यावसायिक
ों की स्थापना औद्योगिक क्रान्ति के बाद हुई। सन् १८२५ में सबसे पहले तक-
ी संस्थान की स्थापना 'लन्दन मिकैनिक्स इंस्टीट्यूट' के नाम से हुई। धीरे-धीरे
अनेक तकनीकी संस्थान स्थापित हो गये। इंगलैण्ड में पूर्णकालीन एवं सायंकालीन
ोकी शिक्षा संस्थाएँ हैं। पूर्णकालीन कक्षाएँ प्रायः दिन में लगती हैं।

जूनियर टैक्नीकल स्कूल—इंगलैण्ड में तकनीकी शिक्षा के विस्तार में जूनियर
कल स्कूलों ने अधिक सहयोग दिया है। उनका महत्त्व स्पष्ट होने के कारण
ी संख्या में अधिक वृद्धि हुई है। इन स्कूलों में बच्चों को १३ वर्ष की अवस्था
ेश दिया जाता है और २ या ३ वर्ष तक वे यहाँ अध्ययन करते है। इन
ों में सामान्य शिक्षा के साथ ही तकनीकी शिक्षा भी प्रदान की जाती है।

टैक्नीकल कालेज— इनमें पूर्णकालीन कक्षाएँ दिन के समय चलती हैं। इन
की अवधि २ या ३ वर्ष तक की होती है। इस समय इंगलैण्ड में ८० टैक्नीकल
ज हैं जो ६००० छात्रों को शिक्षा देते हैं। यहाँ पर टैक्नीकल कालेज तथा
मिक विद्यालय परस्पर सहयोग से कार्य करते हैं। इंगलैण्ड में उद्योगपति एवं
ारी तकनीकी शिक्षा में अधिक रुचि रखते हैं। ये कालेज कारखानों एवं उद्योगों
हायता से कार्य करते हैं।

सैन्डविच कोर्स— इस कोर्स में छात्र काम भी करते है और पढ़ते भी हैं। यहाँ
लिक अपने कर्मचारियों को वर्ष में कुछ महीने तकनीकी शिक्षा का अध्ययन
के लिए अवकाश देते है। इस प्रकार कई बार पढ़कर वह सर्टीफिकेट या
ोमा प्राप्ति के लिए परीक्षा देता है। सन् १९४५ में लार्ड पार्सी की रिपोर्ट में
ैन्डविच कोर्स की स्थापना तथा उनका विकास करने का सुझाव दिया गया।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. भारतवर्ष में तकनीकी शिक्षा की आवश्यकता पर एक निबन्ध लिखिए।
२. भारतवर्ष में तकनीकी शिक्षा के विकास का ऐतिहासिक वर्णन लिखिए।

३. पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत तकनीकी शिक्षा की प्रगति का मूल्यांक कीजिए।

४. भारत में तकनीकी शिक्षा की समस्याओं एवं उनके समाधान के लिए अप सुझाव दीजिए।

५. विदेशों की तकनीकी शिक्षा का अध्ययन करने में हम कैसे लाभान्वित ह सकते हैं।

राजस्थान विश्वविद्यालय की बी० एड० परीक्षा में पूछे गये प्रश्न

1. Analyse the problem of the educated unemployed in India How can technical and vocational education help in its solu tion? (1961

2. After the World-War II, all that Germany and Japan were lef with was 'the arms and the brains trained for collective creative work and the courage to face the situation.' Wha is India doing, and what more should she do educationally in order to occupy a respectable place among the Powers tha count? (1962

3. Trace the history of vocational and technical education i India and account for its slow progress. Show the impac of the Five Year Plans on its progress during the last decade (1963

4. The father of a student of class XI comes to you for advic as to the vocational prospects before him or her. Takin the various diversified courses into consideration, enlighte the father as to the careers open to the student. (1964

५. भारत में प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा के प्रसार में किन समस्याओं क सामना करना पड़ रहा है? इनका नियन्त्रण और हल कैसे हो सकता है (१९६

६. जर्मनी अथवा रूस की प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा प्रणाली के रूप क वर्णन कीजिए। हमारे देश की आवश्यकताओं के अनुकूल उनको कहाँ त स्वीकार किया जा सकता है? (१९६

७. प्राविधिक शिक्षा की परिभाषा दीजिए। अपने राज्य की विभिन्न प्रकार क प्राविधिक शिक्षा संस्थाओं का वर्णन कीजिए। प्राविधिक शिक्षा द्वारा बेरोजगा की समस्याओं का समाधान किस सीमा तक होने का अनुमान है? (१९६

कर्मचारी तैयार करना है। इन विद्यालयों में उन छात्रों को प्रवेश दिया जाता है
सातवीं कक्षा में साधारण अंक प्राप्त करते हैं। फैक्टरी स्कूल तीन प्रकार के हैं :

(१) प्रथम प्रकार के स्कूल वे हैं जो खनिज उद्योग जैसे अन्य उद्योग
लिए अर्द्ध-कुशल कर्मचारी तैयार करते हैं। यहाँ प्रशिक्षण काल ६ माह का होता

(२) दूसरे प्रकार के विद्यालयों में दो वर्ष का पाठ्यक्रम होता है
विद्यालय मिल, फैक्ट्री आदि के लिए मिकैनिक तैयार करते हैं।

(३) तीसरे प्रकार के विद्यालय रेलवे या टेलीफोन विभाग के लिए क
तैयार करते हैं, इनमें भी दो वर्ष का प्रशिक्षण दिया जाता है।

इङ्गलैण्ड में तकनीकी शिक्षा—ब्रिटेन भी एक औद्योगिक देश है। अत
पर व्यावसायिक एवं तकनीकी शिक्षा का विस्तार अधिक हुआ है। इस देश में त
नीकी शिक्षा की प्रगति धीमी गति से हुई। यहाँ पर तकनीकी और व्यावसायि
स्कूलों की स्थापना औद्योगिक क्रान्ति के बाद हुई। सन् १८२५ में सबसे पहले त
नीकी संस्थान की स्थापना 'लन्दन मिकैनिक्स इंस्टीट्यूट' के नाम से हुई। धीरे-ध
यहाँ अनेक तकनीकी संस्थान स्थापित हो गये। इंगलैण्ड में पूर्णकालीन एवं सायंकाल
तकनीकी शिक्षा संस्थाएँ हैं। पूर्णकालीन कक्षाएँ प्रायः दिन में लगती हैं।

जूनियर टैक्नीकल स्कूल— इंगलैण्ड में तकनीकी शिक्षा के विस्तार में जूनिय
टैक्नीकल स्कूलों ने अधिक सहयोग दिया है। उनका महत्त्व स्पष्ट होने के बाद
उनकी संख्या में अधिक वृद्धि हुई है। इन स्कूलों में बच्चों को १३ वर्ष की अवस
में प्रवेश दिया जाता है और २ या ३ वर्ष तक ये यहाँ अध्ययन करते हैं। इ
स्कूलों में सामान्य शिक्षा के साथ ही तकनीकी शिक्षा भी प्रदान की जाती है।

टैक्नीकल कालेज—इनमें पूर्णकालीन कक्षाएँ दिन के समय चलती हैं। इ
कोर्स की अवधि २ या ३ वर्ष तक की होती है। इस समय इंगलैंड में ८० टैक्नीक
कालेज हैं जो ९००० छात्रों को शिक्षा देते हैं। यहाँ पर टैक्नीकल कालेज तथ
माध्यमिक विद्यालय परस्पर सहयोग से कार्य करते हैं। इंगलैण्ड में उद्योगपति ए
व्यापारी तकनीकी शिक्षा में अधिक रुचि रखते हैं। ये कालेज कारखानों एवं उद्योग
की सहायता से कार्य करते हैं।

सैन्डविच कोर्स—इस कोर्स में छात्र काम भी करते हैं और पढ़ते भी हैं। बहुत
से मालिक अपने कर्मचारियों को वर्ष में कुछ महीने तकनीकी शिक्षा का अध्ययन
करने के लिए अवकाश देते हैं। इस प्रकार कई बार पढ़कर वह सर्टीफिकेट या
डिप्लोमा प्राप्ति के लिए परीक्षा देता है। सन् १९४५ में लार्ड पार्सी की रिपोर्ट में
भी सैन्डविच कोर्स की स्थापना तथा उनका विकास करने का सुझाव दिया गया।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. भारतवर्ष में तकनीकी शिक्षा की आवश्यकता पर एक निबन्ध लिखिए।
२. भारतवर्ष में तकनीकी शिक्षा के विकास का ऐतिहासिक वर्णन लिखिए।

३. पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत तकनीकी शिक्षा की प्रगति का मूल्यां कीजिए ।

४ भारत मे तकनीकी शिक्षा की समस्याओ एवं उनके समाधान के लिए अ सुझाव दीजिए ।

५ विदेशो की तकनीकी शिक्षा का अध्ययन करने से हम कैसे लाभान्वित सकते है ।

राजस्थान विश्वविद्यालय की बी० एड० परीक्षा मे पूछे गये प्रश्न

1. Analyse the problem of the educated unemployed in Ind How can technical and vocational education help in its so tion ? (196

2 After the World-War II, all that Germany and Japan were l with was 'the arms and the brains trained for collecti creative work and the courage to face the situation.' Wh is India doing, and what more should she do educationall in order to occupy a respectable place among the Powers th count ? (196

3 Trace the history of vocational and technical education India and account for its slow progress. Show the impa of the Five Year Plans on its progress during the last decade (195

4. The father of a student of class XI comes to you ... as to the vocational prospects before him or her. ... the various diversified courses into consideration ... the father as to the careers open to the student.

५. भारत मे प्रावधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा के प्रसार मे किन ... सामना करना पड रहा है ? इनका निराकरण और ...

६. जर्मनी अथवा रूस की प्रावधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा ... वर्णन कीजिए । हमारे देश की आवश्यकताओ ... स्वीकार किया जा सकता है ?

७. प्रावधिक शि.

प्रावि

अध्याय ११

भारत में भाषा-समस्या

भाषा का महत्त्व

भाषा मानव-जाति को ईश्वरीय देन है। भाषा के द्वारा मनुष्य अपने विचार तथा अनुभवों की अभिव्यक्ति करता है। आज साहित्य, संस्कृति एवं वैज्ञानिक क्षेत्र में जो प्रगति दृष्टिगोचर होती है, वह भाषा का ही परिणाम है। इसके अभाव में मानव भी पशु-जगत् के समान होता और सकेतो के आधार पर या चिल्लाकर अपने मन के भाव व्यक्त करता। भाषा के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए पी० बी० बैलार्ड ने लिखा है कि "भाषा वह साधन है जिसने अपने निर्माता को शिक्षित बनाया है।"[1] जिस देश या जाति की भाषा जितनी अधिक समृद्धशाली होती है, उसका साहित्य भी उच्च होता है। साहित्य समाज का दर्पण है। मातृभाषा भाव-व्यजना का श्रेष्ठ साधन है। विचार और वाणी का घनिष्ठ सम्बन्ध होने से एक का विकास होने पर दूसरे का भी विकास होता है। श्री सीताराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि—"भाषा के इस वरदान को पाकर मानव समाज गूँगो की विराट बस्ती होने से बच गया है।" भाषा व्यक्ति के पूर्ण व्यक्तित्व के विकास मे सहयोग देती है। जिस व्यक्ति को समाज में अपने भाव व्यक्त करने का अवसर नही मिलता है या जिसका अपने भाव व्यक्त करने के लिए भाषा पर अधिकार नहीं है, उसके अन्दर भावना ग्रंथियाँ बनती है। भावना ग्रंथियाँ व्यक्तित्व के विकास को रोक देती है। रायबर्न ने लिखा है कि "भाषा द्वारा सावेगिक तथा बौद्धिक जीवन की नींव सुदृढ़ होती है।"

भारतवर्ष एक बहुभाषी देश है। यहाँ पर लगभग ८२५ भाषाएँ और बोलियाँ है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद देश के समक्ष एक यह भी समस्या उत्पन्न हुई कि जिस

1 fact a tool that has educated its maker."—P B

भाषा का मानव-जीवन में इतना महत्व है, वह कौनसी भाषा होनी चाहिए जिसका अध्ययन सभी छात्र करें। भारतवर्ष में आज भी भाषा की समस्या उग्र रूप धारण किये हुए है। देश में भाषावार प्रान्तों का निर्माण हो रहा है। आज राष्ट्र को भुलाकर सभी लोग अपनी-अपनी प्रादेशिक भाषा के लिए जोर दे रहे हैं। समस्या केवल भारतीय भाषाओं के अध्ययन तक ही सीमित नहीं है बल्कि हमारे देश में अभी तक कुछ अंग्रेज-भक्त अंग्रेजी को ही बनाये रखना चाहते हैं। आज देश में भाषा के प्रश्न पर मद्रास आदि प्रान्तों में अनेक उपद्रव हो रहे है। ये लोग भाषा के प्रश्न को लेकर राष्ट्रीय सम्पत्ति को नष्ट करते है तथा राष्ट्रीय एकता में विघटनकारी तत्त्व पैदा करते हैं। अगर भाषा के प्रश्न को लेकर परस्पर मन-मुटाव बढ़ेगे, हम लोग परस्पर लड़ेंगे तो देश की शक्ति का ह्रास होगा तथा देश में चलने वाले विकास-कार्य रुक जायेंगे। भारतवर्ष में भाषा के सम्बन्ध में तीन समस्याएँ हैं

१ सघीय भाषा का अध्ययन,
२. अंग्रेजी भाषा का अध्ययन,
३ शिक्षा का माध्यम किस भाषा को बनाया जाय।

भाषा समस्या का इतिहास

भारत में अंग्रेजो के साम्राज्य की स्थापना के समय से ही भारतवर्ष में शिक्षा के माध्यम में परिवर्तन आया। अंग्रेजो ने बच्चों की मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम नहीं बनाया और न उन लोगों ने मातृभाषा के महत्त्व की ओर ध्यान ही दिया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साम्राज्य काल में जब यह निश्चित हो गया कि भारतवर्ष में भारतवासियों की शिक्षा के लिए विद्यालयों की स्थापना करना तथा शिक्षा सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करना कम्पनी का ही उत्तरदायित्व है तो उस समय ही वाद-विवाद की समस्या उठ खड़ी हुई कि इन शिक्षण संस्थाओं में शिक्षा का माध्यम कौनसी भाषा रहेगी? मतभेद के कारण उस समय अंग्रेज अधिकारियों में दो दलों का निर्माण हुआ। एक दल भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने के पक्ष में था तथा दूसरा दल चाहता था कि भारतीय भाषाओं के स्थान पर [illegible] ही शिक्षा का माध्यम बनाया जाय जिसमें [illegible] का प्रश्न रखने वाले भारतीय [illegible]
हुआ। मत [illegible] के अनुसार-
सदस्य [illegible] एक [illegible]

बताते हुए लिखा है कि "यूरोप के एक अच्छे पुस्तकालय की एक अलमारी का साहित्य भारत तथा अरब के सम्पूर्ण साहित्य से महत्त्वपूर्ण है।" अंग्रेजी भाषा की प्रशंसा करते हुए उसने एक स्थान पर लिखा है कि —"अंग्रेजी भाषा पाश्चात्य भाषाओं में भी सर्वोत्तम है। इस भाषा का ज्ञान रखने वाला व्यक्ति विश्व की बुद्धिमान जातियों द्वारा रचित विशाल ज्ञान-भंडार को प्राप्त कर सकता है।"[1] लार्ड बैंटिक ने अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम घोषित कर दिया। सन् १८४४ में लार्ड हार्डिंज ने घोषणा की कि उन लोगों को ही सरकारी नौकरी में प्राथमिकता दी जायेगी जो अंग्रेजी भाषा का ज्ञान रखते हों। इससे अंग्रेजी के प्रसार को और भी अधिक प्रोत्साहन मिला।

सन् १८५४ में वुड के घोषणा-पत्र में भी अंग्रेजी को ही शिक्षा का माध्यम बनाने की सिफारिश गई की। इसके साथ ही इन्होंने स्पष्ट किया कि अंग्रेजी भाषा का ज्ञान रखने वाले छात्रों के लिए ही अंग्रेजी भाषा शिक्षा का माध्यम होगी। अन्य छात्रों के लिए देशी भाषाएँ ही शिक्षा का माध्यम बनी रहेंगी। सन् १८८२ में प्रथम भारतीय शिक्षा आयोग की नियुक्ति की गई। इस आयोग का सुझाव था कि प्राथमिक शिक्षा स्तर पर शिक्षा का माध्यम देशी भाषाएँ हों परन्तु माध्यमिक स्तर पर शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा ही रहे। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में लार्ड कर्जन ने प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर पर मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने की सिफारिश की परन्तु राजकीय कार्यों में अंग्रेजी भाषा का प्रयोग होने से माध्यमिक स्तर पर अंग्रेजी ही शिक्षा का माध्यम बनी रही।

राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव—सन् १९०५ के बाद भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन तीव्र गति से आरम्भ हुए। भारतीय नेताओं ने भारतीय भाषाओं को पाठ्य-क्रम में महत्त्वपूर्ण स्थान देने तथा माध्यम के रूप में प्रयोग में लाने की माँग की। अंग्रेजी ... सम्बन्ध में महात्मा गांधी ने कहा है कि "भारतीय बच्चे सोचते हैं कि बिना अंग्रे... राजकीय सेवा में ... नहीं पा सकते हैं। बालिकाओं को शादी के ... में अंग्रेजी ... है... ... मेरे लिए ये सभी दासता एवं ... है।"[2] ... षा को ... माध्यम बनाने की सिफा- ... ए शिक्षा ... मनुष्य ... विकास के लिए उतनी ही

आवश्यक है जितना बालक के शारीरिक विकास के लिए माँ का दूध।"[1] इस कथन मे स्पष्ट है कि गांधीजी मातृभाषा को परीक्षा का माध्यम बनाने के पक्ष मे थे। सन् १९१७ में नियुक्त 'कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग' ने इन्टरमीडिएट स्तर तक शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाएँ बनाने की ही सिफारिश की। सन् १९२१ से १९३७ के मध्य का शिक्षा का इतिहास देखें तो स्पष्ट होगा कि माध्यमिक स्तर पर भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाया गया परन्तु फिर भी कुछ विद्यालयो मे अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी। विश्वविद्यालय स्तर पर अंग्रेजी ही माध्यम थी। सन् १९३७ मे भारतीय नेताओं ने बुनियादी शिक्षा प्रणाली को अपनाने पर विशेष जोर दिया। बुनियादी शिक्षा मे मातृभाषा को माध्यम बनाने पर जोर दिया गया।

बनाने के लिए सर जॉन
हाईस्कूलों मे शिक्षा का
द्वितीय अनिवार्य विषय के
रूप मे होगी।

विश्वविद्यालय आयोग—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने नवम्बर, १९४८ को विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग के अध्यक्ष डॉ० एस० राधाकृष्णन् थे। आयोग ने लिखा है कि शिक्षा का यही क्षेत्र सबसे अधिक विवादास्पद है। भारतीय इस क्षेत्र के बारे मे एकमत नही है। आयोग ने माध्यम के विषय मे निम्नलिखित सुझाव दिये

१. उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप मे अंग्रेजी के स्थान पर किसी भारतीय भाषा का प्रयोग प्रारम्भ किया जाय।
२ एक संघीय भाषा का देवनागरी लिपि मे विकास किया जाय और इसमे अन्य प्रान्तो मे आये हुए शब्दो का भी समन्वय करके इसे समृद्ध बनाने का प्रयास किया जाय।
३. उच्चतर माध्यमिक एव विश्वविद्यालय स्तर पर छात्रो को तीन भाषाओं का अध्ययन कराया जाय—(१) प्रादेशिक भाषा, (२) संघीय भाषा और (३) अंग्रेजी।
४ संघीय एवं प्रादेशिक भाषाओ के विकास के लिए सभी प्रयत्न किये जायें।
५. उच्च शिक्षा के लिए प्रादेशिक भाषाओं के साथ एक या दो विषयो के लिए संघीय भाषा का भी माध्यम के रूप मे प्रयोग हो सकता है।

1. . ... the mother tongue is as natural for the development of the man's mind as the mother's milk is for the development of the infant's body."
—Mahatma Gandhi

६. राज्य सरकारे शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर सघीय भाषा के अध्यापन की व्यवस्था करे।

७ अंग्रेजी भाषा का अध्ययन छात्रों को करवाया जाय ताकि छात्र नवीन ज्ञान के सम्पर्क मे रहे।

उपर्युक्त सुझावो का अध्ययन करने से पता चलता है कि आयोग ने इस समस्या पर गहन विचार करने के बाद व्यावहारिक सुझाव दिये है। सघीय भाषा का सभी प्रदेशो मे अनिवार्य रूप से अध्ययन कराने का सुझाव राजकीय कार्य सरल बनाने, राष्ट्रीय एकता मे वृद्धि करने की दृष्टि से अत्यधिक उपयुक्त है। देश मे वैज्ञानिक ज्ञान की प्रगति के लिए अंग्रेजी भाषा का अध्ययन कराने का सुझाव वर्तमान परिस्थितियों के अनुकूल है। इसके साथ ही इस नवोदित राष्ट्र को अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र मे प्रवेश करने तथा विश्व के अन्य देशो से सम्पर्क बनाये रखने के लिए अंग्रेजी भाषा का अध्ययन करना आवश्यक है।

माध्यमिक शिक्षा आयोग के सुझाव

सन् १९५२-५३ मे माध्यमिक शिक्षा आयोग ने भाषा समस्या पर विचार करने के बाद इसके समाधान के लिए सुझाव दिये। आयोग ने द्विभाषा सूत्र का प्रतिपादन किया

१. माध्यमिक विद्यालयो मे शिक्षा का माध्यम मातृभाषा अथवा क्षेत्रीय भाषा होनी चाहिए। यदि किसी क्षेत्र मे विद्यार्थियो की मातृभाषा क्षेत्रीय भाषा से भिन्न हो तो वहाँ उस भाषा के ४० विद्यार्थी होने पर उन विद्यार्थियो की मातृभाषा के माध्यम मे ही शिक्षा की व्यवस्था हो।

२ मिडिल स्कूल स्तर पर प्रत्येक छात्र को कम से कम दो भाषाएँ सिखाई जायें। अंग्रेजी तथा हिन्दी की शिक्षा जूनियर बेसिक स्तर के बाद दी जाय, परन्तु दोनो भाषाओ का अध्ययन एक साथ न हो।

३ उच्चतर माध्यमिक स्तर पर प्रत्येक छात्र कम से कम दो भाषाओं का अध्ययन करे। इनमे से एक भाषा तो छात्र की प्रादेशिक भाषा होगी और दूसरी भाषा का चुनाव वह निम्नलिखित भाषा समूह मे से करेगा

(अ) हिन्दी (अहिन्दी-भाषी प्रान्तो मे)।

(आ) प्राथमिक अंग्रेजी (जिन्होने पूर्व-माध्यमिक स्तर पर अध्ययन नही किया हो)।

(इ) उच्च अंग्रेजी (जिन्होंने पूर्व-माध्यमिक स्तर पर अंग्रेजी का अध्ययन किया है)।

(ई) एक आधुनिक भारतीय भाषा (हिन्दी के अतिरिक्त)।

(उ) एक आधुनिक विदेशी भाषा (अंग्रेजी के अतिरिक्त)।

(ऊ) एक शास्त्रीय भाषा।

आयोग के सुझावों का आलोचनात्मक अध्ययन—माध्यमिक शिक्ष
भाषा सम्बन्धी सुझावों का अध्ययन करने मे हम इस निष्कर्ष पर पहु
सुझाव अधिक व्यावहारिक नही हैं। इस प्रकार भाषाओं का अध्यय
अहिन्दी भाषी प्रदेशों के छात्रों को किसी एक महत्त्वपूर्ण भाषा के अध्यय
रहना पडेगा। अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त अगर वह दूसरे समूह मे से
अध्ययन करता है तो वह संघीय भाषा के अध्ययन करने से वंचित र
परिणामस्वरूप, वह संघीय सेवाओ मे नियुक्ति नहीं पा सकता है और न
कार्यों मे भाग ले सकता है। इसी प्रकार यदि वह संघीय भाषा का चुन
तो उसे एक प्रमुख विदेशी भाषा छोड़नी पड़ेगी। इस प्रकार हम देखते है
सूत्र अधिक उपयुक्त नही है।

आयोग का अल्प-सख्यकों के सम्बन्ध मे सुझाव भी अव्याव
लगता है। अगर किसी विद्यालय में ४० या उससे अधिक छात्र ऐसे हैं
मातृभाषा के माध्यम से पढ़ना चाहते हैं तो उनके लिए अध्यापक प्राप्त
कठिन कार्य होगा। वैसे आयोग ने जनतन्त्र मे अल्पसंख्यकों के अधिका
मे रखते हुए इस प्रकार का सुझाव दिया है।

केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् का सुझाव

द्विभाषा सूत्र की उपर्युक्त कमियों के कारण इसके स्थान पर
प्रतिपादित किया गया। सन् १९५६ मे केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिष
बैठक भाषा के प्रश्न पर विचार करने के लिए आयोजित हुई। इस
त्रिभाषा सूत्र स्वीकार किया गया। त्रिभाषा सूत्र के अन्तर्गत प्रत्येक छा
भाषाओं का अध्ययन करना होगा। ये तीन भाषाएँ इस सूत्र के अनुसार
रूप मे होगी

माध्यम—१. प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तर पर शिक्षा का माध्य
या क्षेत्रीय भाषा होगी।

भाषाएँ—२. भाषाओं के तीन वर्ग बनाये गये है। प्रत्येक वर्ग
को एक-एक भाषा का चुनाव करना होगा। इस प्रकार प्रत्येक छात्र को त
का अध्ययन अनिवार्य रूप से करना होगा

वर्ग १—(क) मातृभाषा तथा क्षेत्रीय भाषा का संश्लिष्ट पाठ्यक्र
(ख) मातृभाषा और शास्त्रीय भाषा का संश्लिष्ट पाठ्य
(ग) क्षेत्रीय भाषा और शास्त्रीय भाषा का संश्लिष्ट पा

वर्ग २—(क) अंग्रेजी भाषा, अथवा
(ख) अन्य कोई आधुनिक यूरोपीय भाषा।

वर्ग ३—(क) हिन्दी (अहिन्दी भाषी क्षेत्रों के लिए) अथवा
(ख) अन्य कोई आधुनिक भारतीय भाषा (हिन्दी भ
लिए)।

त्रिभाषा सूत्र की आलोचना : गुण—आज भी अनेक भारतीय नेता तथा शिक्षा-शास्त्री त्रिभाषा सूत्र को ही भारत मे भाषा समस्या का उत्तम समाधान मानते हैं। इस सूत्र के द्वारा द्विभाषा सूत्र की कमियों को दूर कर दिया गया है। अहिन्दी भाषी प्रदेश के छात्रों की कठिनाई इस सूत्र ने दूर कर दी है। द्विभाषी सूत्र के अनुसार अहिन्दी भाषी प्रदेश के छात्र हिन्दी लेने पर अंग्रेजी के तथा अंग्रेजी लेने पर हिन्दी के अध्ययन मे वंचित रह जाते हैं परन्तु त्रिभाषा सूत्र की सहायता से छात्र अपनी मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा को सीखने के साथ संघीय भाषा तथा अंग्रेजी भाषा का भी अध्ययन कर सकेगा। इस प्रकार वह केन्द्रीय सेवाओ मे स्थान पाने का अधिकारी भी हो जायेगा और अन्तरराष्ट्रीय कार्यों मे भी भाग ले सकेगा।

दोष—द्विभाषा सूत्र की भाँति त्रिभाषा सूत्र भी कमियो से मुक्त नहीं है। इस सूत्र को प्रयोग मे लाने पर अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं

(१) अध्ययन-भार अधिक होना—मुदालियर आयोग ने उच्चतर माध्यमिक स्तर पाठ्यक्रम के विषयो को दो भागो मे विभाजित किया है एक तो अनिवार्य विषय जैसे सामाजिक ज्ञान, सामान्य विज्ञान और एक हस्त उद्योग जिनका अध्ययन प्रत्येक छात्र को करना होगा। दूसरे वैकल्पिक विषय जिसके लिए आयोग ने ७ वर्गों का निर्माण किया है। इनमे से छात्र एक वर्ग का चुनाव करेगा और इस चुने हुए वर्ग मे से उसको तीन विषयों का चयन करना होगा। इस प्रकार प्रत्येक छात्र ६ विषयो का अध्ययन करेगा। इन ६ विषयो के अतिरिक्त वह तीन भाषाओ का अध्ययन भी अनिवार्य रूप से करेगा। माध्यमिक स्तर पर ९ विषयो का अध्ययन छात्र के लिए अधिक भार-स्वरूप हो जायेगा।

(२) शिक्षा-स्तर का गिरना—कुछ शिक्षा-शास्त्रियो का मत है कि छात्र को इन भाषाओं के सीखने मे अधिक समय एव शक्ति लगानी होगी। परिणामस्वरूप, वह अन्य विषयो के सीखने मे पर्याप्त समय नहीं दे सकेगा। इस प्रकार वह अन्य विषयों मे अच्छा ज्ञान प्राप्त कर सकने मे असमर्थ रहेगा। यह सोचना भूल है कि विषयों की सख्या मात्र बढ़ाने से ही शिक्षा का स्तर ऊँचा हो जायेगा।

(३) अधिकांश छात्रों के लिए अंग्रेजी का अध्ययन व्यर्थ—मुदालियर आयोग ने लिखा है कि माध्यमिक शिक्षा स्वय मे पूर्ण होनी चाहिए क्योंकि अधिकांश छात्र ...स स्तर के बाद शिक्षा समाप्त कर देते हैं और जीविकोपार्जन की तैयारी करते ... छात्रों के लिए अंग्रेजी भाषा का अध्ययन करना बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य नहीं ... न तो इस स्तर तक उनको इस भाषा का इतना ज्ञान होता है कि वे ... मे अंग्रेजी की पुस्तक पढ़कर ज्ञान-वृद्धि कर सकें और न जीविकोपार्जन ... उसका कोई उपयोग होता है।

(४) हिन्दी भाषी प्रान्तों में अहिन्दी क्षेत्रों की भाषा का अ
आलोचकों का मत है कि जब हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लिया
अहिन्दी क्षेत्रों में इसका अध्ययन अनिवार्य है तो हिन्दी प्रदेश का व्यक्ति
भाषा के माध्यम से विचार-विमर्श कर सकता है, फिर उसके लिए अ
भाषा का अध्ययन अनिवार्य रूप से क्यों रखा जाय ? अहिन्दी क्षेत्र
अध्ययन की उपयोगिता हिन्दी क्षेत्र के लिए सूक्ष्म ही रहेगी।

(५) *हिन्दी भाषी प्रान्तों में अन्य १४ भाषाओं के अध्यापन में*
कठिनाइयाँ—संविधान के अनुसार भारत की १४ भाषाओं को मान्य
हिन्दी प्रान्तों में इन भाषाओं के अध्यापन कार्य में सम्बन्धित कुछ
कठिनाइयाँ अनुभव की जाती हैं जो कि निम्नलिखित हैं

(अ) किस भाषा का अध्ययन—हिन्दी प्रान्तों के विद्यालयों में
यह अनुभव की जाती है कि भारत की अन्य १४ भाषाओं में से
अध्यापन की व्यवस्था की जाय ? एक विद्यालय में समस्त भाषाओं
करना असम्भव सा प्रतीत होता है जबकि सभी भाषाएँ समान मह
किसी एक का चुनाव करना दुष्कर कार्य है।

(आ) अध्यापकों का अभाव—यदि अहिन्दी भाषी प्रान्तों की
अध्यापन आरम्भ कर दिया जाय तो एक समस्या विभिन्न भाषाओं
की प्राप्ति से सम्बन्धित होगी। प्रथम तो इन अध्यापकों को अपनी भ
साथ हिन्दी भाषा का भी ज्ञान होना चाहिए। बिना हिन्दी भाषा का
ये अध्यापक न तो छात्रों को अपनी भाषा समझा सकते हैं और न
करके उनकी कठिनाइयों का पता लगा सकते हैं। लगभग एक-एक
१५ हजार तक अध्यापकों की संख्या को आंका गया है। क्या प्रत्येक
इतने अध्यापकों को पाना सम्भव होगा ?

(इ) *धन की कमी—अन्य भाषाओं के अध्यापकों की नियुक्ति*
शिक्षा व्यय में वृद्धि अवश्य होगी। धनाभाव के कारण वैसे ही अनेक
जगत् में पूरे नहीं हो सके हैं। राज्य सरकारें इस बढ़े हुए व्यय के
आर्थिक सहायता न दे सकेंगी।

(ई) एक शाला में अनेक क्षेत्रीय भाषाओं के शिक्षण की अ
भी असम्भव सा है। मान लो प्रत्येक कक्षा में छात्रों द्वारा ५ या ६ क्षे
को पढ़ने की इच्छा प्रकट की गई है तो एक घण्टे में इन सभी भाषाओं
की व्यवस्था समय चक्र में करना एक कठिन कार्य है।

आलोचना का एक विषय यह है कि हिन्दी भाषी क्षेत्रों के ब
१४ क्षेत्रीय भाषाओं का अध्ययन कराने की क्या व्यावहारिक उपयोगि
इस प्रश्न पर हम गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो इस निष्कर्ष पर

भारतवर्ष की वर्तमान परिस्थितियों में अहिन्दी भाषी क्षेत्र की भाषाओं का अध्ययन हिन्दी भाषी क्षेत्र के बच्चों के लिए उपयुक्त रहेगा। आज देश में भावात्मक एकता का विकास करने के लिए ऐसा करना उपयुक्त है। अहिन्दी क्षेत्र के व्यक्ति यह अनुभव करते हैं कि उन पर हिन्दी भाषा का अध्ययन बलपूर्वक थोपा जा रहा है। यही विचार उनमें हिन्दी के प्रति घृणा भाव पैदा कर देता है। अगर हम उनकी भाषा का अध्ययन करेंगे तो परस्पर प्रेमभाव बढ़ेगा। अन्य क्षेत्रीय भाषाओं का अध्ययन करने से उनके साहित्य का ज्ञान होगा और इस ज्ञान के आधार पर हम अपनी भाषा के साहित्य में वृद्धि कर सकेंगे। इसके साथ ही भाषा का भार समान करने की दृष्टि से भी त्रिभाषा सूत्र उपयुक्त है।

भावात्मक एकता समिति का सुझाव

सन् १९६१ में डा० सम्पूर्णानन्द की अध्यक्षता में एक समिति का निर्माण हुआ जिसको देश में भावात्मक एकता स्थापित करने सम्बन्धी सुझाव देने का कार्य दिया गया। इस समिति ने इस बात को स्वीकार किया कि देश में भावात्मक एकता स्थापित करने में शिक्षा अधिक सहयोग दे सकती है। इस समिति ने भारत-वासियों से आग्रह किया कि वे भाषा विवाद को अधिक उग्र रूप न दें। भाषा-समस्या का समाधान करने के लिए इस समिति ने त्रिभाषा सूत्र को ही स्वीकार किया। इस समिति ने त्रिभाषा सूत्र को लागू करने के सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिये

(१) **हिन्दी, अंग्रेजी दोनों का अध्ययन**—इस समिति ने विचार व्यक्त किया कि देश के विभिन्न प्रान्तों में त्रिभाषा सूत्र को गलत ढंग से अपनाया जा रहा है। कुछ प्रान्त तो त्रिभाषा सूत्र की आड़ में द्विभाषा सूत्र को ही अपना रहे हैं। भावात्मक एकता समिति ने सुझाव दिया कि त्रिभाषा सूत्र के अनुसार प्राथमिक शिक्षा के बाद छात्रों को अंग्रेजी और हिन्दी दोनों भाषाओं का अध्ययन अनिवार्य रूप से करवाया जाय।

(२) **हिन्दी भाषी प्रदेशों के निवासी दक्षिण भारत की भाषा सीखें**—इस समिति ने एक सुझाव यह दिया कि हिन्दी भाषी प्रदेश के निवासियों को दक्षिण भारत की भाषाओं का अध्ययन करवाया जाय। ऐसा करने से हिन्दी भाषी लोग दक्षिण भारत की भाषा ही नहीं सीखेंगे परन्तु दक्षिण भारत के निवासियों के प्रति प्रेम की भावना भी रखेंगे।

(३) **क्षेत्रीय भाषाओं को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने के प्रयत्न**—भावात्मक एकता समिति ने सुझाव दिया कि प्रादेशिक भाषाओं के शब्द कोष को बढ़ाया जाय जिससे ये उच्च शिक्षा का माध्यम बन सकें। इसके लिए अनुसंधान कार्य को प्रोत्साहित किया जाय। इस अनुसंधान कार्य के लिए अखिल भारतीय अनुसंधान केन्द्र की स्थापना की जानी चाहिए।

(४) विश्वविद्यालय स्तर पर अंग्रेजी ही माध्यम—जब तक क्षेत्रीय भाषाएँ उच्च शिक्षा का माध्यम बनने के योग्य न हो जायें, उस समय तक अंग्रेजी को ही विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षा का माध्यम बनाये रखा जाए।

(५) अन्य सुझाव—(अ) हिन्दी भाषा के शब्दो का परिचय अहिन्दी भाषी लोगो को करवाने के लिए इस अन्तरिम समय मे रोमन लिपि प्रयोग मे लाई जा सकती है।

(आ) हिन्दी की पुस्तकें रोमन लिपि मे प्रकाशित की जायें।

(इ) अन्तरराष्ट्रीय साहियकी को सम्पूर्ण देश मे प्रयोग मे लाया जाए।

(६) देश मे शिक्षा का प्रसार करने के लिए अन्तर-प्रादेशिक एवं अन्तर-विश्वविद्यालय सम्बन्ध बनाने की भी अधिक आवश्यकता है। इस कार्य को सम्भव बनाने के लिए अंग्रेजी तथा हिन्दी के पढ़ाने की ओर ध्यान देना चाहिए।

आलोचना—भावात्मक एकता समिति द्वारा दिये गये कुछ सुझाव तो वर्तमान परिस्थितियो के अनुकूल हैं परन्तु कुछ सुझाव अव्यावहारिक से प्रतीत होते हैं। कुछ विद्वानो का मत है कि हिन्दी भाषी प्रदेश के निवासियो को दक्षिण भारत की भाषाओ का अध्ययन कराने मे क्या लाभ है, जब दक्षिण भारत के निवासी हिन्दी का अध्ययन कर रहे हैं तो यही सम्पर्क भाषा हो सकती है। हिन्दी भाषा को पुस्तकें रोमन लिपि मे प्रकाशित करना भी उपयोगी नहीं है। ऐसा करने से समय तथा धन का अपव्यय करना मात्र ही है। जब तक छात्र देवनागरी लिपि नही सीखेंगे, उनको हिन्दी भाषा का लाभप्रद ज्ञान नही हो सकता है।

राष्ट्रीय एकता परिषद्—श्रीमती इन्दिरा गाधी की अध्यक्षता मे राष्ट्रीय एकता परिषद् का निर्माण किया गया। इस परिषद् ने इस तथ्य को स्वीकार किया कि राष्ट्रीय एकता के विकास मे एक राष्ट्रभाषा अधिक सहयोग दे सकती है। इस परिषद् ने भी त्रिभाषा सूत्र को ही स्वीकार किया। परिषद् ने स्वीकार किया कि हिन्दी ही सम्पर्क भाषा है और अन्तर-प्रादेशिक सम्बन्ध बनाये रखने के लिए हिन्दी का अध्ययन सभी प्रदेशों मे अनिवार्य बनाया जाए।

कोठारी आयोग के सुझाव

श्री दौलतसिंह कोठारी की अध्यक्षता मे २ अक्टूबर सन् १९६४ को शिक्षा आयोग ने कार्य आरम्भ किया। इस आयोग ने देश भर का भ्रमण किया तथा समाज के विभिन्न वर्गों के ६०० व्यक्तियो से शिक्षा समस्याओ पर विचार-विमर्श किया। शिक्षा आयोग ने भाषा-समस्या के समाधान के लिए भी कुछ सुझाव दिये जो कि निम्नलिखित हैं :

(१) भाषा शिक्षण के सम्बन्ध मे नई भाषा नीति विकसित की जाय। यह भाषा नीति सामाजिक तथा राष्ट्रीय एकता मे अधिक सहयोग दे सकती है। शैक्षिक, सास्कृतिक और राजनीतिक कारणो से भी इस समस्या का समाधान आवश्यक है।

(४) **विश्वविद्यालय स्तर पर अंग्रेजी ही माध्यम**—जब तक क्षेत्रीय भाषाएँ ा शिक्षा का माध्यम बनने के योग्य न हो जायें, उस समय तक अंग्रेजी को ही श्वविद्यालय स्तर पर शिक्षा का माध्यम बनाये रखा जाए।

(५) अन्य सुझाव—(अ) हिन्दी भाषा के शब्दों का परिचय अहिन्दी भाषी ो को करवाने के लिए इस अन्तरिम समय में रोमन लिपि प्रयोग में लाई जा ती है।

(आ) हिन्दी की पुस्तकें रोमन लिपि में प्रकाशित की जायें।

(इ) अन्तरराष्ट्रीय सांख्यिकी को सम्पूर्ण देश में प्रयोग में लाया जाए।

(ई) देश में शिक्षा का प्रसार करने के लिए अन्तर-प्रादेशिक एवं अन्तर-श्वविद्यालय सम्बन्ध बनाने की भी अधिक आवश्यकता है। इस कार्य को सम्भव ाने के लिए अंग्रेजी तथा हिन्दी के पढ़ाने की ओर ध्यान देना चाहिए।

आलोचना—भावात्मक एकता समिति द्वारा दिये गये कुछ सुझाव तो ्मान परिस्थितियों के अनुकूल हैं परन्तु कुछ सुझाव अव्यावहारिक से प्रतीत होते । कुछ विद्वानों का मत है कि *हिन्दी भाषी प्रदेश के निवासियों को दक्षिण भारत* भाषाओं का अध्ययन कराने से क्या लाभ है, जब दक्षिण भारत के निवासी न्दी का अध्ययन कर रहे हैं तो यही सम्पर्क भाषा हो सकती है। हिन्दी भाषा की तकें रोमन लिपि में प्रकाशित करना भी उपयोगी नहीं है। ऐसा करने से समय *रा धन का अपव्यय करना मात्र ही है। जब तक छात्र देवनागरी लिपि नहीं* खेंगे, उनको हिन्दी भाषा का लाभप्रद ज्ञान नहीं हो सकता है।

राष्ट्रीय एकता परिषद्—श्रीमती इन्दिरा गांधी की अध्यक्षता में राष्ट्रीय कता परिषद् का निर्माण किया गया। इस परिषद् ने इस तथ्य को स्वीकार किया ट राष्ट्रीय एकता के विकास में एक राष्ट्रभाषा अधिक सहयोग दे सकती है। इस रिषद् ने भी त्रिभाषा सूत्र को ही स्वीकार किया। परिषद् ने स्वीकार किया कि न्दी ही सम्पर्क भाषा है और अन्तर-प्रादेशिक सम्बन्ध बनाये रखने के लिए हिन्दी ा अध्ययन सभी प्रदेशों में अनिवार्य बनाया जाए।

ोठारी आयोग के सुझाव

श्री दौलतसिंह कोठारी की अध्यक्षता में २ अक्टूबर सन् १९६४ को शिक्षा ायोग ने कार्य आरम्भ किया। इस आयोग ने देश भर का भ्रमण किया तथा माज के विभिन्न वर्गों के ९०० व्यक्तियों से शिक्षा समस्याओं पर विचार-विमर्श क्या। शिक्षा आयोग ने भाषा-समस्या के समाधान के लिए भी कुछ सुझाव दिये ो कि निम्नलिखित हैं

(१) *भाषा शिक्षण के सम्बन्ध में नई भाषा नीति विकसित की जाय।* यह ाषा नीति सामाजिक तथा राष्ट्रीय एकता में अधिक सहयोग दे सकती है। शैक्षिक, ांस्कृतिक और राजनीतिक कारणों से भी इस समस्या का समाधान आवश्यक है।

(२) व्यावहारिक त्रिभाषा-सूत्र के आधार—त्रिभाषा-सूत्र का समाधान निम्नलिखित सिद्धान्तों के आधार पर होना चाहिए

(क) हिन्दी संघीय भाषा होने के कारण मातृभाषा के बाद द्वितीय महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करती है।

(ख) अंग्रेजी का व्यावहारिक ज्ञान छात्रों के लिए उपयोगी होगा।

(ग) भाषा में प्रवीणता अध्यापक तथा सीखने की अवधि पर निर्भर करती है।

(घ) तीन भाषाएँ सीखने के लिए उपर्युक्त स्तर निम्न माध्यमिक (कक्षा ८-१०) है।

(ङ) दो अतिरिक्त भाषाएँ पढ़ाई जायँ।

(च) हिन्दी या अंग्रेजी उस समय लागू की जायँ जब उनकी आवश्यकता या अधिकतम प्रेरणा हो।

(छ) किसी भी स्तर पर ४ भाषाओं का अध्ययन अनिवार्य न किया जाय।

(३) उपर्युक्त सिद्धान्तों पर संशोधित त्रिभाषा-सूत्र निम्न प्रकार होगा -

(अ) मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा,

(आ) संघीय सरकार की सरकारी या सह-सरकारी भाषा (जब तक चले), और

(इ) एक आधुनिक भारतीय या योरोपीय भाषा जोकि (अ) या (आ) में न आई हो और शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रयोग में आने वाली भाषा के अतिरिक्त हो।

(४) (अ) निम्न प्राथमिक स्तर पर एक भाषा का अध्ययन हो—यह मातृभाषा हो या क्षेत्रीय भाषा हो।

(आ) उच्च प्राथमिक स्तर पर दो भाषाओं का अध्ययन हो—मातृभाषा या (क्षेत्रीय भाषा) और संघ सरकार की राजकीय भाषा (या सहयोगी भाषा)।

(इ) निम्न माध्यमिक स्तर पर छात्र को तीन भाषाओं का अध्ययन करना होगा—मातृभाषा (या क्षेत्रीय भाषा), राजकीय या सहयोगी भाषा; और एक आधुनिक भारतीय भाषा।

(ई) हायर सेकेण्डरी स्तर पर दो भाषाएँ अनिवार्य होंगी।

(५) अंग्रेजी भाषा के अतिरिक्त आधुनिक पुस्तकालीय भाषाओं का अध्ययन ...यों में करवाया जाय।

...न्दी या अंग्रेजी को सरकारी तथा सह-सरकारी भाषा के रूप में ... वर्ष तक पढ़ाया जाना चाहिए।

(७) उच्च शिक्षा में भाषा का अध्ययन अनिवार्य न हो।

(८) हिन्दी के प्रचार के लिए राष्ट्रीय स्तर का कार्यक्रम बनाया जाये परन्तु अनिच्छुक व्यक्तियो पर इसका अध्ययन थोपा न जाये।

(९) प्रत्येक आधुनिक भारतीय भाषा का साहित्य देवनागरी तथा रोमन लिपि मे प्रकाशित किया जाए। सभी भारतीय भाषाओ को अन्तरराष्ट्रीय अक अपनाने चाहिए।

(१०) कक्षा ५ से पूर्व अग्रेजी भाषा का अध्ययन प्रारम्भ न किया जाए।

(११) शास्त्रीय भाषा, उदाहरण के लिए सस्कृत, अरबी आदि का अध्ययन ८वी कक्षा मे विकल्प भाषा के रूप मे लागू किया जाये।

विभिन्न भाषाओं का महत्त्व

अंग्रेजी भाषा—भारतीय शिक्षा के इतिहास को देखने मे स्पष्ट होगा कि लगभग १०० वर्षों मे अधिक समय तक शिक्षा के क्षेत्र मे अंग्रेजी का एकाधिकार सा रहा है। स्वतन्त्रता के बाद अग्रेजी के स्थान पर हिन्दी को प्रतिष्ठित करने के प्रयत्न चल रहे हैं परन्तु अनेक भारतीयो का यह मत है कि भाषा के रूप मे अग्रेजी का अध्ययन भारतवासियो के लिए आवश्यक है। अग्रेजी के पक्ष मे निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं .

(अ) अग्रेजी का अन्तरराष्ट्रीय महत्त्व अधिक है। विश्व मे यह सभी स्थानो पर बोली तथा समझी जाती है। अन्तरराष्ट्रीय व्यापार को विकसित करने मे इस भाषा का सक्रिय सहयोग रहा है। आज अग्रेजी विश्व एकता स्थापित करने मे महत्त्वपूर्ण सहयोग दे रही है।

(आ) अग्रेजी भाषा का साहित्य सम्पन्न, विशाल और बहुमुखी है। इसके प्रभाव मे भारतीय भाषाओ के विकास मे सहयोग मिलेगा।

(इ) अग्रेजी भाषा का प्रकाशित साहित्य विश्व की अन्य किसी भी भाषा से अधिक है।

(ई) विज्ञान तथा तकनीकी साहित्य अग्रेजी भाषा मे ही अधिक है। इस क्षेत्र मे भारतवर्ष को अभी अधिक प्रगति करनी है। ऐसी दशा मे, प्रावधिक ज्ञान के लिए हमे अग्रेजी का अध्ययन करना चाहिए।

(उ) कुछ भारतवासियो का विचार है कि भारतवर्ष मे राष्ट्रीय एकता की चेतना उत्पन्न करने वाली भाषा अग्रेजी ही है। इस राष्ट्रीय एकता ने ही भारतवासियो मे यह भावना पैदा की कि सभी को मिलकर अंग्रेजी प्रशासन को उखाड फेंकने के प्रयास करने चाहिए।

(ऊ) अग्रेजी भाषा के साहित्य की लोकप्रियता विश्व मे अन्य किसी भाषा से अधिक है।

सन् १९५३ की २३, २४ जनवरी को माध्यमिक शिक्षा मे अंग्रेजी का स्थान निश्चित करने के लिए भारतीय विश्वविद्यालय के प्रतिनिधियो का दिल्ली में एक सम्मेलन आयोजित हुआ। इस सम्मेलन ने निम्नलिखित संस्तुतियाँ दी थी :

१ माध्यमिक विद्यालय के पाठ्यक्रम मे अंग्रेजी भाषा को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होना चाहिए।

२ इस स्तर पर भाषा का उद्देश्य अच्छा काम-चलाऊ ज्ञान प्राप्त कर लेना ही होना चाहिए।

३ यदि कोई छात्र अंग्रेजी भाषा का अधिक ज्ञान प्राप्त करना चाहे तो उसे अलग से पढाने को सुविधा दी जाये।

४ माध्यमिक स्तर पर छ: वर्षों तक अनिवार्य रूप से अंग्रेजी भाषा पढाई जाय।

अंग्रेजी भाषा का विरोध—अंग्रेजी भाषा के अध्ययन से देश को लाभ-हानि दोनो हुई है। इसके अध्ययन के फलस्वरूप होने वाली हानियो के कारण ही अनेक भारतवासी अंग्रेजी का विरोध करने लगे। उनके विरोध के आधार निम्नलिखित हैं

१ अंग्रेजी भाषा ने शिक्षित तथा अशिक्षित वर्ग के व्यक्तियों के मध्य गहरी खाई पैदा कर दी है।

२ अंग्रेजी भाषा को पाठ्यक्रम मे अनुचित महत्त्व देने से मातृभाषा तथा प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन की उपेक्षा की जाने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि आज भी यह अंग्रेजी पढा-लिखा वर्ग सामान्य जनो को पैरो तले रौंद रहा है। यही लोग अपनी स्थिति सुदृढ बनाए रखने के लिए असख्य जनों को दबाये रखना चाहते हैं।

३ अंग्रेजी भाषा का अध्ययन अनिवार्य रूप से करवाने के कारण भारतवासियों में अभी भी दासता की मनोवृत्ति पैदा होती है।

४. अनेक छात्रो मे भाषा का ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता कम होती है। वे अंग्रेजी भाषा का ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? ऐसे छात्रो के लिए उन्नति करना असम्भव हो जायेगा, अगर उच्च शिक्षा के लिए अंग्रेजी पढ़ना अनिवार्य बना दिया जाय।

५. अंग्रेजी भाषा मे ही माध्यमिक स्तर पर छात्र अधिक सख्या मे अनुत्तीर्ण होते हैं जिससे भारी शैक्षिक-अपव्यय होता है।

६ अंग्रेजी भाषा को अनुचित महत्व देने से अनेक भारतीय तथा यूरोपीय भाषाओं की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता है। विज्ञान तथा तकनीकी क्षेत्र मे जर्मनी, रूस, जापान आदि देश भी विश्व मे अपना

महत्वपूर्ण स्थान रखते है। उनमे भी तकनीकी ज्ञान सीखने के लिए उनकी भाषाओं का अध्ययन करना आवश्यक है।

श्री हुमायूँ कबीर ने अपनी पुस्तक 'स्वतन्त्र भारत मे शिक्षा' मे भारतीयो के लिए अंग्रेजी भाषा के महत्त्व पर अपने विचार प्रकट किये है। उनका कथन है कि अधिकाश भारतीयो को भविष्य मे अंग्रेजी पढ़ने की कोई आवश्यकता नही है। वे लोग अंग्रेजी के द्वारा आने वाले प्रभावो को भारतीय भाषाओ के माध्यम से ग्रहण कर सकेंगे क्योकि निकट भविष्य मे सीधे अनुवादो या अप्रत्यक्ष रूप मे उन प्रभावो को ग्रहण करना सम्भव होगा। भारतीयो का एक वर्ग ऐसा होगा जो अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र मे व्यापार, वाणिज्य और उद्योग आदि के लिए अंग्रेजी का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक समझेगा। इन लोगो को काम-चलाऊ अंग्रेजी सिखाने की आवश्यकता होगी।

अंग्रेजी भाषा का स्थान—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राथमिक शिक्षा मे अंग्रेजी को कोई स्थान नही मिलना चाहिए। माध्यमिक स्तर पर अंग्रेजी का अध्ययन प्रारम्भ किया जाय परन्तु इसको *पहले जैसा गौरवपूर्ण स्थान नहीं दिया जाय*। अंग्रेजी के पाठ्यक्रम मे परिवर्तन करके इसको पढ़ाने के लिए जो घण्टे माध्यमिक विद्यालयो मे लगाये जाते हैं, उनमे कमी होनी चाहिए। माध्यमिक स्तर पर छात्रो को केवल भाषा का अध्ययन सिखाया जाय जिससे छात्र बोलचाल तथा व्यवहार की भाषा मे निपुण हो जाएँ। अंग्रेजी के स्तर को गिरने से बचाने के लिए इसको पढ़ाने के लिए प्रयोग मे आने वाली विधियो मे परिवर्तन होना चाहिए। अंग्रेजी भाषा के महत्त्व को कम करने के लिए यह भी आवश्यक है कि विश्वविद्यालय स्तर पर क्षेत्रीय भाषाओं को माध्यम के रूप मे अपनाया जाय। इसके साथ ही माध्यमिक स्तर को अपने मे पूर्ण इकाई बनाया जाय ताकि अनेक छात्र इस शिक्षा को प्राप्त करके स्वावलम्बी बन सके, वे किसी व्यवसाय मे प्रवेश कर सके और इस प्रकार उन्हे विश्वविद्यालय मे अनावश्यक रूप मे जाने से रोका जा सके।

हिन्दी का अध्ययन—भारतवर्ष मे हिन्दी भाषा का अध्ययन बहुत पहले से हो रहा है परन्तु मुस्लिम काल मे हिन्दी की प्रगति नही हो सकी क्योकि इस युग मे उर्दू-फारसी को महत्त्व प्राप्त हो गया। इसके बाद अंग्रेजो के शासन काल मे अंग्रेजी भाषा को राजभाषा का पद प्राप्त हुआ। हिन्दी भाषा की अवहेलना होती रही परन्तु राष्ट्रीय आन्दोलनो के काल मे लोगो ने यह सत्य समझा कि हिन्दी राष्ट्रभाषा का पद ग्रहण कर सकती है। स्वतन्त्रता के बाद तो सम्पूर्ण देश को एकता के सूत्र मे बाँधने के लिए एक भाषा की आवश्यकता और भी अधिक अनुभव की जाने लगी। सम्पूर्ण देश के लिए एक सामान्य भाषा की आवश्यकता निम्नलिखित कारणो से है

१. पचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत देश मे औद्योगिक विकास का प्रयत्न किया जा रहा है। इन उद्योगो मे कार्य करने के लिए देश के विभिन्न

आज परिस्थितियाँ बदल गई हैं। जिन लोगों ने सन् १९४७ में हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने के पक्ष में मत दिया था, वे ही अब इसका विरोध कर रहे हैं। अंग्रेजी के पक्षपाती स्वार्थवश तथा राजनीतिक कारणों से हिन्दी का विरोध करते हैं। इनके अतिरिक्त क्षेत्रीय भाषाओं के प्रेमियों की ओर से भी हिन्दी का विरोध किया जाता है क्योंकि उनको आशंका है कि हिन्दी के दबाव में उनकी मातृभाषा नष्ट न हो जाय। अब तो हिन्दी विरोधी लोग संविधान में परिवर्तन लाने की बात सोचते हैं। इसका कारण यह है कि इन लोगों को हिन्दी की संवैधानिक स्थिति के बारे में स्पष्ट ज्ञान नहीं है। इस सम्बन्ध में सरकार को अपने निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिए दृढ़तापूर्ण कदम उठाने चाहिए।

प्रादेशिक भाषाओं का स्थान

भारतीय विद्यालयों में अन्य भारतीय भाषाओं की शिक्षा की व्यवस्था होना परम आवश्यक है। भारतीय भाषाओं के अध्ययन से सभी भाषाएँ समृद्ध होंगी। प्रादेशिक भाषाओं को शिक्षा में स्थान देने के लिए सन् १९५६ में केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड ने त्रिभाषा सिद्धान्त अपनाने पर जोर दिया परन्तु कुछ लोग इस सिद्धान्त का विरोध करते हुए कहते हैं कि हिन्दी-भाषी क्षेत्र में एक प्रादेशिक भाषा पढ़ने का बोझ क्यों डाला जाये। परन्तु भारत भर में सबको तीन भाषाएँ पढ़ना अनिवार्य होने से सन्तुलन रहता है और किसी को ईर्ष्या या शिकायत का अवसर नहीं मिलता है। त्रिभाषा-सूत्र को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक है कि विद्यालयों में पहले से नियुक्त भाषा के अध्यापकों को भारतीय भाषाएँ पढ़ाई जाएँ। सरकार की ओर से उनको प्रोत्साहन मिले तथा नगरों में सायंकालीन या प्रातःकालीन संस्थाएँ स्थापित की जाएँ जिनमें सभी भाषाओं का शिक्षण होता हो।

अन्य देशों के उदाहरण

भाषा के सम्बन्ध जो समस्या आज हमारे देश के सामने है वैसी ही समस्या अन्य देशों के सामने भी आई है। उन्होंने जिस प्रकार इस समस्या का समाधान किया है, उनसे हम भी कुछ लाभ उठा सकते हैं। अतः उनका अध्ययन करना उपयुक्त रहेगा। यहाँ एक बात ध्यान देने की है कि अन्य देशों के अध्ययन से हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि उनका उदाहरण हम उसी रूप में स्वीकार कर लें। प्रत्येक देश की परिस्थितियाँ भिन्न होती है और समस्याओं का समाधान उनको ध्यान में रखते हुए किया जाता है।

१. स्विट्जरलैण्ड

यह एक छोटा देश है जिसकी जनसंख्या लगभग ५० लाख है। इस देश में अनेक भाषाओं का प्रयोग होता है परन्तु यहाँ की एक विशेषता रही है कि अधिक भाषाएँ होते हुए भी यहाँ पर कभी भाषा के ऊपर झगड़े नहीं हुए हैं। संविधान द्वारा

(१) वर्णमाला या व्याकरण रहित भाषाओं को वर्णमाला तथा व्याकरण दिया।

(२) जिन भाषाओं की वर्णमाला कठिन तथा अवैज्ञानिक थी, उनको रूसी लिपि देकर सुधारा।

इस देश में शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषाएँ रहती हैं। यहाँ माध्यमिक स्तर पर एक विदेशी भाषा का अनिवार्य कर दिया गया है। अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेंच, इटैलियन तथा स्पेनिश भाषाएँ वे मुख्य विदेशी भाषाएँ हैं जिनकी शिक्षा रूस में देने की व्यवस्था है। इस प्रकार रूस में प्रत्येक छात्र को तीन भाषाएँ पढ़नी पड़ती है

(अ) मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा, (आ) रशियन भाषा, (इ) एक विदेशी भाषा। इससे स्पष्ट है कि रूस में भी त्रिभाषा सूत्र ही प्रचलित है। भारत तथा रूस की परिस्थितियाँ लगभग समान हैं। रूस की भाँति हमारे देश में भी संघीय भाषा का अध्ययन प्रत्येक छात्र के लिए अनिवार्य किया जाय। रूस में जिस प्रकार त्रिभाषा सूत्र सफलतापूर्वक चल रहा है उसी प्रकार भारतवर्ष में भी त्रिभाषा सूत्र को कार्यान्वित किया जाय।

(३) जर्मनी—जर्मन देश दो भागों में विभाजित है। जर्मनी के इन दोनों भागों में प्रत्येक छात्र को जर्मनी भाषा का अध्ययन मातृभाषा के रूप में अनिवार्यतः करना होता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक छात्र एक विदेशी भाषा का अध्ययन करता है। जर्मनी के किसी भाग में अंग्रेजी, किसी में रशियन तथा कहीं पर फ्रेंच भाषा की पढ़ाई प्रचलित है। यहाँ पर १० वर्ष की आयु से प्रत्येक छात्र को विदेशी भाषा सीखनी होती है।

राजस्थान विश्वविद्यालय की बी० एड० परीक्षा में पूछे गये प्रश्न

1. Express your views on the Language problem in India. How far can we benefit ourselves from the way other countries have solved their problem ? (1962)
2. How many languages should be taught compulsorily at the Secondary School level ? Which languages should these be ? What is the place of English among them ? What should be the place of Hindi in (a) Madras (b) U. P ? (1963)
3. Write short notes on—
   (b) The Third language—a political artifice or an educational need ? (1964)

अध्याय १२

पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण

शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति के व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास करना है ताकि वह स्वयं के तथा समाज के लिए उपयोगी हो सके। मनुष्य समाज का एक सदस्य है अतः उससे आशा की जाती है कि वह समाज के विकास में सक्रिय सहयोग दें। मनुष्य को अपना तथा समाज का विकास करने के लिए आवश्यक है कि वह उस परिवेश को समझे जिसमें वह निवास करता है। परिवेश का प्रभाव मनुष्य के खान-पान, रहन-सहन तथा वस्त्रों पर पड़ता है। यहाँ तक कि उसके विचार एवं दृष्टिकोण भी परिवेश के प्रतिफल होते हैं। मनुष्य में बौद्धिक शक्ति एक ऐसी ईश्वरीय देन है कि इसके कारण ही मानव अपने वातावरण को समझ पाता है और वातावरण में आवश्यक परिवर्तन करके स्वयं का आनन्दप्रद समायोजन करता है। अनेक वर्षों तक विद्वानों का विचार रहा कि मनुष्य वातावरण का दास होता है। उसको स्वयं वातावरण के अनुकूल बनना होता है परन्तु अपने बौद्धिक ज्ञान के कारण मानव ने आज ऐसे वैज्ञानिक साधनों का आविष्कार कर लिया है जिनके माध्यम से वह वातावरण को अपने अनुकूल बनाकर उस पर विजय प्राप्त करता चला जा रहा है। मनुष्य और वातावरण का संघर्ष तो आदिकाल से ही चला आ रहा है। परिणामस्वरूप, मानव प्राचीन काल से नवीन अनुभव अर्जित करता आया है। इस प्रकार अर्जित असीमित ज्ञान के भण्डार को स्मृति के आधार पर सुरक्षित रखकर आगे आने वाली पीढ़ी तक पहुँचाना असम्भव कार्य था। इस ज्ञान को आगे आने वाली पीढ़ी तक पहुँचाना भी आवश्यक है जिससे वे अपना समय एवं शक्ति उसी ज्ञान के अर्जन में नष्ट न करें। मनुष्य इन वर्षों के अनुभवों को सुरक्षित रखने के लिए उपयुक्त विधि की आवश्यकता अनुभव कर रहा था। उसने लेखन कला की खोज की और फलत. पुस्तकों का आविर्भाव हुआ।

भारतीय शिक्षा की सामयिक समस्याएँ

पाठ्य-पुस्तको का महत्त्व

आधुनिक काल मे पाठ्य-पुस्तको की उपयोगिता पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ गई है। कुछ विषयो मे तो पाठ्य-पुस्तक को शिक्षण विधि के रूप मे प्रयोग करते है। वैसे आधुनिक शिक्षा-शास्त्री पाठ्य-पुस्तको को वर्तमान शिक्षा प्रणाली मे उच्च स्थान देने के पक्ष मे नही हैं। उनके अनुसार अध्यापक को पाठ्य-पुस्तक पर ही निर्भर नहीं रहना चाहिए। उसे तो अध्यापन सामग्री नाना प्रकार के साधनो से एकत्रित करके कक्षा मे छात्रो को विभिन्न विधियो के द्वारा स्पष्ट करनी चाहिए। आधुनिक विचार-धारा के अनुसार पुस्तके बालको को पढ़ाने मे अध्यापक की केवल सहायता करती हैं। पाठ्य-पुस्तक शिक्षण मे चाहे कितने ही दोष हो परन्तु इनका महत्त्व कम नहीं हो सकता है। अध्यापको एवं छात्रो को पुस्तको का प्रयोग अति बुद्धिमत्ता के साथ व वैज्ञानिक रूप मे करना चाहिए। पाठ्य-पुस्तको के निम्नलिखित लाभ है

(१) निर्धारित पाठ्यक्रम का ज्ञान—अध्यापक को पाठ्य-पुस्तक द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम का पता शीघ्रता से लग जाता है। वह पाठ्य-पुस्तक मे देखकर पता लगा सकता है कि किसी विषय मे उसको कौन-कौनसे उपविषय पढ़ाने है ? यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि पाठ्य-पुस्तकें अध्यापक के सम्मुख पाठ्यक्रम का रेखाचित्र ही प्रस्तुत करती है। शेष कार्य तो अध्यापक को स्वयं करना होता है।

(२) पथ-प्रदर्शक के रूप मे—पाठ्य-पुस्तक तो पथ-प्रदर्शक के रूप मे होती हैं। ये अध्यापक को भटकने से बचाती है। पाठ्य-पुस्तक के बिना अध्यापक द्वारा कक्षा के छात्रो के ज्ञान के स्तर से ऊँचा ज्ञान देने की सभावना अधिक रहती है। इसके साथ ही पाठ्य-पुस्तको से लिये गये तथ्यो का विकास करना तथा उनको स्पष्ट करना अध्यापको का कार्य है।

(३) सुसम्बन्धित तथा क्रमबद्ध सूचनाएँ—पाठ्य-पुस्तक मे तथ्य एवं सूचनाएँ सुसम्बन्धित तथा क्रमबद्ध रूप मे प्रस्तुत की जाती हैं। वे विषय का स्पष्ट एव पूर्ण चित्र प्रस्तुत करती हैं।

(४) स्वाध्याय की प्रेरणा—छात्रो मे स्व-अध्ययन की आदत का निर्माण करना अति आवश्यक है। अध्यापक गृह कार्य देकर तथा सन्दर्भ पुस्तके बताकर छात्रो को अध्ययन करने के लिए प्रोत्साहित करते है। छोटे-छोटे बच्चो मे स्व-अध्ययन की [illegible] निर्माण पाठ्य-पुस्तको की सहायता से होता है। छात्र घर पर अपनी [illegible] को पढ़कर अध्ययन मे रुचि लेते है। और इस प्रकार उनमे अध्ययन [illegible] प्रवृत्ति विकसित होती है।

(५) पाठ दोहराने मे सहायक—कक्षा मे अध्यापक द्वारा पढाया गया पाठ [illegible] पर पाठ्य-पुस्तको की सहायता से दोहरा सकते है। परीक्षा के समय तो

श्री एल० जे० फ्रोन बैंक ने लिखा है—"पाठ्य-पुस्तक प्राचीन अर्न्तदृष्टि, रीति-रिवाज और तकनीक को भावी पीढ़ी तक पहुँचाने का माध्यम है।"

बम्बई सरकार द्वारा स्थापित पाठ्य-पुस्तक समिति ने इसके सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार प्रकट किये हैं—"एक श्रेष्ठ पाठ्य-पुस्तक छात्रों में ज्ञान के प्रति अनुराग का विकास करती है तथा वह शिक्षा के लक्ष्य को भी पूरा करती है। पाठ्य-पुस्तक तो अध्यापक का एक ऐसा अस्त्र है जिसके द्वारा वह छात्रों की स्वाभाविक रुचियों का विकास करता है।"

पाठ्य-पुस्तकों का इतिहास—भारतवर्ष में पाठ्य-पुस्तकों का इतिहास अधिक प्राचीन नहीं है क्योंकि यहाँ पर मुद्रण कला का विकास उस समय नहीं हुआ था। वैसे प्राचीन काल में ही समाज का संचित ज्ञान भावी सन्तति तक पहुँचाने के लिए भोजपत्र अथवा ताम्रपत्र प्रयोग में आते रहे हैं। इसके बाद कागज का निर्माण होने पर हस्तलिखित पुस्तकों का आविर्भाव हुआ। इनकी संख्या बहुत कम हुआ करती थी। अंग्रेजों के आगमन के बाद ही पाठ्य-पुस्तकों का नवीन ढंग से गठन प्रारम्भ हुआ। इसका प्रमुख कारण अंग्रेजों द्वारा मुद्रण तथा प्रकाश हेतु मशीनों का आविष्कार कर लेना था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन काल में सन् १८२४ में 'कलकत्ता शिक्षा प्रेस' का निर्माण किया गया तथा संस्कृत, अरबी, फारसी के ग्रन्थ प्रकाशित किये गये तथा यूरोप की अनेक विज्ञान सम्बन्धी पुस्तकें प्राच्य भाषाओं में अनुवाद कराकर प्रकाशित की गईं। सन् १८५४ में वुड के घोषणा-पत्र में पुस्तकों के प्रकाशन के लिए सुझाव दिये गये परन्तु पुस्तकों को सुधारने के लिए कोई सिफारिश नहीं की। सर्वप्रथम १८७३ में एक समिति द्वारा पाठ्य-पुस्तकों के कलेवर में सुधार करने के लिए सुझाव दिये गये किन्तु उन सुझावों को कार्यान्वित नहीं किया गया। सन् १८८२ के प्रथम भारतीय शिक्षा आयोग ने पाठ्य-पुस्तकों के क्षेत्र में न कोई अध्ययन किया और न उनके सुधार हेतु सुझाव ही दिये। सन् १९१० के बाद भारतीय नेताओं ने शिक्षा में रुचि लेना प्रारम्भ किया। परन्तु प्रारम्भ में इन्होंने प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य एवं निःशुल्क बनाने की माँग की, पाठ्य-पुस्तकों की ओर ध्यान नहीं दिया। द्वैध शासन में भारतीय नेताओं को शिक्षा का विषय तो दिया परन्तु अनेक कठिनाइयों के कारण ये पाठ्य-पुस्तकों में कोई सुधार न कर सके।

सन् १९३७ में प्रथम आचार्य नरेन्द्रदेव समिति ने पाठ्य-पुस्तकों के सुधार के लिए सुझाव दिये। इस समिति के प्रमुख सुझाव निम्नलिखित थे

१. शिक्षा की नवीन आवश्यकताओं के अनुसार पाठ्य-पुस्तकों में परिवर्तन कर उनको पुनः सम्पादित किया जाय।
२. राज्य सरकार द्वारा सम्पादकों का एक बोर्ड नियुक्त किया जाय।
३. यह बोर्ड ही लेखकों से पुस्तकें लिखवा कर उनके प्रकाशन की व्यवस्था करे।

जनवरी १९४३ में केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद की आठवीं बैठक में पाठ्य-पुस्तकों में परिवर्तन लाने के लिए विचार किया गया। इस परिषद के एक प्रमुख सदस्य श्री जियाउद्दीन अहमद ने प्रचलित पाठ्य-पुस्तकों में अनेक दोष गिनाये

१. पाठ्य-पुस्तकें अनुभवी लेखकों द्वारा नहीं लिखी जाती हैं। अतः उनमें विषय-वस्तु का प्रस्तुतीकरण वैज्ञानिक ढंग से तथा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर नहीं होता है।

२ पाठ्य-पुस्तकों को शीघ्र बदलने से निर्धन अभिभावकों को अपने बच्चों के लिए नवीन पाठ्य-पुस्तकें खरीदने में अधिक कठिनाई होती है।

३ प्रकाशक पाठ्य-पुस्तकों के कलेवर के सुधार हेतु प्रयत्न नहीं करते हैं। ये साधारण लेखकों से पुस्तकें लिखवाकर अपने व्यक्तिगत प्रभाव से पाठ्य-पुस्तकों को स्वीकृत करवा लेते हैं।

केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद की इसी बैठक में पाठ्य-पुस्तकों के सुधार के ए महत्वपूर्ण सुझाव दिये गये। उनमें से कुछ सुझाव निम्नलिखित थे

१ पुस्तकों को तीन वर्ष से पूर्व न बदला जाय।

२ कम मूल्य पर पुस्तकें उपलब्ध कराने के प्रयास किये जायें।

३. अच्छे प्रकाशन गृहों से पुस्तकें खरीदी जायें।

४. योग्य लेखकों को पुस्तक-लेखन के लिए प्रोत्साहित किया जाय।

सन् १९५३ में द्वितीय आचार्य नरेन्द्रदेव समिति का प्रतिवेदन प्रकाशित । इस समिति ने भी पाठ्य-पुस्तकों की स्थिति का अध्ययन किया। इस समिति ठ्य-पुस्तकों का चयन करने की तत्कालीन विधि को दोषपूर्ण बताया। पाठ्य- के प्रस्तुत करने के लिए ६ माह से भी कम समय दिया जाता है तथा पाठ्य- ों का चयन करने वाली समिति के सदस्यों को उस विषय का पर्याप्त ज्ञान नहीं है। कुछ पुस्तकों में मुद्रण सम्बन्धी त्रुटियाँ या तथ्य सम्बन्धी अशुद्धियाँ पाई हैं। इसके साथ ही समिति ने पाठ्य-पुस्तकों को शीघ्रता से बदलने की ओर भी आकर्षित किया।

पाठ्य-पुस्तकों में सुधार हेतु समिति ने निम्नलिखित सुझाव दिये

१. पाठ्य-पुस्तकों के स्वीकृत करने की वर्तमान प्रणाली को समाप्त कर दिया जाय तथा प्रधानाध्यापक एवं अध्यापकों को ही उचित पाठ्य-पुस्तक चुनने सम्बन्धी स्वतन्त्रता दी जाय।

२. एक बार स्वीकृत पाठ्य-पुस्तक को कम से कम ३ वर्ष तक न बदला जाय।

३ किसी विषय में कोई उपयुक्त पुस्तक न होने पर सरकार को पुस्तक व्यवस्था करनी चाहिए। पुस्तकें लिखने के लिए पर्याप्त समय जाय। उत्तम पुस्तक लिखने वालों को पारितोषिक दिये जायें। इन पुस्तकों का मुद्रण सरकार अपने हाथ में न ले।

सन् १९५२–५३ मे ही माध्यमिक शिक्षा आयोग ने भी पाठ्य-पुस्तको का अध्ययन किया और प्रचलित पाठ्य-पुस्तको मे व्याप्त दोषो की ओर ध्यान आकर्षित किया। इस आयोग ने पाठ्य-पुस्तको के सम्बन्ध मे लिखा है कि "हम पाठ्य-पुस्तको के उत्पादन के प्रचलित स्तर मे अत्यधिक असतुष्ट है और इसमे शीघ्र सुधार की आवश्यकता अनुभव करते हैं।" सन् १९५४ मे फोर्ड फाउण्डेशन के अन्तर्गत एक अन्तरराष्ट्रीय दल ने भारतीय पाठ्य-पुस्तको का निरीक्षण किया। इस दल ने प्रत्येक प्रान्त मे अच्छी पाठ्य-पुस्तके उपलब्ध कराने के लिए एक पाठ्य-पुस्तक समिति की स्थापना का सुझाव दिया। इस दल ने सलाह दी कि सरकार पाठ्य-पुस्तको का प्रकाशन अपने हाथ मे न ले। इसके स्थान पर उसको अनुसन्धान कार्य अधिक करवाना चाहिए तथा प्रकाशको एवं लेखको को पथ-प्रदर्शन करने के लिए उपयोगी नियम निर्धारित करने चाहिए।

सन् १९६६ मे कोठारी आयोग ने भी पाठ्य-पुस्तको के दोषो को दूर करने के लिए सुझाव दिये हैं। आयोग ने बताया कि विद्यालयो मे पढाये जाने वाले अनेक विषयो मे निम्न स्तर की पाठ्य-पुस्तकें है। पाठ्य-पुस्तको का निम्न स्तर होने के निम्नलिखित कारण हैं

१ उच्चकोटि के विद्वानो की पाठ्य-पुस्तकें लिखने मे रुचि का कम होना। साधारण व्यक्तियो द्वारा ही पुस्तकें लिखी जाती है।

२ पाठ्य-पुस्तको की स्वीकृति एवं चुनाव मे ईमानदारी का अभाव।

३. पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण एवं उत्पादन मे अनुसन्धान कार्य का अभाव।

कोठारी आयोग ने भी पाठ्य-पुस्तको के सुधार के लिए सुझाव दिया जो कि निम्नलिखित है

> राज्य पाठ्य-पुस्तको का प्रकाशन करे परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि इस भारी उत्तरदायित्व के लिए शिक्षा विभाग को भली-भाँति सगठित होना चाहिए।

पिछले वर्षो मे विभिन्न आयोगों ने पाठ्य-पुस्तको के सुधार हेतु अनेक सुझाव दिये परन्तु उनको कार्यान्वित करने के लिए अधिक प्रयत्न नही किये गये। यद्यपि शिक्षा विभाग ने इस ओर ध्यान दिया है परन्तु परिणाम अभी तक निराशाजनक है। इसके अनेक कारण हैं

१ पाठ्य-पुस्तको के लिखने एवं चयन करने की अनेक कार्यवाहियो का ज्ञान शिक्षा विभाग को न होने से पाठ्य-पुस्तको के उत्पादन के स्तर मे आशातीत सुधार न हो सका।

२ पाठ्य-पुस्तको के उत्पादन एव चयन सम्बन्धी कार्य कठिन है अत इसको सुचारु रूप से करने के लिए नियोजन की आवश्यकता होती है परन्तु पाठ्य-पुस्तकों के उत्पादन के लिए किसी प्रकार की योजनाओ का निर्माण नही किया गया।

८. अधिकांशत पाठ्य-पुस्तकें ऐसे व्यक्तियों द्वारा लिखी जाती हैं जिनका शिक्षा के उस स्तर से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। उदाहरण के लिए, विश्वविद्यालय के प्राध्यापक माध्यमिक स्तर के छात्रों की मनोगत विशेषताओं एवं रुचियों का ज्ञान न होते हुए भी पुस्तकें लिखते हैं।

९. प्रचलित पाठ्य-पुस्तकें राष्ट्रीय एव भावात्मक एकता तथा अन्तरराष्ट्रीय सहयोग की भावनाओं का विकास नहीं करती हैं।

१०. प्रादेशिक भाषाओं के शिक्षा का माध्यम होने से पाठ्य-पुस्तकों का स्तर गिर गया है। अब क्षेत्रीय भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने से अपने-अपने क्षेत्रों के लिए ही पुस्तकें प्रकाशित की जाती हैं। अब उनका अन्तर्देशीय क्षेत्र समाप्त होने से स्पर्द्धा भी समाप्त हो गई है।

११ पाठ्य-पुस्तकों के आकार, मुखपृष्ठ तथा जिल्द की ओर अपर्याप्त ध्यान दिया जाता है।

पाठ्य-पुस्तकों के सुधार हेतु माध्यमिक शिक्षा आयोग के सुझाव

माध्यमिक शिक्षा आयोग ने प्रचलित पाठ्य-पुस्तकों में व्याप्त दोषों का वर्णन किया। दोषों से पूर्ण पुस्तकों द्वारा न तो छात्रों में पुस्तकों के प्रति प्रेम जाग्रत होता है और न ही वे अध्ययन में रुचि लेते है। आयोग ने इन दोषों को दूर करने के लिए अनेक सुझाव दिये हैं .

१. आयोग के अनुसार शिक्षा विभागों को पुस्तकों में दिलचस्पी लेनी चाहिए। कुछ पाठ्य-पुस्तकें पाठ्य-पुस्तक समितियों के द्वारा प्रकाशित होनी चाहिए। ये पुस्तकें ऊँचे स्तर की होनी चाहिए ताकि प्रकाशकों को सुन्दर एव उपयोगी पुस्तक का प्रकाशन करने की प्रेरणा मिल सके।

२. पाठ्य-पुस्तकों में सुन्दर तथा उपयुक्त चित्र देने चाहिए। इसके सम्बन्ध में आयोग ने दो सिफारिशें की हैं

(अ) कला का प्रशिक्षण देने के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा एक नवीन चित्र-कला विद्यालय की स्थापना होनी चाहिए, या वर्तमान चित्रकला शिक्षालयों में ऐसी व्यवस्था की जाय जहाँ पाठ्य-पुस्तकों के लिए चित्र, रेखाचित्र आदि बनाने वाले कलाकारों को प्रशिक्षित किया जा सके।

(आ) केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों को चित्रों के ब्लाक्स का पुस्तकालय खोलकर उसको सुसंगठित व संरक्षित रखना चाहिए। ये ब्लाक्स पाठ्य-पुस्तक समितियों के अतिरिक्त प्रकाशकों को भी उधार देने चाहिए। इस प्रकार प्रकाशकों को पुस्तकों के प्रकाशन में अधिक व्यय नहीं करना पड़ेगा तथा उच्च कोटि के ब्लाक प्राप्त हो जायेंगे।

३. आयोग ने सुझाव दिया कि भाषा व साहित्य के अतिरिक्त अन्य विष- यों में सीमित पुस्तकें रखना उपयुक्त नहीं है। समिति द्वारा या उन पुस्तकों को स्वीकृत करके सूची प्रकाशित कर देनी चाहिए और इस प्रकार प्रधानाध्यापक एवं अध्यापक को उस सूची में से उपयुक्त पुस्तक का चुनाव करने की स्वतन्त्रता दी जाय।

४. भारत एक धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र है। अतः पाठ्य-पुस्तक में कोई ऐसा अंश नहीं होना चाहिए जो किसी धर्म या समाज के किसी अंग की भाव- नाओं को चोट पहुँचाये। इससे देश की एकता समाप्त होगी। किसी पाठ्य-पुस्तक को धर्म या राजनीतिक दल की विचारधाराओं का प्रसा- रित करने का साधन नहीं बनाना चाहिए। पाठ्य-पुस्तक समिति का यह उत्तरदायित्व है कि वह इन पुस्तकों की जाँच करके देखे। किसी धर्म पर आघात करने वाली, किसी समाज को चोट पहुँचाने वाली पुस्तक को कभी स्वीकार न करना चाहिए। पाठ्य-पुस्तकें ऐसी होनी चाहिए जो छात्रों को राष्ट्रीय प्रेम तथा अन्तर्राष्ट्रीयता की शिक्षा दे सकें जिससे राष्ट्र में रहने वाले निवासियों में परस्पर प्रेम व सहानुभूति की भावना विकसित हो सके और बड़े होने पर बच्चे विश्व के अच्छे नागरिक बन सकें।

५. आयोग ने सुझाव दिया कि प्रत्येक प्रान्त में उच्च सत्ता समिति का निर्माण किया जाय। इस समिति में उन सदस्यों को सम्मिलित किया जाय जोकि किसी प्रलोभन या प्रभाव के चक्कर में कदापि न पड़ें। इस उच्च सत्ता समिति (High Power Committee) में निम्नलिखित पदाधिकारियों को सदस्य के रूप में नियुक्त किया जाय

(अ) उच्च न्यायालय का एक न्यायाधीश,
(आ) लोक सेवा आयोग का एक सदस्य,
(इ) उस क्षेत्र का एक उपकुलपति,
(ई) प्रदेश का एक प्रधानाध्यापक या प्रधानाध्यापिका,
(उ) दो प्रमुख शिक्षाविद् सम्मिलित किये जायें,
(ऊ) प्रदेश का शिक्षा सचालक।

इस समिति का सचिव शिक्षा सचालक होगा। समिति अपने अध्यक्ष का चुनाव स्वयं अपने सदस्यो मे से ही कर लेगी। इस समिति के सदस्यो का कार्यकाल पाँच वर्ष के लिए होगा।

मुदालियर आयोग ने इस समिति के कार्यों का वर्णन इस प्रकार किया है :

१. माध्यमिक शिक्षा के प्रत्येक विषय के लिए पृथक्-पृथक् विशेष योग्यता वाले व्यक्तियो की दो या तीन सदस्यो की समिति नियुक्त करना इस

उच्च सत्ता समिति का ही कार्य होगा। इन समितियों को सौंपी गई पुस्तकों के गुण एवं दोषों का विवेचन करना ही इनका कार्य होगा।

२. उच्च शक्ति समिति के द्वारा माध्यमिक विद्यालयों के पाठ्यक्रम के विभिन्न विषयों के लिए समीक्षकों की एक सूची तैयार की जायगी। ये सदस्य पुस्तकों की समीक्षा किया करेंगे।

३ आवश्यकतानुसार निपुण व्यक्तियों द्वारा पाठ्य-पुस्तकों तथा अन्य अध्ययन योग्य पुस्तकों की रचना करवाना।

४ जहाँ तक सम्भव हो सके, अन्य प्रदेशों की इसी प्रकार की समितियों से सम्पर्क स्थापित करना तथा परस्पर सहयोग देना।

५ विद्यालयों के लिए पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन की व्यवस्था करना।

६ प्रकाशन की बिक्री से प्राप्त धन को संरक्षित करना।

७ जिन लेखकों की पुस्तकें विद्यालयों के लिए स्वीकृत हो जायें उनको उपयुक्त पारिश्रमिक दिया जाय।

८ बचे हुए धन को नीचे लिखे अनुसार व्यय करना—

(अ) निर्धन तथा कुशाग्र बुद्धि छात्रों को छात्रवृत्ति देना।

(आ) इसी प्रकार के छात्रों को निःशुल्क पुस्तकें देना।

(इ) विद्यालय के बच्चों के लिए दोपहर के भोजन अथवा दूध की व्यवस्था के लिए आर्थिक सहायता देना।

(ई) माध्यमिक शिक्षा के अन्य उपयोगी कार्यों में व्यय करना।

१. इस समिति को प्रतिवर्ष अपने कार्य की प्रगति सम्बन्धी रिपोर्ट वर्ष के अन्त में सरकार को देनी होगी।

२. राष्ट्रीय स्तर पर उपलब्ध विद्वानों को पाठ्य-पुस्तकें तथा अन्य उपयोगी साहित्य का निर्माण करने के लिए आमन्त्रित किया जाय। भारत सरकार द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित संस्थाओं द्वारा ही यह कार्य पूर्ण हो सकता है।

(अ) विश्वविद्यालय स्तर के लिए शिक्षा मन्त्रालय द्वारा ही कम मूल्य में पुस्तकें प्रकाशित की जा रही हैं। यह कार्य विशेष रूप से विदेशी पुस्तकों के प्रकाशन की स्वीकृति लेकर किया जा रहा है।

(आ) विद्यालय स्तर के लिए पुस्तकों के उत्पादन क्षेत्र में N C E R T प्रशंसनीय कार्य कर रहा है।

(इ) कोठारी आयोग ने सुझाव दिया कि अखिल भारतीय स्तर पर पुस्तकों के उत्पादन कार्य के लिए भारत सरकार को एक स्वायत्त संगठन की स्थापना करनी चाहिए। वैज्ञानिक तथा तकनीकी ज्ञान की पुस्तकें इसके द्वारा प्रमुख रूप से प्रकाशित की जायें।

(१) विभिन्न क्षेत्रों से सदस्यों को लेना।

(२) सदस्यों का अपने कार्य-क्षेत्र में ही अत्यधिक व्यस्त होना।

उच्च न्यायालय का न्यायाधीश एवं लोक-सेवा आयोग के सदस्य अधिक कार्य भार होने से अन्य कार्यों के लिए समय नहीं निकाल पाते हैं।

एक आलोचना का बिन्दु यह है कि इस उच्च शक्ति समिति के जिन सदस्यों की चर्चा की गई है उनमें कुछ का शिक्षा जगत् में और विशेष रूप से प्राथमिक या माध्यमिक शालाओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता है। अतः उनसे माध्यमिक विद्यालयों के लिए उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकों के चुनाव की आशा करना गलत ही है।

पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता

भारतवर्ष में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् नियुक्त किये गए माध्यमिक शिक्षा आयोग तथा कोठारी आयोग ने प्रचलित पाठ्य-पुस्तकों में व्याप्त दोषों की चर्चा अपने प्रतिवेदन में की है। इन दोषों को दूर करने के लिए इन शिक्षा आयोगों ने सुझाव दिया कि पाठ्य-पुस्तकों का उत्पादन, प्रकाशन, तथा वितरण आदि सम्बन्धी सभी कार्य प्रान्तीय सरकारों को अपने हाथ में ले लेना चाहिए। निम्नलिखित वर्णित कुछ कारण पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हैं :

(१) सन् १९५० में जब संविधान का निर्माण हुआ तो उस समय यह निश्चय किया गया कि १० वर्ष के अन्दर ६ वर्ष से १४ वर्ष तक की आयु के सभी बालकों के लिए शिक्षा निःशुल्क तथा अनिवार्य हो जाएगी। इस योजना को कार्यान्वित करने से दो बातें हुईं—प्रथम तो विद्यालय जाने वाले छात्रों की संख्या में वृद्धि हुई तथा दूसरे सभी वर्गों के बच्चे विद्यालय जाने लगे। छात्रों की संख्या में वृद्धि होने से पुस्तकों की माँग भी बढ़ी। प्रकाशक इस आवश्यकता की पूर्ति करने में असफल रहे। इसी प्रकार सभी वर्गों के बालक अध्ययन करने आने लगे तो निर्धन बच्चों के लिए सस्ती पुस्तकें सुलभ करना आवश्यक हो गया। प्रकाशक पुस्तकों के मूल्य में कमी नहीं करते। अतः यह आवश्यक हो गया है कि पुस्तकों का प्रकाशन सरकार अपने हाथ में ले।

(२) बुनियादी शिक्षा को राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली घोषित करके उसको सम्पूर्ण देश में लागू करने का सुझाव दिया गया। बुनियादी शिक्षा किसी न किसी रूप में सम्पूर्ण देश में प्रारम्भ की गई। परन्तु अनेक कारण एवं समस्याओं से यह प्रणाली सफल न हो सकी। बुनियादी शिक्षा के क्षेत्र में उपयुक्त पुस्तकों का अभाव है। पुस्तकें बुनियादी शिक्षा के दृष्टिकोण से लिखी ही नहीं गई हैं। प्रकाशकों ने उचित पाठ्य-पुस्तकें लिखवाने का प्रयास नहीं किया। इन पुस्तकों के अभाव से बुनियादी शालाओं में अध्यापन कार्य भी व्यवस्थित रूप से नहीं चल पाता है। यह आवश्यकता अनुभव की जा रही है कि सरकार द्वारा बुनियादी शिक्षा के सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए पुस्तकें लिखवाई जायें जिनसे अध्यापकों को उचित निर्देशन हेतु पुस्तकें मिल सकें।

(३) भारत सरकार पाठ्य-पुस्तकों के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए अनुसन्धान कार्य पर अधिक धन व्यय कर रही है परन्तु क्या यह सम्भव है कि अनुसन्धान कार्य से प्राप्त सुझावों को प्रकाशक स्वीकार करें ? जिस प्रकार केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त शिक्षा आयोग के सुझावों को स्वीकार करने के लिए प्रान्तीय सरकार बाध्य नहीं है उसी प्रकार प्रकाशकों को भी अनुसन्धान परिणामों के अनुसार पाठ्य-पुस्तक का प्रकाशन करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। अतः यह आवश्यक है कि सरकार अनुसन्धान कार्य को प्रोत्साहन दे तथा उनके परिणामों के आधार पर पाठ्य-पुस्तकों का स्तर सुधारने के लिए उनका प्रकाशन भी अपने हाथ में ले।

(४) आदर्श पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण करने के लिए आवश्यक है कि इनका प्रकाशन सरकार द्वारा किया जाए। ये आदर्श पुस्तक प्रकाशक तथा लेखकों का निर्देशन करने के लिए आवश्यक हैं। इन आदर्श पुस्तकों को आधार मानकर प्रकाशक उसी प्रकार की पुस्तक प्रकाशित करने का प्रयत्न करें।

(५) माध्यमिक शिक्षा आयोग ने पाठ्य पुस्तकों को स्वीकृत करने की प्रथा की कटु आलोचना की। पाठ्य पुस्तक स्वीकृत करने वाली समिति के सदस्य निष्पक्ष होकर पाठ्य पुस्तकों का चुनाव नहीं करते हैं। परिणामस्वरूप निम्न स्तर की पुस्तकें भी स्वीकृत [illegible]। इस दोष को दूर करने के लिए सरकार द्वारा ही पाठ्य पुस्तकों का प्रकाशन होना चाहिए।

(६) भारतवर्ष एक विशाल देश है, जहाँ पर विभिन्न [illegible] [illegible] पाठ्य पुस्तक [illegible] राष्ट्रीय [illegible]

पाठ्य पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण की मांग

[illegible]

[illegible]

है। इसके साथ ही ये प्रकाशक कुछ लाभ लेकर ही पुस्तक बेचते हैं। परन्तु सरकार का उद्देश्य पाठ्य-पुस्तको के प्रकाशन मे 'न लाभ न हानि' का रहेगा। परिणामस्वरूप, प्रकाशको की अपेक्षा राजकीय प्रकाशन की पुस्तको का मूल्य कम होगा। इस प्रकार निर्धन अभिभावक भी पुस्तकें खरीद सकेंगे।

(२) पुस्तको का राजकीय प्रकाशन होने में सरकार को भी लाभ रहेगा। निर्धन छात्रों को नि शुल्क पुस्तको का वितरण करने मे सरकार को सहायता मिलेगी।

(३) राजकीय प्रकाशन होने से छात्रो को भी लाभ होगा। प्रकाशकों द्वारा पुस्तकें प्रकाशित होने मे कभी-कभी अधिक विलम्ब हो जाता है। छात्रो को विलम्ब से पुस्तकें मिलने से उस विषय की तैयारी नही हो पाती है। राजकीय प्रकाशन का एक उद्देश्य समय पर पुस्तकें प्रकाशित कर छात्रों को उपलब्ध कराना भी है।

(४) कुछ वैकल्पिक विषयो का अध्ययन करने वाले छात्र तथा अध्ययन करने वाले अध्यापकों को अच्छे स्तर की पुस्तकें नहीं मिल पाती है। कुछ वैकल्पिक विषयों मे छात्रों की सख्या इतनी कम होती है कि प्रकाशक उन विषयों मे पुस्तकें प्रकाशित करना लाभप्रद न होने से उपयुक्त नही समझते है। राजकीय प्रकाशन होने पर सभी विषयो पर समान स्तर की पुस्तकें प्रकाशित करना सरकार का उत्तरदायित्व होगा।

(५) राजकीय प्रकाशन से पुस्तको मे एकरूपता आएगी। अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा पुस्तकें अलग-अलग ढंग से लिखी जाती हैं। इन पुस्तको मे विषय सामग्री के प्रस्तुतीकरण का ढग भिन्न होता है, पुस्तको मे पाठ्य-सामग्री की व्यवस्था भिन्न-भिन्न ढग से होती है। राष्ट्रीयकरण होने पर पुस्तको मे अध्यापक को निर्धारित पाठ्यक्रम का तुरन्त पता लग जाता है।

(६) पाठ्य-पुस्तको का राष्ट्रीयकरण होने से सरकार राजस्व प्राप्त करने के साधन के रूप मे इनका प्रयोग मे ला सकती है। इस प्रकार से प्राप्त आय को शिक्षा पर व्यय किया जा सकता है।

विभिन्न राज्यों में पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण

विभिन्न राज्यों ने पुस्तको का राष्ट्रीयकरण विभिन्न ढग से किया है। कुछ प्रान्तीय सरकारों ने पुस्तकों का प्रकाशन, वितरण आदि सभी कार्य अपने हाथ मे ले लिये हैं। ये विद्यालय के सभी विषयो की पुस्तको का प्रकाशन करती है। इसके विपरीत कुछ प्रान्तो मे पुस्तको का राष्ट्रीयकरण आंशिक रूप मे किया गया है। इन प्रान्तो मे कुछ कक्षाओ या कुछ विषयो की पाठ्य-पुस्तको का राष्ट्रीयकरण किया गया है।-

१. पजाब—१९वी शताब्दी के प्रारम्भ मे यहाँ पर पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण किया गया और उसके बाद आधी शताब्दी तक पाठ्यक्रम तथा पाठ्य-पुस्तको मे कोई परिशोधन नही हुआ। इन वर्षों मे पाठ्य-पुस्तकें विलम्ब से प्रकाशित हो पाती थी

और उनका स्तर भी ऊँचा नहीं था। अतः सन् १९३५ में प्रकाशकों को पुनः पुस्तक उत्पादन का कार्य दिया गया, परन्तु पंजाब सरकार ने फिर से पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण किया है। इस प्रान्त में पुस्तकों का लिखना, उनका प्रकाशन और वितरण की व्यवस्था करना सरकार के हाथ में है।

२. बिहार— इस प्रान्त में पुस्तकों का पूर्ण राष्ट्रीयकरण किया गया है। पुस्तकों को लिखवाना, छपवाना और वितरण सरकार के हाथ में है। पुस्तकों की बिक्री से प्राप्त होने वाले लाभ को छात्रवृत्ति के रूप में योग्य छात्रों में वितरित कर दिया जाता है।

३ उत्तर प्रदेश— प्रकाशकों द्वारा ईमानदारी से पुस्तक प्रकाशन कार्य न करने से पुस्तकों का प्रकाशन सरकार ने अपने हाथ में लिया। प्रारम्भ में सरकार ने भाषा की पुस्तकों को ही प्रकाशित किया। अब ८वीं कक्षा तक की सभी विषयों की पुस्तकें सरकार द्वारा प्रकाशित की जाती है। पुस्तकों के वितरण के लिए सरकार को पुस्तक विक्रेताओं पर निर्भर रहना पड़ता है।

४ आन्ध्र प्रदेश—आन्ध्र प्रदेश में प्राथमिक कक्षा तक की सभी पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है। प्रारम्भ में प्रकाशकों ने इसका तीव्र विरोध किया।

५. मद्रास—यहाँ पर भी पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण हुआ परन्तु सन् १९५९ में पुस्तकों का वितरण पुस्तक विक्रेताओं के द्वारा करवाया गया। जनता ने इसका विरोध अवश्य किया।

६ उड़ीसा तथा बम्बई—ये दोनों ही प्रान्त राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध हैं। यहाँ पर प्रारम्भ में पुस्तकों का प्रकाशन सरकार ने स्वयं किया परन्तु सतोषजनक परिणाम न होने पर सरकार ने इनके प्रकाशन का विचार त्याग दिया। इन प्रान्तों के विरोध के कारण निम्न है

(अ) लेखकों ने सरकार को पुस्तक लिखने मे सहयोग नही दिया।
(आ) राष्ट्रीयकरण करने मे लेखन कार्य की स्पर्द्धा समाप्त होती है।
(इ) सरकार द्वारा प्रकाशित पुस्तकों मे भी अनेक दोष होते है।
(ई) शिक्षा क्षेत्र मे राज्य का हस्तक्षेप उचित नही है।

७ केरल—इस प्रान्त मे पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण किया गया। सन् १९५८-५९ को पुस्तकों का निरीक्षण करने के लिए एक समिति नियुक्त की गई। इसकी नियुक्ति का प्रमुख उद्देश्य यह देखना था कि पुस्तकों को कम्यूनिज्म विचारों को प्रसारित करने का साधन तो नहीं बनाया गया है। समिति ने बताया कि पुस्तकों द्वारा छात्रों को कम्युनिस्ट विचारों का ज्ञान कराने का प्रयत्न किया गया है। अन्त में पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण करने का विचार त्याग दिया गया।

राजस्थान में पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण

अन्य प्रान्तो की भाँति राजस्थान सरकार ने भी पाठ्य-पुस्तको का राष्ट्रीयकरण किया है। इस प्रान्त मे सन् १९५४ मे जयपुर नगर मे राष्ट्रीयकरण पाठ्य-पुस्तक परिषद की स्थापना की गई। सरकार ने सर्वप्रथम पहली कक्षा से ८ वी कक्षा तक की समस्त पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण करने का निश्चय किया। पाठ्य-पुस्तक परिषद ने निर्णय किया कि १९५७ तक पहली से आठवी कक्षा तक की सभी पुस्तको का राष्ट्रीयकरण हो जाय। परन्तु सरकार को इस लक्ष्य-प्राप्ति मे सफलता प्राप्त न हो सकी क्योंकि इस अवधि मे केवल १४ पुस्तके ही सरकार द्वारा प्रकाशित हो सकी। राजस्थान मे पाठ्य-पुस्तको का राष्ट्रीयकरण करने के लिए राष्ट्रीयकरण बोर्ड का गठन किया गया है।

१. राष्ट्रीयकरण बोर्ड—पाठ्य-पुस्तको का प्रकाशन, वितरण आदि सभी कार्य इस बोर्ड द्वारा किये जाते हैं। इस बोर्ड मे निम्नलिखित सदस्य होते हैं

(१) राजस्व बोर्ड का सदस्य,
(२) शिक्षा सचालक,
(३) वित्त विभाग का उपसचिव,
(४) शिक्षा विभाग का उपसचिव,
(५) राजस्थान प्रशासन सेवा स्तर का अधिकारी (R A S) या उपशिक्षा संचालक के स्तर का अधिकारी।

२ समीक्षक बोर्ड—प्रत्येक विषय मे समीक्षक बोर्ड बनाया जाता है। इसमे प्रख्यात शिक्षा शास्त्रियो को समीक्षक के रूप मे नियुक्त किया जाता है। उपशिक्षा सचालक के स्तर का अधिकारी इस समीक्षक बोर्ड मे यह देखने के लिए रखा जाता है कि पाठ्यक्रम के अनुसार ही पुस्तक लिखी गई है।

३ उच्च शक्ति समिति—एक उच्चशक्ति समिति है जिसके निम्नलिखित सदस्य हैं :

(१) उच्च न्यायालय का न्यायाधीश,
(२) राजस्थान लोक सेवा आयोग का सदस्य,
(३) राष्ट्रीयकरण बोर्ड का अध्यक्ष।

समीक्षक बोर्ड का निर्णय उच्च शक्ति समिति के पास भेजा जाता है।

४. पाण्डुलिपि आमंत्रित करना—राजस्थान सरकार राजस्थान राजपत्र के द्वारा लेखको से पाण्डुलिपि आमंत्रित करती है। पाण्डुलिपि देने के लिए लगभग ६ महीने का समय दिया जाता है। यह पाण्डुलिपि टंकण या छपे हुए रूप मे होनी चाहिए। पाण्डुलिपि के साथ २० रु० शुल्क के रूप मे देने होते हैं। यह पाण्डुलिपि लेखक या प्रकाशक दोनो ही जमा कर सकते है।

५. पाण्डुलिपि की समीक्षा—पाण्डुलिपि लेखकों एवं प्रकाशकों से प्राप्त होने के बाद समीक्षकों के पास भेजी जाती है। प्रत्येक समीक्षक अपना अलग-अलग प्रतिवेदन देते हैं। मुख्य समीक्षक इन सभी समीक्षाओं का अध्ययन करने के बाद उनको राष्ट्रीय बोर्ड को प्रस्तुत करता है। कभी-कभी मुख्य समीक्षक की राय अन्य समीक्षकों के विचारों से भिन्न होने पर वह विस्तृत रूप में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है।

६. मुद्रण - पाण्डुलिपि के स्वीकृत होने के बाद उसकी छपाई का प्रबन्ध किया जाता है। पाठ्य-पुस्तक समिति ही मुद्रण का प्रबन्ध करती है। सरकार के पास स्वयं के प्रेस पर्याप्त न होने से पुस्तकों की छपाई के लिए प्राइवेट प्रेसों पर निर्भर रहना पड़ता है।

७. मूल्य निर्धारित करना - पाठ्य-पुस्तक का मूल्य निर्धारित करने के लिए एक समिति बनाई जाती है। राजकीय मुद्रणालय का अधीक्षक इस समिति का सदस्य होता है।

८. वितरण - पाठ्य-पुस्तक समिति पुस्तकों के वितरण के लिए निम्नलिखित उपाय काम में लाती है - (१) जिले के प्रधान कार्यालय पर स्टोर बनाना, (२) पुस्तक विक्रेताओं द्वारा (३) विद्यालयों को सीधे पुस्तकें भेजना।

पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण से उत्पन्न समस्याएँ

जिस उद्देश्य से पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण करने का निर्णय प्रान्तों ने किया, ऐसा प्रतीत होता है कि उस उद्देश्य की प्राप्ति नहीं हो रही है। राष्ट्रीयकरण होने के बाद भी पाठ्य-पुस्तकों में वे ही दोष पूर्ववत् हैं। शिक्षा शास्त्रियों का विचार है कि पाठ्य-पुस्तकों के स्तर में कोई आशातीत सुधार नहीं हुआ। राष्ट्रीयकरण से भी अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गई है

(१) अध्यापक की स्वतन्त्रता समाप्त होना– भारतवर्ष में शिक्षा के क्षेत्र में अध्यापकों को इंग्लैण्ड तथा संयुक्त राज्य अमरीका की भाँति स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। परिणामस्वरूप, भारतीय अध्यापक के पास कोई उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य न होने से स्वतन्त्र रूप से चिन्तन करने अथवा कार्य की योजना बनाने आदि की प्रेरणा प्राप्त नहीं होती है। पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण से पूर्व बोर्ड द्वारा एक विषय में तीन-चार पुस्तकें स्वीकृत की जाती थी। अध्यापक को उनमें से किसी एक उपयुक्त पुस्तक को चुनने की स्वतन्त्रता मिली हुई थी। परन्तु राष्ट्रीयकरण के बाद सरकार ने जिस पुस्तक का प्रकाशन किया है, वही अध्यापक को पढ़ानी पड़ती है। कोठारी आयोग ने अध्यापक को पाठ्य-पुस्तक का चुनाव करने की स्वतन्त्रता देने के लिए ही यह सुझाव दिया कि सरकार को भी एक विषय में तीन चार पुस्तकें प्रकाशित करनी चाहिए।

(२) राजनीतिक विचारों का प्रचार– भारतवर्ष में विभिन्न राजनीतिक दल

है। ये सभी दल अपने नियमों एवं सिद्धान्तों का प्रचार करके उनको लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न करते हैं। एक भय यह है कि जिस राजनीतिक दल के हाथ में शक्ति होगी वह पाठ्य-पुस्तकों को अपने विचारों का प्रचार करने के लिए प्रयोग में ला सकता है। इस प्रकार प्रजातन्त्र के इस सिद्धान्त का हनन हो सकता है कि छात्र में स्वतन्त्र चिन्तन की शक्ति का विकास किया जाए ताकि वह भले-बुरे की पहिचान कर सके। केरल में कम्युनिस्ट दल के हाथों में सत्ता आने पर उन्होंने पाठ्य-पुस्तकों के द्वारा छात्रों के कोमल मस्तिष्क पर कम्युनिज्म के सिद्धान्तों को थोपना आरम्भ कर दिया था।

का पाठ्य-पुस्तकें ही यथार्थ रूप में प्रस्तुत करती हैं। यह कहा भी जाता है कि साहित्य समाज का दर्पण होता है। परन्तु राष्ट्रीयकरण के बाद पाठ्य-पुस्तकें सीमित व्यक्तियों के द्वारा लिखी जाने के कारण समाज के विभिन्न दृष्टिकोणों को स्पष्टत प्रस्तुत नहीं करती हैं।

(४) **पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन में विलम्ब**—राष्ट्रीयकरण के बाद भी पाठ्य-पुस्तकें छात्रों को समय पर उपलब्ध नहीं हो पाती हैं। राजस्थान प्रान्त में ही अनेक पुस्तकें सत्र के अन्त में छात्रों को मिल पाती हैं। पुस्तकों के प्रकाशन में विलम्ब का कारण लालफीताशाही है। राष्ट्रीयकरण की इतनी लम्बी प्रक्रिया बना रखी है कि उसकी स्वीकृति अनेक विभागों से लेने के कारण प्रकाशन में विलम्ब होना स्वाभाविक ही है। प्रकाशन में विलम्ब के कुछ और भी कारण हैं, जैसे—

(१) पाठ्य-पुस्तक समिति का धन के लिए वित्त विभाग पर निर्भर रहना,

(२) कठोर नियमों के अधीन होना।

(५) **पाठ्य-पुस्तकों के वितरण की समस्या**—कभी-कभी यह होता है कि पाठ्य-पुस्तकें समय पर ही छपकर तैयार हो जाती हैं परन्तु उनके वितरण की कोई उचित विधि न होने से वे भण्डार में ही रखी रहती हैं। सरकार को इन पाठ्य-पुस्तकों के वितरण के लिए पुस्तक विक्रेताओं की सहायता लेनी पड़ती है। पुस्तक विक्रेता इन पुस्तकों की कमी बताकर छात्रों से निश्चित मूल्य से अधिक मूल्य लेकर पुस्तक देते हैं या इस शर्त पर देते हैं कि पुस्तक के साथ उनके यहाँ की छपी हुई कुञ्जी

सहायता करें।

(६) भाषा एवं मुद्रण त्रुटियों का होना—सरकार ने पाठ्य-पुस्तकों का
दिन अपने हाथ में उनका स्तर ऊँचा करने के उद्देश्य से लिया था। प्रकाशकों
प्रकाशित पुस्तकों में भाषा सम्बन्धी अशुद्धियाँ तथा मुद्रण त्रुटियाँ पाई जाती थी
सरकार द्वारा प्रकाशित पाठ्य-पुस्तकों में भी उसी प्रकार त्रुटियाँ देखने को
ती हैं। कुछ पाठ्य-पुस्तकों में विषय सामग्री का प्रस्तुतीकरण छात्रों के पूर्व-ज्ञान
उनके बौद्धिक स्तर के अनुसार नहीं है। परिणामस्वरूप, ये पुस्तकें छात्रों को
अध्ययन के लिए प्रेरित नहीं कर पाती है।

(७) पाठ्य-पुस्तक के मूल्य में कमी न होना—जिन पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण
गया उनका मूल्य प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित पुस्तकों के मूल्य से कुछ भी कम नहीं
अभिभावकों का इस क्षेत्र में निराश ही होना पड़ा। सरकार पुस्तकों की छपाई
कगत प्रेसों से करवाती है तथा सरकार कागज बाजार से खरीदती है। अतः ऐसी
में मूल्यों में कमी होना सम्भव नहीं है।

(८) लेखन प्रतिस्पर्द्धा समाप्त होना—पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण होने से
लेखकों को आघात पहुँचा है। प्रकाशक विभिन्न लेखकों से पुस्तकें लिखवाया
थे अतः लेखकगण प्रतिस्पर्द्धा के कारण उत्तम पुस्तक लिखने का प्रयास करते थे।
नवीन लेखकों को लेखन कार्य का अनुभव प्राप्त करने का अवसर प्राप्त नहीं
है। इसके साथ ही अनेक लेखकों का पुस्तक लेखन एक व्यवसाय होता है।
ीयकरण होने से ऐसे व्यक्तियों को बेकारी की समस्या का शिकार होना
है।

ट्रीयकरण को सफल बनाने के उपाय

अभी तक देश में शिक्षा-शास्त्रियों के दो वर्ग बने हुए है—एक वर्ग पाठ्य-
कों के राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध है तो दूसरा वर्ग राष्ट्रीयकरण के पक्ष में है। राष्ट्रीय-
के विरुद्ध वर्ग पुस्तकों के सम्बन्ध में संयुक्त राज्य अमरीका का उदाहरण देता
संयुक्त राज्य अमरीका तथा इंगलैण्ड की पाठ्य-पुस्तकें उच्च स्तर की मानी जाती
बकि वहाँ पर पुस्तकें प्रकाशकों के द्वारा ही प्रकाशित की जाती हैं।

दूसरा वर्ग जो कि पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में है, रूस का
हरण देता है। रूस में सभी पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है। वहाँ
ी प्रारम्भ में हमारे देश के राज्यों के सामने उठने वाली समस्याओं जैसी ही
ाइयों का सामना करना पड़ा था। कहा जाता है कि वहाँ पुस्तकें छपकर भण्डारों
सी रहती थी क्योंकि वितरण की उचित व्यवस्था नहीं थी। परन्तु धीरे-धीरे वहाँ
रकारी कर्मचारी पाठ्य-पुस्तक के व्यवसाय में प्रतिष्ठित हो गए और सभी
ाएँ समाप्त हो गईं। इस वर्ग के लोगों का कथन है कि भारत में व्यक्तिगत
को पुस्तक प्रकाशन में पर्याप्त समय दिया गया, अब राष्ट्रीयकरण की पुस्तकों
सुधारने के लिए अवसर मिलना चाहिए। राष्ट्रीयकरण को सफल बनाने के
कार को निम्नलिखित कार्य करने चाहिए

(१) सरकार को निजी प्रेस स्थापित करने चाहिए ताकि सरकार को पुस्तकों के मुद्रण के लिए व्यक्तिगत प्रेसो पर निर्भर न रहना पड़े ।

(२) पाठ्य-पुस्तकों के मूल्य में कमी करने का प्रयत्न सरकार को करना चाहिए। इसके लिए सरकार को कागज सीधा मिल से खरीदना चाहिए । इसके अतिरिक्त चित्र आदि के ब्लाक का संग्रहालय स्थापित करना चाहिए ।

(३) पाठ्य-पुस्तकों के स्तर को सुधारने के लिए सरकार को अनुसंधान केन्द्रों की स्थापना करनी चाहिए । इन अनुसंधान केन्द्रों में किये गए कार्यों के आधार पर प्राप्त सुझावों को स्वीकार करके सरकार को पाठ्य-पुस्तकों का प्रकाशन करवाना चाहिए। अनुसंधान कार्य के लिए सरकार द्वारा अध्यापकों को भी प्रोत्साहित किया जाए।

(४) पाठ्य-पुस्तकों पर लाभ प्राप्त करना सरकार का ध्येय रखते हुए सरकार को पुस्तकों के उत्पादन में 'न लाभ न हानि' के सिद्धान्त का अनुसरण करना चाहिए ।

(५) अच्छे लेखकों को पुस्तक लेखन के लिए आमंत्रित करना चाहिए । इसके लिए आवश्यक है कि सरकार लेखकों को उच्च सम्मान दे तथा अधिक पारिश्रमिक

इन पाठ्य-पुस्तक प्रकाशन
इस प्रतिनिधि मण्डल ने
उत्तम समझा जाता है और

(६) पाठ्य-पुस्तक लिखने के लिए लेखकों को अधिक समय दिया जाय । यहाँ पर पुस्तक लिखने को १ वर्ष से अधिक समय नहीं दिया जाता है जबकि रूस में लेखक को एक पुस्तक लिखने के लिए कम से कम २ वर्ष का समय तथा अधिक से अधिक ५ वर्ष का समय दिया जाता है।

(७) कुछ लेखकों द्वारा लिखी गई तथा सरकार द्वारा स्वीकृत पुस्तक छात्रों को नीरस हो सकती हैं क्योंकि छात्रों को लेखकों की लेखन शैली में विविधता नहीं मिलती है। सरकार को यह दोष दूर करने के लिए नए-नए लेखकों का चुनाव करने के लिए विभिन्न विधियाँ एवं साधन प्रयोग में लाने चाहिए ।

(८) पाठ्य-पुस्तकों का चुनाव करने की स्वतन्त्रता देने के लिए सरकार के द्वारा प्रत्येक विषय में कम से कम तीन पुस्तकें प्रकाशित की जाएँ।

(९) भारतवासी स्वतन्त्र चिंतन वाले व्यक्ति हैं । ये इतनी सरलता से किसी के विचारों से प्रभावित नहीं होते । अगर कोई राजनीतिक पार्टी पाठ्य-पुस्तकों को राजनीतिक विचारों का प्रचार करने का साधन बनाती है तो उसका तीव्र विरोध आरम्भ हो जाता है । उदाहरण के लिए, केरल में वहाँ की जनता ने पाठ्य-पुस्तकों की पुनः समीक्षा की माँग की ।

(१०) सरकार को पाठ्य-पुस्तकों के वितरण के लिए पुस्तक विक्रेताओं पर

मूल्यों का स्रोत है। धर्म से ही उत्तम चरित्र और शील निर्माण की शक्ति प्राप्त होती है। इस शक्ति का स्रोत ईश्वर के प्रति श्रद्धा तथा प्रेम है। ये सत्य, शिव, सुन्दरम् को श्रेष्ठ मानते है।

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने धर्म को समझाते हुए लिखा है कि "धर्म मूलत वह प्रक्रिया है जो हमारे सभी अनुभवो और कार्यों को भय, लोभ, लालसा तथा घृणा से शनै-शनै मुक्त करता है और पूर्णता लाकर सुन्दरता प्रदान करता है।"

श्री किलपैट्रिक ने लिखा है कि "धर्म का एक सास्कृतिक ढाँचा है जो अलौकिक तथा असाधारण से सम्बन्धो पर आधारित होता है, जैसा कि इस आस्था रखने वाले विशिष्ट व्यक्तियो द्वारा विचार किया जाता है।"

धर्म को स्पष्ट करते हुए भारत के प्रसिद्ध दार्शनिक डा० राधाकृष्णन् लिखा है कि "किन्ही मत-मतान्तर को मानना, भावनाओ को अनुभव करना व धार्मिक कृत्यो की पूर्ति करना धर्म नही है। यह तो एक परिवर्तित जीवन है।"

धर्म के मूल्य—कुछ विद्वानो ने धर्म के निम्नलिखित प्रमुख मूल्य बताये हैं

१ जीवन का संतुलित दर्शन जोकि स्वीकार करता है कि—
   (अ) मानव इस सृष्टि का ही एक अग है।
   (आ) मनुष्य एक प्राणी है जोकि अपने साथी मनुष्यो के साथ कार्य करके सभी की भलाई के लिए बहुत कुछ कर सकता है।
   (इ) मनुष्य अनन्त तक पहुँचने की क्षमता रखता है।
२. ईश्वर तथा सृष्टि के प्रति प्रेम-सम्मान का भाव रखना जिसका मनुष्य भी एक अंग है।
३ नैतिक जीवन व्यतीत करना।
४ सभी को परस्पर सहयोग एवं सहकारिता के आधार पर रहना चाहिए।
५. सतुलित जीवन जो कि अनश्वर रचनात्मक शक्तियो तथा मानव जाति के साथ सम्बन्ध की अनुभूति पर व्यतीत होता है।

धर्म के उपर्युक्त प्रमुख मूल्य हैं जिनका समझना तथा स्वीकार करके अपने जीवन मे पालन करना ही सुखी जीवन का गुरु-मन्त्र है।

धर्म तथा शिक्षा

' का शिक्षा से पुराना सम्बन्ध है। धर्म ने सदैव शिक्षा को प्रभावित दोनो ही मनुष्य के आचरण का सुधार करते है तथा उसमे आध्यात्मिक गुणो का विकास करते हैं। धर्म और शिक्षा का सम्बन्ध अभी तक एक विषय है। शिक्षा विशारदो का एक शिविर धर्म की शिक्षा के प्रतिकूल है और दूसरी ओर एक शिविर ऐसा भी है जो शिक्षा को सार्थक बनाने के

लिए उसका धर्म से संयोग करना अनिवार्य मानता है। शिक्षा तथा धर्म के सम्बन्ध को समझने के लिए आवश्यक है कि हम शिक्षा के कार्य को समझ लें। शिक्षा का एक कार्य संस्कृति की रक्षा करना भी माना जाता है। शिक्षा के द्वारा संस्कृति की समृद्धि होती है। इसके साथ ही मानव को पशु जगत् से अलग करने वाली शक्ति शिक्षा ही है। मानव को सभ्यता का पाठ सिखाया गया तथा शिक्षा ही सभ्यता का उच्चतम आदर्श स्थापित करती है। परन्तु विशेष बात यह है कि शिक्षा अपने इस धर्म का पालन तभी कर सकती है जबकि वह धर्म का सहारा ले। धर्म और शिक्षा इसलिए भी सम्बन्धित हैं क्योंकि—

१ इन दोनों का मानव जीवन से सम्बन्ध है।
२ शिक्षा तथा धर्म दोनों का लक्ष्य मानवीय मूल्यों और गुणों को विकसित करना है।
३ सामाजिक कल्याण में दोनों का सहयोग रहता है। श्रीप्रकाश समिति ने भी अपने प्रतिवेदन में लिखा है कि धर्म आज भी हमारे समाज में एक शक्तिशाली शक्ति है।
४. धर्म तथा शिक्षा दोनों ही मानव-जीवन के भौतिक व आध्यात्मिक जीवन पर प्रभाव डालते हैं।
५ धर्म एवं शिक्षा परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित होकर मानव को चरित्र की दृढ़ता तथा पारस्परिक एकता का पाठ सिखाते हैं।

शिक्षा तथा धर्म का सम्बन्ध स्पष्ट करते हुए जी० जेंटिल नामक एक इटैलियन शिक्षाविद् ने कहा है कि "राष्ट्रीय संस्कृतियों को मानसिक उच्चतर आवश्यकताएँ पूर्ण करने की जितनी अधिक आवश्यकता इस समय है, पहले कभी नहीं थी। ये मानसिक आवश्यकताएँ न केवल सौन्दर्यानुभूति तथा सूक्ष्म बौद्धिक हैं वरन् ये नैतिक तथा धार्मिक भी हैं। शिक्षा का एक उद्देश्य मनुष्य का सर्वाङ्गीण विकास करना है। सर्वाङ्गीण विकास से तात्पर्य सन्तुलित व्यक्तित्व के विकास से है। बौद्धिक तथा शारीरिक विकास के साथ ही चारित्रिक तथा नैतिक गुणों का विकास करना भी शिक्षा का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति शिक्षा तभी कर सकती है जबकि उसमें धर्म को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाय। इसी को स्पष्ट करते हुए स्पेन्स रिपोर्ट में भी लिखा है कि "किसी बालक या बालिका को तब तक पूर्णत: शिक्षित नहीं कहा जा सकता जब तक कि उसको जीवन की धार्मिक व्याख्या से अवगत न करा दिया जाय।"

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म तथा शिक्षा का घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा धर्म के बिना शिक्षा अपंग ही बनी रहती है।

धार्मिक शिक्षा के उद्देश्य

धार्मिक शिक्षा के निम्नलिखित प्रमुख उद्देश्य है

१. छात्रों में उच्च नैतिक तथा आध्यात्मिक गुण पैदा करना। रॉस ने भी लिखा है कि धर्म के बिना नैतिकता का कोई मूल्य नहीं है।

चलित जाति प्रथा को बौद्ध धर्म मे समाप्त करने का प्रयास किया गया। गण विहारो मे विद्या-दान देते थे। इन विहारो मे बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तो का छात्रो को कराया जाता था। धर्म सम्बन्धी शास्त्रो को त्रिपटक कहते थे। ां की बुद्धि व आध्यात्मिकता का विकास करना गुरुओ का कर्तव्य समझा ा था।

मध्य काल—मुस्लिम काल मे भी धर्म-शिक्षा की प्रधानता रही। मुसलमानो शिक्षा को धर्म-प्रचार का साधन बनाया था। इनके द्वारा भारतवर्ष मे मकतब मदरसे स्थापित किये गये जिनमे कुरान व इस्लाम की शिक्षा दी जाती थी। ी मुस्लिम शासको ने अपने धर्म के प्रचार के लिए अधिक प्रयास किये। मकतबों छात्रों को कुरान शरीफ की आयतें रटा दी जाती थीं।

अंग्रेजी काल—ईसाई मिशनरी—भारतवर्ष मे यूरोपियन निवासियो के मन के उपरान्त ईसाई मिशनरियो ने यहाँ पर विद्यालयो की स्थापना की। का उद्देश्य विद्यालयो मे शिक्षा द्वारा ईसाई धर्म का प्रचार करना था। भारतीय लकों को इन विद्यालयो ने बडे पैमाने पर ईसाई बनाना प्रारम्भ कर दिया। लैण्ड, जर्मनी तथा अमरीका आदि देशों के मिशनरी यहाँ आकर ईसाई धर्म का ार करते थे।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ मे शासन आने पर इसने तटस्थता की नीति नाई। कम्पनी की इस नीति का अंग्रेजों ने इंगलैण्ड मे विरोध किया।

सन् १८५४ के वुड के शिक्षा घोषणा-पत्र मे तटस्थता की नीति का समर्थन या गया। उन्होंने सिफारिश की कि विद्यालयो तथा परीक्षाओ मे धर्म शिक्षा को ई स्थान नहीं मिलना चाहिए। उन्होंने यह भी लिखा कि धर्म शिक्षा प्रदान करने ले विद्यालयों को सरकार की ओर से कोई अनुदान नहीं मिलना चाहिए।

सन् १८५८ म महारानी विक्टोरिया ने घोषणा की थी कि भारत के धार्मिक मलों मे ब्रिटिश सरकार कोई हस्तक्षेप नही करेगी। इस घोषणा से ईसाई मिश-रियों के धर्म प्रचार सम्बन्धी कार्य को धक्का लगा।

सन् १८८२ मे हन्टर आयोग की नियुक्ति की गई। इस आयोग ने भी धार्मिक क्षा के क्षेत्र मे ईसाई मिशनरियों के विरुद्ध ही सुझाव दिया। इसका सुझाव था कि सी भी सरकारी विद्यालय मे किसी धर्म विशेष की शिक्षा न दी जाकर प्रमुख र्मों के प्रमुख सिद्धान्तो की शिक्षा दी जाय।

सन् १९४४ मे केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार समिति ने धर्म को पाठ्यक्रम का निवार्य अंग बनाया। इस समिति की सन् १९४६ मे पुनः बैठक हुई जिसमे नैतिक व ाध्यात्मिक शिक्षा की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए इसे घर, समाज व विद्यालय ा उत्तरदायित्व माना।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद—सन् १९४८ में राधाकृष्णन आयोग ने पुनः धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा के प्रश्न को उठाया। इस आयोग ने इस समस्या का अध्ययन करके निम्नलिखित व्यावहारिक सुझाव दिये

१. हर विद्यालय में कार्यक्रम प्रारम्भ होने से पूर्व ५ मिनट की मौन प्रार्थना हो।

२. स्नातक कक्षा के प्रथम वर्ष में गौतम बुद्ध, शंकर, रामानुज आदि के जीवन-चरित्र व दर्शन का अध्ययन करवाया जाय।

३. स्नातक कक्षा के दूसरे वर्ष में विश्व के विभिन्न प्रमुख धर्मों के सामान्य तत्व पर लेख स्वीकृत किये जायें जिनका अध्ययन छात्रों को करवाया जाय।

४. अन्तिम वर्ष में धर्म सम्बन्धी मुख्य सिद्धान्तों का अध्ययन छात्रों को करवाया जाय।

सन् १९५० में संविधान का निर्माण हुआ जिसके अनुसार भारतवर्ष को एक धर्म-निरपेक्ष राज्य घोषित किया गया। संविधान के परिच्छेद संख्या १६, २१ और २२ में भारतवर्ष में धार्मिक शिक्षा का स्थान स्पष्ट किया गया है। यहाँ पर सभी धर्मों को समान स्थान प्राप्त है। इसीलिए कहा गया है कि राज्य द्वारा चलाये जा रहे विद्यालयों में किसी प्रकार की भी धार्मिक शिक्षा छात्रों को नहीं दी जा सकती है। परन्तु सरकारी सहायता पर चलने वाले विद्यालयों पर यह प्रतिबन्ध नहीं है। इसके साथ ही यह भी कि किसी भी विशेष धर्म की शिक्षा ग्रहण करने के लिए छात्रों को बाध्य नहीं किया जा सकता है।

सन् १९५२-५३ में माध्यमिक शिक्षा आयोग ने भी धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार किया। इस आयोग ने अपने प्रतिवेदन के १२५ पृष्ठ पर लिखा है कि "चरित्र के विकास में धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा का महत्वपूर्ण योग है।" इसने नैतिक शिक्षा सिखाने के तीन प्रमुख साधन बताये हैं

१. घर का प्रभाव,

२. स्थानीय समाज तथा विद्यालय का वातावरण,

३. शिक्षकों का आचरण।

सन् १९५९ में १७ अगस्त को केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय ने श्रीयुत श्रीप्रकाश की अध्यक्षता में धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा के लिए एक समिति की स्थापना की। इस को दो कार्य दिये गये

(अ) यह जाँच करना कि विद्यालयों में धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा पढ़ाना कहाँ तक उपयुक्त है।

(आ) शिक्षा के विभिन्न स्तरों के लिए धार्मिक शिक्षा की पाठ्य-वस्तु निर्धारित करना।

इस समिति द्वारा दिये गये सुझावों का वर्णन आगे किया गया है

र्मिक शिक्षा की आवश्यकता

आज भारत में धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा की आवश्यकता निम्नलिखित रणों से अधिक अनुभव की जाने लगी है

(१) भौतिक प्रगति के साथ आत्मिक प्रगति—आधुनिक युग में विज्ञान तथा द्योगिक विकास इतना अधिक हुआ है कि इसके कारण मानव जीवन भौतिकवादी गया है। आज हमने भौतिक उन्नति करना ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। हम वाह्य सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। हमने आत्मिक प्रगति को पूर्णत भुला दिया है। इस प्रकार के वातावरण में आध्यात्मिक मूल्य एव मान्यताएँ धिल होती जा रही हैं। आवश्यकता यह है कि दोनो मे सन्तुलन रखा जाय। इस न्तुलन को बनाने के लिए धार्मिक शिक्षा होना आवश्यक है।

(२) सामाजिक सद्गुणों का विकास—आज हम शिक्षा में सामाजिकता के कास की अधिक चर्चा करते है। प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री डीवी तो इसी कारण द्यालय को समाज का लघु रूप बनाने के लिए कहते थे। बरट्रेंड रसल का कथन कि "धर्म ही सामाजिक सद्गुणो का जन्मस्थान है।" आज हमारे देश मे व्यक्तियो स्वार्थपरता की भावना अधिक विकसित हो गई है। इस भावना के कारण ही श तथा समाज की प्रगति अवरुद्ध हो गई है। मानवीय गुणो का विकास ही छात्रो नहीं हो पाता है। धार्मिक शिक्षा के द्वारा मानवीय उदात्त गुणों का विकास किया जा सकता है।

(३) अराजकता, अशिष्टता व छात्रों की उच्छृंखलता को रोकना—देश मे आज सभी क्षेत्रों मे चाहे राज्य कर्मचारियो का क्षेत्र हो या व्यापारियो का क्षेत्र, भ्रष्टाचार तथा बेईमानी व्याप्त है। राज्य कर्मचारियों ने आज अपने कर्तव्य एवं उत्तरदायित्वों को भुला दिया है। प्रति वर्ष देश के विभिन्न भागों में छात्रों की हड़तालें होती हैं, राष्ट्रीय सम्पत्ति को हानि पहुँचाई जाती है। छात्र अपने अध्यापकों का अनादर करने में भी नहीं चूकते है। ऐसे छात्रो से जोकि कल के भावी नागरिक तथा देश के कर्णधार बनेंगे, हम देश के विकास की कैसे आशा कर सकते हैं। छात्रो को सद्गुणों, कर्त्तव्यनिष्ठा तथा पूज्यजनों के प्रति सम्मान का भाव रखने की शिक्षा देने के लिए धार्मिक शिक्षा का सहारा ले लेना ही पड़ेगा।

(४) चरित्र-निर्माण तथा जीवन के मूल्यों के विकास हेतु—छात्रों में चारित्रिक गुणों का विकास करने के लिए धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा देने की व्यवस्था विद्यालयों में होनी चाहिए। यह सत्य ही है कि जब किसी व्यक्ति का चारित्रिक पतन हो जाता है तो उसका सर्वनाश हो जाता है। हर्बार्ट के मतानुसार छात्रों को इस प्रकार की

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद—सन् १९४८ में राधाकृष्णन आयोग ने पुन: धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा के प्रश्न को उठाया। इस आयोग ने इस समस्या का अध्ययन करके निम्नलिखित व्यावहारिक सुझाव दिये

१ हर विद्यालय में कार्यक्रम प्रारम्भ होने से पूर्व ५ मिनट की मौन प्रार्थना हो।

२ स्नातक कक्षा के प्रथम वर्ष में गौतम बुद्ध, शंकर, रामानुज आदि के जीवन-चरित्र व दर्शन का अध्ययन करवाया जाय।

३ स्नातक कक्षा के दूसरे वर्ष में विश्व के विभिन्न प्रमुख धर्मों के सामान्य तत्त्व पर नेम स्वीकृत किये जायें जिनका अध्ययन छात्रों को करवाया जाय।

४ अन्तिम वर्ष में धर्म सम्बन्धी मुख्य सिद्धान्तों का अध्ययन छात्रों को करवाया जाय।

सन् १९५० में संविधान का निर्माण हुआ जिसके अनुसार भारतवर्ष को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया गया। संविधान के परिच्छेद संख्या १९, २१ और २८ में भारतवर्ष में धार्मिक शिक्षा का स्थान स्पष्ट किया गया है। यहाँ पर सभी धर्मों को समान स्थान प्राप्त है। इसीलिए कहा गया है कि राज्य द्वारा चलाये जा रहे विद्यालयों में किसी प्रकार की भी धार्मिक शिक्षा छात्रों को नहीं दी जा सकती परन्तु सरकारी सहायता पर चलने वाले विद्यालयों पर यह प्रतिबन्ध नहीं है। साथ ही यह भी कि किसी भी विशेष धर्म की शिक्षा ग्रहण करने के लिए छात्रों को बाध्य नहीं किया जा सकता है।

सन् १९५२-५३ में माध्यमिक शिक्षा आयोग ने भी धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार किया। इस आयोग ने अपने प्रतिवेदन के १२५ पृष्ठ पर लिखा है "चरित्र के विकास में धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा का महत्त्वपूर्ण योग है।" नैतिक शिक्षा सिखाने के तीन प्रमुख साधन बताये हैं

१ घर का प्रभाव,

२ स्थानीय समाज तथा विद्यालय का वातावरण,

३ शिक्षकों का आचरण।

सन् १९५९ में १७ अगस्त को केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय ने श्रीयुत श्रीप्रकाश की अध्यक्षता में धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा के लिए एक समिति की स्थापना की। इस समिति को दो कार्य दिये गये—

(अ) यह जाँच करना कि विद्यालयों में धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा कहाँ तक उपयुक्त है।

तथा धार्मिक अभिवृत्तियों को शक्तिवान बना सके। इस पाठ्यक्रम के निम्नलिखित कार्य हों

(अ) सार्वभौमिक तत्वों पर बल देना, (आ) ईश्वर के प्रति प्रेम तथा सम्मान एवं मित्रता का भाव पैदा करना, (इ) अच्छे तथा श्रेष्ठ व्यक्ति के प्रति वफादारी, भक्तिभाव तथा उसकी सहायता करने को तैयार रहना।

(३) सभी क्रियाएँ धार्मिक दृष्टिकोण प्रदर्शित करती हों। छात्रों का एक दूसरे के साथ अच्छा व्यवहार हो तथा छात्रों के अपने घर पर तथा समाज में किये जा रहे व्यवहार में सच्चे मूल्य पाये जाते हों। विद्यालय की प्रत्येक क्रिया छात्रों को नैतिकता का पाठ सिखाने वाली हो।

श्रीप्रकाश समिति ने भी धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा के लिए व्यावहारिक सुझाव दिये हैं

१ जन-शिक्षा के प्रसार द्वारा घर की उचित व्यवस्था की चेष्टा की जाय क्योंकि सभी शैक्षिक कार्यक्रमों में घर के महत्त्व पर उचित ध्यान देना आवश्यक है।
२ राधाकृष्णन आयोग के इस सुझाव में सहमति प्रकट करना कि सभी विद्यालयों का कार्य कुछ मिनटों की शान्त प्रार्थना से प्रारम्भ हो।
३ प्राथमिक कक्षाओं से लेकर विश्वविद्यालय तक के लिए उचित पुस्तक तैयार की जाएँ। इनमें प्रत्येक धर्म के मूल सिद्धान्तों व प्रत्येक धर्म के प्रमुख प्रवर्तक की जीवन-गाथा का वर्णन हो।
४ शिष्टाचार के गुणों को प्रोत्साहन दिया जाय।
५ सहगामी क्रियाओं को प्रोत्साहन दिया जाय।

समिति द्वारा विभिन्न स्तर पर सुझाव

प्राथमिक स्तर पर

(१) सामूहिक गान, (२) धार्मिक नेताओं से सम्बन्धित रोचक, सरल कहानियाँ, (३) दृश्य-श्रव्य सामग्री की प्रदर्शनी जो मुख्य धर्मों से सम्बन्धित हों, (४) सप्ताह में दो घण्टे नैतिक शिक्षा को दिये जाएँ, (५) शारीरिक शिक्षा का कार्यक्रम हो।

माध्यमिक स्तर पर

(१) प्रातःकाल प्रार्थना सभा हो, (२) धर्म के आवश्यक तत्वों का अध्ययन पाठ्यक्रम का ही अंग मानकर हो, (३) महान् नेताओं को व्याख्यान के लिए आमन्त्रित किया जाय, (४) सभी धर्मों के मुख्य त्यौहारों का समारोह मनाया जाय, (५) छुट्टियों में संगठित समाज-सेवा हो।

विश्वविद्यालय स्तर पर

(१) मौन ध्यान तथा शान्त चिन्तन; (२) विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन, (३) समाज-सेवा का भाव पैदा किया जाय।

शिक्षा दी जाय जिसमें उनके मन की बुरी प्रवृत्तियाँ क्षीण हो जाएँ तथा अच्छी प्रवृत्तियाँ निर्मित हो सके। परन्तु केवल चारित्रिक गुणों के निर्माण की ओर ही ध्यान देने से उत्पन्न बुराई को ओर ध्यान आकर्षित करते हुए डा० राधाकृष्णन ने कहा है कि "जीवन के मूल्यों एवं आदर्शों के ज्ञान के बिना चारित्रिक गुण समाज की उन्नति के स्थान पर विनाश भी कर सकते है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि छात्रों को चारित्रिक गुणों की जीवन में उपयोगिता तथा जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में उनको प्रयोग में लाने का ज्ञान देना भी अति आवश्यक है।" यह कार्य धार्मिक शिक्षा द्वारा सम्भव है।

(५) धर्म भारतीय संस्कार और जीवन का एक अंग—भारतवर्ष एक धर्म-प्रधान देश रहा है। यहाँ के संस्कार तथा मानव जीवन सदैव धर्म से प्रभावित होते रहे हैं। जन-जीवन को आन्दोलित करने में धर्म का हाथ रहा है। विद्यालयों को जीवन का प्रतिबिम्ब माना जाता है। अत बिना धर्म शिक्षा के ये संस्थाएँ अधूरी ही मानी जायेगी।

विद्यालयो मे धार्मिक शिक्षा का रूप

भारतवर्ष की धर्म-निरपेक्षिता के कारण आज यह निश्चित करना एक कठिन समस्या हो गई है कि विद्यालयों में छात्रों को दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा का स्वरूप क्या हो। इसके सम्बन्ध में विचार करने पर ज्ञात होता है कि धार्मिक शिक्षा देने के अवसर निम्नलिखित वर्गों में आते हैं

(१) भक्ति या उपासना के घण्टे—यह कहा जाता है कि बिना पूजा के धर्म दर्शन मात्र ही रह जाता है। धर्म केवल आचार सम्बन्धी विज्ञान, दर्शन या संस्कृति ही नही है परन्तु व्यक्ति का ईश्वर के साथ सम्बन्ध भी धर्म ही है। यह वफादारी का पाठ सिखाता है। अत इसका सम्बन्ध संवेग तथा इच्छा से होता है। पूजा का पाठ उदाहरण तथा उसमें भाग लेने से ही सिखाया जा सकता है। आन्तरिक अनुभव के बिना पूजा औपचारिकता मात्र है। विभिन्न धर्मों के व्यक्ति एक उपासना तभी कर सकते है जबकि उपासना की सामग्री विस्तृत तथा सार्वभौमिक हो। पूजा या उपासना का एक साधन प्रतिदिन की सामूहिक प्रार्थना भी है। जब सभी शान्तिपूर्वक एकत्रित हो तो एकता की भावना पैदा होती है। हुमायूँ कबीर ने भी एक स्थान पर लिखा है कि जिन विद्यालयों मे प्रार्थना सभाएँ होती हैं उनमे अनुशासन अधिक पाया जाता है तथा छात्रों में परस्पर मैत्री भाव भी अधिक होता है।

(२) कक्षा मे एक विशेष विषय- यह निश्चित करना कठिन हो रहा है कि विद्यालयों में विभिन्न धर्मावलम्बी छात्रों के लिए धर्म को कैसे एक विषय का रूप दिया जाय। विद्वानों का मत है कि धर्म का अध्यापन एक विषय के रूप में सफल बनाने के लिए आवश्यक है कि अध्यापक विस्तृत दृष्टिकोण वाले हो। धर्म का पाठ्य-क्रम बनाते समय यह ध्यान रखा जाय कि पाठ्यक्रम का उद्देश्य सामाजिक, नैतिक

तथा धार्मिक अभिवृत्तियों को शक्तिवान बना सके। इस पाठ्यक्रम के निम्नलिखित कार्य हों

(अ) सार्वभौमिक तत्वों पर बल देना, (आ) ईश्वर के प्रति प्रेम तथा सम्मान एवं मित्रता का भाव पैदा करना, (इ) अच्छे तथा श्रेष्ठ व्यक्ति के प्रति वफादारी, भक्तिभाव तथा उसकी सहायता करने को तैयार रहना।

(३) सभी क्रियाएँ धार्मिक दृष्टिकोण प्रदर्शित करती हों। छात्रों का एक दूसरे के साथ अच्छा व्यवहार हो तथा छात्रों के अपने घर पर तथा समाज में किये जा रहे व्यवहार में सच्चे मूल्य पाये जाते हों। विद्यालय की प्रत्येक क्रिया छात्रों को नैतिकता का पाठ सिखाने वाली हो।

श्रीप्रकाश समिति ने भी धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा के लिए व्यावहारिक सुझाव दिये हैं

१ जन-शिक्षा के प्रसार द्वारा घर की उचित व्यवस्था की चेष्टा की जाय क्योंकि सभी शैक्षिक कार्यक्रमों में घर के महत्व पर उचित ध्यान देना आवश्यक है।
२ राधाकृष्णन आयोग के इस सुझाव में सहमति प्रकट करना कि सभी विद्यालयों का कार्य कुछ मिनटों की शान्त प्रार्थना से प्रारम्भ हो।
३ प्राथमिक कक्षाओं से लेकर विश्वविद्यालय तक के लिए उचित पुस्तकें तैयार की जाएँ। इनमें प्रत्येक धर्म के मूल सिद्धान्तों व प्रत्येक धर्म के प्रमुख प्रवर्तक की जीवन-गाथा का वर्णन हो।
४ शिष्टाचार के गुणों को प्रोत्साहन दिया जाय।
५ सहगामी क्रियाओं को प्रोत्साहन दिया जाय।

समिति द्वारा विभिन्न स्तर पर सुझाव

प्राथमिक स्तर पर

(१) सामूहिक गान, (२) धार्मिक नेताओं से सम्बन्धित रोचक, सरल कहानियाँ, (३) दृश्य-श्रव्य सामग्री की प्रदर्शनी जो मुख्य धर्मों से सम्बन्धित हों, (४) सप्ताह में दो घण्टे नैतिक शिक्षा को दिये जाएँ, (५) शारीरिक शिक्षा का कार्यक्रम हो।

माध्यमिक स्तर पर

(१) प्रातःकाल प्रार्थना सभा हो, (२) धर्म के आवश्यक तत्वों का अध्ययन पाठ्यक्रम का ही अंग मानकर हो, (३) महान् नेताओं का व्याख्यान के लिए आमन्त्रित किया जाय, (४) सभी धर्मों के मुख्य त्यौहारों का समारोह मनाया जाय, (५) छुट्टियों में संगठित समाज-सेवा हो।

विश्वविद्यालय स्तर पर

(१) मौन ध्यान तथा शान्त चिन्तन, (२) विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन, (३) समाज-सेवा का भाव पैदा किया जाय।

संकुचित धार्मिक शिक्षा हानिकारक — यह ध्यान देने की बात है कि धार्मिक शिक्षा संकुचित न हो क्योंकि वह निम्नलिखित हानियाँ पहुँचा सकती है :

१ संकुचित धार्मिक शिक्षा छात्रों में संकुचित मनोवृत्ति तथा संकीर्ण हित पैदा करती है।
२ इस प्रकार की शिक्षा राष्ट्रीय एकता को हानि पहुँचाती है।
३ यह मनुष्य के वास्तविक ज्ञान तथा अलौकिक संसार के मध्य गहरी खाई पैदा कर सकती है।
४ रूढ़िवादी धर्म छात्रों में अन्धविश्वासजनक दृष्टिकोण पैदा करता है।

सावधानियाँ — धर्म-निरपेक्ष राज्य में धार्मिक शिक्षा देने में कुछ कठिनाइयाँ आ सकती हैं परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि देश में नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा की ओर ध्यान ही नहीं दिया जाय। डा० राधाकृष्णन ने भी कहा है "कि धर्म-निरपेक्ष राज्य का अर्थ अधार्मिक नहीं है। यह आवश्यक है कि कुछ सावधानी अवश्य रखी जायँ।"

१. सबको सरल धार्मिक शिक्षा दी जाय। १६ जुलाई, सन् १९३८ के 'हरिजन' में गांधीजी ने लिखा था कि आचरण सम्बन्धी आधारभूत सिद्धान्त सभी धर्मों में समान हैं तथा ये अवश्य बच्चों को सिखाये जाने चाहिए।
२ पाठ्य-सहगामी क्रियाओं में अपने आप धार्मिक शिक्षा का अभ्यास करने का अवसर छात्रों को दिया जाय।
३ धार्मिक शिक्षा देने में अध्यापकों में सहनशीलता, विस्तृत भावना तथा विशाल-हृदयता होनी चाहिए।
४ धार्मिक शिक्षा की विधि तथा विषय स्तर के अनुसार होने चाहिए।

नैतिक शिक्षा

नैतिक शिक्षा के सम्बन्ध में अभी तक यह विवाद का विषय बना हुआ है कि इसको सीधे कक्षाओं में सिखाया जा सकता है या नहीं। हरबर्ट के शिक्षा विधि तथा मनोविज्ञान का यह परिणाम हुआ कि १६वीं शताब्दी के अन्त में यूरोप तथा ...रिका में नैतिक शिक्षा-आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इस ... नैतिक शिक्षा का पढ़ाना आरम्भ हो गया। परन्तु फ्रोबेल ने इस प्रत्यक्ष ... का विरोध किया। उसने कहा कि "बालकों को नैतिक आचरण की शिक्षा ...रूप में दी जाती चाहिए।" इसके लिए आवश्यक है कि छात्रों को नैतिकतापूर्ण ...वरण में रखा जाय। प्रत्यक्ष विधि का विरोध निम्नलिखित कारणों से ...या गया

१ प्रत्यक्ष विधि द्वारा छात्रों को सैद्धान्तिक ज्ञान दिया जा सकता है, उनको व्यावहारिक ज्ञान नहीं दिया जा सकता है। नैतिक भावों का

ज्ञान समाज के सम्पर्क में आने से प्राप्त होता है। अनुभव उस ज्ञान में वृद्धि करते हैं तथा क्रियाएँ उस ज्ञान को स्थायी बनाती हैं।

२. नैतिकता की आवश्यकता किसी एक निश्चित अवसर पर ही नहीं पड़ती है। जीवन के प्रत्येक अंग में नैतिकता की आवश्यकता है। इसकी पूर्ति कक्षा में एक घण्टा पढ़ा देने से ही नहीं हो सकती है।

कुछ भी हो, सभी एक बात से तो सहमत हैं कि नैतिकता का छात्रों में विकास करना शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का विकास करना शिक्षा का उद्देश्य रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति विद्यालय तथा घर दोनों ही मिलकर कर सकते हैं। आज परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियों में नैतिक शिक्षा की आवश्यकता पहले से अधिक बढ़ गई है। नैतिक शिक्षा की आवश्यकता निम्नलिखित कारणों से है

१ राजनीतिक जीवन में हो रहे विकासों ने व्यक्ति की नागरिक कर्तव्यों की भावना को कमजोर बना दिया है। आज के राजनीतिक नेताओं में स्वार्थपरता तथा भ्रष्टाचार अधिक बढ़ गया है। उनका ही अनुकरण जनसाधारण कर रहा है।

२. देश में औद्योगिक विकास हो रहे हैं। इस औद्योगिक समाज की कार्य की दशाओं ने व्यक्तिगत उत्तरदायित्व की भावना को कम कर दिया है। प्रत्येक कर्मचारी एक-दूसरे पर दोषारोपण करता है।

३. देश में हो रहे औद्योगिक विकास तथा राजकीय संगठन की जटिलता में व्यक्ति का अस्तित्व खो सा गया है।

४. परिवार में अनेक परिवर्तन हो रहे हैं। बच्चों के अभिभावक कमाने में लगे रहते हैं। परिणामस्वरूप, उनका अपने बच्चों पर नियन्त्रण कम हो गया है। माता-पिता अपने बच्चों को प्यार, स्नेह, निर्देशन, सुरक्षा आदि नहीं प्रदान कर पाते हैं।

५. चलचित्रों का प्रचलन बढ़ गया है। प्रचार में काम भावना पर अधिक जोर दिया जाता है। चलचित्र तथा रंगमंचों पर कामोत्तेजक अभिनय अधिक होने लगे हैं।

६ अन्तरराष्ट्रीय तनाव बढ़ रहा है। शीतयुद्ध विभिन्न देशों के मध्य चल रहा है।

७ मशीनों का अधिक प्रयोग होने से कर्मचारियों के अवकाश के समय में वृद्धि हुई है। इस अवकाश के समय का सदुपयोग करने की समस्या बढ़ गई है।

उपर्युक्त सभी कारणों से आज हमारे देश में नैतिक शिक्षा की आवश्यकता बढ़ गयी है। आवश्यकता इस बात की है कि छात्रों को नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का ज्ञान करवाया जाय। नैतिक शिक्षा के लिए निम्नलिखित कार्यक्रम उपयोगी हो सकता है

१ नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्य विद्यालय के उद्देश्य घोषित किये जायें। इन मूल्यों को निश्चित करने के लिए अध्यापक-अभिभावक सघ, विद्यालय तथा समाज की काउन्सिल आदि की मीटिंग होनी चाहिए।

२ अध्यापकों को प्रशिक्षण काल में नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों से अवगत कराया जाये। इसके लिए प्रशिक्षण पाठ्यक्रम में इन मूल्यों को सम्मिलित किया जाय। अध्यापक की नियुक्ति में चरित्र पर विशेष ध्यान दिया जाय।

३ नैतिक मूल्यों की शिक्षा देने के लिए विद्यालय के सभी साधनों का प्रयोग होना चाहिए।

(अ) अनुभव तथा उदाहरण यह विद्यालय तथा अध्यापक मण्डल द्वारा प्रस्तुत किया जायगा।

(आ) क्लब—नाटक, वाक्य प्रतियोगिता, सगीत क्लब आदि नैतिकता के विकास के लिए अवसर प्रदान करते हैं।

(इ) साहित्य तथा कला नैतिक मूल्यों को सिखाने का अच्छा अवसर प्रदान करते है।

(ई) खेल-कूद से छात्रों में साथी तथा समानता का भाव विकसित होता है।

धर्म तथा नैतिक शिक्षा को अलग-अलग नही देखना चाहिए। प्रसिद्ध शिक्षा-विद् रायबर्न ने लिखा है कि नैतिकता को धर्म से सम्बन्धित किए बिना इसकी शिक्षा देना असम्भव है। वास्तव में धर्म के सिद्धान्त नैतिकतापूर्ण चरित्र को अपनाने को प्रेरणा प्रदान करते है। अत इन दोनों को समन्वित रूप में सिखाना चाहिए।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. मुदालियर आयोग ने धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा के सम्बन्ध में क्या सुझाव दिये है ?

२ धर्म-निरपेक्ष राज्य में धार्मिक शिक्षा देने में क्या कठिनाइयाँ सामने आती है ?

३ "नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा एक-दूसरे से पृथक् नही की जा सकती है।" इस पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

४ भारतवर्ष की वर्तमान परिस्थितियों में धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा की आवश्यकता पर प्रकाश डालिए।

राजस्थान विश्वविद्यालय की बी० एड० परीक्षा में पूछे गये प्रश्न

1. "This brings me to the third element in Nehru's philosophy, namely, his moralism His morality hinges round two central ideas the notion of duty, and the idea of humanity "

(S K Pandover)

" . The ideologies' only message to the individual is that he should find his salvation in identifying his personal interests with the common weal, and this is cold comfort for odinary mortals in trouble, and gives him no practical help of the kind offered him by Religion This alone is sufficient to show that Religion cannot be written off as absolete . '

(Arnold Toynbee)

Suggest a workable system of imparting moral and religious education in India so as to realise both the ideals referred to above (1962)

2. (a) Suppose we define morality as doing to others as we like to be done by Do you think whether precept or example or both can inculcate morality in your students ?

Give three examples of how morality can be taught to the children and three more examples of how morality can be caught by them

Also show how religion can be of use in fostering morality.

Or

(b) Suppose that we define religion as the emotional relationship of the finite with the finite. Do you think whether this relationship—

(i) must be clear before it is acquired ?

(ii) must be taken up even vaguely at first, and may be clearer in due course ?

(iii) is disruptive of scientific attitude and should be tabooed ?

(iv) stimulates intellectual growth and should be fostered ?

(v) has no relationship with the intellectual growth or

scientific attitude and should be ignored by the teacher ?

Give your answer in not more than five words and if your reply to question (iii) is—

(a) in affirmative, establish your views with historical facts and reasoning, or (b) in the negative, build up a positive programme, which may be non-sectarian, for your students in order to foster their relationship with God. You are free to choose the age-group of your students (1964)

3 Write short notes—

(b) Religious education in a secular State (1963)

4 Analyse the problem of providing religious and moral education in our schools and formulate the line of action that you would like to adopt in your school in regard to this issue (1965)

५ यदि आप नैतिक शिक्षण को माध्यमिक शिक्षा के कार्यक्रम एवं पाठ्यक्रम में शामिल करना चाहते हैं, तो इस शिक्षण का सर्वोत्तम रूप क्या होना चाहिए ? (१९६६)

६ क्या आप नैतिक शिक्षा के अभाव को छात्रों में अनुशासन को क्षति पहुँचाने के लिए उत्तरदायी समझते हैं ? अपने उत्तर को स्पष्ट कीजिए। (१९६७)

अध्याय १४

भारत में शैक्षिक प्रशासन की समस्याएँ

महत्त्व

शिक्षा के अन्य विभिन्न अंगों की ओर अभी तक जितना अधिक ध्यान दिया गया है, उतना शैक्षिक प्रशासन की ओर नहीं दिया गया। शिक्षा शास्त्र, मनोविज्ञान, शिक्षण प्रविधि आदि अंग विशेषज्ञता की अपेक्षा रखते हैं परन्तु शिक्षा का प्रशासन हरएक चला सकता है - यह विचार ही प्रबल रहा है। सरकारी प्रशासन में शिक्षा विभाग का भी महत्त्व कम ही रहा है। आज भी शिक्षा विभाग में काम करने के लिए कोई भी अधिकारी भेज दिया जाता है। इस विचार का विश्लेषण करते हुए श्री मध्यदेन ने कहा है कि प्रकृति हरएक मदें-गर्द व्यक्ति को प्रशासन के योग्य नहीं बनाती। विशेष रूप से शैक्षिक प्रशासन के काम को चलाना एक कठिन कार्य है। शैक्षिक प्रशासक एक साधारण नौकरशाही प्रवृत्ति वाला मनुष्य नहीं हो सकता, वह एक अधिकारी से कहीं अधिक प्रभावशाली और उच्चकोटि के व्यक्तित्ववाला मनुष्य होता है क्योंकि उसमें कुछ विशेष गुण होते हैं, जैसे व्यावहारिकता, सूझ-बूझ, मनुष्यों को परखने की योग्यता, बौद्धिक तथा नैतिक गुण, अन्तर्दृष्टि और दूरदर्शिता आदि। इन गुणों से युक्त अधिकारी ही शैक्षिक प्रशासन को चला सकता है। यदि शैक्षिक प्रशासक अच्छा नहीं है, तो शिक्षा के क्षेत्र में अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

शैक्षिक प्रशासक के व्यक्तित्व से परे, हमें कुछ उन बातों की ओर भी ध्यान देना चाहिए जो शैक्षिक प्रशासन में सम्बन्ध रखती है। शैक्षिक प्रशासन एक जटिल प्रक्रिया है। बहुत से शिक्षाधिकारी और सामान्यजन इस बात को नहीं समझते। उनके मत में, दफ्तर जाना, एक अलग कमरे में बैठकर अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को आदेश देना, जरूरी कागजातों पर हस्ताक्षर करना और फाइलों की जाँच करना ही शैक्षिक प्रशासन है। वास्तव में ऐसा नहीं है। शैक्षिक प्रशासन की प्रक्रिया के

अन्तर्गत बहुत से काम आ जाते है, जिनकी जानकारी के बिना प्रशासन का काम अच्छी तरह नही चलाया जा सकता। वे कार्य है--नियोजन (Planning), संगठन, (Organization), कर्मचारी वर्ग की नियुक्ति व उनसे काम लेना (Staffing), निर्देशन (Directing), समायोजन (Co-ordinating), प्रतिवेदन (Reporting) और अर्थ-व्यवस्था (Budgetting)। एक सफल शिक्षाधिकारी को प्रशासन कार्य चलाने के लिए इन सभी बातो की ओर अच्छी तरह ध्यान देना पड़ता है। आज भारतीय शिक्षा के प्रशासनिक कार्य मे बहुत सी अड़चने केवल इसलिए पैदा हो गई है कि हमारे पास कुशल प्रशासक नही है, जो शैक्षिक प्रशासन के कार्य को समझते हो।

श्री एस० एन० मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'Administration of Education in India' की भूमिका मे लिखा है कि स्वतन्त्रता के बाद भारतीय शिक्षा के क्षेत्र मे मात्रात्मक और गुणात्मक वृद्धि इतनी तेजी से हुई है कि रोकथाम और उचित दिशा की दृष्टि से शैक्षिक प्रशासन का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। वे लिखते है कि "यह बात अच्छी तरह समझ ली जानी चाहिए कि शिक्षा के पुनर्निर्माण की किसी भी योजना मे जो विभिन्न प्रकार की शिक्षा संस्थाओ का एक बड़े पैमाने पर विकास करना चाहती हो, उस शैक्षिक प्रशासन तंत्र पर ध्यान रखना जरूरी है जो शिक्षा के विस्तार और प्रसार के लिए जिम्मेदार है।" कहने का तात्पर्य यह है कि इस देश मे शिक्षा को समर्थ बनाने और उसका उचित लाभ दिलाने के लिए शैक्षिक प्रशासन को उचित सम्मान और महत्त्व देना होगा।

भारतीय शैक्षिक प्रशासन की रूपरेखा

संवैधानिक महत्व-- भारतीय शैक्षिक प्रशासन का स्वरूप बड़ा जटिल है। इस जटिलता का मूल कारण यह है कि भारतीय संविधान मे शिक्षा की स्थिति अनिश्चित है। जिस समय संविधान बनाया जा रहा था, संविधान बनाने वालो ने शिक्षा के महत्त्व को उस रूप मे नही स्वीकार किया, जिस प्रकार किया जाना चाहिए था। इसके कुछ ऐतिहासिक कारण भी थे। अंग्रेजो ने अपने शासन काल मे सन् १९२१ और १९३५ के कानून द्वारा शिक्षा का विषय प्रान्तो (अब राज्य) को सौंप दिया था। संविधान मे उसी स्थिति को कुछ हेर-फेर के साथ स्वीकार कर लिया गया। संविधान की सातवीं अनुसूची (Schedule) मे शिक्षा को तीन सूचियो मे शामिल कर दिया गया। वे है केन्द्र सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची। शिक्षा इन तीनो सूचियो के अनुसार कई सत्ताओ के कार्य क्षेत्र मे शामिल हो गयी और इन के बीच साझेदारी के कारण कोई भी सत्ता शिक्षा की पूरी जिम्मेदारी अपने नही लेना चाहती। यही कारण है कि भारतीय शिक्षा सबसे अधिक उपेक्षित विषय है।

भारतीय शैक्षिक प्रशासन का अध्ययन करने वालो को उपर्युक्त तीनो सूचियो की पूरी जानकारी कराने के लिए उनका विवरण हम नीचे दे रहे है।

संघ (केंद्र) सूची—इस सूची में बनारस विश्वविद्यालय, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय तथा राष्ट्रीय महत्व की अन्य शिक्षा संस्थाएँ जिन्हें लोक सभा की मान्यता मिल जाय, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शिक्षा की संस्थाएँ जिन्हें भारत सरकार पूर्ण तथा आंशिक आर्थिक सहायता देती हो और जिन्हें लोक सभा राजनियम बनाकर राष्ट्रीय महत्व का करार देती हो, संघीय संस्थाएँ जो पेशेवर, व्यावसायिक तथा तकनीकी प्रशिक्षण देती हो, जैसे पुलिस अफसरों का प्रशिक्षण, या जो विशेष अध्ययन और शोध के लिए बनी हों या जो अपराध की जाँच और अन्वेषण में सहायक हो, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शिक्षा संस्थाओं और उच्च तथा शोध की संस्थाओं में समायोजन कार्य शामिल हैं।

राज्य सूची—इस सूची में उन संस्थाओं को छोड़कर जो संघ सूची में उल्लिखित है, सारी शिक्षा जिसमें विश्वविद्यालय की शिक्षा सम्मिलित है, दी गयी है।

समवर्ती सूची— इस सूची में वे संस्थाएं हैं जिनका सम्बन्ध आवारागर्दी, पागलपन, बौद्धिक अक्षमता तथा श्रमिकों की व्यावसायिक तथा प्राविधिक शिक्षा से है।

इन सूचियों के अतिरिक्त संविधान में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है कि भारत सरकार शिक्षा के राष्ट्रीय नियोजन, अन्य देशों के साथ शैक्षिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों, विश्व संघ और यूनेस्को में भाग, शिक्षा सम्बन्धी नयी सूचनाओं तथा विचारों के एकत्रीकरण तथा प्रचार, संघ क्षेत्रों की शिक्षा, हिन्दी की शिक्षा तथा छात्र वृत्तियों के लिए जिम्मेदार है।

संविधान में शिक्षा की इस स्थिति के कारण शिक्षा के प्रशासन में वह चुस्ती नहीं रह पाती जो होनी चाहिए। राज्य और संघ दोनों अपनी जिम्मेदारी का निर्वाह नहीं कर पाते। एक दोष यह भी पैदा हो गया है कि शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में समायोजन नहीं रहा। कहीं तो अत्यधिक धन का व्यय हो रहा है, तो किसी क्षेत्र की उपेक्षा हो रही है। बहुत सी समस्याएं ऐसी है जो अब तक उपेक्षित पड़ी है। उदाहरण के रूप में अध्यापकों के समान वेतन-क्रम की समस्या है। संघ सरकार एक सीमा के बाद आर्थिक अनुदान नहीं देना चाहती और राज्य सरकारें धन एकत्र करने में अपनी असमर्थता प्रकट करती हैं और अध्यापक इन दोनों पाटों के बीच पिस रहे है। इसी प्रकार अनेक सुधार कार्यान्वित नहीं हो पा रहे हैं। शिक्षा आयोगों और समितियों की संस्तुतियों पर कोई भी सत्ता अमल नहीं करती है।

केन्द्रीय शैक्षिक प्रशासन का विवरण— केन्द्रीय शैक्षिक प्रशासन शिक्षा मंत्रालय और वैज्ञानिक शोध एवं सांस्कृतिक क्रिया-कलाप मंत्रालय द्वारा चलता है। शिक्षा-मंत्रालय के संगठन के सम्बन्ध में निम्न बातें ज्ञातव्य है

शिक्षा मंत्रालय का संवैधानिक मालिक शिक्षा मंत्री है। उसके साथ एक उपमंत्री तथा एक राज्य मंत्री है। इस मंत्रालय का शैक्षिक सचिव ही प्रशासनिक स्तर पर सर्वोच्च अधिकारी है और वह सभी प्रशासनिक मामलों में भारत सरकार

का शैक्षिक सलाहकार माना जाता है। मंत्रालय में दो संयुक्त
शिक्षा का सलाहकार भी शामिल है। शिक्षा मंत्रालय के
(विभाग) है

१ प्रशासनिक विभाग
२ प्रारम्भिक और बुनियादी शिक्षा विभाग
३ माध्यमिक शिक्षा विभाग
४ यूनेस्को और उच्च शिक्षा विभाग
५ सामाजिक शिक्षा और समाज कल्याण विभाग
६ छात्रवृत्ति विभाग
७ शारीरिक शिक्षा और मनोरंजन विभाग
८ हिन्दी विभाग
९ शोध और प्रकाशन विभाग।

इनके अतिरिक्त शिक्षा मंत्रालय में दो यूनिटें भी हैं। ... समायोजन यूनिट (Plan Co-ordination Unit) जिसका काम पंचव... के अन्तर्गत निर्धारित शैक्षिक कार्यों पर ध्यान रखना है। दूसरा है- ...वि... यूनिट (Special Reorganization Unit) जिसका काम शिक्षा ... प्रशासनिक क्षमता पर नजर रखना है और विभिन्न विभागों के पुनर्गठ... सिफारिश करना है।

हर विभाग का एक अध्यक्ष होता है जो एक प्रकार से शैक्षिक ... सहायक होता है। उनका पद उपसचिव के समकक्ष होता है। शिक्षा मंत्राल... अधिकारी सहायक शिक्षा सलाहकार, शिक्षाधिकारी, अंडर सेक्रेट्री, सहा... अधिकारी, प्रशासनिक अधिकारी, उपविभाग अधिकारी, कार्यालय ... कहलाते हैं।

वैज्ञानिक शोध एवं सांस्कृतिक क्रिया-कलाप मंत्रालय का काम ६ वि...
बँटा है

१ प्रशासन विभाग
२ वैज्ञानिक शोध विभाग
३ प्राविधिक विभाग
४ सांस्कृतिक विभाग
५ विदेश सम्पर्क विभाग
६ सांस्कृतिक छात्रवृत्ति तथा प्रकाशन विभाग।

इस मंत्रालय का प्रमुख कार्य तकनीकी शिक्षा की व्यवस्था करना है ... चार कार्यालय कानपुर, कलकत्ता, मद्रास और बम्बई जैसे बड़े ...
स्थित है।

शिक्षा मंत्रालय में सम्बद्ध कार्यालयों की संख्या तीन है। वे है—डायरेक्टोरेट ऑफ एक्सटेंशन प्रोग्राम फॉर सेकेण्ड्री एजूकेशन, सेन्ट्रल हिन्दी डायरेक्टोरेट और सोशल वेलफेयर एण्ड रीहैबिलिटेशन डायरेक्टोरेट।

राज्य शैक्षिक प्रशासन का विवरण—विभिन्न राज्यों में शैक्षिक प्रशासन की रूपरेखा कुछ हेर-फेर के साथ एक-समान है। हर राज्य के मंत्रिमण्डल में एक शिक्षा मंत्री होता है जो संविधान के अनुसार शिक्षा सचिवालय का सर्वोच्च अधिकारी होता है। उसकी सहायता के लिए उपमंत्री और राज्यमंत्री होते हैं। राज्य के क्षेत्र में शिक्षा-नीति सचिवालय में निर्धारित होती है। नीति सम्बन्धी बातों का नियन्त्रण शिक्षा सचिव करता है जिसकी सहायता के लिए एक उपसचिव भी होता है।

हर राज्य में एक शिक्षा विभाग होता है जिसके दो अंग होते हैं—एक सचिवालय और दूसरा निदेशालय। सचिवालय का सर्वोच्च अधिकारी शिक्षा मंत्री होता है जो शिक्षा-नीति निश्चित करता है और निदेशालय का सर्वोच्च अधिकारी शिक्षा निदेशक होता है, जो शिक्षा-नीति को क्रियान्वित करता है। पूरा शिक्षा-विभाग राज्य में शिक्षा की व्यवस्था के लिए जिम्मेदार होता है। यह शिक्षा सम्बन्धी स्तर, नियमावली और नियन्त्रण तथा निरीक्षण के उपाय निश्चित करता है। जहाँ पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण हो गया है, वहाँ पाठ्य-पुस्तकों की रचना और प्रकाशन की जिम्मेदारी भी शिक्षा-विभाग पर है।

शिक्षा निदेशालय शिक्षा के प्रशासन का मूल आधार है। इसकी ओर से सरकारी स्कूल चलाये जाते हैं, गैर-सरकारी स्कूलों को अनुदान मिलता है और उनका निरीक्षण किया जाता है। शिक्षा निदेशक एक अनुभवी व्यक्ति होता है जो अपने पद पर केवल दीर्घ अनुभव और योग्यता के बल पर ही पहुंच पाता है। वह राज्य को शिक्षा के मामले में परामर्श देता है।

शिक्षा निदेशक के कहीं-कहीं दो पद हैं (जैसे राजस्थान में), एक कालेज शिक्षा का और दूसरा प्राथमिक-माध्यमिक शिक्षा का। प्राथमिक-माध्यमिक शिक्षा निदेशक के अन्तर्गत कई उपशिक्षा निदेशक होते है, यथा उपनिदेशक बुनियादी शिक्षा, उपनिदेशक योजना, उपनिदेशक प्रशासन, उपनिदेशक सामाजिक शिक्षा और उपनिदेशक स्त्री-शिक्षा। किसी-किसी राज्य में क्षेत्रीय उपनिदेशक होते हैं। उपनिदेशक प्रशासन के अन्तर्गत जिला स्तर पर एक अधिकारी होता है, जिसे जिला विद्यालय निरीक्षक कहते है। जिला-विद्यालय निरीक्षक के अन्तर्गत दो प्रकार के उपविद्यालय निरीक्षक होते हैं जिनमें एक जूनियर माध्यमिक विद्यालयों और दूसरा प्राथमिक पाठशालाओं के लिए जिम्मेदार माना जाता है। परीक्षा की व्यवस्था के लिए कुछ राज्यों में माध्यमिक शिक्षा परिषदें होती हैं जो माध्यमिक सार्वजनिक परीक्षा का संचालन करती हैं और पाठ्य-पुस्तकों को निर्धारित करती हैं। कुछ राज्यों में जिला परिषदें बनी हैं जिनमें

कारण आगे बढ़कर काम करने की इच्छा का अभाव और कभी-कभी असहयोग की भावना— ये कठिनाइयाँ प्रशासन में बाधा पैदा करती हैं।

संविधान ने केन्द्रीय शैक्षिक प्रशासन को शक्तिशाली नहीं बनने दिया है। सार्वजनिक संस्थाओं और स्थानीय शैक्षिक प्रशासन को संविधान ने पर्याप्त शक्ति और अधिकार दे रखे हैं, जिससे केन्द्र प्रशासन निरंकुशता का रवैया नहीं अपना सकता और शिक्षा राज्य के हाथ की कठपुतली बनने से बच गयी है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपने प्रसिद्ध लेख 'लिबर्टी' (स्वतन्त्रता) में कहा है कि सामान्यतया जब शिक्षा राज्य के हाथ में चली जाती है, तो वह ऐसा साधन बन जाती है जिसमें राज्य नागरिकों को अपनी इच्छापूर्ति के लिए एक ही साँचे में ढालना प्रारम्भ करता है और फिर अन्त में उन पर निरंकुश तरीके से शासन करता है। हमारे संविधान ने केन्द्र प्रशासन को शिक्षा के प्रबन्ध करने में निरंकुश बनने की रोक लगा दी है। दूसरी ओर केन्द्रीयता से शैक्षिक प्रशासन को जो लाभ हो सकते हैं, उन्हें संविधान ने सुरक्षित कर दिया है। संविधान ने ऐसी व्यवस्था कर दी है कि केन्द्रीय शैक्षिक प्रशासन बिना निरंकुश बने हुए राज्य तथा स्थानीय प्रशासन को पर्याप्त आर्थिक सहायता प्रदान करे, उनका नेतृत्व करे, राष्ट्रीय स्तर पर उत्पन्न शैक्षिक समस्याओं को हल करे, सारे देश में शैक्षिक प्रयत्नों का समायोजन करे और समस्त शैक्षिक गतिविधियों पर नजर रखे।

भारतीय संविधान ने शैक्षिक प्रशासन को विकेन्द्रित करने का लक्ष्य प्रस्तुत किया है। इससे स्थानीय सरकार और सार्वजनिक संस्थाओं को शिक्षा सम्बन्धी साधन जुटा कर शिक्षा की व्यवस्था करने का अवसर मिलता है। इससे इस बात की सम्भावना उत्पन्न हुई है कि हमारे निर्धन देश में जनता शैक्षिक रूप से जाग्रत हो और शिक्षा के प्रति अपने अनुराग का परिचय दे। साथ ही संविधान ने एक कठिनाई भी उत्पन्न कर दी है। विभिन्न प्रकार की शिक्षा संस्थाओं को खुली छूट देकर शिक्षा के क्षेत्र में अराजकता पैदा होने की सम्भावना पैदा कर दी है। यदि स्थानीय सरकारें अपने आप को केन्द्र प्रशासन का प्रतिनिधि और साथ ही जनता का प्रतिनिधि नहीं समझती तो अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जायगी। शैक्षिक प्रशासन की कार्यकुशलता नष्ट हो जायगी और स्कूलों तथा विशेष रूप से शिक्षकों के लिए काम चलाना कठिन हो जायगा।

केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण दोनों का सामंजस्य हमारे शैक्षिक प्रशासन में है। यथासम्भव दोनों की बुराइयों से बचने और गुणों को अपनाने की व्यवस्था संविधान ने की है। हमारे संविधान की मौलिक विशेषता प्रजातान्त्रिकता है। इसलिए शैक्षिक प्रशासन में सहयोग, समझौता, स्वेच्छा से काम करने, नेतृत्व करने और उत्तरदायित्व अनुभव करने पर जोर दिया जाता है। अधिकारी और कर्मचारियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे प्रशासन को 'मशीन' न समझ कर मानवीय सम्बन्धों को स्थापित करने का माध्यम समझें और जनहित का लक्ष्य सामने रखें। विकेन्द्रीकरण द्वारा प्रशासन

एक सदस्य जिले की प्राथमिक शिक्षा के लिए जिम्मेदार होता है। हर जिले मे विभिन्न क्षेत्रो के लिए पचायतें बनी है। ये पचायतें अपने क्षेत्र मे प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करती हैं।

माध्यमिक शिक्षा आयोग ने राज्य स्तर पर स्टेट एडवाइजरी बोर्ड आफ एजूकेशन की स्थापना का सुझाव दिया था। यह राज्यो मे विभिन्न प्रकार के शैक्षिक प्रयत्नो के बीच समायोजन का काम तथा विशेषज्ञतापूर्ण सलाह देने के लिए बनाये जाने को था परन्तु सब राज्यो मे ऐसा बोर्ड बन नही पाया। बिहार और केरल मे अवश्य ऐसे बोर्ड बनाये गये थे। कोठारी शिक्षा-आयोग ने स्टेट बोर्ड ऑफ एजूकेशन की स्थापना का सुझाव दिया है। राज्य के शिक्षा-विभाग का एक अग होगा और वर्तमान माध्यमिक शिक्षा-परिषदो तथा इसी प्रकार की अन्य सस्थाओं का काम करेगा। इस स्टेट बोर्ड के कई काम होंगे, जैसे विद्यालय शिक्षा के मामले मे राज्य सरकार को सलाह देना, राज्य मे स्थित स्कूलो को मान्यता देना, पाठ्यक्रम निर्धारित करना, सार्वजनिक परीक्षाओ का सचालन करना, प्रतिभा की खोज के लिए विशेष परीक्षा लेना।

कोठारी शिक्षा-आयोग ने हर राज्य मे एक स्टेट इन्स्टीट्यूट ऑफ एजूकेशन की स्थापना का सुझाव दिया है। यह सस्थान शैक्षिक मामलों मे वही काम करेगा जो केन्द्र स्तर पर नेशनल कौसिल ऑफ एजूकेशनल रिसर्च एण्ड ट्रेनिंग करती है। विद्वत्ता सम्बन्धी पक्षों मे यह जिला विद्यालय निरीक्षक को परामर्श देगा।

राज्य मे एक स्वायत्त शासन प्रधान सगठन स्थापित करने की सस्तुति कोठारी आयोग ने दी है, जिसका नाम स्टेट इवेलुएशन आरगेनाइजेशन होगा। यह सगठन राज्य मे शिक्षा के स्तर का सिहावलोकन करने मे सहायता देगा। इसकी सहायता से समय-समय पर शिक्षा-स्तर की जांच होती रहेगी और यह जानकारी प्राप्त होगी कि निर्धारित लक्ष्य पूरे हो रहे है अथवा नही।

भारतीय संविधान का शैक्षिक प्रशासन पर प्रभाव

भारतीय सविधान सघात्मक है और उसकी रचना पर अमरीकी सविधान का व्यापक प्रभाव पडा है। अग्रेजो के सविधान से भी भारतीय सविधान ने प्रेरणा ग्रहण की है। इस प्रकार शिक्षा के सम्बन्ध मे सविधान विदेशी प्रभाव से अछूता नही रह पाया और शैक्षिक प्रशासन पर उसका कई प्रकार से प्रभाव पडा है।

सर्वप्रथम, शैक्षिक प्रशासन कई स्तरो मे बँट गया। वे स्तर है—केन्द्रीय शैक्षिक प्रशासन, राज्य शैक्षिक प्रशासन और स्थानीय शैक्षिक प्रशासन। हर एक स्तर के प्रशासन की जिम्मेदारियाँ विधान मे निश्चित कर दी गयी है और वे प्रशासनिक कार्यो मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। फिर भी तीनों सत्ताएँ अलग-अलग नही है। उनके बीच साझेदारी है। फिर भी इस विभाजन के कारण शैक्षिक प्रशासन मे कई कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। अधिकार क्षेत्रो की अस्पष्टता, साझेदारी के

कारण आगे बढ़कर काम करने की इच्छा का अभाव और कभी-कभी असहयोग की भावना—ये कठिनाइयाँ प्रशासन में बाधा पैदा करती हैं।

संविधान ने केन्द्रीय शैक्षिक प्रशासन को शक्तिशाली नहीं बनने दिया है। सार्वजनिक संस्थाओं और स्थानीय शैक्षिक प्रशासन को संविधान ने पर्याप्त शक्ति और अधिकार दे रखे हैं, जिससे केन्द्र प्रशासन निरंकुशता का रवैया नहीं अपना सकता और शिक्षा राज्य के हाथ की कठपुतली बनने से बच गयी है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपने प्रसिद्ध लेख 'लिबर्टी' (स्वतन्त्रता) में कहा है कि सामान्यतया जब शिक्षा राज्य के हाथ में चली जाती है, तो वह ऐसा साधन बन जाती है जिससे राज्य नागरिकों को अपनी इच्छापूर्ति के लिए एक ही साँचे में ढालना प्रारम्भ करता है और फिर अन्त में उन पर निरंकुश तरीके से शासन करता है। हमारे संविधान ने केन्द्र प्रशासन को शिक्षा के प्रबन्ध करने में निरंकुश बनने की रोक लगा दी है। दूसरी ओर केन्द्रीयता से शैक्षिक प्रशासन को जो लाभ हो सकते हैं, उन्हें संविधान ने सुरक्षित कर दिया है। संविधान ने ऐसी व्यवस्था कर दी है कि केन्द्रीय शैक्षिक प्रशासन बिना निरंकुश बने हुए राज्य तथा स्थानीय प्रशासन को पर्याप्त आर्थिक सहायता प्रदान करे, उनका नेतृत्व करे, राष्ट्रीय स्तर पर उत्पन्न शैक्षिक समस्याओं को हल करे, सारे देश में शैक्षिक प्रयत्नों का समायोजन करे और समस्त शैक्षिक गतिविधियों पर नजर रखे।

भारतीय संविधान ने शैक्षिक प्रशासन को विकेन्द्रित करने का लक्ष्य प्रस्तुत किया है। इससे स्थानीय सरकार और सार्वजनिक संस्थाओं को शिक्षा सम्बन्धी साधन जुटा कर शिक्षा की व्यवस्था करने का अवसर मिलता है। इससे इस बात की सम्भावना उत्पन्न हुई है कि हमारे निर्धन देश में जनता शैक्षिक रूप में जाग्रत हो और शिक्षा के प्रति अपने अनुराग का परिचय दे। साथ ही संविधान ने एक कठिनाई भी उत्पन्न कर दी है। विभिन्न प्रकार की शिक्षा संस्थाओं को खुली छूट देकर शिक्षा के क्षेत्र में अराजकता पैदा होने की सम्भावना पैदा कर दी है। यदि स्थानीय सरकारें अपने आप को केन्द्र प्रशासन का प्रतिनिधि और साथ ही जनता का प्रतिनिधि नहीं समझती तो अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जायेंगी। शैक्षिक प्रशासन की कार्यकुशलता नष्ट हो जायगी और स्कूलों तथा विशेष रूप से शिक्षकों के लिए काम चलाना कठिन हो जायगा।

केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण दोनों का सामञ्जस्य हमारे शैक्षिक प्रशासन में है। यथासम्भव दोनों की बुराइयों से बचने और गुणों को अपनाने की व्यवस्था संविधान ने की है। हमारे संविधान की मौलिक विशेषता प्रजातान्त्रिकता है। इसलिए शैक्षिक प्रशासन में सहयोग, समझौता, स्वेच्छा से काम करने, नेतृत्व करने और उत्तरदायित्व अनुभव करने पर जोर दिया जाता है। अधिकारी और कर्मचारियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे प्रशासन को 'मशीन' न समझ कर मानवीय सम्बन्धों को स्थापित करने का माध्यम समझें और जनहित का लक्ष्य सामने रखें। विकेन्द्रीकरण द्वारा प्रशासन

से विचारों की स्वतन्त्रता कायम रखना ताकि देश के असंख्य बालक-बालिकाओं में स्वतन्त्रता के प्रति प्रेम उत्पन्न हो, संविधान का मूल उद्देश्य है।

शैक्षिक प्रशासन का विकेन्द्रीकरण

विकेन्द्रीकरण का ऐतिहासिक विवेचन

प्रजातान्त्रिक देशों में आज यह स्वीकार किया जाता है कि शासन का केन्द्रीकरण अच्छी बात नहीं है इसमें अनेक दोष पैदा होते हैं। शैक्षिक प्रशासन के लिए केन्द्रीकरण तो घातक ही है क्योंकि शिक्षा एक मानवीय विषय है। सौभाग्य से हमारे देश में ऐतिहासिक कारणों से कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयीं कि शिक्षा के क्षेत्र में प्रशासनिक सर्वथा केन्द्रीकरण का न रहकर विकेन्द्रीकरण का ही रहा।

अंग्रेजों के शासन काल में भारतीय शिक्षा उपेक्षित रही। विदेशी शासक शिक्षा की जिम्मेदारी अपने हाथों में पूरी तरह नहीं लेना चाहते थे। चूँकि वे इस देश में संघीय शासन की परम्परा कायम करना चाहते थे और केन्द्रीय सत्ता को अति शक्तिशाली नहीं बनाना चाहते थे, इसलिए उन्होंने बहुत से प्रशासनिक विषय प्रान्तों (अब राज्य) को सौंप दिए। उन विषयों में शिक्षा भी एक विषय थी जो प्रान्तों के प्रशासनिक अधिकार में चली गई। यह भारत में शैक्षिक प्रशासन के विकेन्द्रीकरण का शुभारम्भ था। इसके अतिरिक्त अंग्रेज शिक्षा के मामले में तटस्थ रहना ही चाहते थे क्योंकि शिक्षा का सम्बन्ध धर्म से रहा था और उन्होंने सन् १८५७ की जनक्रान्ति के सन्दर्भ में यह देखा था कि भारतीय जनता शिक्षा की आड़ में ईसाई धर्म-प्रचार को सहन नहीं करती। दूसरे इस देश में अनेक धार्मिक सम्प्रदाय हैं और उनकी शिक्षा व्यवस्थाएँ अलग अलग हैं। एक प्रकार की शिक्षा सभी सम्प्रदायों को ग्राह्य नहीं हो सकती। इसलिए अंग्रेजों ने शिक्षा के क्षेत्र से अलग रहना ही उचित समझा और शिक्षा की जिम्मेदारी केन्द्र पर न रखकर राज्यों पर रखी तथा यह जिम्मेदारी भी ऐच्छिक संस्थाओं पर छोड़ दी। आज इस देश में उस परम्परा के अनुसार अनेक गैर-सरकारी संस्थाएँ शिक्षा के कार्य में संलग्न हैं। यह बात भी विकेन्द्रीकरण के पक्ष में सहायक हुई है।

जब भारत स्वतन्त्र हुआ तो शिक्षा के सम्बन्ध में पुनः विचार आरम्भ हुआ। [illegible] पैदा अवश्य हुई पर उपर्युक्त ऐतिहासिक तर्क [illegible] की सरकार और [illegible] विभाग को [illegible] शिक्षा की [illegible] बाद भी वह शिक्षा की पूरी जिम्मेदारी [illegible] विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त को स्वीकार करने [illegible] पर ही [illegible] यह पूर्ण [illegible] नहीं है। दूसरी

और इस देश मे अभी भी विभिन्न आर्थिक सम्प्रदाय अपनी भिन्नता बनाये हुए हैं और आजादी के बाद उनके बीच अलगाव की प्रवृत्ति बढ़ी है। शिक्षा का सम्बन्ध धर्म से जुड़ा रहता है। इसलिए वर्तमान प्रजातन्त्रीय सरकार शिक्षा के क्षेत्र मे धर्मनिरपेक्षता की नीति पर चल रही है और वह शिक्षा के विकेन्द्रीकरण मे ही अपना हित देखती है। विभिन्न प्रकार की शिक्षा संस्थाओ के प्रशासन मे वह किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही करना चाहती।

शैक्षिक प्रशासन के विकेन्द्रीकरण की ओर अग्रसर होने मे जो कारण सहायक हुए है वे बहुत पवित्र नही है परन्तु आज हम उन्हे नये उज्जवल रूप मे पेश करना चाहते हैं। स्वयं कोठारी शिक्षा आयोग ने इस बात को स्वीकार करते हुए अपने प्रतिवेदन मे कहा है कि विदेशी शासको ने १६२१ के द्वैध शासन नियम तथा १६३७ के प्रान्तीय स्वतन्त्रता नियम के द्वारा शिक्षा की जिम्मेदारी प्रान्तों को सौपने का निर्णय लिया था और वे गैर-सरकारी प्रयत्नो को ही अधिक महत्त्व देना चाहते थे। स्वतन्त्र भारत के सविधान ने उस स्थिति मे थोडा परिवर्तन अवश्य किया है परन्तु इसी अध्याय मे अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है कि शिक्षा को तीन विभिन्न प्रकार की सूचियो के अन्तर्गत शामिल किया गया है। केन्द्रीय सरकार शिक्षा की पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर नही लेना चाहती। माध्यमिक शिक्षा के प्रशासन का भार राज्य तथा स्थानीय सरकारो की साझेदारी और उच्च शिक्षा का भार केन्द्र और राज्यो की साझेदारी पर छोड़ा गया है। यह सब उपेक्षा के प्रतिरूप है परन्तु इन्हे विकेन्द्रीकरण के रूप मे स्वीकार किया जाता है।

इधर विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त लोकप्रिय हो चला है और हमारे देश के शैक्षिक प्रशासन मे इस सिद्धान्त पर अमल करने की प्रवृत्ति विकसित हो रही है। *प्रजातान्त्रिक देश, जिसमे जनता हर प्रकार का उत्तरदायित्व स्वेच्छा से उठाना चाहती* है क्योकि राज्यसत्ता जनता मे निहित होती है, विकेन्द्रीकरण के लिए अनुकूल वातावरण उपस्थित करते हैं। सयुक्त राज्य अमरीका और ग्रेट ब्रिटेन जो अग्रगण्य प्रजातन्त्रवादी देश है, शैक्षिक प्रशासन का विकेन्द्रीकरण कर चुके हैं और इससे उन्हे बहुत लाभ हुआ है। इसी प्रकार रूस और चीन जैसे समाजवादी देश भी शिक्षा के प्रशासन मे विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त का व्यवहार कर रहे हैं। इन सभी बडे और प्रगतिशील देशों मे केन्द्रीय सरकार ने शिक्षा के प्रशासन को छोटी-छोटी प्रशासनिक इकाइयो को सौप दिया है। इससे सारे देश मे शैक्षिक चेतना, उत्साह तथा प्रयत्न का स्रोत फूट पड़ा है। इसी से उन देशो मे निरक्षरता नष्ट हुई और जागृति पैदा हुई। विकेन्द्रीकरण की सफलता को देखते हुए भारत के शैक्षिक प्रशासन मे इसे अपनाने का प्रयत्न होना स्वाभाविक है।

विकेन्द्रीकरण के पक्ष में दिये जाने वाले तर्क

१. भारत एक बहुत बड़ा देश है। इसकी जनसख्या विशाल और विविध प्रकार की है। सारे देश की शैक्षिक आवश्यकताओं को केन्द्रीय सत्ता समझ नही

सकती। थोड़ी देर के लिए मान लें कि केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय हर प्रकार की तथा हर स्तर की शिक्षा अपने हाथ में ले ले, तो क्या होगा? सुदूर राज्यों और हर राज्य की स्थानीय इकाइयों की शैक्षिक आवश्यकताओं की जानकारी प्राप्त करना असम्भव हो जायगा। केन्द्रीकरण से हानि यह होती है कि सरकार के अनेक प्रयत्न अनावश्यक और व्यर्थ सिद्ध होते हैं। विकेन्द्रित शासन में हर स्थानीय इकाई अपनी आवश्यकताओं के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था और प्रबन्ध कर सकती है।

२ यदि केन्द्रीय सरकार ही सारी जिम्मेदारी अपने हाथ में ले लें, तो सामान्य जनता की मनोभावना यह हो जाती है कि हमसे कोई मतलब नहीं है और शिक्षा की सारी व्यवस्था करना सरकार का काम है। वे स्वेच्छा से अपनी सन्तानों की शिक्षा के लिए साधन नहीं जुटाते। इसके विपरीत, यदि शिक्षा की सारी जिम्मेदारी स्थानीय सरकार और सत्ता को सौंप दी जाती है, तो स्थानीय जनों का उत्साह बढ़ता है। वे स्वयं साधन जुटाते है और स्वावलम्बी बनते हैं। विकेन्द्रीकरण का एक लाभ अभी कुछ दिन पहले मद्रास राज्य में देखने को मिला है। शैक्षिक व्यवस्था की जिम्मेदारी स्थानीय लोगों पर छोड़ देने से आर्थिक साधन बड़ी सरलता से जुटा लिये गए।

३ विकेन्द्रित शैक्षिक प्रशासन में स्थानीय जनों को शिक्षा के सम्बन्ध में प्रयोग करने तथा स्वतन्त्र शैक्षिक विचारों को कार्यान्वित करने की छूट रहती है। यदि शिक्षा के स्वरूप, पाठ्यक्रम के निश्चित करने तथा पढ़ाने आदि के काम स्थानीय सत्ता पर छोड़ दिए जायँ, तो बहुत से नये शैक्षिक सूत्र विकसित होंगे। आचार्य विनोबा भावे ने विकेन्द्रीकरण का जोरदार समर्थन किया है। उनका विचार है कि विकेन्द्रित शैक्षिक प्रशासन विचारों की स्वतन्त्रता को बढ़ावा देता है।

४ हमारे देश की शिक्षा में अभूतपूर्व विविधता है। अनेक प्रकार की शिक्षा संस्थाएँ हैं। उनमें अनेक प्रकार का प्रबन्ध है, विभिन्न प्रकार की शिक्षा प्रणालियाँ हैं और विभिन्न शैक्षिक चिन्तन सूत्र है। विकेन्द्रीकरण से यह विविधता बनी रहेगी और विकसित होगी। इससे शिक्षा स्वस्थ बनी रहेगी।

५ विकेन्द्रीकरण से वे अनेक दोष दूर हो सकते है जो केन्द्रीकरण से उत्पन्न होते है, जैसे लालफीताशाही, निर्णय लेने में देरी, मानवीय सम्बन्धो का अभाव तथा केन्द्रसत्ता का शिक्षा पर एकाधिकार और शिक्षा का प्रचार के रूप में दुरुपयोग।

विकेन्द्रीकरण में क्या होता है ?

विकेन्द्रीकरण के तत्व--श्री जी० ई० रास्ट (G. E. Rast) ने अपनी एक पुस्तक 'Co-operative Team-work in Administration' में लिखा है कि शिक्षा के प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण में कई बातें स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है, यथा .

१. अफसरों की अपेक्षा कार्य में संलग्न रहने वाले जनों पर अधिक से अधिक जिम्मेदारी डाल दी जाती है। अफसरों में निदेशक, निरीक्षक और अधीक्षक लोग आ जाते हैं। कागजी तौर पर प्रशासन के लिए यही लोग जिम्मेदार माने जाते हैं परन्तु वास्तविकता यह है कि प्रशासन का काम चलाने वाले वे कर्मचारी हैं, जो शासन के काम में लगे रहते हैं। विकेन्द्रीकरण के अन्तर्गत इन कर्मचारियों पर उत्तरदायित्व का बोझ डाला जाता है।
२ आम तौर पर प्रशासन में एक के ऊपर एक अधिकारी नियुक्त किया जाता है। विकेन्द्रीकरण में यह प्रथा समाप्त करके समान पद वाले कर्मचारी और अधिकारी नियुक्त किए जाते हैं ताकि ऊँच-नीच का भाव समाप्त हो और प्रशासन का काम भाईचारे के आधार पर चले।
३ शिक्षा सम्बन्धी नीति को निर्धारित करने, लक्ष्य निर्धारित करने तथा योजना बनाने में अधिक से अधिक उन कर्मचारियों का सहयोग प्राप्त किया जाता है, जो प्रशासनिक कार्यों को चलाते हैं।
४ प्रशासन चलाने के लिए विभिन्न क्षेत्रों के काम छोटे-छोटे दलों को सौंप दिए जाते हैं और ये दल निर्णय लेते हैं।
५ प्रशासन के काम में कर्मचारियों को पथ-प्रदर्शन देने के लिए विशेष व्यवस्था कर दी जाती है। जहाँ कठिनाइयाँ आती हैं, वहाँ उन्हें उचित सलाह दी जाती है।

विकेन्द्रीकरण को सफल बनाने वाले तत्त्व—केवल सिद्धान्त के रूप में विकेन्द्रीकरण का स्वीकार कर लेने से कुछ नहीं होता। शैक्षिक प्रशासन में विकेन्द्रीकरण की सफलता कई बातों पर निर्भर है। निम्न स्तरीय कर्मचारियों का सहयोग प्राप्त होना चाहिए और उन्हें अपना कर्त्तव्य निभाने के लिए तैयार करना चाहिए। अपने दायित्व के प्रति अभिरुचि और प्रेरणा उत्पन्न करना भी आवश्यक है। उन्हें जो भी कार्य दिया जाय, वह उनकी योग्यता तथा सामर्थ्य के अनुकूल होना चाहिए। वे चुनौती का अनुभव करें और सफलतापूर्वक काम कर दिखाने पर उन्हें पुरस्कार देना भी आवश्यक है। यह तभी सम्भव होगा जब उच्चाधिकारी अपनी मनोवृत्ति बदलें। अधिकारियों को उदारतापूर्वक और सहिष्णु बनकर अपने कर्मचारियों के विचारों और उनकी कमजोरियों को सहन करना चाहिए। उन्हें समूह-मनोविज्ञान का ज्ञाता होना चाहिए और प्रशासनिक समूह पर जिम्मेदारी छोड़ने तथा उन्हें शक्ति और सत्ता सौंपने के लिए तैयार रहना चाहिए। विकेन्द्रीकरण की सफलता के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि स्थानीय प्रशासनिक इकाइयों को जागरूक बनाया जाय। उनमें काम करने की चेतना पैदा की जाय और उन्हें यह बताया जाय कि वे अपने कार्य-क्षेत्र में वर्तमान शैक्षिक साधनों की जानकारी प्राप्त करें और उनका उपयोग करें। उनमें स्वावलम्बन का भाव पैदा किया जाय। समय-

या पंचायतों से, तथा अनुदान, चंदे और सार्वजनिक आर्थिक सहायता के रूप में प्राप्त धन जमा होगा। विकेन्द्रीकरण को सफल बनाने के लिए अध्यापकों के तबादले बहुत कम कर दिए जाएँगे, लालफीताशाही के दोष कम किए जाएँगे।

प्रशासनिक कार्यों के विकेन्द्रीकरण का दूसरा रूप यह होगा कि जिला-स्तर पर शासन सत्ता पूर्ण में जिला स्कूल अधिकारी (District school officer) को सौंप दी जाएगी। यह अधिकारी राज्य सरकार का प्रतिनिधि होगा। जिला स्कूल अधिकारी शैक्षिक मामलों में अपने क्षेत्र का नेता होगा। वह शैक्षिक स्तर, पाठ्यक्रम, पाठ्य-पुस्तकों, अध्यापकों के हितों—उनके प्रशिक्षण, नियुक्ति, कार्य-स्थिति तथा निरीक्षण—के लिए जिम्मेदार होगा। यह अधिकारी शैक्षिक-शासन को सफल बनाने के लिए विद्यालयी शिक्षा की राज्य परिषद् तथा राज्य मूल्यांकन संगठन जैसी संस्थाओं के साथ सहयोग करेगा। इसका प्रमुख कर्तव्य निरीक्षण तथा पथप्रदर्शन होगा।

कोठारी शिक्षा आयोग ने शैक्षिक प्रशासन के विकेन्द्रीकरण के लिए ऊपर लिखे गए रूप में एक प्रक्रिया निश्चित की है। इसके अनुसार सत्ता जिला-स्तर पर बाँट तथा सौंप दी जाएगी। आयोग ने विकेन्द्रीकरण को सफल बनाने के लिए राष्ट्रीय पैमाने पर एक कार्यक्रम तय किया है जिसके निम्नलिखित अंग हैं और जिसका लक्ष्य अध्यापकों, छात्रों तथा समाज को प्रशासन में भाग लेने के लिए तैयार करना है :

(क) संस्थागत योजना बनाना – हर स्कूल को अपने विकास तथा उन्नति के लिए एक ऐसी योजना बनानी चाहिए जो कई चरणों में पूरी की जा सके। इस नियोजन के काम में अध्यापकों, छात्रों और पास-पड़ोस के समाज से पूरी सहायता ली जाय और उनके परामर्श से योजना बने। योजना बनाने में यह ध्यान रखा जाय कि स्थानीय तथा उपलब्ध साधनों का उपयोग हो और यह देखा जाय कि इन साधनों के विकास में पास-पड़ोस के लोग क्या सहायता कर सकते हैं।

(ख) बुद्धिमत्तापूर्ण आयोजन और प्रयत्न की निरंतरता—विकेन्द्रीकरण में यह आवश्यक है कि योजना बुद्धिमानी से बनायी जाय और विकास के लिए जो प्रयत्न हो, उन्हें जारी रखा जाय। विकेन्द्रित शासन में सत्ता एक हाथ से दूसरे हाथ में जाती रहती है। परिवर्तनों से विकास मंद न पड़े, इसका ध्यान रखना आवश्यक है।

(ग) अधिकारियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन—विकेन्द्रीकरण की सफलता के लिए अधिकारियों के दृष्टिकोण में मौलिक परिवर्तन अपेक्षित है। वे प्रायः लकीर के फकीर हुआ करते हैं। कुछ तो अपने कार्य के प्रति निष्ठा नहीं रखते। इसलिए इन लोगों में उत्साह और ईमानदारी का भाव उत्पन्न करना होगा।

(घ) प्रशासन में लचीलापन और प्रयोग—प्रशासन की जड़ता दूर करना जरूरी है। इसके कारण नये विचार और चिन्तन नष्ट हो जाते हैं। प्रयोगों की परम्परा इसीलिए समाप्त होती है। अतः प्रशासन के विकेन्द्रीकरण में नियमों की कट्टरता को दूर करना होगा और प्रयोगों के लिए छूट देनी होगी।

विकेन्द्रीकरण में निहित खतरे

विकेन्द्रीकरण में यदि कुछ लाभ है, तो कुछ हानियाँ भी हो सकती हैं। यदि प्रशासन में उदासीनता और निष्ठा का अभाव नजर आने लगे तो समझ लेना चाहिए कि हानियाँ अधिक होंगी। यदि प्रबंध करने और साधन जुटाने की जिम्मेदारी स्थानीय इकाइयों को सौंप दी जाय परन्तु उनमें उत्तरदायित्व की भावना नहीं है, तो शिक्षा के लक्ष्य ही पूरे नहीं हो सकते। भारत में प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण हुआ है परन्तु देखा यह गया है कि उसमें लाभ नहीं हुआ है, उदाहरण के लिए जिला बोर्डों, नगरपालिकाओं और पंचायतों के नियंत्रण में चलने वाले स्कूलों की दशा अच्छी नहीं है। इन स्कूलों में अध्यापकों को ठीक समय पर और पूरा वेतन नहीं मिल पाता। छात्रों की शिक्षा-दीक्षा भी अच्छी नहीं होती। इन स्कूलों में केवल निर्धन माता-पिता अपने बच्चों को भेजते हैं और जो लोग धन खर्च करने की क्षमता रखते हैं, वे निजी संस्थाओं में अपने बच्चों को पढ़ाते हैं। स्थानीय प्रशासनिक इकाइयाँ साधन जुटाने में असफल रही हैं और आज भी मुफ्त और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के लक्ष्य तक हम नहीं पहुँच सके हैं।

शिक्षा के विकेन्द्रीकरण से इस बात की संभावना है कि शिक्षा के क्षेत्र में क्षेत्रीयता, जाति भेद, साम्प्रदायिकता और धार्मिक कट्टरता की वृद्धि हो जाय। इसमें राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधा पड़ने की शंका है। सारे देश में शिक्षा का एक समान स्तर नहीं होगा। साधन सम्पन्न इकाइयाँ अच्छे स्कूल चला सकेंगी पर निर्धन इकाइयों के लिए शिक्षा की व्यवस्था करना कठिन होगा। प्रशासन का सूत्र विभिन्न हाथों में चला जाएगा और सारे देश में शैक्षिक सुधारों को एक साथ पूरा करना कठिन होगा। हमारे देश में शैक्षिक सुधार पूरे नहीं हो पाने जिसका कारण विकेन्द्रीकरण भी है।

भारतीय शैक्षिक प्रशासन में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति

राष्ट्रीयकरण का नारा—समाजवाद और साम्यवाद के दर्शनों से न केवल वाणिज्य और उद्योग की दुनिया प्रभावित हुई है, वरन् शिक्षा पर भी इनका व्यापक प्रभाव पड़ रहा है। जिस प्रकार बड़े-बड़े उद्योगों और उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण की माँग की जा रही है, उसी प्रकार शिक्षा के राष्ट्रीयकरण के लिए नारे लगने आरम्भ हो गए हैं। बहुत से लोगों का विचार है कि विकेन्द्रीकरण से शिक्षा में शोषण की प्रवृत्ति पनप रही है। शासन-सत्ता पंचायतों और स्थानीय प्रबंध समितियों को सौंप देने से निजी संस्थाएँ व्यापारिक रूप ग्रहण कर रही हैं। यह संस्थाएँ मनमानी फीस लेती हैं और अध्यापकों को पूरा वेतन नहीं देतीं। इनका प्रशासन ढीला है क्योंकि प्रबंधक राजनीतिक कुचक्र में फँसे रहते हैं। फल यह हुआ है कि व्यापारिक संघों की भाँति अध्यापकों और छात्रों के संघ उपद्रव और हड़ताल का सहारा लेकर प्रशासन को चुनौती देने लगे हैं। इन संघों तथा कई शिक्षाविदों की ओर से शिक्षा के राष्ट्रीयकरण की माँग की जा रही है।

शिक्षा के राष्ट्रीयकरण का एक पहलू यह है कि शिक्षा के प्रशासन की पूरी जिम्मेदारी भारत की केन्द्रीय सरकार ले। शिक्षा का स्तर ऊँचा उठाने, अध्यापकों की आर्थिक दशा सुधारने और अनुशासनहीनता को दूर करने में इससे सहायता मिलेगी। इसके अतिरिक्त आजादी के बाद अब तक जितने भी शिक्षा-आयोग और शिक्षा-समितियाँ बैठीं उन्होंने बहुत से सुधारों की संस्तुति दी परन्तु उनको कार्यान्वित नहीं किया जा सका। केन्द्रीकरण से सुधारों का काम सरल हो जाएगा। राष्ट्रीयकरण के लिए केन्द्रीकरण एक प्रकार से आवश्यक बन जाता है।

केन्द्रीकरण की माँग—इधर पिछले कुछ वर्षों में यह निरन्तर अनुभव किया जा रहा है कि शिक्षा का विषय राज्यों के सुपुर्द कर देने से अव्यवस्था बढ़ी है और बहुत-सी बुराइयों पर नियन्त्रण नहीं हो पाता। शिक्षा की जिम्मेदारी केन्द्र, राज्य और स्थानीय सरकारों की साझेदारी में निबाही जाती है और फल यह हो रहा है कि शिक्षा की ओर से हर स्तर की सरकार उदासीन है। शिक्षा में समायोजन की समस्या का बहुत कुछ कारण यही है कि शिक्षा का केन्द्रीकरण नहीं हुआ है। भारत विदेशी सरकारों द्वारा, विशेष रूप से रूस में शैक्षिक प्रशासन के केन्द्रित स्वरूप का अध्ययन करके अनुभव कर रहा है कि शिक्षा की तीव्र प्रगति के लिए केन्द्रीकरण आवश्यक है।

"केन्द्रीकरण के लाभों की चर्चा करते हुए श्री एम० एन० मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'Administration of Education in India' में कहा है कि केन्द्रीकरण से सारे देश में एक समान शैक्षिक प्रगति सम्भव होगी, शैक्षिक प्रयत्नों में समायोजन होगा, विभिन्न क्षेत्रों में होने वाले शैक्षिक प्रयोगों में व्यर्थ दुहराए जाने (Over-lapping) की आशंका न रहेगी। केन्द्र राष्ट्र की शैक्षिक आवश्यकताओं पर पूरी नजर रख सकने में समर्थ होगा और जहाँ कमी होगी, वहाँ आर्थिक सहायता देगा।

श्री एम० एन० मुकर्जी ने बताया है कि केन्द्रीकरण कई क्षेत्रों में उपयोगी होगा। वे क्षेत्र हैं—व्यक्तियों और राज्यों में वर्तमान असमानता को दूर करके बराबरी लाने का क्षेत्र, सूचना सेवाओं का संगठन और सूचना का वितरण तथा सूचना का एकत्रीकरण और प्रकाशन, सहयोगपूर्ण ढंग से शोध कार्य चलाना, शैक्षिक प्रयत्नों के सुधार और विकास में नेतृत्व प्रदान करना, उच्च-शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा और अन्तरराष्ट्रीय शैक्षिक सम्बन्ध (पृष्ठ २३)।

भारतीय प्रशासन में केन्द्रीकरण की ओर अग्रसर होने की प्रवृत्ति—प्रोफेसर हुमायूँ कबीर ने भारतीय शिक्षा मन्त्रालय की ओर से प्रकाशित होने वाली पत्रिका—'Educational Quarterly' में प्रकाशित (दिसम्बर १९६६) के एक लेख में कहा है कि केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय लगातार शैक्षिक मामलों में अगुआ बन रहा है और वह शैक्षिक मामलों के विवेचन, हल निकालने, नीति निश्चित करने में राज्यों तथा स्थानीय सरकारों को मार्गदर्शन दे रहा है। यह केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति का प्रमाण है।

वास्तव में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारतीय शैक्षिक प्रशासन केन्द्रीकरण

की ओर अग्रसर होता दिखाई देता है। इसके कई कारण हैं। एक तो केन्द्र सरकार की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो जाने से राज्य सरकारों को उसका मुँह ताकना पड़ता है। दूसरे, जनमत और शिक्षाविदों के आग्रह से केन्द्र की रुचि शिक्षा में बढ़ी है। डा० डी० एल० दत्ता ने अपने लेख 'Varying Role of the Government of India in Education' में लिखा है कि १९४७ के पश्चात् विदेशी शासन से मुक्ति पाने पर शिक्षा में केन्द्रीय रुचि और कार्यों की अधिकता और उठान देखने योग्य है और शिक्षा में केन्द्र का यह भाग लेना एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। शिक्षा में केन्द्र की रुचि का एक प्रमाण पंचवर्षीय योजनाओं में मिलता है। तीसरी पंचवर्षीय योजना में कहा गया है "अन्तत मनुष्य मशीन से श्रेष्ठ है ...मनुष्य पर (अर्थात् उसकी शिक्षा में) पूँजी विनियोग, भौतिक योजनाओं पर धन खर्च करने की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।"

शैक्षिक प्रशासन के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति कई प्रकार से लक्षित होती है -

(१) केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय का विकास– १९०० से पूर्व अंग्रेजों ने केन्द्र में कोई भी शिक्षा का विभाग नहीं खोला था। लार्ड कर्जन ने १९०१ में डायरेक्टर जनरल आफ एजूकेशन का पद निर्मित किया जो आज के शिक्षा-मंत्रालय का बीज रूप था। सन् १९१० में केन्द्र में शिक्षा-विभाग स्थापित हुआ और गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी समिति का एक सदस्य शिक्षा का उत्तरदायित्व सँभालने लगा। डायरेक्टर जनरल का स्थान समाप्त कर दिया गया। सन् १९१५ में दुबारा डायरेक्टर जनरल का पद उत्पन्न किया गया। इस बार इसे एजूकेशन कमिश्नर का नाम दिया गया। कुछ समय बाद शिक्षा विभाग को स्वास्थ्य तथा भूमि विभाग के साथ मिला दिया गया। यह स्थिति सन् १९४५ तक रही। सन् १९४७ में आजादी के बाद शिक्षा-मंत्रालय बन गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना के चालू होने पर इसे शिक्षा तथा वैज्ञानिक शोध मत्रालय का नाम दिया गया। मौलाना अब्दुलकलाम आज़ाद भारत के प्रथम शिक्षा-मन्त्री थे। सन् १९५८ में उनकी मृत्यु होने पर शिक्षा-मंत्रालय की दो शाखाएँ बना दी गयीं। एक है, शिक्षा-मत्रालय और दूसरा है, वैज्ञानिक शोध और सांस्कृतिक मामलों का मंत्रालय। इस समय शिक्षा-मत्रालय के यह दोनों पक्ष शिक्षा के प्रबंध में अधिकाधिक दिलचस्पी ले रहे हैं।

(२) केन्द्रीय शिक्षा परामर्शदात्री और नियंत्रक संस्थाओं का विकास— प्रशासकीय दृष्टि से शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य चलाने, सम्बन्धित इकाइयों को परामर्श देने तथा नियत्रण रखने के लिए केन्द्रीय मत्रालय ने अनेक सरकारी तथा अर्द्ध-सरकारी सस्थाओं की स्थापना की है। इनकी क्रिया-विधि से केन्द्रीय शिक्षा-प्रशासन की क्षमता में वृद्धि हुई है। यह शिक्षा-सस्थाएँ हैं -

(क) सेन्ट्रल एडवाइज़री बोर्ड ऑफ एजूकेशन,

(ख) यूनीवर्सिटी ग्रान्ट्स कमीशन,

(ग) आल इंडिया कौन्सिल फॉर एलीमेन्ट्री एजूकेशन,

(घ) नेशनल काउन्सिल फॉर रूरल एजूकेशन,

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

इन सभी संस्थाओं का विस्तार से वर्णन सम्भव नहीं है परन्तु केन्द्रीय प्रशासन की शक्ति इनमें बढ़ी है। इन संस्थाओं के माध्यम से अखिल भारतीय स्तर पर केन्द्र सरकार का नियन्त्रण बढ़ा है।

(३) अखिल भारतीय तथा राष्ट्रीय एवं केन्द्रीय शिक्षा संस्थाओं की स्थापना—शिक्षा पर केन्द्रीय प्रशासन के अधिकाधिक प्रवेश का एक उदाहरण यह है कि केन्द्र सरकार शिक्षा मन्त्रालय के माध्यम से अनेक ऐसी शिक्षा संस्थाएँ स्थापित करती जा रही है जो केन्द्र प्रशासन के अधीन हैं। ऐसी कुछ संस्थाओं के नाम हैं

(क) नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ एजूकेशन जिसके अन्तर्गत कई संस्थाएं हैं, जैसे नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ बेसिक एजूकेशन, सेन्ट्रल इन्स्टीट्यूट ऑफ एजूकेशन, सेन्ट्रल ब्यूरो ऑफ एजूकेशनल एण्ड वोकेशनल गाइडेंस, सेन्ट्रल ब्यूरो ऑफ टेक्स्ट बुक रिसर्च, नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ आडोविजुअल एजूकेशन, नेशनल फण्डामेन्टल एजूकेशन सेन्टर।

(ख) भारत के विभिन्न भागों में स्थित विज्ञान के शोध के लिए चलायी गई राष्ट्रीय प्रयोगशालाएँ।

(ग) डायरेक्ट्रेट ऑफ नेशनल डिसिप्लीन स्कीम।

(घ) लक्ष्मीबाई कालेज ऑफ फिजिकल एजूकेशन, ग्वालियर।

(ङ) ट्रेनिंग सेन्टर फार अडल्ट ब्लाइंड, देहरादून।

(च) इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलाजी, खड़गपुर।

(छ) सेन्ट्रल इन्स्टीट्यूट ऑफ इंगलिश, हैदराबाद।

(ज) सेन्ट्रल इन्स्टीट्यूट ऑफ हिन्दी, आगरा।

इनके अतिरिक्त अन्य और कई केन्द्रीय शिक्षा संस्थाएं राष्ट्रीय महत्त्व की है। संविधान के अनुसार केन्द्र को शैक्षिक प्रशासन का जो अधिकार मिला है, उसकी चर्चा हम पहले कर आये हैं। संविधान की धाराओं के अन्तर्गत लोकसभा शिक्षा की किसी भी राष्ट्रीय महत्त्व की संस्था को केन्द्रीय शैक्षिक प्रशासन के अधिकार क्षेत्र में भेज सकती है। बनारस, अलीगढ़, दिल्ली और विश्वभारती विश्वविद्यालय केन्द्रीय शैक्षिक प्रशासन द्वारा चलाये जाते हैं। विज्ञान तथा प्रविधि की संस्थाओं को पूरी या आंशिक सहायता देकर, उच्च-शिक्षा और शोध की सुविधाएँ देकर, निःशुल्क अनिवार्य तथा सार्वजनीन प्राथमिक शिक्षा के लिए सारे राज्यों तथा स्थानीय सरकारों को अनुदान देकर, प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा में समायोजन करके, छात्रवृत्तियाँ

देकर, यूनेस्को से सम्पर्क करके और संघीय क्षेत्रों में शिक्षा का प्रशासन चलाकर केन्द्रीय शैक्षिक प्रशासन 'केन्द्रीकरण' की प्रवृत्ति का परिचय देता है।

(४) संघीय क्षेत्र में केन्द्रीय प्रशासन का शिक्षा पर आधिपत्य—केन्द्रीय शैक्षिक प्रशासन भारत के कई क्षेत्रों में सीधे शिक्षा की व्यवस्था करता है। वे क्षेत्र हैं—अडमान, निकोबार, लकादीव, मिनीकोय, मणीपुर, त्रिपुरा, नेफा, हिमाचल प्रदेश, त्रिपुरा, पाण्डिचेरी और दिल्ली के क्षेत्र। आँकड़ों से यह सिद्ध होता है कि केन्द्रीय शैक्षिक प्रशासन पर इन क्षेत्रों की शिक्षा की जिम्मेदारी होने से यह क्षेत्र अन्य राज्यों की तुलना में अधिक प्रगति कर गये हैं। इसके कारण बहुत से लोगों का विचार है कि शैक्षिक प्रशासन का केन्द्रीकरण हो जाने से शिक्षा की दशा सुधरेगी।

(५) केन्द्रीय अनुदान द्वारा नियन्त्रण—शैक्षिक प्रशासन में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति इस बात से लक्षित होती है कि केन्द्रीय सरकार की आर्थिक सहायता के लिए राज्यों और स्थानीय इकाइयों को केन्द्र का मुँह ताकना पड़ता है। आजादी के बाद से केन्द्र की आर्थिक क्षमता बहुत बढ़ गयी है और संयुक्त राज्य अमरीका की संघीय सरकार की भाँति शिक्षा के हर स्तर, जैसे प्राथमिक, माध्यमिक, उच्च, वैज्ञानिक तथा सामाजिक, पर स्थानीय सरकारों को आर्थिक सहायता प्रदान करती है। इस सहायता में दिन प्रतिदिन वृद्धि हो रही है क्योंकि संघीय सरकार संविधान की सीमा-रेखा को लाँघकर प्रत्यक्ष रूप से राज्यों के शैक्षिक प्रशासन में हस्तक्षेप नहीं कर सकती परन्तु आर्थिक अनुदान देकर वह राज्यों तथा स्थानीय इकाइयों की शैक्षिक गतिविधि पर परोक्ष रूप से नियन्त्रण रखने को इच्छुक है। बहुत से मामलों में स्थानीय तथा राज्य सरकारें शैक्षिक निर्णय केवल केन्द्र के संकेत पर लेती हैं और अनिच्छापूर्वक केन्द्र की इच्छापूर्ति करने को बाध्य होती हैं। धनाभाव के कारण राज्य सरकारें बहुत सी योजनाओं को नहीं चला सकती। इस आर्थिक नियन्त्रण के कारण केन्द्रीकरण में वृद्धि सम्भव हो गयी है। हर क्षेत्र में केन्द्र सरकार ५० प्रतिशत से कम अनुदान नहीं देती। ज्यों-ज्यों इस प्रतिशत में वृद्धि होती जाती है, केन्द्रीकरण बढ़ता जाता है।

(६) अखिल भारतीय शिक्षा-सेवा की कल्पना—केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्री श्री छागला शिक्षा में सुधार करना चाहते थे और उन्होंने यह अनुभव किया कि सुधारों में देरी का कारण यह है कि केन्द्र को शिक्षा के मामले में हस्तक्षेप करने का अधिकार संविधान ने नहीं दिया है। इसका एक प्रभाव यह भी है कि शैक्षिक प्रशासन में अपेक्षित चुस्ती नहीं रहती। बहुत कुछ विचार करने के उपरान्त उन्होंने अखिल भारतीय शिक्षा-सेवा (All India Educational Service) चालू करने का निश्चय किया। इस सेवा के अधीनस्थ अधिकारियों और कर्मचारियों पर केन्द्र सरकार का नियन्त्रण होगा। इस प्रकार की सेवा केन्द्रीकरण में सहायक होगी। इस सेवा के अन्तर्गत वे सभी शैक्षिक अधिकारी और कर्मचारी होंगे जो शिक्षा-मन्त्रालय और

केन्द्रीय क्षेत्रों में काम करते है और साथ ही राज्यों तथा जिला-स्तरों पर काम करने वाले वे अधिकारी और कर्मचारी होंगे जो राज्यों में अभी वेतन पाते है। इस प्रकार राज्यों के शिक्षा-निदेशक, उपशिक्षा निदेशक, जिला-विद्यालय निरीक्षक और सरकारी विद्यालयों के प्रिंसिपल और प्रधानाध्यापक भी केन्द्रीय सत्ता के प्रशासनिक नियन्त्रण में आ जायेंगे। यह सब केन्द्रीकरण में सहायक होगा। अभी तक इन अखिल भारतीय शिक्षा-सेवा का भविष्य अन्धकारमय है क्योंकि राज्यों ने इसे चलाने की सहमति नहीं दी है। श्री छागला का स्वप्न पूरा नहीं हो पाया यद्यपि कोठारी शिक्षा आयोग ने अपने प्रतिवेदन में इस प्रकार की सेवा को लागू करने की संस्तुति दी है।

(७) कोठारी शिक्षा-आयोग द्वारा प्रस्तावित नेशनल बोर्ड ऑफ स्कूल एजूकेशन—उच्च-शिक्षा पर केन्द्र का पर्याप्त नियन्त्रण विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा हो गया है। माध्यमिक तथा प्राथमिक शिक्षा पर नियन्त्रण रखने के लिए, कोठारी आयोग ने नेशनल बोर्ड ऑफ स्कूल एजूकेशन की स्थापना की सिफारिश की है। यह बोर्ड विद्यालयी शिक्षा के क्षेत्र में राज्यों तथा स्थानीय सरकारों का परामर्श देगा, उनके प्रयत्नों में समायोजन, शैक्षिक विचारों के आदान-प्रदान और सूचना के प्रसारण में सहायक होगा। यह शिक्षा-स्तर को स्थिर करने, उसमें परिवर्तन करने, पाठ्यक्रम तथा शिक्षण-विधियों के विकास के लिए उत्तरदायी होगा। इस पर केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय का अधिकार होगा। इस बोर्ड में शिक्षा मन्त्रालय, नेशनल कौंसिल ऑफ एजूकेशनल रिसर्च एण्ड ट्रेनिंग, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, राज्य-शिक्षा परिषदों के अध्यक्ष, तथा वरिष्ठ माध्यमिक तथा प्राथमिक अध्यापक शामिल होंगे। यह बोर्ड स्पष्ट रूप से केन्द्रीय शैक्षिक प्रशासन की शक्ति में वृद्धि करेगा और शिक्षा के केन्द्रीकरण में सहायक होगा।

भारतीय शैक्षिक प्रशासन में अमानवीयता

अमानवीयता की उद्भावना

श्री मथ्यदेन एक प्रसिद्ध भारतीय शिक्षाविद् हैं और वे काफी लम्बे अर्से तक शिक्षा-मन्त्रालय में शिक्षा-सचिव एवं भारत-सरकार के शैक्षिक सलाहकार के रूप में काम कर चुके हैं। उन्होंने अपनी पुस्तक 'एजूकेशनल रीकान्स्ट्रक्शन' के एक अध्याय में लिखा है कि प्रशासनिक पदों पर काम करते हुए मैंने अनुभव किया है कि सारे प्रशासन को एक निर्जीव मशीन की तरह चलाया जा रहा है। शैक्षिक प्रशासन में लग हजारों अधिकारी और कर्मचारी निर्जीव पुर्जों की तरह उस मशीन में फिट हैं जिसका परिणाम यह हुआ कि मानवीयता नष्ट हो गयी है। शिक्षाधिकारियों और कर्मचारियों की मनोभावनाओं और उनके पारस्परिक मानवीय सम्बन्ध का कोई महत्त्व नहीं रह गया। दफ्तर की फाइलें और नियमावली के आगे मनुष्य विवश है और उसकी जबान बन्द है। प्रशासन के हर निर्णय में यह नियम और फाइलें बोलती हैं और

मनुष्य के दुःख-दर्द का कोई भी हिसाब-किताब प्रशासन नहीं करता। संक्षेप में यही 'अमानवीयता' है।

डा० एस० एस० दिवाकर ने शैक्षिक प्रशासन पर आयोजित एक गोष्ठी में पढ़े गये अपने एक लेख में कहा था "एक वर्ग के लोगों का विचार है कि किसी भी प्रकार का प्रशासन एक कला है। विशेष रूप से जब हम यह स्वीकार करते हैं कि प्रशासन एक समूह या मनुष्यों के सम्पर्क से चलता है, तो प्रशासन विज्ञान की अपेक्षा कला ही कहलाएगा। मनुष्यों के साथ सम्बन्धों का निर्वाह यांत्रिक ढंग से नहीं हो सकता। सम्बन्धों का निर्वाह मधुरता, कुशलता और सावधानी से किया जाना चाहिए। उसमें निर्ममता या कठोरता का कोई स्थान नहीं है।" दुर्भाग्य से हमारे शैक्षिक प्रशासन में मानवीय सम्बन्धों की उपेक्षा निरन्तर बढ़ती जा रही है। यह भी दुर्भाग्य की बात है कि हमारा शैक्षिक प्रशासन 'मानव-केन्द्रित' न बनकर 'फाइल-केन्द्रित' बनता जा रहा है। सरल शब्दों में, अमानवीयता इतनी अधिक बढ़ती जा रही है कि कार्यालयों में अधिकारी जन हर मामले को नियमों और फाइलों के आधार पर निपटाते हैं और अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की व्यक्तिगत समस्याओं की ओर ध्यान नहीं देते। प्रसिद्ध अंग्रेज प्रशासक ग्राहम बालफोर ने कहा था कि शैक्षिक प्रशासन का उद्देश्य उपयुक्त छात्रों को उपयुक्त शिक्षा, उपयुक्त अध्यापकों से राज्य की आर्थिक क्षमता के भीतर, इस प्रकार दिलाना है कि वे शिक्षा से अधिक से अधिक लाभ उठा सकें। इस उद्देश्य की पूर्ति अमानवीयता के कारण नष्ट हो गयी है।

यह अमानवीयता धीरे-धीरे व्यापक होती जा रही है। स्कूलों के प्रशासन में प्रधानाध्यापक, अध्यापक और छात्रों के सम्बन्ध, कार्यालयों में निरीक्षक, कर्मचारी तथा अधिकारियों के सम्बन्ध, मन्त्रालय और सचिवालयों में मन्त्री महोदय और कार्यरत उच्चाधिकारियों के सम्बन्ध– इन सब पर दृष्टिपात करने से यह पता चलता है कि विशेषज्ञता और अधिकार, दम्भ और श्रेष्ठता के भाव इतने प्रबल हो गये हैं कि मानवीयता की ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। विशेषज्ञों ने अपने संकुचित दायरों में बन्द रहकर निर्णय लेना आरम्भ कर दिया है जिससे लालफीताशाही बढ़ी है। विशेषज्ञता के भय से त्रस्त कर्मचारीगण निर्णय लेने में घबराते हैं जिससे समस्याओं को सुलझाने में देरी होती है। निर्भीकतापूर्वक जिम्मेदारी का निर्वाह करने की प्रवृत्ति नष्ट होती जा रही है। इसी से अमानवीयता का रोग शैक्षिक प्रशासन की जड़ों को निर्बल बना रहा है।

अमानवीयता की उत्पत्ति के कारण

भारतीय शैक्षिक प्रशासन में अमानवीयता के उत्पन्न होने के कुछ ऐतिहासिक . . है। अंग्रेजों ने अपने शासन काल में कुछ परम्पराएँ डाल दी थीं। उनमें से एक परम्परा यह थी कि उन्होंने स्तर क्रम में अधिकारियों की नियुक्ति की थी और

६. उत्तरदायित्व का निर्वाह करने को तैयार रहना, शीघ्र निर्णय लेना, और परिणामों का सामना करने के लिए तैयार रहना।
७. *अभिमानशून्य होना और सहयोग देने तथा लेने के लिए तैयार रहना।*
८. कागजशाही को मालिक न बनने देना—इसके लिए आवश्यक है कि लिखित आदेशों को न भेजकर व्यक्तिगत सम्पर्क द्वारा बनाया जाय, दूसरों की रिपोर्टों और आंकड़ों पर विश्वास न करके अपनी आँखों से देखकर विश्वास किया जाय। कान का कच्चा न होना।
९. अपनी तरक्की के लिए दूसरों को न कुचलना।
१०. सभी कर्मचारियों को समान समझना, किसी का पक्षपात न करना और समान न्याय देना।
११. नेतृत्व करने की योग्यता—अधीनस्थ जनों को प्रेरणा देना, उनको ठोस तथा व्यावहारिक सुझाव देना, उनके साथ समान स्तर पर मिलना, पूछने पर हर बात की व्याख्या करना, समूह की प्रवृत्तियों को समझना और मनोविज्ञान के सिद्धान्तों को जानना।

शैक्षिक प्रशासन में अधिकाधिक प्रजातान्त्रिक विचारधारा का समावेश आवश्यक है। शैक्षिक प्रशासक को वर्तमान समय में न केवल अपने अधीनस्थ कर्मचारियों वरन् अध्यापकों, छात्रों और अभिभावकों तथा समाज का सहारा लेना पड़ता है। यदि वह मानवीय भावों की उपेक्षा करता है तो प्रशासन-कार्य में उसे कभी भी सफलता नहीं मिल सकती। इस सम्बन्ध में शिक्षा मंत्रालय की ओर से प्रकाशित एक लघु पुस्तिका 'Leadership in Educational Administration' में विज्ञ लेखक ने कहा है कि प्रशासक को अपने दफ्तर के बन्द कमरे में बैठकर अब काम नहीं चलाना है। उसे शिक्षा सम्बन्धी कार्यक्रमों और योजनाओं को लोकप्रिय बनाने के लिए जनता के बीच जाना पड़ेगा, उनकी आवश्यकताओं और मनोवृत्तियों को समझना होगा और इसके लिए उनके साथ रहना होगा। भारत के ग्रामीण समाज को समझना विशेष रूप से आवश्यक है क्योंकि आम तौर पर नगरों की सभ्यता के बीच पले प्रशासक गाँवों के प्रति सहानुभूति नहीं रखते। इस प्रवृत्ति को दूर करके ही प्रशासक अपने में मानवीयता उत्पन्न कर सकते हैं।

शैक्षिक प्रशासन में समायोजन की समस्या

समायोजन की समस्या का स्वरूप—हमारा देश बहुत बड़ा है और उसके सारे क्षेत्र में बसने वाले ५० करोड़ मनुष्यों के लिए शिक्षा का प्रबन्ध राज्य को सिद्धान्त के रूप में करना है परन्तु संयुक्त राज्य अमरीका की भाँति हमारे देश की सरकार बहुत साधन-सम्पन्न नहीं है। धनाभाव के कारण वह पूर्णरूप से शिक्षा का प्रबन्ध अपने हाथ में नहीं ले पाती। इसलिए उसने सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत गैर-सरकारी शिक्षा संस्थाओं के हाथों में शिक्षा का प्रबन्ध सौंप रखा है। प्रजातान्त्रिक

हैं। यह तीन सरकारें हैं—केन्द्र, राज्य और स्थानीय निकाय। शिक्षा के प्रशासन में इन तीनों की पारस्परिक साझेदारी और अलग-अलग सार्वजनिक संस्थाओं की साझेदारी में काम चलता है। हम सभी जानते हैं कि साझेदारी समायोजन की शत्रु है। उस प्रशासकीय साझेदारी ने समायोजन पर कुठाराघात किया है।

शिक्षा का नियन्त्रण अकेले केन्द्रीय और राज्यीय शिक्षा विभागों के हाथ में होता, तो भी थोड़ा समायोजन रहता। भारत में स्थिति यह है कि अनेक सरकारी विभाग शिक्षा संस्थाएँ चलाते हैं। कहने को शिक्षा मन्त्रालय है परन्तु उसका अन्य मन्त्रालयों और विभागों की शैक्षिक गतिविधियों पर कोई नियन्त्रण नहीं। रेलवे का केन्द्रीय विभाग सारे भारत में अपने कर्मचारियों के लिए प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालय चलाता है। *कृषि विभाग की ओर से कई उच्च शिक्षा संस्थाएँ चलाई जा रही हैं।* श्रम और उद्योग विभाग ने माध्यमिक स्तर पर छात्रों की व्यावसायिक कठिनाइयां हल करने के लिए बहुत-से व्यावसायिक स्कूल खोल रखे हैं। आज भारतीय शैक्षिक प्रशासन अन्तरविभागीय विषय बन गया है और हर विभाग अलग-अलग व्यवस्था करता है। उनके बीच परस्पर वार्ता या विचार-विमर्श न होने से *समायोजन का अभाव होना स्वाभाविक है।*

शिक्षा की विभिन्न संस्थाएँ विभिन्न उद्देश्यों से शिक्षा की व्यवस्था करती हैं। उनमें पुस्तकालय, कल्याण सेवाएँ, विकास खंड, बड़े-बड़े औद्योगिक संस्थान, रेडियो, फिल्म तथा अन्य शिक्षा संगठन प्रमुख हैं। इनकी कार्य-प्रणाली अलग है और उनके मूल्य अलग हैं। यह विभिन्नता समायोजन के मार्ग में बाधक है।

अब शिक्षा के स्वरूप को लीजिए। सामान्य शिक्षा प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च स्तरों पर बँटी है। विशेष शिक्षा के कई स्वरूप हैं, जैसे तकनीकी शिक्षा, शोध, चिकित्सा, व्यावसायिक, सामाजिक, इंजीनियरिंग तथा कला की शिक्षा। स्त्रियों, बालकों, शिशुओं, विकलांगों और *अल्पबुद्धि बालकों की शिक्षा की व्यवस्था अलग है।* शिक्षा के विभिन्न स्वरूपों के अनुसार नाना प्रकार के विद्यालय भारत में देखने को मिलेंगे, जैसे व्यावसायिक स्कूल, औद्योगिक स्कूल, पॉलीटैक्नीक पब्लिक स्कूल, सैनिक स्कूल, भारतीय पद्धति पर चलने वाले पुराने ढंग के स्कूल आदि। उच्च स्तर पर कृषि विश्वविद्यालय, तकनीकी विश्वविद्यालय, चिकित्सा विश्वविद्यालय, संस्कृत *विश्वविद्यालय जैसी संस्थाएँ हैं। इन विविध प्रकार की संस्थाओं के प्रशासन में* समायोजन का होना एक दुष्कर कार्य है, विशेष रूप से तब, जबकि शिक्षा का प्रशासन किसी एक सत्ता के हाथ में नहीं है।

समायोजन उत्पन्न करने के उपाय—पिछले केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री श्री छागला ने भारतीय शैक्षिक प्रशासन में समायोजन की कमी अनुभव की और इस दिशा में कुछ कदम उठाने का *निश्चय किया, जिनमें अखिल भारतीय शिक्षा सेवा का प्रस्ताव* प्रमुख है। यद्यपि अभी तक इस सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं हो सका है, पर यदि

व्यक्ति और संगठन को अपनी विचारधारा के अनुसार शिक्षा संस्थाएँ चलाने की स्वतन्त्रता का अधिकार दे दिया है। इसके फलस्वरूप सरकारी विद्यालयों के साथ-साथ धार्मिक, साम्प्रदायिक संगठनों तथा अनेक क्षुद्र स्वार्थों से प्रेरित जन संस्थाएँ चलाते हैं। इनसे देश की भावनात्मक एकता को हानि पहुँच रही है और शिक्षा का स्तर तो गिरता ही है, समायोजन का काम कठिन हो रहा है। सरकार इन संस्थाओं को हस्तगत नहीं कर सकती क्योंकि संविधान ने उसके हाथ बाँध रखे हैं। कोठारी शिक्षा आयोग ने विद्यालयों में एकरूपता लाने तथा उन पर सरकारी नियन्त्रण लाने के कुछ उपयोगी सुझाव दिये हैं। उनमें से 'सामान्य स्कूल' (Common School की स्थापना प्रमुख है। यह 'सामान्य स्कूल' सरकारी होगा और इसका शिक्षण स्तर, अध्यापकों के वेतनक्रम, उनकी योग्यता, काम करने की दशा, प्रबन्ध आदि भारत में एक-समान होगा। इनमें शिक्षा की उत्तमता उच्च कोटि की होगी जिसमें गरीब लोगों के बालकों को बढ़िया शिक्षा मिलेगी और अमीर लोगों को भी अपने बच्चों को विशेष स्कूलों में भेजने की आवश्यकता न रह जाएगी। फल यह होगा कि 'पब्लिक स्कूल' जैसी संस्थाएँ अपने आप नष्ट हो जायेंगी और विद्यालयों में एकरूपता आ जायगी। यह भी कहा गया है कि धीरे-धीरे माध्यमिक स्तर तक शिक्षा शुल्क समाप्त कर दिया जाय। यदि ऐसा हो जाता है तो प्राइवेट संस्थाएँ जो व्यावसायिक, धार्मिक और साम्प्रदायिक आधारों पर चल रही हैं, खड़ी नहीं रह सकेंगी क्योंकि शिक्षा शुल्क के समाप्त होते ही, वे खर्च का बोझ न सम्हाल सकेंगी। वे स्वयं ही सरकार के अधीन हो जायेंगी, जो भी संस्थाएँ बच जायेंगी उन पर सरकार प्रबन्ध समिति, शुल्क के निर्धारण, अनुदान, निरीक्षण और पत्र-व्यवहार द्वारा नियन्त्रण रखेगी। इस प्रकार सरकार के अप्रत्यक्ष नियन्त्रण से शैक्षिक प्रशासन में समायोजन सरल बन जायगा।

इसी अध्याय में हम अन्यत्र बता आये हैं कि केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय की कई शाखाएँ हैं, जो शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में अप्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण रखती हैं। वास्तव में यह विभाग और शाखाएँ जैसे प्रारम्भिक और बुनियादी शिक्षा विभाग, माध्यमिक शिक्षा विभाग, यूनेस्को और उच्च शिक्षा विभाग तथा सामाजिक शिक्षा और समाज-कल्याण विभाग आदि समायोजन के कार्य में सहायक हैं। इनके अतिरिक्त अब तक अनेक राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं का विकास हो चुका है जो शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में समायोजन का काम करती हैं। इन संस्थाओं में सेन्ट्रल एडवाइजरी बोर्ड ऑफ एजूकेशन, यूनीवर्सिटी ग्राण्ट्स कमीशन, नेशनल कौंसिल आफ एजूकेशनल रिसर्च एण्ड ट्रेनिंग और नेशनल कौंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड टेकनिकल रिसर्च प्रमुख हैं। इनके सम्बन्ध में पहले ही लिखा जा चुका है। इन संस्थाओं और विभागों द्वारा शिक्षा की समस्त गतिविधियों पर नजर रखी जाती है और परामर्श द्वारा शैक्षिक प्रयत्नों में समायोजन स्थापित किया जाता है।

इधर शिक्षा के क्षेत्र में होने वाली अनियमितता की ओर लोक सभा का ध्यान आकर्षित हुआ। पिछले वर्ष एक सम्मानित लोक सभा सदस्य श्री लक्ष्मीमल सिंघवी ने लोक सभा में सदस्यों का ध्यान आकर्षित करते हुए कहा कि केन्द्र, राज्य और स्थानीय सरकारों की उत्तरदायित्व शून्य साझेदारी के कारण शिक्षा का अपार अहित हो रहा है। इसलिए शिक्षा को समवर्ती सूची में शामिल कर दिया जाय। इसके लिए संविधान में संशोधन करने की मांग की गयी। शिक्षा को समवर्ती सूची में शामिल कर देने से केन्द्रीय शैक्षिक प्रशासन की शक्ति बढ़ सकती है और इससे शैक्षिक प्रशासन में समायोजन करना सरल बन सकता है। सप्रू समिति ने इस सम्बन्ध में विचार करने के बाद अपने प्रतिवेदन में कहा है कि यदि प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा को केन्द्र प्रशासन अपने हाथ में नहीं ले सकता, तो उच्च शिक्षा को तो समवर्ती सूची में शामिल करके अवश्य ही केन्द्रीय प्रशासन अपने अधिकार में ले, तभी उच्च शिक्षा के प्रयत्नों में समायोजन सम्भव हो सकेगा।

शैक्षिक समायोजन का एक उपाय यह बताया गया है कि सारे शैक्षिक प्रयत्न नियोजन के आधार पर किए जायें। यद्यपि पचवर्षीय योजनाओं में शिक्षा के कार्यक्रम के लिए विचार प्रस्तुत किए जाते हैं परन्तु सुचारु रूप से शैक्षिक नियोजन एक राष्ट्रीय संस्था के हाथ में होना चाहिए। भारत स्थित एशियन इंस्टीट्यूट ऑफ एजूकेशनल प्लानिंग नामक संस्था को राष्ट्रीय स्तर पर शैक्षिक नियोजन का कार्य भार सौंप दिया जाय और यह संस्था हर प्रशासनिक स्तर के लिए पहले से ही कार्य पद्धति, जिम्मेदारी और किये जाने वाले कार्य निश्चित कर दे। योजनाबद्ध शैक्षिक प्रयत्नों में अराजकता की स्थिति पैदा नहीं होने पायेगी।

समायोजन के अभाव को दूर करने का एक उपाय यह हो सकता है कि हर पांच वर्ष बाद शैक्षिक कार्यक्रम का सिंहावलोकन करने के लिए एक अखिल भारतीय शैक्षिक सर्वेक्षण किया जाय। यह सर्वेक्षण शिक्षा के सारे क्षेत्रों में हो और एक ही संस्था या समिति जो शिक्षा आयोग या अध्ययन दल के रूप में हो, इस काम को करे। खर्च बचाने के लिए हर क्षेत्र के लिए छोटे-छोटे अध्ययन दल (Study teams) बना दी जायें और सर्वेक्षण का कार्य शीघ्रता से कर लिया जाय। इससे यह पता चल जायगा कि कहाँ शैक्षिक प्रयत्नों की बरबादी (अपव्यय) और कहाँ अवरोधन है, कहाँ प्रयत्नों की शिथिलता और कहाँ तुरन्त प्रशासन द्वारा कदम उठाने की आवश्यकता है। सर्वेक्षण द्वारा समायोजन का काम सुविधापूर्वक चलाया जा सकता है।

समायोजन के काम को प्रशासनिक स्तर पर सम्भव बनाने के लिए एक विचार यह प्रस्तुत किया गया है कि केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय का पुनर्गठन किया जाय। इसके कर्मचारियों की भर्ती विभिन्न राज्यों से की जाय। पचास प्रतिशत कर्मचारी राज्य के शिक्षा सचिवालयों से ले लिये जायें और शेष की भर्ती मन्त्रालय

इच्छानुसार करें। विभिन्न राज्यों का प्रतिनिधित्व बढ़ने से शिक्षा मन्त्रालय को राज्यों के शैक्षिक प्रशासन की जानकारी बनी रहेगी और समायोजन का कार्य सरलता से चल सकेगा।

नियन्त्रण और निरीक्षण की समस्या

समस्या का स्वरूप

भारत में शैक्षिक प्रशासन की जटिलता अनेक प्रकार की धार्मिक, सांस्कृतिक और साम्प्रदायिक शिक्षा संस्थाओं की वर्तमानता और प्रबन्ध की शिथिलता के कारण शैक्षिक स्तर के गिरने की सभावना निरन्तर बनी रहती है। ऐसी अनेक संस्थाएँ है जिनका प्रबन्ध सार्वजनिक हाथों में है। उन्हें सरकार से अनुदान मिलता है और इस बात की सम्भावना हो सकती है कि सरकारी धन का दुरुपयोग हो। इसलिए शिक्षा संस्थाओं पर नियन्त्रण और उनके शैक्षिक कार्यक्रम का निरीक्षण आवश्यक है। इस कार्य को पूरा करने के लिए राज्यों के शिक्षा विभागों द्वारा हर जिले में विद्यालय निरीक्षक नियुक्त किये जाते हैं। यह अधिकारी अपने क्षेत्र की सरकारी और गैर-सरकारी शिक्षा संस्थाओं के शिक्षण-स्तर, अध्यापकों की योग्यता और कार्यदशाओं, विद्यालय भवन और साज-सज्जा, सरकारी तथा शुल्क से प्राप्त धन के उपयोग आदि की जाँच एक निश्चित अवधि पर करता है। जाँच करने के उपरान्त वह अपना प्रतिवेदन शिक्षा विभाग को भेज देता है और शिक्षा विभाग उस प्रतिवेदन के आधार पर संस्थाओं को चेतावनी देता है, उनका अनुदान घटाता-बढ़ाता है। इसके अतिरिक्त वह समय-समय पर अपने कार्यालय द्वारा इन शिक्षा संस्थाओं से पत्र-व्यवहार द्वारा अनेक सूचनाएँ एकत्र करता है और राज्य के शिक्षा विभाग द्वारा भेजे गये आदेशों का पालन करवाता है। इस प्रकार जिला विद्यालय निरीक्षक अनेक क्षेत्र में नियन्त्रण और निरीक्षण का कार्य पूरा करता है। अपनी सहायता के लिए वह अपने अधीनस्थ उप-जिला विद्यालय निरीक्षकों और कर्मचारियों का उपयोग करता है।

नियन्त्रण और निरीक्षण का यह कार्य विचित्र प्रकार से पूरा किया जाता है। यद्यपि जिला विद्यालय निरीक्षक के पद पर एक अनुभवी व्यक्ति ही नियुक्त किया जाता [illegible] है [illegible] र [illegible] क

भावना का अभाव है। इस बात का उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। वे अपने अधीनस्थ कर्मचारियों का नेतृत्व करने में असफल रहते है। विभिन्न शिक्षा संस्थाओं में जब ये लोग निरीक्षण करने जाते हैं, तो उनका दृष्टिकोण यह नहीं होता कि वे संस्थाओं की सहायता करेंगे वरन् वे छिद्रान्वेषी होते हैं। वे अपनी शक्ति का प्रदर्शन करने और प्रधानाचार्यों तथा प्रबन्ध-समितियों को आतंकित करने में गौरव समझते हैं। निरीक्षण का सबसे बड़ा दोष यह है कि निरीक्षक के आगमन को विद्यालय में

'सम्राट' का आगमन समझा जाता है। उसके आगमन की सूचना पहले भेज दी जाती है और संस्थाएँ जो वर्ष भर कभी नहीं करतीं, उसे दो दिनों के लिए करके झूठे प्रदर्शन की तैयारी कर लेती है। निरीक्षक महोदय विद्यालयों में चलने वाले सभी भ्रष्टाचारों से अवगत होते है परन्तु वे शिक्षा विभाग को दिखाने के लिए विद्यालयों की नकली सज-धज की सूचना देते है। अपने निरीक्षण के समय उन्हे कोई त्रुटि न दिखाई पड़े, इस बात का प्रबन्ध वे पहले से कर लेते है। कुछ निरीक्षकों में पेशेवर नैतिकता का इतना अभाव होता है कि वे निरीक्षण को केवल सत्ता बनाने का साधन बना लेते है। कुछ निरीक्षण को 'पिकनिक' का रूप दे देते हैं। वे दो दिन के लिए किसी विद्यालय में जा पहुचते हैं और वही ठहरते हैं। इस समय प्रधानाध्यापक और अध्यापक उनकी 'हर प्रकार से सेवा' करते हैं। यह है निरीक्षण और नियन्त्रण का स्वरूप।

मुदालियर माध्यमिक शिक्षा-आयोग ने नियन्त्रण और निरीक्षण की समस्या पर विस्तार से विचार किया है और इस सन्दर्भ में उस आयोग द्वारा प्रकट किये गये विचारों का उल्लेख करना आवश्यक होगा। आयोग के मत में

(१) वास्तविक निरीक्षण नहीं होता। उसके स्थान पर पत्र-व्यवहार और आँकड़ों को एकत्र करके सन्तोष कर लिया जाता है। जिला विद्यालय निरीक्षक आम तौर से अपने कार्यालय में व्यस्त रहता है और विद्यालयों के कार्य की जानकारी स्वयं प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करता है।

(२) वास्तविक निरीक्षण केवल दो-तीन में दिन कर लिया जाता है। यह निरीक्षण केवल औपचारिक होता है क्योंकि यह निरीक्षण आकस्मिक न होकर पूर्व सूचित होता है। निरीक्षक कक्षाओं में चलने वाले शिक्षण कार्य को देख कर टिप्पणी देता है। केवल हिसाब-किताब की जाँच अच्छी तरह होती है। शिक्षण की उत्तमता की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। यह ज्ञातव्य है कि केवल निरीक्षण के समय ही अध्यापक तैयारी के साथ और शिक्षण-कला के सिद्धान्तों के अनुसार पढाते है।

(३) निरीक्षक को अनेक संस्थाओं का निरीक्षण करना होता है और वह कायदे से अपने कार्य को पूरा करने में असमर्थ होता है। निरीक्षण में वस्तुनिष्ठता लाने और निरीक्षक का कार्यभार हल्का करने के लिए दलीय निरीक्षण (Panel Inspection) का ढग अपनाया जाता है। इसमें एक नयी समस्या यह पैदा हो गई कि निरीक्षक-दल के सभी सदस्य जो प्राय गैर-सरकारी स्कूलों के प्रधानाचार्य और वरिष्ठ अध्यापक होते है, ईमानदारी और कर्त्तव्य-निष्ठा के साथ अपनी जिम्मेदारी नही निभाते। इससे निरीक्षण का महत्त्व ही समाप्त हो जाता है।

(४) निरीक्षकों में मानवीय गुणों का अभाव होता है। निरीक्षक प्राविधिकता और विशेषज्ञशाही (Technocracy) का अंग बनकर अध्यापकों और प्रबन्धकों की वास्तविक कठिनाइयों की अवहेलना कर देता है। वह मित्र, दार्शनिक और पथ-प्रदर्शक की भूमिका अदा नही करता।

(५) निरीक्षण और नियन्त्रण का एक उद्देश्य यह है कि विद्यालयों में अध्यापकों के साथ प्रबन्धक अन्याय न करने पायें परन्तु यह उद्देश्य पूरा नहीं हो पाता। निरीक्षण की प्रमुख समस्या उसकी कानूनी कमजोरी है। निरीक्षण की रिपोर्ट के अनुसार शिक्षा-विभाग प्रबन्धकों के विरुद्ध कोई कारवाई नहीं करता। निरीक्षक अध्यापकों की रक्षा नहीं कर पाता और न सार्वजनिक संस्थाओं को नियम-पालन के लिए विवश कर सकता है।

(६) निरीक्षक आम तौर पर केवल शिक्षा निदेशक के परिपत्रों के अनुसार काम करता है और उसी के आदेशों का पालन करने में अपने कर्तव्य की इतिश्री समझता है। उसमें स्वेच्छा तथा अपने निर्णय के अनुसार काम करने, शैक्षिक समस्याओं को हल करने, तथा शोध या प्रयोग करने कीप्रवृत्ति नहीं होती। वह 'लाल-फीताशाही' का गुलाम बनता है। इसलिए निरीक्षण और नियन्त्रण प्रभावहीन बन जाता है।

समस्या-शमन के उपाय

मुदालियर शिक्षा-आयोग ने निरीक्षण की समस्याओं के हल करने के लिए निरीक्षणालय (Inspectorate) के पुनर्गठन की संस्तुति दी है। उसके मत में निरीक्षक

क्षण का कार्य सौंपा जा सकता है।

दूसरे, निरीक्षक के कार्यभार को कम करना आवश्यक है। उनकी सहायता के लिए विशेषज्ञ सहायकों की नियुक्ति करने से निरीक्षण और नियन्त्रण में सफलता होगी। यदि निरीक्षक कार्यालय और पत्र-व्यवहार के काम से छुट्टी पा जाय तो वह शैक्षिक और विद्वत्तापूर्ण विषयों की ओर अधिक ध्यान दे सकेगा।

तीसरे, निरीक्षण-दलों में शिक्षण-विधियों के विशेषज्ञों को सम्मिलित करना चाहिए ताकि यह विशेषज्ञ विद्यालयों में जाकर प्रत्येक विषय की शिक्षण विधि की जाँच अच्छी तरह कर सकें और अध्यापकों को उचित परामर्श दे सकें।

मुदालियर आयोग ने यह भी बताया है कि निरीक्षकों में कौनसे व्यक्तित्वगुण

उनके मन पर चोट न पहुँचायें। निष्पक्ष होकर हर पहलू पर वह विचार करे और व्यावहारिक सुझाव देने की योग्यता रखे।

आयोग ने कहा है कि निरीक्षण सर्वाङ्गीण होना चाहिए। विद्यालयों के कार्यों के हर पहलू की जाँच की जानी चाहिए। शिक्षण या कार्यालय के अतिरिक्त पुस्तकालय, प्रयोगशाला, खेल के मैदान तथा खेल की सुविधाओं तथा अन्य शैक्षिक क्रियाओं की जाँच करनी चाहिए। आयोग के इस मत के संदर्भ में यह बता देना जरूरी है कि राज्यों के शिक्षा विभागों द्वारा 'एजूकेशन कोड' तैयार किये गये हैं और उनमें निरीक्षण के विषय स्पष्ट निश्चित कर दिये गये हैं। उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश के एजूकेशन कोड में निरीक्षण के निम्नलिखित विषय दिये गये हैं

१. अध्यापकों की शैक्षिक योग्यता तथा शिक्षण क्षमता।
२. अध्यापन-कार्य के लिए उपकरण एवं व्यवस्था।
३. स्वास्थ्य, मनोरंजन एवं पाठ्येतर क्रियाएँ।
४. विद्यार्थियों में अनुशासन।
५. पुस्तकालय की दशा।
६. पाठशाला और छात्रावास के भवन।
७. हर प्रकार के शुल्क की वसूली।
८. विद्यालय की आर्थिक स्थिरता।
९. प्रबन्ध-समिति का विधान।
१०. विद्यालय के रजिस्टर।
११. हिसाब-किताब के रजिस्टर तथा पत्र-व्यवहार की फाइलें।
१२. उपस्थिति के रजिस्टर।
१३. परीक्षा-परिणाम, शिक्षास्तर तथा पाठ्य-विषयों की व्यवस्था।
१४. अध्यापकों के लिखित कार्य, उनके और प्रबन्ध के राजीनामे के फार्म, उनकी नियुक्ति-बर्खास्तगी, नियत वेतन-क्रम के अनुसार वेतन की प्राप्ति आदि।

निरीक्षकों को निरीक्षण के समय इस प्रकार की सूची (Schedule) का ध्यान रखना चाहिए। कभी-कभी निरीक्षक को इन तमाम विषयों का आकस्मिक निरीक्षण करना चाहिए ताकि असली स्थिति का पता चल जाय। विद्यालयों की असली स्थिति का पता लगाने के लिए निरीक्षक को छात्रों, छात्र-सभा के पदाधिकारियों और अध्यापकों से व्यक्तिगत साक्षात्कार करना चाहिए। उसे विशेष रूप से प्रधानाध्यापक और अध्यापकों के पारस्परिक सम्बन्धों की जाँच करनी चाहिए। अच्छा हो यदि स्कूल के आस-पास के समाज में विद्यालय के बारे में क्या धारणा है, इसकी जानकारी प्राप्त कर ली जाय।

निरीक्षण के समय प्रधानाचार्य और अध्यापकों के साथ विचार-विमर्श, प्रत्यक्ष उपयोगी सुझाव, भय के वातावरण का अन्त, और सहयोगपूर्ण दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। जॉन ए० बार्टके ((John A. Bartkey) ने अपनी पुस्तक

'Supervision as Human Relations' में निरीक्षण के कई प्रकार बताये हैं, जैसे निरंकुश निरीक्षण, जाँच-प्रधान निरीक्षण, प्रतिनिधित्वपूर्ण निरीक्षण, सहयोगात्मक प्रजातान्त्रिक निरीक्षण, वैज्ञानिक निरीक्षण और रचनात्मक निरीक्षण। आज के प्रजातान्त्रिक युग में निरीक्षण वैज्ञानिक और रचनात्मक होना चाहिए।

प्रशासकीय नियन्त्रण के लिए शिक्षा के क्षेत्र में कई प्रभावशाली उपाय वर्तमान हैं और उनका उपयोग उचित रूप में किया जाना चाहिए। शिक्षा-विभागों को समय-समय पर शिक्षा संस्थाओं से हर प्रकार की जानकारी पत्र-व्यवहार द्वारा प्राप्त करते रहना चाहिए। मान्यता प्रदान करने और अनुदान देने की शक्ति शिक्षा विभाग के हाथ में है। विद्यालयों को आदर्श कार्य करने के लिए शिक्षा विभाग इन शक्तियों का उपयोग कर सकता है। विद्यालयों को मान्यता और अनुदान देने के समय शिक्षा विभाग के अधिकारियों को निष्पक्ष होकर केवल उन्हीं विद्यालयों को सहायता पहुँचानी चाहिए, जो सुपात्र हों और अपना काम ईमानदारी से चलाते हों। मान्यता देने और अनुदान की धन-राशि निश्चित करते समय उन्हें यह देखना चाहिए कि विद्यालय निर्धारित शर्तों का पालन कर रहे हैं या नहीं। सार्वजनिक परीक्षाओं के द्वारा भी शिक्षा विभाग अपने नियन्त्रण को मजबूत बना सकता है। इन परीक्षाओं से संस्थाओं की उपलब्धि, शिक्षा-स्तर तथा पाठ्यक्रम निश्चित करने से सम्भव होती है। शिक्षा विभाग नियन्त्रण के लिए इनका उपयोग कर सकता है। नियन्त्रण का एक साधन एजूकेशन कोड है। इसके द्वारा प्रशासन नियन्त्रण को सफल बना सकता है।

शैक्षिक प्रशासन के नियन्त्रण और निरीक्षण को सफल बनाने के लिए कोठारी शिक्षा-आयोग ने कई सुझाव दिये हैं। उनमें से प्रमुख सुझाव है—जिला-स्तर पर सत्ता को डिस्ट्रिक्ट स्कूल बोर्ड तथा जिला स्कूल अधिकारी को सौंपना। यद्यपि शिक्षा निदेशालय राज्य भर के शिक्षा प्रशासन के लिए जिम्मेदार होगा परन्तु वह इन दो सत्ताओं—बोर्ड और निरीक्षक (जिला स्कूल अधिकारी) का प्रशासन का एजेन्ट बनाएगा। जिला स्कूल बोर्ड अनुदान और मान्यता के द्वारा स्कूलों पर नियन्त्रण रखेगा तो जिला स्कूल अधिकारी निरीक्षण के द्वारा। यह अधिकारी निदेशालय से आर्थिक मामलों में और शैक्षिक मामलों में स्टेट इन्स्टीट्यूट आफ एजूकेशन से पथ-प्रदर्शन प्राप्त करेगा। इसकी संस्तुति पर ही विद्यालयों को अनुदान पाने का हक होगा। इनकी सहायता से प्रशासनिक नियन्त्रण और निरीक्षण का काम अच्छे ढंग से हो सकेगा।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. भारतीय शैक्षिक प्रशासन की दो प्रमुख समस्याओं का उल्लेख कीजिए। उनकी व्याख्या कीजिए और उन्हें हल करने के उपाय बताइए।

२. शैक्षिक प्रशासन को प्रजातान्त्रिक बनाने का क्या उद्देश्य है ? यदि भार-

तीय शैक्षिक प्रशासन को प्रजातांत्रिक बना दिया जाय तो आप किन परिणामों की आशा करते हैं ?

३. "अधिकांश समस्याएँ जैसे विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता, अध्यापकों का असहयोग, अभिभावकों की उदासीनता, शिक्षण की उत्तमता की कमी और पाठशाला के साधनों का दुरुपयोग आदि शैक्षिक प्रशासकों के दूषित दृष्टिकोण से पैदा होती है।" इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं ? अपने विचार प्रकट कीजिए।

४. भारतीय शैक्षिक प्रशासन में एकसूत्रता (Co-ordination) की समस्या क्यों उत्पन्न हुई है ? इसे हल करने के लिए क्या किया जा सकता है ?

५. 'अमानवीयता' की समस्या का स्पष्टीकरण कीजिए। शैक्षिक प्रशासक में किन गुणों के होने से यह अमानवीयता (Dehumanization) दूर हो सकती है ?

६. शैक्षिक प्रशासन के लिए केन्द्रीकरण के पक्ष में कौन मुख्य तर्क दिये जाते है ? केन्द्रीयकरण हो जाने से कौन प्रमुख दोष पैदा हो सकते हैं ?

७. आधुनिक युग में शैक्षिक प्रशासन के विकेन्द्रीकरण का समर्थन क्यों किया जाता है ? भारत में शैक्षिक प्रशासन के विकेन्द्रीकरण के लिए किये गये प्रयत्नों का उल्लेख कीजिए।

८. केन्द्रीय शैक्षिक प्रशासन (भारत में) का संक्षेप में विवरण दीजिए और बताइए कि उसमें कौन सी प्रवृत्तियाँ (Trends) स्पष्ट होती है ?

९. संविधान ने शिक्षा-प्रशासन का बँटवारा किस प्रकार केन्द्र और राज्यों के बीच करने की व्यवस्था की है ? इससे क्या कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई है और उन्हें दूर करने के लिए क्या उपाय किये जा सकते हैं ?

राजस्थान विश्वविद्यालय की बी० एड० परीक्षा में पूछे गये प्रश्न

1. Discuss and give your comments on the experiment of decentralization of primary education in Rajasthan. Do you think this experiment should be extended to secondary education as well ? If so, how and in what stages ? (1961)

2. Discuss the relationship between (a) the Central Government and State Government, and (b) the State Government and the local bodies, the Panchayat Samities or Private Agencies with reference to (i) Financial Control and Educational Planning and (ii) Professional guidance. (1962)

3. Write short notes on :—
   (a) Primary Education with Panchayats—its credit side and its debit side. (1964)
   (b) Role of the Government in the field of education in a welfare state. (1963)
   (c) Decentralization of educational administration (1963)
   (d) Impact of decentralization of primary education in Rajasthan. (1965)
   (e) Creative administration (1965)
4. Formulate your views regarding the desirability and the possibility of involving schools in the development of local communities. (1965)

५. बलवत राय मेहता समिति (१९५७) के विशेष सुझाव क्या थे ? इसका प्रभाव आपके राज्य के प्राथमिक शिक्षा के प्रजातंत्रात्मक प्रशासन के विकेन्द्रीकरण पर क्या पड़ा है ? (१९६६)

६ सप्रू समिति ने यह सुझाव दिया था कि उच्च शिक्षा को समवर्ती सूची में समावेश किया जाय। इस प्रस्ताव के सम्बन्ध में आपका क्या दृष्टिकोण है ? (१९६७)

७ आपके विचार में आपके क्षेत्र के निरीक्षणालय तथा गैर-सरकारी माध्यमिक विद्यालयों की प्रबन्ध समितियों में क्या सम्बन्ध होना चाहिए ? वर्तमान सम्बन्ध में ऐसे कौनसे तत्त्व हैं जिनसे आप सन्तुष्ट नहीं हैं ? (१९६८)

८ शैक्षणिक योजनाओं की रचना और परिपालन के लिए वर्तमान मशीनरी (व्यवस्था) में सुधार के लिए क्या करना चाहिए ? (१९६८)

अध्याय १५

भारत में प्रौढ़ एवं सामाजिक शिक्षा

प्रौढ़ एवं सामाजिक शिक्षा के विकास का इतिहास

इस समय भारत में अन्य देशों की भाँति सामाजिक शिक्षा का प्रसार और प्रबन्ध सरकार की एक प्रमुख जिम्मेदारी मानी जाती है परन्तु भारत जैसे देश में अभी तक सारी जनता की शिक्षा का प्रबन्ध नहीं हो पाया। यहाँ से वयस्क निरक्षरों को साक्षर बनाकर सामाजिक शिक्षा के लक्ष्य को पूरा कर लेना नितान्त असम्भव है। अभी इसी वर्ष १९६७ के सितम्बर मास में, भारत के भीतर अन्तर्राष्ट्रीय साक्षरता दिवस मनाया गया है जिसका आयोजन विश्व संस्था यूनेस्को की ओर से हुआ था। इस अवसर पर भारत सरकार के शिक्षा-सलाहकार श्री हुमायूँ ने बताया कि योजना आयोग के आँकड़ों से प्रकट होता है कि आजादी के बाद के २० वर्षों में साक्षरता प्रसार के जो भी प्रयत्न किए गए थे, वे जनसंख्या की वृद्धि के कारण व्यर्थ गए। इससे स्पष्ट है कि हमारे देश में प्रौढ़ और सामाजिक शिक्षा का कार्य अत्यन्त असन्तोषपूर्ण है और इस कार्य में अनेक समस्याएँ बाधा डाल रही हैं। अत इसकी ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालना जरूरी है ताकि इन समस्याओं को समझा जाय और उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया जाय।

ऐतिहासिक विवेचन से पूर्व यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस देश में सामाजिक शिक्षा का वर्तमान स्वरूप बहुत थोड़े वर्षों के भीतर निश्चित हुआ है। हमारा देश शिक्षा की दृष्टि से अब तक पिछड़ा हुआ है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि सामाजिक शिक्षा के क्षेत्र में भी हम पिछड़े रहे। इस प्रकार की शिक्षा का इतिहास लगभग ४५ वर्ष पुराना है और इसका तीन चरणों में विकास हुआ है।

साक्षरता आन्दोलन— वास्तव में जिस वर्ष (१९२१) हमारे देश में राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, सामाजिक शिक्षा का जन्म भी उसी वर्ष साक्षरता

आन्दोलन (Literacy Movement) के रूप मे हुआ। पराधीन भारत मे अग्रेजो ने शिक्षा की कोई व्यवस्था नही की थी और उसका परिणाम यह हुआ कि यहाँ के ६५% लोग निरक्षर ही बने रहे। जब गाधीजी के नेतृत्व मे देश ने करवट बदली, तो यह अनुभूति देश मे पैदा हुई कि निरक्षर जनो को 'स्वतन्त्रता' का स्वाद कैसे मालूम हो सकता है ? इसलिए स्वतन्त्रता-सग्राम के लिए जो रचनात्मक कार्यक्रम चलाए गए, उनमे साक्षरता प्रसार का आन्दोलन प्रमुख था। गाधीजी ने जिस प्रकार अछूतोद्धार, नशाबन्दी और साम्प्रदायिक सहिष्णुता के आन्दोलनो को स्वराज्य-प्राप्ति का साधन बनाया था, उसी प्रकार साक्षरता-प्रसार को भी उन्होने आजादी पाने का अस्त्र माना।

प्रारम्भ मे गाधीजी तथा अन्य राष्ट्रवादी नेताओ ने साक्षरता के अन्तर्गत देहात के किसानो और शहरो के मजदूरो को अक्षर-बोध कराने का लक्ष्य निर्धारित किया। देश-सेवा की भावना से प्रेरित होकर हजारो की सख्या मे काग्रेस के स्वय-सेवक इस काम मे लग गए। उत्साह इतना था कि रात मे लालटेन लेकर वे लोग अधेरे गाँवो मे जाते और साक्षरता का प्रचार करते। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि गाधीजी 'साक्षरता' को ही एकमात्र लक्ष्य नही मानते थे। उन्होने सामाजिक शिक्षा के सर्वाङ्गीण महत्त्व को पूरी तरह समझा था। उनका कहना था कि अग्रेजी काल मे प्रशिक्षित जन भी नौकरी पाने या व्यवसाय मे लगने के बाद अज्ञानता के अन्धकार मे घिरकर निरक्षर बन जाते थे। उनका विचार था कि सामाजिक शिक्षा अपने व्यापक अर्थों मे साक्षर और निरक्षर सभी प्रकार के लोगो के लिए है। उसका उद्देश्य निरतर हर जन-मानस को ज्ञान के आलोक से प्रकाशित रखना है। उन्होने अपने एक लेख मे कहा है—"सामाजिक शिक्षा जो किसी प्रकार भी सारी जनता की शिक्षा से कम नही है, केवल रात्रि पाठशालाएँ चलाने या थके-मादे मजदूरो को लिखना-पढ़ना सिखाने तक सीमित नही है।"

सन् १६२१ मे अग्रेज सरकार ने शिक्षा का विषय जनप्रिय मन्त्रियो को सौंप दिया। इससे साक्षरता आन्दोलन को कुछ उत्तेजन मिला। सन् १६२२ मे जाँच के पश्चात् यह ज्ञात हुआ कि साक्षरता केवल ८·२% ही हो पायी। फिर भी प्रयत्न जारी रहे। सन् १६२७ मे भयानक विश्व-अर्थ-सकट के कारण इस आन्दोलन को गहरा धक्का लगा। इसके बाद ही अखिल एशिया शिक्षा सम्मेलन हुआ जिसमे सामाजिक पिछड़ेपन को दूर करने पर जोर दिया गया। श्री डी० एन० कृष्णैया और श्री पायले जैसे वक्ताओ ने छात्रो और अध्यापको से अनुरोध किया कि वे साक्षरता आन्दोलन को सफल बनाये। उनसे देहातो मे जाकर पुस्तकालय चलाने, स्वास्थ्य और स्वच्छता की ओर ध्यान दिलाने, मद्यपान तथा मुकदमेबाजी की बुराई को दूर करने का आन्दोलन चलाने का आग्रह किया गया।

सन् १९३७ में प्रान्तीय स्वायत्त शासन की स्थापना के बाद भारत के अनेक प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों को शासन मिला। इससे यह आशा हुई कि अब साक्षरता-प्रसार में सरकार द्वारा अधिक सहायता मिलेगी। इसी वर्ष अखिल भारतीय प्रौढ़-शिक्षा संघ की स्थापना हुई और अगले वर्ष इसका अधिवेशन हुआ। सारे देश में साक्षरता-प्रसार की धूम मच गयी। इसके दो प्रमुख परिणाम हुए। एक, अब 'साक्षरता-प्रसार' को 'प्रौढ़-शिक्षा' का नाम दे दिया गया और दूसरे, इस कार्य में अनेक जनसेवी संस्थाओं जैसे Y M C A तथा सरकार ने भी भारी दिलचस्पी लेनी आरम्भ की।

प्रौढ़-शिक्षा—सन् १९३७ में प्रौढ़-शिक्षा संघ की स्थापना हुई तो 'साक्षरता' ने प्रौढ़-शिक्षा का रूप ले लिया। सन् १९३९ में विश्वयुद्ध छिड़ गया और कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने त्याग-पत्र दे दिया। देश के भीतर भी आजादी के लिए संघर्ष तेज हो गया। अत प्रौढ़-शिक्षा के प्रति आम जनता की दिलचस्पी कम हो गयी। फिर भी युद्ध के दौरान भारतीय शिक्षा को सुधारने के लिए जो सार्जेन्ट योजना सरकार की ओर से पेश की गई, उसमें प्रौढ़-शिक्षा के विकास के लिए २२ वर्षीय कार्यक्रम का उल्लेख था। इससे स्पष्ट होता है कि विदेशी सरकार को भी प्रौढ़-शिक्षा की ओर ध्यान देना अनिवार्य जान पड़ने लगा था।

प्रौढ़-शिक्षा के अन्तर्गत इस शिक्षा का अर्थ व्यापक बनने लगा। केवल निरक्षर जन ही इसके कार्यक्रम के अंग न थे, इसका उद्देश्य सामान्य जनता के सूचनात्मक ज्ञान का स्तर ऊँचा करना था। उन्हें इस योग्य बनाना था कि वे देश-विदेश में होने वाली घटनाओं की जानकारी प्राप्त कर सकें, उन्हें स्वास्थ्य के विषयों की जानकारी हो जाय और वे बीमारियों से बच सकें। समय का सदुपयोग करना भी उन्हें सिखाया जाय। यह कार्यक्रम सामान्यजन के लिए रोचक था और अनेक जनसेवी संस्थाओं ने इसे अपनाया। अनेक प्रकार की जनसेवी संस्थाओं ने प्रौढ़-शिक्षा के लिए प्रयत्न आरम्भ किए। इनमें पुस्तकालय संघ, रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द सोसाइटी, राधास्वामी सत्संग, आदिवासी सेवा समिति, उत्तर भारत मजदूर संघ, अध्यापक संघ, स्त्री संघ, क्रिश्चियन मिशन, हरिजन सेवक मण्डल, आर्यसमाज, हिन्दी साहित्य समिति तथा ऐसी ही अनेक संस्थाएँ गिनी जा सकती हैं। प्रौढ़-शिक्षा के क्षेत्र में इन संस्थाओं ने सराहनीय कार्य किया है।

सामाजिक शिक्षा—स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद प्रौढ़-शिक्षा को सामाजिक शिक्षा के नाम से पुकारा जाने लगा। सन् १९४९ में श्री मोहनलाल सक्सेना की अध्यक्षता में एक समिति प्रौढ़-शिक्षा पर विचार करने के लिए नियुक्त की गई। इस समिति ने प्रौढ़-शिक्षा को सामाजिक शिक्षा का नाम देने की संस्तुति दी। इसके अतिरिक्त उसने समाज-शिक्षा के लक्ष्य निर्धारित किये

१ नागरिकों को अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति सचेत करना।

२. जनतन्त्र के प्रति उनमें प्रेम उत्पन्न करना, उन्हें जनतन्त्रीय जीवन और शासन प्रणाली की शिक्षा देना।
३. नागरिकों को देश तथा विश्व की समस्याओं से अवगत कराना।
४. इतिहास-भूगोल और सांस्कृतिक शिक्षा द्वारा भारतीय संस्कृति के प्रति गौरव की भावना उत्पन्न करना।
५. गायन, नृत्य, कविता, नाटक तथा सांस्कृतिक कार्यों के माध्यम से नागरिकों के लिए स्वस्थ मनोरंजन के अवसर प्रदान करना।
६. सामूहिक वाद-विवाद और पठन-पाठन के माध्यम से नैतिक मूल्यों का परिचय देना।
७. लिखना-पढ़ना और गणित का साधारण ज्ञान देना।
८. दस्तकारी की शिक्षा देकर नागरिकों की आर्थिक क्षमता बढ़ाना।
९. सहयोग की भावना में वृद्धि करना।
१०. पुस्तकालय, विचार-गोष्ठी, जनता-महाविद्यालय तथा शिक्षा समितियों के विस्तार द्वारा शिक्षा की निरन्तरता बनाये रखना।

मोहनलाल सक्सेना समिति ने सामाजिक शिक्षा के सम्बन्ध में कई सुझाव भी दिये, यथा अगले ५ वर्षों में ५०% निरक्षरता हर राज्य दूर करे, सन् १९४९ से हर राज्य सरकार निरक्षरता-निवारण की योजना अप्रैल में बनाये, इस योजना के अन्तर्गत १२ वर्ष से लेकर ४५ वर्ष की आयु के व्यक्तियों को सामाजिक शिक्षा देने का कार्यक्रम बनाया जाय, राज्य अपने कर्मचारियों के लिए सामाजिक शिक्षा की व्यवस्था करे। प्रत्येक प्राथमिक शाला में एक और माध्यमिक शाला में दो सामाजिक शिक्षा के केन्द्र चलाये जायँ तथा अध्यापकों को कुछ पारिश्रमिक भी दिया जाय। प्रौढ़-साहित्य की रचना की जाय और प्रौढ़-शिक्षण की विधियों पर शोध की जाय।

सन् १९४९ में केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय की ओर से राज्यों के मन्त्रियों का एक सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन में सामाजिक शिक्षा की एक निर्देशिका योजना (Guide Plan) प्रस्तुत की गयी और उसे स्वीकार किया गया। केन्द्र सरकार ने वित्तीय सहायता देने का वचन दिया।

सन् १९४९ में सामाजिक शिक्षा अधिकारियों का सम्मेलन हुआ। इसमें कई महत्त्वपूर्ण निर्णय किये गये। एक उप-समिति नियुक्त हुई जिसे सामाजिक शिक्षा के अध्यापकों, विधियों और पाठ्यक्रम पर विचार करने का भार सौंपा गया। ९० दिनों का पाठ्यक्रम तैयार किया गया और प्रतिदिन दो घण्टे कार्य के लिए निर्धारित किये गये। १२ से ४० वर्ष की आयु के लोग इस कार्यक्रम में शामिल करने का निश्चय हुआ। प्रति अध्यापक ३० प्रौढ़-जन की संख्या तय हुई। सामाजिक शिक्षा के कार्यक्रम को चलाने के लिए स्वयंसेवक अध्यापकों के साथ-साथ प्राथमिक तथा माध्यमिक अध्यापकों का सहयोग लेने का सिद्धान्त स्वीकार हुआ। इन अध्यापकों के

निरक्षरता आवश्यक बताया गया। यह भी निश्चित किया गया कि शिक्षा विभागों में सामाजिक शिक्षा की भी एक इकाई रहे।

सन् १९४९ में मैसूर में यूनेस्को की ओर से सामाजिक शिक्षा पर एक गोष्ठी (सेमीनार) आयोजित की गई जिसमें इसके विभिन्न अंगों पर विचार प्रकट किये गये। भारत के तत्कालीन केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री मौलाना अबुल कलाम आजाद ने सामाजिक शिक्षा को 'सम्पूर्ण मनुष्य की शिक्षा' के रूप में स्पष्ट करते हुए अपने उद्घाटन भाषण में कहा कि यह शिक्षा मनुष्य को हर प्रकार से सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण बनाती है। उन्होंने कहा कि भारत में साक्षरता की बड़ी आवश्यकता है क्योंकि इसके द्वारा हर आदमी को अपने भौतिक वातावरण का ज्ञान प्राप्त होगा और उससे वह सामञ्जस्य स्थापित कर सकेगा। दस्तकला और उद्योग के लिए विविध ज्ञान को प्राप्त कर वह अपनी आर्थिक क्षमता बढ़ा सकेगा। इस शिक्षा से उसके स्वास्थ्य और घरेलू जिन्दगी में सुधार होगा। साथ ही उसमें नागरिकता की भावना भी पुष्ट होगी।

सामाजिक शिक्षा के इतिहास में सन् १९४९-५० का वर्ष बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। कार्यकर्ताओं में अपूर्व उत्साह देखने में आया। उन्होंने गाँवों में शिविर बनाये और दृश्य-श्रव्य साधनों का प्रयोग भी किया। सरकार ने भी पर्याप्त आर्थिक सहायता प्रदान की। सन् १९५० में शैक्षिक कारवाँ (Educational Caravan) की योजना के अन्तर्गत ८-५ जीपों और ट्रेलरों को चलते-फिरते रंगमंच के रूप में लाया गया। साथ में पुस्तकालय, प्रदर्शनी, सिनेमाघर और प्रोजेक्टर भी थे। यह कारवाँ गाँव-गाँव पहुँच कर सामाजिक शिक्षा के कार्य में हिस्सा लेने लगा। स्थानीय समस्याओं पर लिखे गये नाटक खेले गये। दूसरा उपाय था, अध्यापकों के दलों का साक्षरता-प्रचार में जुटना। स्त्री-पुरुष अध्यापक टोलियाँ बना कर गाँवों में भ्रमण करने और ४-६ सप्ताह के लिए डेरे डालते। उनका उद्देश्य निरक्षरता की दीवारों को ध्वस्त करना था। कारवाँ के गुजरने और अध्यापक टोलियों के चले जाने पर सामाजिक शिक्षा का भार स्थानीय कार्यकर्ताओं और अध्यापकों पर छोड़ दिया जाता था। यह था सामाजिक शिक्षा का फौजी पैमाने पर किया गया कार्य।

सन् १९५१ में भारत का प्रथम 'जनता कालेज' दिल्ली से ११ मील की दूरी पर अलीपुर गाँव में खोला गया। इस कार्य में 'जामियामिलिया' ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया। यूनेस्को से भी सहायता मिली। दिल्ली जनता पुस्तकालय ने इस दिशा में पर्याप्त प्रयत्न किये। इस वर्ष प्रौढ़-साहित्य की रचना और दृश्य साधनों के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किये गये।

सामाजिक शिक्षा का महत्त्व बढ़ता गया और सन् १९५२ में पंचवर्षीय योजनाओं का युग आरम्भ हुआ। इन योजनाओं में भी सामाजिक शिक्षा को पर्याप्त महत्त्व दिया गया। अब हम आगे का इतिहास इन योजनाओं के सन्दर्भ में लिखेंगे।

पंचवर्षीय योजनाएँ और सामाजिक शिक्षा—प्रथम पंचवर्षीय योजना में केवल सामाजिक शिक्षा की व्यवस्था पर बल दिया गया। यह कहा गया कि सामाजिक तथा बुनियादी शिक्षा में अधिक से अधिक सहयोग होना चाहिए। लक्ष्य की प्रगति के लिए पाँच सामुदायिक केन्द्र खोलने का प्रस्ताव था। साथ ही पुस्तकालयों और जनता विद्यालयों के विकास पर जोर दिया गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना में सह-सम्बन्धित पुस्तकालय सेवा के अन्तर्गत हर मोहल्ले में (शहरों में) और गाँवों में चौपाल, पंचायतघर, पाठशाला या लोकप्रिय नागरिक के घर में पुस्तकालय की स्थापना का प्रस्ताव था। इसमें प्रौढ़-जनों की रुचि के अनुकूल गृहकारिता, कुटीर उद्योग तथा स्वास्थ्य से सम्बन्धित साहित्य उपलब्ध कराने तथा नागरिकों में समाज शिक्षा के प्रति अभिरुचि पैदा करने का लक्ष्य रखा गया। इन पुस्तकालयों के साथ सचल पुस्तकालयों का उपयोग करने की समस्या पर विचार किया गया।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में जनता कालेजों के चलाने का उल्लेख था। इस जनता कालेज का संक्षिप्त विवरण देना जरूरी है। यह एक ऐसी संस्था है जो समीपवर्ती जीवन का प्रतिनिधित्व करती है। इसमें लोक जीवन अपने असली रूप में उतर आता है। लोक-नृत्य, लोकोत्सव, मनोविनोद, शिविर आदि का इस जनता कालेज में प्रबन्ध होता है। स्वास्थ्य और स्वच्छता के नियम यहाँ बताये जाते हैं। स्थानीय लोगों की समिति इसका संचालन करती है। इसका प्रधानाचार्य कोई अनुभवी आदमी होता है। कृषि और दस्तकारी की शिक्षा भी यहाँ दी जाती है। स्त्रियों की शिक्षा के लिए गृहविज्ञान की पढ़ाई यहाँ होती है। शिक्षा निःशुल्क दी जाती है। जनता कालेज कई उपयोगी आन्दोलनों को भी संगठित करता है, जैसे स्वच्छता-अभियान, श्रमदान द्वारा सड़क-निर्माण, सामाजिक सेवा, साक्षरता, फिल्म-प्रदर्शन, अन्तर्ग्राम खेलकूद आदि।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में सामुदायिक केन्द्रों के विकास की व्यवस्था की गयी। कुछ चुने हुए प्राथमिक स्कूलों में यह केन्द्र खोलने का विचार किया गया। यह केन्द्र सामाजिक शिक्षा के प्रमुख साधन बनने वाले थे। इनमें सांस्कृतिक कार्यक्रमों का बाहुल्य होना चाहिए जिनमें स्त्री-पुरुष भाग ले सकें। मनोविनोद प्रधान कार्यक्रमों, जैसे खेलकूद, नृत्य, भजन, समूहगान और नाटक के द्वारा जनता की दिलचस्पी शिक्षा में जगाने का विचार था। रेडियो, फिल्म तथा प्रदर्शनी की सहायता से शिक्षा देने की बात कही गयी थी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सामाजिक शिक्षा के विकास के लिए १५ करोड़ रुपये की धनराशि स्वीकृत हुई और सारे देश में सामुदायिक विकास-खण्डों की स्थापना के लिए १० करोड़ रुपये खर्च करने का निश्चय किया गया। दिल्ली में आधारभूत शिक्षा केन्द्र (Fundamental Education Centre) खोलने की अलग से व्यवस्था की गयी। इस बार सामाजिक शिक्षा को बहुमुखी बनाने का प्रयास करने पर विशेष जोर दिया गया। दूसरी पंचवर्षीय योजना के दौरान बहुत-सी सरकारी

संस्थाएं इस काम में संलग्न हुई। इसके अतिरिक्त हमारे देश में चलने वाले समाज-कल्याण, हरिजन-कल्याण, बाल-कल्याण, महिला-कल्याण, मजदूर-कल्याण की सेवाओं के माध्यम से भी सामाजिक शिक्षा का प्रचार-प्रसार तेजी से होने लगा। अन्य सार्वजनिक संस्थाएं, जैसे ग्राम विकास परियोजना, सर्वोदय संघ और भारत सेवक समाज का योगदान भी पर्याप्त मात्रा में रहा।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में कहा गया कि 'समाज शिक्षा का मतलब है, सामुदायिक प्रयत्न द्वारा समाज के उत्थान का सर्वव्यापी प्रयत्न'। अतः यह स्वीकार किया गया कि सामाजिक शिक्षा के अन्तर्गत साक्षरता, स्वास्थ्य, मनोरंजन, वयस्कों के गार्हस्थ्य जीवन के कार्यक्रम, नागरिकता का प्रशिक्षण, आर्थिक क्षमता-वृद्धि के लिए मार्गदर्शन आदि बातें आ जाती हैं। इस बार यह भी स्वीकार किया गया कि भारत में प्रजातंत्र के विकास और पुनर्निर्माण के कार्य को पूरा करने के लिए समाज शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है। इसका कारण यह बताया गया कि तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत जिला-स्तर और खंड-स्तर पर पंचायती राज्य स्थापित हो जायगा। यदि वयस्क जन निरक्षर रहते हैं तो निश्चय ही पंचायती राज्य सफल नहीं हो सकेगा। उनके पढ़े-लिखे होने में ही उन्नति संभव है।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में केन्द्र और राज्यों की जिम्मेदारी समाज शिक्षा के सम्बन्ध में निर्धारित कर दी गयी। केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय का अपना अलग कार्यक्रम होगा। वह राष्ट्रीय मौलिक शिक्षा केन्द्र का विकास एक राष्ट्रीय शिक्षा संस्था के रूप में करेगा। नवसाक्षरों के लिए साहित्य का निर्माण और प्रकाशन, स्वैच्छिक संगठनों को जो सामाजिक शिक्षा के पुनीत कार्य में संलग्न हैं, आर्थिक सहायता देना और पुस्तकालयों की सुविधा बढ़ाना, केन्द्र की जिम्मेदारी निश्चित कर दी गयी। राज्यों की जिम्मेदारी यह तय की गयी कि वे अपने क्षेत्रों में योजनाबद्ध तरीके से पुस्तकालय खोलें, सम्पर्क स्थापक वर्गों की सहायता करें, वयस्क विद्यालय चलायें। इन सभी लक्ष्यों की पूर्ति के लिए २५ करोड़ रुपये खर्च करने का निश्चय किया गया।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में यह स्पष्ट कहा गया कि बहुत बड़े राष्ट्रीय पैमाने पर सामाजिक शिक्षा का कार्यक्रम चलाये बगैर यह सारे लक्ष्य पूरे नहीं किये जा सकते। इसे जन-आन्दोलन का रूप देना होगा। आन्दोलन में वेग लाने के लिए शिक्षा-विभागों तथा सामुदायिक विकास-खण्डों के अधिकारियों और कर्मचारियों का सहयोग अपेक्षित बताया गया। गांवों के विद्यालय समाज शिक्षा के केन्द्र हों, पंचायतों, सहकारी समितियों और स्वैच्छिक संगठनों का सहयोग प्राप्त किया जाय और साथ में अन्य सार्वजनिक संस्थाओं को भाग लेने की प्रेरणा दी जाय। इन बातों पर विशेष बल दिया जाय।

चतुर्थ योजना में साक्षरता की स्थिति पर बड़ी चिन्ता प्रकट की गयी है। सन् १९५१ में साक्षरता १७ प्रतिशत थी और सन् १९६१ में इसका प्रतिशत २४ हुआ

परन्तु साथ मे निरक्षरता भी बढ़ी। सन् १९५१ मे २९८० लाख व्यक्ति निरक्षर थे, तो १९६१ मे ३३४० लाख निरक्षर हुए। इसका कारण तेज गति से आबादी में वृद्धि है। यह एक दुखद स्थिति है। असाधारण गति मे आबादी की वृद्धि सामाजिक शिक्षा के सारे प्रयत्नो पर पानी फेर रही है। चतुर्थ योजना मे यह स्वीकार किया गया है कि बिना साक्षरता आन्दोलन चलाये देश की उन्नति नहीं हो सकती। कृषि फार्मो और कारखानो मे यदि उत्पादन बढाना है तो सामाजिक शिक्षा का कार्यक्रम सफल बनाया जाना चाहिए। यह भी कहा गया है कि सामाजिक शिक्षा को जनता के कार्य और जीवन से सम्बद्ध किया जाय। ग्रामीण क्षेत्रो मे पुस्तकालयो की सख्या बढाई जाय और भारत की विभिन्न भाषाओं मे नवसाक्षरो के लिए भारी सख्या मे पुस्तके तैयार करायी जायें। सामाजिक शिक्षा के प्रसार मे जन-सहयोग प्राप्त करना आवश्यक बताया गया।

चतुर्थ योजना मे सामाजिक शिक्षा को अधिक व्यापक रूप मे प्रस्तुत किया गया है। सन् १९६१ मे साक्षरता का प्रमाण था कि अमुक व्यक्ति पढ-लिख सकता है। छपे-लिखे हुए अक्षर पढ सकता है। परीक्षा पास करना जरूरी नही है, जो कुछ ज्ञान है, उसका उपयोग करता है। इस बात को चौथी योजना मे माना गया है पर उसके *साथ कुछ बाते और जोड दी गयी है, जैसे साक्षरता-प्रसार के काम मे सलग्न जनो* का प्रशिक्षण, पुस्तकालय-कर्मचारियों का प्रशिक्षण। यह भी कहा गया कि इस समस्या के समाधान के लिए राजनीतिक तथा नेतृत्व के स्तर पर युद्ध किया जाय। यह सकेत दिया गया कि राष्ट्रीय वयस्क शिक्षा मण्डल की स्थापना की जायगी ताकि राष्ट्रीय पैमाने पर सामाजिक शिक्षा के काम को अच्छी तरह मे चलाया जा सके। राज्यो मे भी वयस्क शिक्षा मण्डल बनाये जायगे जो सामाजिक शिक्षा के कार्यक्रम को जन-आन्दोलन का रूप देंगे। इस बात का पूरा प्रयत्न किया जायगा कि सभी क्षेत्रो मे गैर-सरकारी सहयोग प्राप्त किया जाय। विभिन्न सरकारी विभागो की सहायता भी ली जायगी।

सामाजिक शिक्षा और सामुदायिक विकास-खण्ड योजना

सामुदायिक विकास-खण्ड योजना का विचार हमारे देश मे पश्चिम मे आया है। इस योजना का उद्देश्य समाज की विभिन्न इकाइयो को छोटे-छोटे सामाजिक सघटको के रूप मे इस प्रकार विकसित करना है कि हर घटक के सदस्य स्वेच्छा से अपनी सामर्थ्य के अनुसार समाज की उन्नति मे योगदान दे। इस योजना को देश मे ग्रामीण जनता के उत्थान के लिए लागू किया गया था। प्रति सौ ग्रामो को एक सूत्र मे बाँधने के लिए एक विकास-खण्ड खोला गया जो सामूहिक चेतना का केन्द्र बन सके। इसके माध्यम मे ग्रामवासियो मे नवीनतम ज्ञान पहुचाने की व्यवस्था की गई। कृषि के क्षेत्र मे होने वाले प्रयोगो के परिणामो, पशुपालन की विधियो, हस्तो-द्योग, स्वास्थ्य के नियम तथा जीवनोपयोगी अनेक बातो का समझाने के लिए विकास

सस्थाए इस काम मे सलग्न हुई । इसके अतिरिक्त हमारे देश मे चलने वाले समाज-कल्याण, हरिजन-कल्याण, बाल-कल्याण, महिला-कल्याण, मजदूर-कल्याण की सेवाओ के माध्यम से भी सामाजिक शिक्षा का प्रचार-प्रसार तेजी से होने लगा। अन्य सार्वजनिक सस्थाए, जैसे ग्राम विकास परियोजना, सर्वोदय सघ और भारत सेवक समाज का योगदान भी पर्याप्त मात्रा मे रहा ।

तृतीय पचवर्षीय योजना मे कहा गया कि 'समाज शिक्षा का मतलब है, सामुदायिक प्रयत्न द्वारा समाज के उत्थान का सर्वव्यापी प्रयत्न'। अत यह स्वीकार किया गया कि सामाजिक शिक्षा के अन्तर्गत साक्षरता, स्वास्थ्य, मनोरजन, वयस्को के गार्हस्थ्य जीवन के कार्यक्रम, नागरिकता का प्रशिक्षण, आर्थिक क्षमता-वृद्धि के लिए मार्गदर्शन आदि बाते आ जाती है। इस बार यह भी स्वीकार किया गया कि भारत मे प्रजातत्र के विकास और पुनर्निर्माण के कार्य को पूरा करने के लिए समाज शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है। इसका कारण यह बताया गया कि तृतीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत जिला-स्तर और खड-स्तर पर पचायती राज्य स्थापित हो जायगा। यदि वयस्क जन निरक्षर रहते है तो निश्चय ही पचायती राज्य सफल नही हो सकेगा। उनके पढे-लिखे होने से ही उन्नति सभव है।

तृतीय पचवर्षीय योजना मे केन्द्र और राज्यो की जिम्मेदारी समाज शिक्षा के सम्बन्ध मे निर्धारित कर दी गयी। केन्द्रीय शिक्षा मत्रालय का अपना अलग कार्यक्रम होगा। वह राष्ट्रीय मौलिक शिक्षा केन्द्र का विकास एक राष्ट्रीय शिक्षा सस्था के रूप मे करेगा। नवसाक्षरो के लिए साहित्य का निर्माण और प्रकाशन स्वैच्छिक गठनो को जो सामाजिक शिक्षा के पुनीत कार्य मे सलग्न है, आर्थिक सहायता देना र पुस्तकालयो की सुविधा बढाना, केन्द्र की जिम्मेदारी निश्चित कर दी गयी। ज्यो की जिम्मेदारी यह तय की गयी कि वे अपने क्षेत्रो मे योजनाबद्ध तरीके से नकालय खोले, सम्पर्क स्थापक वर्गो की सहायता करे, वयस्क विद्यालय चलाये। सभी लक्ष्यो की पूर्ति के लिए २५ करोड रुपये खर्च करने का निश्चय किया गया।

तृतीय पचवर्षीय योजना मे यह स्पष्ट कहा गया कि बहुत बडे राष्ट्रीय पैमाने सामाजिक शिक्षा का कार्यक्रम चलाये बगैर यह सारे लक्ष्य पूरे नही किये जा । इसे जन-आन्दोलन का रूप देना होगा। आन्दोलन मे वेग लाने के लिए -विभागो तथा सामुदायिक विकास-खण्डो के अधिकारियो और कर्मचारियो का ग अपेक्षित बताया गया। गाँवो के विद्यालय समाज शिक्षा के केन्द्र हो, तो, सहकारी समितियो और स्वैच्छिक सगठनो का सहयोग प्राप्त किया जाय थ मे अन्य सार्वजनिक सस्थाओ को भाग लेने की प्रेरणा दी जाय। इन न दिया जाय।

पर बडी चिन्ता प्रकट की गयी है। सन्

सन् १९६१ मे इसका प्रतिशत २४ हुआ

परन्तु साथ में निरक्षरता भी बढ़ी। सन् १९५१ में २९८० लाख व्यक्ति निरक्षर थे, तो १९६१ में ३३४० लाख निरक्षर हुए। इसका कारण तेज गति से आबादी में वृद्धि है। यह एक दुखद स्थिति है। असाधारण गति से आबादी की वृद्धि सामाजिक शिक्षा के सारे प्रयत्नों पर पानी फेर रही है। चतुर्थ योजना में यह स्वीकार किया गया है कि बिना साक्षरता आन्दोलन चलाये देश की उन्नति नहीं हो सकती। कृषि फार्मों और कारखानों में यदि उत्पादन बढ़ाना है तो सामाजिक शिक्षा का कार्यक्रम सफल बनाया जाना चाहिए। यह भी कहा गया है कि सामाजिक शिक्षा को जनता के कार्य और जीवन से सम्बद्ध किया जाय। ग्रामीण क्षेत्रों में पुस्तकालयों की संख्या बढ़ाई जाय और भारत की विभिन्न भाषाओं में नवसाक्षरों के लिए भारी संख्या में पुस्तकें तैयार करायी जायें। सामाजिक शिक्षा के प्रसार में जन-सहयोग प्राप्त करना आवश्यक बताया गया।

चतुर्थ योजना में सामाजिक शिक्षा को अधिक व्यापक रूप में प्रस्तुत किया गया है। सन् १९६१ में साक्षरता का प्रमाण था कि अमुक व्यक्ति पढ़-लिख सकता है। छपे-लिखे हुए अक्षर पढ़ सकता है। परीक्षा पास करना जरूरी नहीं है, जो कुछ ज्ञान है, उसका उपयोग करना है। इस बात को चौथी योजना में माना गया है पर उसके साथ कुछ बातें और जोड़ दी गयी हैं, जैसे साक्षरता-प्रसार के काम में संलग्न जनों का प्रशिक्षण, पुस्तकालय-कर्मचारियों का प्रशिक्षण। यह भी कहा गया कि इस समस्या के समाधान के लिए राजनीतिक तथा नेतृत्व के स्तर पर युद्ध किया जाय। यह संकेत दिया गया कि राष्ट्रीय वयस्क शिक्षा मण्डल की स्थापना की जायगी ताकि राष्ट्रीय पैमाने पर सामाजिक शिक्षा के काम को अच्छी तरह से चलाया जा सके। राज्यों में भी वयस्क शिक्षा मण्डल बनाये जायेंगे जो सामाजिक शिक्षा के कार्यक्रम को जन-आन्दोलन का रूप देंगे। इस बात का पूरा प्रयत्न किया जायगा कि सभी क्षेत्रों से गैर-सरकारी सहयोग प्राप्त किया जाय। विभिन्न सरकारी विभागों की सहायता भी ली जायगी।

सामाजिक शिक्षा और सामुदायिक विकास-खण्ड योजना

सामुदायिक विकास-खण्ड योजना का विचार हमारे देश में पश्चिम से आया है। इस योजना का उद्देश्य समाज की विभिन्न इकाइयों को छोटे-छोटे सामाजिक संघटकों के रूप में इस प्रकार विकसित करना है कि हर घटक के सदस्य स्वेच्छा से *अपनी सामर्थ्य के अनुसार समाज की उन्नति में योगदान दें।* इस योजना को देश में ग्रामीण जनता के उत्थान के लिए लागू किया गया था। प्रति सौ ग्रामों को एक सूत्र में बाँधने के लिए एक विकास-खण्ड खोला गया जो सामूहिक चेतना का केन्द्र *बन सके। इसके माध्यम से ग्रामवासियों में नवीनतम ज्ञान पहुँचाने की व्यवस्था की* गई। कृषि के क्षेत्र में होने वाले प्रयोगों के परिणामों, पशुपालन की विधियों, हस्तो-द्योग, स्वास्थ्य के नियम तथा जीवनोपयोगी अनेक बातों को समझाने के लिए विकास

खण्ड के अधिकारियों और कर्मचारियों के ऊपर जिम्मेदारी सौंपी गई। यह आशा प्रकट की गई कि यह लोग ग्रामवासियों में नई चेतना पैदा करेंगे और देश की पंचवर्षीय योजनाओं के प्रति दिलचस्पी जाग्रत करेंगे। इस प्रकार सामुदायिक विकास योजना मूलतः सामाजिक शिक्षा की एक व्यापक योजना है। इसका सारा कार्यक्रम शैक्षिक है और विभिन्न उपायों से सामाजिक शिक्षा के लक्ष्यों को पूरा करने का प्रयत्न किया जाता है।

सामुदायिक विकास-खण्ड में अनेक अधिकारी होते हैं, जैसे कृषि, बीज, चिकित्सा, पशु-चिकित्सा, कुक्कुट-पालन, पशुपालन आदि के अधिकारी। इनके साथ-साथ सामाजिक शिक्षा के महिला तथा पुरुष अधिकारी भी होते हैं। सामाजिक शिक्षा के अधिकारी पर गाँवों के पुरुषों और महिलाओं में साक्षरता-प्रसार की जिम्मेदारी होती है। यह लोग गाँवों-गाँवों का दौरा करते हैं और निरक्षरता के उन्मूलन का पूरा प्रयत्न करते हैं। सामाजिक शिक्षा अधिकारी की सहायता के लिए ग्रामसेवक, गृहलक्ष्मी और ग्रामसेविकाएँ होती हैं और इनकी सहायता से साक्षरता-अभियान चलाया जाता है। स्त्री-पुरुषों के लिए अलग-अलग कार्यक्रम होते हैं। दोनों के लिए अलग-अलग साक्षरता कक्षाएँ चलाई जाती हैं। बड़ी आयु के पुरुषों के लिए जो नवसाक्षर बन जाते हैं, समाज-सदन बना दिया जाता है और इनके लिए खेल-कूद, उद्योग तथा विषय-चर्चा की व्यवस्था की जाती है। तरुण वयस्कों को तरुण संघ के रूप में सगठित कर लिया जाता है। इन उत्साही नवयुवकों के लिए स्काउटिंग, सेवा-समिति, सुरक्षा दल और उद्योग आदि के कार्यक्रमों में लगाया जाता है। महिलाओं के लिए अलग महिला समिति बना दी जाती है, जो साक्षरता कक्षाएँ चलाती है, भजन-गीत, गृह-व्यवस्था, पाक शास्त्र, सिलाई और कढ़ाई के कार्यक्रम चलाती है। बाल-शिशुसदन भी बनाये जाते हैं जिनमें माण्टेसरी और किंडरगार्टन पद्धति से बच्चों को पढ़ाने की व्यवस्था है। सामुदायिक विकास-खण्डों में विज्ञान मन्दिर भी बनाये जाते हैं जिनके द्वारा नये आविष्कारों का ज्ञान कराया जाता है।

सामाजिक शिक्षा अधिकारी प्रशिक्षित व्यक्ति होता है। भारत के कई स्थानों, जैसे नीलोखेड़ी और बख्शी का तालाब, लखनऊ मे प्रशिक्षण केन्द्र है जहाँ सामाजिक शिक्षा के अधिकारियों को प्रशिक्षण दिया जाता है। इन्हें दृश्य-श्रव्य साधनों का उपयोग करना, प्रौढ़ों को पढ़ाने का मनोविज्ञान और विधियों का प्रयोग करना तथा सगठन कार्य करना आदि सिखाया जाता है। यह अधिकारी गाँवों की परिस्थितियों के अनुकूल मनोविनोदात्मक कार्यक्रमों, जैसे भजन, कीर्तन, नाटक, नौटंकी, मेला, प्रदर्शनी, वार्ता, वाद-विवाद और कथा-वाचन आदि के द्वारा शिक्षा-प्रचार करते हैं। आधुनिक साधनों, जैसे रेडियो और फिल्म का भी यह प्रयोग करते हैं।

सामाजिक शिक्षा मे कार्यरत संस्थाएँ तथा वर्तमान स्थिति

हमारे देश की सबसे बड़ी समस्या निरक्षरता है। एक तो यह देश बहुत बड़ा

हैं और इसकी जनसख्या विशाल है। दूसरे, हजारों वर्षों से यह शिक्षा की सुविधाओं से वंचित रहा है। *आजादी के बाद से साक्षरता-प्रसार का महान् यज्ञ आरम्भ हुआ* है परन्तु हमारे प्रयत्न उसी प्रकार नगण्य सिद्ध हो रहे है, जैसे एक पक्षी ने समुद्र को बालू से पाटने का प्रयत्न किया था। फिर भी बड़े पैमाने पर प्रयास जारी है। इसका प्रमाण उन क्रिया-कलापो मे मिलता है, जो सामाजिक शिक्षा के क्षेत्र मे विभिन्न सस्थाओं द्वारा किये जा रहे है।

इस समय हम शिक्षा का अर्थ 'पुस्तक पढ़ना' ही लगाते है परन्तु यदि इसका अर्थ आत्मिक विकास मान लिया जाय तो पता चलेगा कि निरक्षर रहते हुए भी मनुष्य बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकता है। *हमारे देश मे बड़े-बड़े सन्त और महात्मा* हुए हैं परन्तु वे निरक्षर रहकर भी ज्ञानी बने। निरक्षर जन भी भाषा बोलते और समझते हैं। साक्षरता से लाभ यह होता है कि वे पुस्तको से लाभ उठा सकते हैं। निरक्षर जन मे यदि चेतना है तो वह अनुभव तथा सत्सग से कही अधिक शिक्षा प्राप्त कर सकता है। यह बात प्राचीन काल मे अनुभव की गई थी और हमारे यहाँ 'संन्यास आश्रम' की व्यवस्था सम्भवत इसीलिए की गई थी कि समाज मे ऐसे अनुभवी और विरक्त जनो का एक वर्ग पैदा हो जो समाज मे शैक्षिक चेतना फैलाता रहे। हर सन्यासी एक प्रकार का सामाजिक शिक्षा अधिकारी है जिसका जिक्र हम पहले कर चुके है। वह कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर गाँव-गाँव घूमता है। कहीं ठहरना उसके लिए पाप होता है। जिस गाँव मे शाम हो गई, वहाँ वह किसी गृहस्थ के घर ठहर गया। जाति-बन्धन से वह मुक्त होता है। वह गृहस्थ के यहाँ भोजन कर लेता है। रात मे ग्रामीण जन सन्यासी का आगमन जान कर एकत्र हो जाते है और वह उन्हें धर्म तथा समाज के प्रति सचेत करता है। इसी प्रकार गाँवों-गाँवो मे हमारे देश मे देवालय और तीर्थ-स्थान हैं और विशेष पर्वों पर लोग वहाँ एकत्र होकर शिक्षा ग्रहण करते हैं। वर्ष भर मे अनेक त्योहार तथा पर्व मनाये जाते हैं जिनको मनाते समय नाना प्रकार की कथाएँ सुनायी जाती है। बरसात के दिनो मे जब कृषक वर्ग खेती के काम से छुट्टी पाता है, तो रामायण-महाभारत की कथाएँ *गाकर सुनाने वाले पण्डित जा पहुँचते हैं और महीनों कथा का क्रम चलता है।* भजन-कीर्तन तो गाँवो मे होते रहते है। सक्षेप मे, हमारे देश की पुरानी सामाजिक शिक्षा की सस्थाएँ बडा उपयोगी काम करती रही और निरक्षर जन भी भारत की सास्कृतिक सम्पदा को बराबर पाते रहे और उन्हें बनाये रहे। दुर्भाग्य से 'सन्यासी' प्रथा और धर्म की भावना का ह्रास होने से निरक्षरता 'अज्ञानता' मे बदल गई। इस समय *आवश्यकता यह है कि हम अपनी प्राचीन परन्तु स्वस्थ परम्पराओं का पुनरुद्धार* करें।

विज्ञान की उन्नति और विदेशो के प्रभाव से हम सामाजिक शिक्षा के लिए नई प्रकार की सस्थाएँ बना रहे है। डा० मोहनसिंह मेहता ने अपने एक लेख ('Adult Education and Its Growth', प्रौढ़ शिक्षा अक, नया शिक्षक, अक्टूबर

६५) में इन संस्थाओं का विस्तृत वर्णन किया है। उन्होंने सामाजिक शिक्षा की
ाएँ दो प्रकार की मानी है—एक सरकारी और दूसरी गैर-सरकारी। यह सभी
ाएँ विभिन्न सरकारी विभागों तथा सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा चलाई जा रही
इनमें बड़ी विविधता है और इनके प्रयत्नों में समायोजन का काम कठिन हो
है।

सामाजिक शिक्षा का प्रचार करने वाली सबसे बड़ी संस्था सरकार है, अर्थात्
ार के अनेकानेक विभाग सामाजिक शिक्षा के प्रचार में लगे हुए हैं। केन्द्र तथा
सरकारों ने इस काम के लिए कई विभाग खोल रखे हैं, जैसे केन्द्रीय समाज
ण मंडल (Social Welfare Board), श्रमिक संस्थान (Worker's
tute) इन्दौर, राष्ट्रीय आधारभूत शिक्षा केन्द्र आदि। सामाजिक शिक्षा का सूत्र
रूप में केन्द्र सरकार में सामुदायिक विकास मंत्रालय के हाथ में है। राज्यों में
न राज्य विभाग भी महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है। प्रतिरक्षा मंत्रालय की ओर से
हियों में शिक्षा-प्रसार के प्रयत्न किये जाते हैं। इसकी ओर से नवसाक्षरों के लिए
और अंग्रेजी में पाठ्य-पुस्तकें छपायी जाती हैं। केन्द्रीय सूचना तथा प्रसारण
रेडियो के माध्यम से प्रौढ़-जनों के लिए अनेक कार्यक्रम प्रसारित कराता है,
ायतघर, श्रमिकों तथा किसान भाइयों के लिए, गृहलक्ष्मियों के लिए प्रादेशिक
ार और वार्ताएँ। फिल्म्स डिवीजन की ओर से तैयार किये गये वृत्त-चित्र जो
त रूप से हर सिनेमा घर में दिखाये जाते हैं, सामाजिक शिक्षा के उत्तम साधन
ास्थ्य मंत्रालय की ओर से स्वास्थ्य शिक्षा का प्रबन्ध है और आजकल तो
दर पर नियन्त्रण करने के लिए परिवार नियोजन सम्बन्धी प्रचार तथा
के [illegible] से सामाजिक शिक्षा का प्रबन्ध इसी विभाग द्वारा किया जा रहा
[illegible] और उद्योग मंत्रालय ने रोजगार प्रशिक्षण के डायरेक्ट्रेट खोलकर
[illegible] शिक्षा का काम आगे बढ़ाया है। श्रम तथा रोजगार मंत्रालय की ओर से
काम करने वाले श्रमिकों के लिए सामाजिक शिक्षा की व्यवस्था की गयी
[illegible] शोध और सांस्कृतिक मंत्रालय ने विज्ञान मन्दिर और संग्रहालय खोलने
[illegible] है। इसका उद्देश्य प्रौढ़ जनों को विज्ञान की प्रगति का परिचय
[illegible] विवरण से यह जान लेना सरल है कि अनेक सरकारी विभाग
[illegible] से सामाजिक शिक्षा के काम में योगदान दे रहे हैं।

[illegible] के अतिरिक्त बहुत सी गैर-सरकारी संस्थाएँ सामाजिक शिक्षा के काम
[illegible] रही हैं। [illegible] मिशन, भारत सेवक समाज, मैसूर राज्य प्रौढ़-
[illegible], बम्बई नगर सामाजिक शिक्षा समिति, सेवा-सदन, पूना और [illegible]
[illegible] विशेष प्रकार के कार्य कर रहे हैं जिनमें सामाजिक शिक्षा के कार्यक्रम
[illegible] हुई है। [illegible] हाउस ने इस क्षेत्र में उल्लेखनीय
है। यह पूर्ण रूप से साक्षरता और सामाजिक शिक्षा के काम में 'मिशन'
[illegible] चलाया जा रहा है। महात्मा गांधी की प्रेरणा से प्रसिद्ध अमरीकी

पत्रकार लूई फिशर की विधवा ने इसे चलाया है। इस संस्था का आधार राष्ट्रीय बताया जाता है और वह प्रौढ़-शिक्षा के क्षेत्र में शिक्षण, प्रशिक्षण, शोध, प्रकाशन और विस्तार के कार्यक्रम चला रही है। यहाँ सामाजिक शिक्षा के अध्यापकों का प्रशिक्षण होता है और प्रौढ़ साहित्य की रचना करायी जाती है। दृश्य-श्रव्य शिक्षा का एक केन्द्र है जो इन दृश्य-श्रव्य साधनों की रचना में योग देता है।

सामाजिक शिक्षा के कार्य में बहुत से व्यावसायिक संस्थान भी भाग लेते हैं, जैसे समाचार-पत्र, मिलें और कारखाने, बीमा कम्पनियाँ आदि। समाचार-पत्र पृष्ठ का एक भाग प्रौढ़-जनों के लिए सुरक्षित रख लेते हैं और उनके द्वारा प्रौढ़-जनों की रुचि के साहित्य को छापते हैं। इससे समाचार-पत्रों की बिक्री बढ़ जाती है। मिलें और कारखाने अपने श्रमिकों के लिए तकनीकी ज्ञान की व्यवस्था करते हैं ताकि उनके श्रमिक कार्यकुशल बन जायँ। ऊषा सिलाई मशीन की कम्पनी महिलाओं को सिलाई की शिक्षा मुफ्त देती है जिसके लिए नगरों में केन्द्र खोले जाते हैं। यहाँ महिलाएँ ऊषा मशीन पर सिलाई करती हैं। इससे कम्पनी के माल की बिक्री बढ़ती है। बीमा कम्पनी अपने ग्राहकों में स्वास्थ्य सम्बन्धी जानकारी फैलाती है ताकि वे दीर्घायु हों और उन्हें कम से कम धनराशि क्षतिपूर्ति के रूप में देनी पड़े। इस प्रकार सिद्ध है कि व्यापारिक संस्थान सामाजिक शिक्षा से लाभ उठाते हैं और अपने हित में सामाजिक शिक्षा का प्रचार करते हैं।

कुछ अप्रत्यक्ष साधनों से भी सामाजिक शिक्षा के प्रचार में बड़ी सहायता मिलती है। वे हैं—पुस्तकालय, संग्रहालय और प्रदर्शनी। बड़े-बड़े नगरों में सार्वजनिक पुस्तकालयों की व्यवस्था होती है जिनमें सैकड़ों प्रौढ़-जन आकर समाचार और पुस्तकें पढ़ते हैं। अब तो अनेक सरकारी दफ्तरों और विभागों में पुस्तकालय तथा वाचनालय खोले गये हैं ताकि कर्मचारी मनोरंजन के लिए साहित्य पढ़ें और ज्ञान को विकसित करें। रेलवे के अनेक कार्यालयों में यह व्यवस्था है। संग्रहालयों की सहायता से सामान्य जनों के ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक ज्ञान में वृद्धि होती है। प्रदर्शनी के द्वारा नये-नये विकसित साधनों और जीवनोपयोगी वस्तुओं का परिचय कराया जाता है। लोग यहाँ मनोरंजन के लिए जाते हैं परन्तु उनका ज्ञान बढ़ता है। इस प्रकार यह अप्रत्यक्ष साधन सामाजिक शिक्षा के प्रसार में अत्यन्त सहायक है।

सामाजिक शिक्षा की कुछ नयी संस्थाएँ उत्पन्न हो रही हैं। उदाहरण के लिए, विश्वविद्यालय अपने ऊपर यह जिम्मेदारी लेने जा रहे हैं। वे अध्यापकों और छात्रों की सहायता से लम्बे अवकाशों में यह आन्दोलन आगे बढ़ाएँगे। कुछ विश्वविद्यालय 'पत्राचार द्वारा शिक्षण' का कार्यक्रम चलायेंगे। दिल्ली विश्वविद्यालय ने यह महत्त्वपूर्ण कार्य प्रारम्भ कर भी दिया है। यह कार्यक्रम उन लोगों के लिए उपयोगी है जो शिक्षित हैं और किसी न किसी व्यवसाय में लगे हुए हैं। इन लोगों को नव

विकसित ज्ञान की लहरों में स्नान कराना है ताकि वे समय से पीछे न रह जायँ। पत्राचार द्वारा वे विश्वविद्यालयों के निकट रह सकेंगे और वे नयी उपाधियाँ पाकर उन्नति भी कर सकेंगे। इसी प्रकार की एक अन्य योजना है 'हवाई विश्वविद्यालय' की। यह विश्वविद्यालय रेडियो तरंगों की सहायता से चलेगा। पूरे वर्ष के लिए आकाशवाणी की सहायता से शैक्षिक भाषणों का प्रसारण किया जायगा। सभी विषयों पर यह भाषण होंगे। प्रौढ़ जन घर बैठे यह भाषण उसी प्रकार सुनेंगे जैसे विश्वविद्यालय में कक्षा भवनों के भीतर छात्र प्राध्यापकों के भाषण सुनते हैं। वर्ष के अन्त में वे परीक्षा दे सकेंगे। इन नवीनतम साधनों के प्रयोग से सामाजिक शिक्षा के प्रसार में तेजी लायी जायगी।

भारतीय शिक्षा आयोग ने सामाजिक शिक्षा को व्यापक बनाने के लिए अनेक प्रकार की संस्थाओं के विकास पर जोर दिया है। उसके प्रतिवेदन में बताया गया है कि यद्यपि सरकार को प्रौढ़ शिक्षा की जिम्मेदारी लेनी चाहिए तथापि इसका भार अन्य सामाजिक संस्थाओं को ओढ़ना पड़ेगा। जिन संस्थाओं की ओर संकेत किया गया है, वे हैं—बड़े-बड़े कारखाने तथा कृषि-फार्मों के मालिकों द्वारा संचालित सामाजिक शिक्षा की संस्थाएँ, पंचवर्षीय योजनाओं के चलाने के लिए बनायी गयी सरकारी संस्थाओं की इकाइयाँ, खादी-उद्योग, समाज-कल्याण, सामुदायिक विकास खण्ड, शिक्षा संस्थाएँ, पेशेवर लोगों जैसे डाक्टरों, वकीलों, इंजीनियरों के संगठन, रूरल इंस्टीट्यूट, विद्यापीठ (जैसे मैसूर में काम कर रहे हैं), विश्वविद्यालयों के सामाजिक शिक्षा के विभाग, पुस्तकालय संगठन तथा पंचायतें आदि।

वर्तमान समय में सामाजिक शिक्षा की आवश्यकता और महत्त्व

सामाजिक शिक्षा का अर्थ और क्षेत्र—प्रो० हुमायूँ कबीर ने कहा है कि सामाजिक शिक्षा अध्ययन का एक ऐसा पाठ्यक्रम है जिसका उद्देश्य नागरिकता की चेतना पैदा करना तथा सामाजिक संगठन की शक्ति को बढ़ाना है। यह एक ऐसा नियंत्रित अनुभव है जो व्यक्तियों की सामूहिक कार्यों में भाग लेने की क्षमता में वृद्धि करता है। यह एक ऐसा शैक्षिक कार्यक्रम है, जो उस औपचारिक शिक्षा से भिन्न है, जो स्कूलों, विश्वविद्यालयों और कालेजों में दी जाती है। सामाजिक शिक्षा उनके लिए है, जिन्हें औपचारिक शिक्षा मिलना या तो बंद हो चुका है या फिर जिन्हें औपचारिक शिक्षा मिलने का सुअवसर ही नहीं मिल पाया। यह ठीक है कि इस प्रकार की शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य निरक्षरता के किलों को ध्वस्त करना है परन्तु इसका उद्देश्य उस अज्ञानता को भी नष्ट करना है, जो भारत में प्रायः सभी शिक्षित जनता को घुन के समान लगकर जर्जर बनाती रहती है क्योंकि अपने-अपने पेशे में लग जाने के बाद वे ज्ञानात्मक विकास की ओर से उदासीन हो जाते हैं। महात्मा गांधी ने कहा था कि हमारे देश में अधिकांश शिक्षित जन अज्ञानता के गड्ढे में पुनः गिर जाते हैं और उनकी शिक्षा-दीक्षा बेकार हो जाती है। अतः सामाजिक शिक्षा ऐसी प्रक्रिया है जो

हर नागरिक के मन में ज्ञान की लौ जीवन भर जगाए रखती है। वह उसकी क्षमताओं और योग्यताओं के विकास में बराबर सहायता करती रहती है।

सामाजिक शिक्षा औपचारिक शिक्षा की तुलना में कहीं अधिक व्यापक है। यह जीवन के हर कोने को छूती है। इसके कार्यक्रम के अन्तर्गत वे कच्ची उम्र के लड़के-लड़कियाँ भी आ जाते हैं जिनके माता-पिता उन्हें शिक्षा नहीं दे पाते परन्तु विशेष रूप से वे सभी वयस्क इसमें लाभ उठाते हैं जिन्हें औपचारिक शिक्षा का वरदान नहीं मिला। इसके अतिरिक्त सामाजिक शिक्षा उन सुशिक्षित, सुरुचि-सम्पन्न तथा सुसंस्कृत जनों के लिए भी है, जो ज्ञान के पथ पर अग्रसर हो चुके हैं। इस प्रकार सामाजिक शिक्षा में सबसे बड़ा गुण निरंतरता का है।

आवश्यकता और महत्व—सभी प्रगतिशील तथा पिछड़े हुए देशों में सामाजिक शिक्षा का कार्यक्रम बड़े पैमाने पर चलाया जा रहा है। विश्व संघ की प्रमुख संस्था यूनेस्को सभी देशों में, विशेष करके पिछड़े हुए देशों में, सामाजिक शिक्षा के काम में बड़ी दिलचस्पी ले रही है और हर प्रकार की आर्थिक सहायता पहुँचा रही है। यह बात उचित ठहरती है क्योंकि द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद जब विश्वसंघ का निर्माण हुआ तो यह अनुभव प्रकट किया गया कि युद्ध की उत्पत्ति मानव मन के भीतर होती है। इसलिए यदि संहारकारी युद्धों को नष्ट करना है तो मनुष्य के मन का परिष्कार शिक्षा के द्वारा करना है। हर मनुष्य तक शिक्षा के उत्तम प्रभावों को पहुँचाने के लिए सामाजिक शिक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है।

प्रगति के मार्ग में आगे बढ़ती हुई दुनिया मानसिक रूप से स्वस्थ नहीं है। इसके दो प्रमुख कारण हैं—एक तो निरंतर मनुष्य के दिमाग पर झूलता हुआ विनाश का भय जो आणविक युद्ध की आशंका से उत्पन्न हुआ है, दूसरा है, विज्ञान तथा नई भौतिक विचारधारा के कारण उत्पन्न मूल्यों की शून्यता। पुराने मूल्यों पर मनुष्य की आस्था नहीं रही है और नये मूल्यों का स्थायी रूप नहीं बन पाया। इस शून्यता के कारण मनुष्य विचार-विमूढ़ बन गया है। संसार की इन विभिन्न परिस्थितियों में मनुष्य को पागल बनने से रोकने के लिए इस समय सामाजिक शिक्षा जैसे कार्यक्रम की *अत्यन्त आवश्यकता है। यही कारण है कि सभी देशों में सामाजिक शिक्षा के* द्वारा मनुष्य को दिग्भ्रमित होने से बचाने का प्रयत्न किया जा रहा है। भारत इसका अपवाद कैसे हो सकता है?

स्वयं भारत के भीतर कई परिस्थितियाँ वर्तमान समय में ऐसी उत्पन्न हो गयी हैं, जिनके कारण सामाजिक शिक्षा का महत्त्व कई गुना ज्यादा बढ़ गया है। सबसे पहली बात यह है कि यह देश कई सदियों के बाद आजाद हुआ। गुलामी की हालत में यह आर्थिक, सामाजिक तथा ज्ञान की दृष्टि से अन्य देशों से बहुत पिछड़ गया। उन्नति की दौड़ में भारत बहुत पीछे है और अब आजादी के बाद उसे प्रगतिशील देशों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर दौड़ना है। यदि ऐसा नहीं होता, तो हमारी

विकसित ज्ञान की लहरों में स्नान कराना है ताकि वे समय से पीछे न रह जायें। पत्राचार द्वारा वे विश्वविद्यालयों के निकट रह सकेंगे और वे नयी उपाधियाँ पाकर उन्नति भी कर सकेंगे। इसी प्रकार की एक अन्य योजना है 'हवाई विश्वविद्यालय' की। यह विश्वविद्यालय रेडियो तरंगों की सहायता से चलेगा। पूरे वर्ष के f--- आकाशवाणी की सहायता से शैक्षिक भाषणों का प्रसारण किया जायगा। सभी विष पर यह भाषण होंगे। प्रौढ़ जन घर बैठे यह भाषण उसी प्रकार सुनेंगे जैसे विश्व विद्यालय में कक्षा भवनों के भीतर छात्र प्राध्यापकों के भाषण सुनते हैं। वर्ष के अ में वे परीक्षा दे सकेंगे। इन नवीनतम साधनों के प्रयोग से सामाजिक शिक्षा के प्रसा में तेजी लायी जायगी।

भारतीय शिक्षा-आयोग ने सामाजिक शिक्षा को व्यापक बनाने के लिए अनेक प्रकार की संस्थाओं के विकास पर जोर दिया है। उसके प्रतिवेदन में बताया गया है कि यद्यपि सरकार को प्रौढ़ शिक्षा की जिम्मेदारी लेनी चाहिए तथापि इसका भार अन्य सामाजिक संस्थाओं को ओढ़ना पड़ेगा। जिन संस्थाओं की ओर संकेत किया गया है, वे हैं—बड़े-बड़े कारखाने तथा कृषि-फार्मों के मालिकों द्वारा संचालित सामाजिक शिक्षा की संस्थाएँ, पंचवर्षीय योजनाओं के चलाने के लिए बनायी गयी सरकारी संस्थाओं की इकाइयाँ, खादी-उद्योग, समाज-कल्याण, सामुदायिक विकास खण्ड, शिक्षा संस्थाएँ, पेशेवर लोगों जैसे डाक्टरों, वकीलों, इंजीनियरों के संगठन, रूरल इंस्टीट्यूट, विद्यापीठ (जैसे मैसूर में काम कर रहे हैं), विश्वविद्यालयों के सामाजिक शिक्षा के विभाग, पुस्तकालय संगठन तथा पंचायतें आदि।

र्तमान समय में सामाजिक शिक्षा की आवश्यकता और महत्त्व

सामाजिक शिक्षा का अर्थ और क्षेत्र—प्रो० हुमायूँ कबीर ने कहा है कि ामाजिक शिक्षा अध्ययन का एक ऐसा पाठ्यक्रम है जिसका उद्देश्य नागरिकता की ा पैदा करना तथा सामाजिक संगठन की शक्ति को बढ़ाना है। यह एक ऐसा चित अनुभव है जो व्यक्तियों को सामूहिक कार्यों में भाग लेने की क्षमता में वृद्धि है। यह एक ऐसा शैक्षिक कार्यक्रम है, जो उस औपचारिक शिक्षा से भिन्न है, कूलों, विश्वविद्यालयों और कालेजों में दी जाती है। सामाजिक शिक्षा उनके लिए न्हें औपचारिक शिक्षा मिलना या तो बंद हो चुका है या फिर जिन्हें औपचारिक मिलने का सुअवसर ही नहीं मिल पाया। यह ठीक है कि इस प्रका प्रमुख उद्देश्य निरक्षरता के किलों को ध्वस्त करना है परन्त ा को भी नष्ट करना है, जो भारत में प्राय सभी ि लगकर जर्जर बनाती रहती है क्योंकि अपने-अपने त्मक विकास की ओर से उदासीन हो जाते हैं े देश में अधिकांश शिक्षित जन अज्ञानता क्षा-दीक्षा बेकार हो जाती है।

जिनके द्वारा जन-मानस को विक्षिप्त और मूर्छित होने से बचाया जा सकता है। प्रचार की अपार शक्ति को समाज शिक्षा नियंत्रण में रख सकती है।

हमारे देश में एक तीसरी परिस्थिति देश के विभाजन से पैदा हुई है। इस घटना ने अनेक लोगों को बेघरबार कर दिया और पाकिस्तान में शरणार्थियों के साथ जो अत्याचार हुए है, वे अभी भुलाए नहीं जा सके है। लाखों की संख्या में आये हुए यह शरणार्थी देश के कोने-कोने में बसे है। उनके मन में असन्तोष और कुण्ठा है; जिन लोगों ने उनके सोने के संसार को धूल में मिलाया है, उनके सहधर्मी भारत में बहुत बड़ी संख्या में हैं। उनके प्रति शरणार्थियों के मन में कैसी भावनाएँ है, यह सहज ही समझा जा सकता है। इस परिस्थिति के कारण सारे देश में साम्प्रदायिक तनाव है। अल्पसंख्यक मुसलमानों में भय और प्रतिकार का भाव है। यह परिस्थिति देश की एकता के लिए घातक है। तनाव, उत्तेजन, प्रतिहिंसा और दुर्भावना के साथ-साथ भय का उन्मूलन करना आवश्यक है। सामाजिक शिक्षा के कार्यक्रम द्वारा इन शरणार्थियों और अल्पसंख्यकों के मन को शान्ति पहुँचाई जा सकती है। इसी प्रकार युद्ध से लौटे घायल सैनिकों, नौकरी से हटाये गये सैनिकों को पुन: जीवन में प्रवेश कराना और उन्हें मानसिक रूप से स्वस्थ रखने का काम भी सामाजिक शिक्षा कर सकती है।

अब सामान्य परिस्थितियों को लीजिए। वर्तमान दुनिया बदल चुकी है और सारे परिवर्तन इतनी तेजी से होते है कि पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी समय से पिछड़ जाता है। सामाजिक शिक्षा के द्वारा इन परिवर्तनों से अवगत कराया जाता है। इस मशीनी युग में मनुष्य के पास पर्याप्त अवकाश होता है। यदि इस अवकाश का अच्छी तरह सदुपयोग नहीं किया जाता, तो अपराधवृत्ति बढ़ती है। सामाजिक शिक्षा के द्वारा अवकाश का उपयोग ज्ञानवर्धन के लिए किया जाता है। दुर्भाग्य से इस समय कला और संगीत जैसे स्वर्गीय तत्वों में व्यापार की भावना प्रवेश कर गयी है और मनुष्य की सौन्दर्य बोध की शक्ति कुण्ठित होती जा रही है। यह सब धन-लोलुपता और राजनीतिक प्रचार के कारण हो रहा है। सामाजिक शिक्षा का सुगठित कार्यक्रम इन दुष्प्रवृत्तियों को रोकने में सफल हो सकता है। इसी प्रकार हमारे यहाँ समाज में बड़ी तेजी से मानवीय मूल्यों जैसे प्रेम, करुणा, मैत्री, सहानुभूति और सेवा का क्षय होता जा रहा है। शिक्षित जनों का जीवन धीरे-धीरे मरुभूमि बनता जा रहा है। श्री सी० ई० एम० जोड ने अपनी पुस्तक 'अबाउट एजूकेशन' में लिखा है

"प्रशिक्षित मन तथा विकसित रुचियों वाले मनुष्य के लिए यह संसार ज्यादा बड़ा और स्फूर्तिदायक बन जाता है। वह इसमें कहीं अधिक सुन्दरता, विविधता देखता है और शिक्षा पाने से पूर्व जैसी उसकी स्थिति थी, उससे कहीं अधिक वह अपनी सहानुभूति और समझ की सफलता देख सकता है। उसकी अनु-

आजादी खतरे में रहेगी। सारे विद्वेषण को दूर करने के समय को पकड़ना है। इसलिए देश में पुनर्निर्माण का कार्य आरम्भ हुआ है। पंचवर्षीय योजनाएं बनी हैं और उन्हें पूरा करने के लिए देश सारे साधन जुटा रहा है परन्तु उनकी सफलता जन-सहयोग पर निर्भर है। जन-सहयोग अज्ञानता के कारण नहीं मिल रहा है क्योंकि सामान्य जन पुनर्निर्माण के महत्व को नहीं समझता। देश में फैली निरक्षरता और अज्ञानता देश की उन्नति में बाधा खड़ी कर रही है। सात दो सात म विशाल जनसम्प्रदाय को कैसे उस स्तर पर लाया जाय, जिस पर अन्य देशों के लोग पहुंच चुके हैं। अब प्रश्न यह है कि किया क्या जाय। प्रो० हुमायूं कबीर का कहना है कि हमें शिक्षा के प्रसार का इन्तजार नहीं करना है। निरक्षरता-निवारण के लिए कोई तत्कालीन कार्यक्रम चाहिए जो सामाजिक शिक्षा के अलावा दूसरा नहीं हो सकता। इसके द्वारा ही भारत की विशाल जनता को देश के पुनरुत्थान में लगाया जा सकता है।

देश के भीतर दूसरी परिस्थिति प्रजातंत्र की स्थापना से पैदा हुई है। हमने संविधान बनाकर प्रजातन्त्र स्थापित करने का प्रण तो कर लिया परन्तु जनमानस को प्रजातान्त्रिक जीवन के लिए तैयार नहीं किया। यह एक बहुत बड़ी कमजोरी है। डा० सत्यदेव ने अपनी पुस्तक 'एजूकेशनल रीकान्स्ट्रक्शन की समस्याएं' में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि जब तक देश के काम में सामान्य जनता दिलचस्पी न ले, जनतंत्र पनप नहीं सकता। सामाजिक शिक्षा के द्वारा अंध-विश्वास, स्वार्थ और रूढ़िवादिता का समाप्त करके सामान्य जनों को सहयोग देने के लिए प्रेरित कर सकते है। इसके अतिरिक्त प्रजातन्त्र के मार्ग में और कई बाधाएँ हैं। जैसे, जनता को अपनी राय कायम करने की स्वतन्त्रता तो है परन्तु सामान्य लोग बड़ी आसानी से अपना स्वतन्त्र चिन्तन खो बैठते हैं। वे राजनीतिक और साम्प्रदायिक विचारों के शिकार आसानी से बनते हैं। सिनेमा, रेडियो, समाचार-पत्र तथा प्रकाशित साहित्य विचारों को बंदी बना लेने में बड़े सक्षम हैं। निरंकुश सरकारें इनका उपयोग करके शिक्षित जनों की विचार-स्वतन्त्रता को मूर्च्छित करके सुला देती हैं और उन पर राज्य करती हैं। हमारे देश में, एक ओर जनता अशिक्षित है और दूसरी ओर इन सामूहिक प्रचार साधनों का प्रयोग राजनीतिज्ञ अपने लाभ के लिए कर रहे है। और इस प्रकार जनतन्त्र पर बड़ा भारी खतरा मँडरा रहा है। श्री सत्यदेव के मत में "एक अशिक्षित प्रजातन्त्र (जैसे भारत) जो कट्टरता और पक्षपात के यदा-कदा झोंको से हिल उठता है और स्वार्थी प्रचारकों के चतुर उपायों को समझ नहीं पाता, की सुख-शान्ति और सुरक्षा के लिए बहुत बड़ा खतरा है।" दूसरी ओर सामूहिक प्रचार के साधन "विचारों की स्वतन्त्रता और निर्णय पर हावी हो जाते हैं और करोड़ों मनुष्यों के भीतर कुछ निश्चित प्रकार के व्यवहार और विचार उत्पन्न करने में, कुछ लोग इन प्रचार साधनों की सहायता से सफल हो जाते है।" (जैसा कि रूस या चीन में हो चुका है) इन तमाम खतरों से बचने का एकमात्र साधन सामाजिक शिक्षा है

जिसके द्वारा जन-मानस को विक्षिप्त और मूर्च्छित होने से बचाया जा सकता है। प्रचार की अपार शक्ति को समाज शिक्षा नियन्त्रण में रख सकती है।

हमारे देश में एक तीसरी परिस्थिति देश के विभाजन से पैदा हुई है। इस घटना ने अनेक लोगों को बेघरबार कर दिया और पाकिस्तान में शरणार्थियों के साथ जो अत्याचार हुए हैं, वे अभी भुलाए नहीं जा सके है। लाखों की संख्या में आये हुए यह शरणार्थी देश के कोने-कोने में बसे है। उनके मन में असन्तोष और कुण्ठा है; जिन लोगों ने उनके सोने के संसार को धूल में मिलाया है, उनके सहधर्मी भारत में बहुत बड़ी संख्या में हैं। उनके प्रति शरणार्थियों के मन में कैसी भावनाएँ है, यह सहज ही समझा जा सकता है। इस परिस्थिति के कारण सारे देश में साम्प्रदायिक तनाव है। अल्पसंख्यक मुसलमानों में भय और प्रतिकार का भाव है। यह परिस्थिति देश की एकता के लिए घातक है। तनाव, उत्तेजन, प्रतिहिंसा और दुर्भावना के साथ-साथ भय का उन्मूलन करना आवश्यक है। सामाजिक शिक्षा के कार्यक्रम द्वारा इन शरणार्थियों और अल्पसंख्यकों के मन को शांति पहुंचाई जा सकती है। इसी प्रकार युद्ध से लौटे घायल सैनिकों, नौकरी से हटाये गये सैनिकों को पुनः जीवन में प्रवेश कराना और उन्हें मानसिक रूप से स्वस्थ रखने का काम भी सामाजिक शिक्षा कर सकती है।

अब सामान्य परिस्थितियों को लीजिए। वर्तमान दुनिया बदल चुकी है और सारे परिवर्तन इतनी तेजी से होते हैं कि पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी समय से पिछड़ जाता है। सामाजिक शिक्षा के द्वारा इन परिवर्तनों से अवगत कराया जाता है। इस मशीनी युग में मनुष्य के पास पर्याप्त अवकाश होता है। यदि इस अवकाश का अच्छी तरह सदुपयोग नहीं किया जाता, तो अपराधवृत्ति बढ़ती है। सामाजिक शिक्षा के द्वारा अवकाश का उपयोग ज्ञानवर्धन के लिए किया जाता है। दुर्भाग्य से इस समय कला और मशीन जैसे स्वर्गीय तत्वों में व्यापार की भावना प्रवेश कर गयी है और मनुष्य की सौन्दर्य बोध की शक्ति कुण्ठित होती जा रही है। यह सब धन-लोलुपता और राजनीतिक प्रचार के कारण हो रहा है। सामाजिक शिक्षा का सुगठित कार्यक्रम इन दुष्प्रवृत्तियों को रोकने में सफल हो सकता है। इसी प्रकार हमारे यहाँ समाज में बड़ी तेजी से मानवीय मूल्यों जैसे प्रेम, करुणा, मैत्री, सहानुभूति और सेवा का क्षय होता जा रहा है। शिक्षित जनों का जीवन धीरे-धीरे मरुभूमि बनता जा रहा है। श्री सी० ई० एम० जोड ने अपनी पुस्तक 'अबाउट एजूकेशन' में लिखा है

"प्रशिक्षित मन तथा विकसित रुचियों वाले मनुष्य के लिए यह संसार ज्यादा बड़ा और स्फूर्तिदायक बन जाता है। वह इसमें कहीं अधिक सुन्दरता, विविधता देखता है और शिक्षा पाने से पूर्व *जैसी उसकी स्थिति थी, उसमें कहीं* अधिक वह अपनी सहानुभूति और समझ की सफलता देख सकता है। उसकी अनु-

भूति प्रबल हो जाती है और वह दफ्तर, कारखाने और कर्मशाला की तुच्छ दुनिया को एक रहस्य भरे विश्व तथा सुन्दरता के कोष में बदल देती है।"

मनुष्य जिस प्रकार इस जड़ सभ्यता के चंगुल में फँस कर स्वयं जड़ बनता जा रहा है, उससे बड़ी हानि यह होगी कि मानवता ही नष्ट हो जायगी। सामाजिक शिक्षा के कार्यक्रम द्वारा उसे बचाना होगा।

आज सामाजिक शिक्षा पर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। यह औपचारिक शिक्षा को बल पहुँचाने वाली है। समाज और परिवार के दूषित वातावरण के कारण बच्चों की शिक्षा सफल नहीं हो पा रही है। इस परिस्थिति में सामाजिक शिक्षा के द्वारा ही सुधार लाया जा सकता है। परिवारों में होने वाली टूट-फूट, बेचैनी और संकट के कारण उत्पन्न वातावरण को, जो शिक्षा के लिए हानिकारक है, सामाजिक शिक्षा के द्वारा बहुत कुछ ठीक किया जा सकता है। नागरिकों के मनोबल को पुष्ट करने, उनके स्वास्थ्य और कार्यक्षमता का विकास करने तथा चरित्र-निर्माण करने का साधन भी सामाजिक शिक्षा है।

सामाजिक शिक्षा एक रचनात्मक प्रभाव है जो धीरे-धीरे परन्तु दृढ़तापूर्वक परिवर्तन लाता है। हमारे देश को इसकी आवश्यकता है क्योंकि यह हमारी अनेक भावात्मक समस्याओं को हल कर सकती है। यदि इस देश को उन्नति के पथ पर अग्रसर होना है तो जाति, सम्प्रदाय, धर्म और संस्कृति के भेदों को कम करके एक सामान्य भारतीय परम्परा को लोकप्रिय बनाना होगा जो विभिन्नताओं के बीच सबको स्वीकार्य हो। यह कार्य सामाजिक शिक्षा के द्वारा पूरा किया जा सकता है।

भारतीय शिक्षा आयोग ने अपने प्रतिवेदन में सामाजिक शिक्षा के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए डा० वी० के० आर० वी० राव, योजना आयोग के भूतपूर्व सदस्य, की पुस्तक 'Education and Human Resource Development' का एक अंश इस प्रकार उद्धृत किया है

"प्रौढ़ शिक्षा और प्रौढ़ साक्षरता के बिना न तो आर्थिक और सामाजिक विकास को उस गति और दूरगामिता के साथ पूरा कर सकते हैं, जो अपेक्षित है और न इस आर्थिक और सामाजिक विकास में वह तत्त्व या उत्तमता या विशेषता होगी, जो इसे कल्याण तथा मूल्य की दृष्टि से उपयोगी बना सकते हैं। अत: आर्थिक और सामाजिक विकास के किसी भी कार्यक्रम में प्रौढ़-शिक्षा और प्रौढ़-साक्षरता को अग्रिम स्थान मिलना चाहिए।"

तदनुकूल शिक्षा आयोग का यह मत है कि "वह समाज जो आर्थिक विकास, सामाजिक पुनरोदय और प्रभावशाली सुरक्षा की स्थिति पैदा करने के लिए दृढ़-संकल्प हो उस समाज में कार्य संचालन का प्रमुख अंग यह होगा कि वह अपने [illegible] को स्वेच्छापूर्वक, बुद्धिमानी और सक्षमता के साथ विकास के कार्यक्रमों में भाग [illegible]ने के लिए उत्तम शिक्षा प्रदान करे। ऐसा उस समाज के लिए (जैसा भारत में है)

विशेष रूप से आवश्यक है जिसमें सामान्य जनों को शिक्षा न मिली हो और जहाँ की शिक्षा विकासात्मक आवश्यकताओं से तालमेल न रखती हो।"

हमारे देश की विभिन्न समस्याएँ हैं, जो देश के विकास में रोड़ा अटका रही हैं। उदाहरण के लिए, अन्न की कमी और जनसंख्या की वृद्धि को लें। आयोग का मत है कि अशिक्षित जनता को इन दोनों समस्याओं की भयानकता की जरा भी अनुभूति नहीं है। न तो वे इनकी गम्भीरता को समझते हैं और न उन्हें हल करके वे नवीनतम उपायों की जानकारी रखते हैं। इस समय बढ़ती हुई आबादी को रोकने के लिए केवल दण्ड या समझाने की प्रणाली से काम लेना उचित नहीं है और न इससे समस्या हल होगी। जब तक सामान्य जन इन समस्याओं से होने वाले कुपरिणामों को नहीं समझ पाते, उन पर नियन्त्रण पाने के उपाय नहीं जानते और अपनी जिम्मेदारी नहीं समझ पाते, सरकारी प्रयत्न सफल नहीं हो सकते। अन्तत राष्ट्रीय समस्याओं का अन्तिम हल शिक्षा के हाथ में ही रहेगा। आयोग ने बताया है—

"कोई भी राष्ट्र अपनी सुरक्षा का काम केवल पुलिस और सेना को नहीं सौंप सकता। अधिकांश तौर पर राष्ट्र की सुरक्षा नागरिकों की शिक्षा, राष्ट्र की नीति की जानकारी, उनके चरित्र, उनके अनुशासन और सुरक्षा के लिए अपनाए गए उपायों में समान रूप में नागरिकों के भाग लेने पर निर्भर है।"

इस दृष्टि से शिक्षा की महान् जिम्मेदारी है परन्तु हमारे देश में निरक्षरता बढ़ती जा रही है। जिस गति से आबादी बढ़ रही है, उस गति से साक्षरता नहीं बढ़ रही। इस स्थिति पर नियन्त्रण पाने का उपाय सामाजिक शिक्षा ही है।

सामाजिक शिक्षा के लक्ष्य

सामाजिक शिक्षा के लक्ष्यों और उद्देश्यों को निर्धारित करने के लिए जुलाई सन् १९४९ में ही विभिन्न राज्यों के सामाजिक शिक्षा अधिकारियों का एक सम्मेलन हुआ और उस सम्मेलन में यह तय हुआ था कि एक समिति को यह काम सौंप दिया जाय। वह समिति सामाजिक शिक्षा के सम्बन्ध में एक ऐसी पुस्तिका तैयार करे जो इस क्षेत्र की समस्याओं पर विचार करके समाज-शिक्षा के कार्यकर्ताओं के लिए लिखी गयी हो। इस समिति के सदस्य थे डा० वी० एम० भट, डा० आई० आर० खान, श्री के० जी० सय्यदन, श्री एम० आर० किदवई और श्री के० एल० जोशी। इस समिति के द्वारा लिखित एक पुस्तिका शिक्षा मन्त्रालय ने प्रकाशित की। उसमें सामाजिक शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य और लक्ष्य निर्धारित किए गए हैं :

उद्देश्य—राष्ट्रीय महत्त्व की दृष्टि से निर्धारित किये तीन सामान्य उद्देश्य हैं :

(१) सामाजिक संघटन (Social Cohesion)—इसकी आवश्यकता इसलिए है कि व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण भारतीय समाज के सदस्यों में अलगाव और पूर्वाग्रह

। समाज में अनेक वर्ग इसी कारण बने है, जैसे जातीय, धार्मिक, हरी-देहाती, शिक्षित-अशिक्षित, धनी-निर्धन आदि। सामाजिक शिक्षा वर्तमान अलगाव को दूर करके सारी भारतीय जनता के बीच एक का भाव उत्पन्न करना है। (२) राष्ट्रीय कार्यक्षमता (National –भारत एक नवोदित राष्ट्र है। इसकी सुप्त शक्तियो को जाग्रत करना तभी वह चेतनापूर्ण तथा उत्पादक राष्ट्र बन सकेगा। (३) राष्ट्रीय कल्प का विकास (Development of National Resolution)— और विश्वास उत्पन्न करना आवश्यक है ताकि उसको अपनी शक्ति का और वह उसका भरसक उपयोग कर सके।

–सामाजिक शिक्षा के प्रत्यक्ष लक्ष्य कई हैं, जैसे

आधारभूत कुशलताओ का विकास (जैसे भाषा का पढ़ना, लिखना और क जोड़ना)।

सामान्य जनों की व्यावसायिक क्षमता का विकास, जैसे शहरो में कनीकी तथा औद्योगिक ज्ञान परन्तु देहातो मे कृषि और कुटीर उद्योग ा ज्ञान प्रचारित करना।

वास्थ्य सम्बन्धी जानकारी देना, खासतौर पर स्त्रियो और बच्चों के स्वास्थ्य के विकास के लिए बीमारियो के उन्मूलन के उपाय ताना।

सामाजिक कुशलताएँ उत्पन्न करना, जैसे परिवार तथा समाज के प्रति र्तव्यो और अधिकारो की चेतना पैदा करना।

मनोरंजन के स्वस्थ उपायो की जानकारी कराना ताकि अवकाश का दुपयोग नागरिक कर सकें। मनोरंजन के रूप में प्रचलित शराबखोरी, ुआ, गपशप तथा अनेक बाजियों के स्थान पर स्वस्थ साहित्य पढ़ने, डियो और सिनेमा से लाभ उठाने, खेल-कूद और व्यायाम आदि के ाधनो का परिचय देना।

ात्मिक विकास की सुविधाएँ प्रदान करना जैसे सांस्कृतिक चेतना उत्पन्न रके नागरिको में हीनता की भावना नष्ट करना, लौकिक तथा ौकिक स्वार्थ से ऊपर उठकर उत्तम मूल्यो और आदर्शों के प्रति ास्था स्थापन की प्रवृत्ति पैदा करना आदि।

क्षा के मार्ग मे उत्पन्न बाधाएँ और समस्याएँ

ामाजिक शिक्षा के सामने भारत में सबसे बड़ी कठिनाई निरक्षरता की अधिकांश भाग निरक्षर होने के कारण सामाजिक शिक्षा के साधन ौर गैर सरकारी संस्थाएँ जुटा रही है, व्यर्थ जा रहे है। यह कि ाक्षर है, व प्रकाशित तथा प्रचारित साहित्य तथा अन्य उपायो से

लाभ नहीं उठा सकते। जब उनमें बुनियादी भाषाई कुशलता ही नहीं है, तो वे उद्देश्यों और लक्ष्यों की पूर्ति ही नहीं कर सकते।

(२) दूसरी समस्या बढ़ती हुई आबादी की है। इस देश की विशाल जनसंख्या तेजी से बढ़ती जा रही है। जितने बच्चे पैदा होते हैं, उन सबके लिए प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था कर सकना असम्भव है। इसलिए निरक्षरता का प्रतिशत बढ़ता जा रहा है। केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार श्री कृपालु ने अभी कुछ दिन पूर्व विश्व संस्था यूनेस्को द्वारा आयोजित साक्षरता दिवस के अवसर पर इस समस्या का उल्लेख करते हुए कहा था कि बढ़ती हुई आबादी हमारे साक्षरता प्रयत्न पर पानी फेरे दे रही है।

(३) पाठ्यक्रम की समस्या तीसरी है। प्रौढ़-जनों की रुचियों और आवश्यकताओं के अनुसार लिखे गये साहित्य का हमारे देश में बड़ा अभाव है। इन लोगों के लिए सामाजिक शिक्षा का पाठ्यक्रम भी स्थिर नहीं हुआ। नवसाक्षरों के लिए पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएँ तथा पाठ्य-सामग्री का उत्पादन नहीं हुआ है। यह समस्या और भी अधिक जटिल हो गयी है क्योंकि इस देश में अनेक भाषाएँ है और उन सभी में पुस्तकें पर्याप्त मात्रा में लिखना बहुत कठिन काम है।

(४) चौथी समस्या शिक्षण-विधि की है। स्कूलों में जिस शिक्षण-विधि का प्रयोग किया जाता है, वह प्रौढ़-जनों के उपयुक्त नहीं है क्योंकि प्रौढ़-जनों का मनोविज्ञान भिन्न प्रकार का होता है। यह लोग बड़ी हुई उम्र के कारण लिखने-पढ़ने में उत्साह नहीं रखते, सीखने समय उनमें प्रतिरोध की भावना होती है, उनकी रुचियाँ स्थायी हो जाती हैं, वे परिवार की चिन्ताओं में ग्रस्त होते हैं, उनमें अहं का भाव अत्यधिक विकसित होता है। ऐसे लोगों के लिए विशेष प्रकार की शिक्षण-विधि होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रौढ़-जनों की कुछ कठिनाइयाँ हैं, जैसे समय की कमी, जिम्मेदारी का बोझ, अर्थाभाव, और रूढ़ियों का प्रभाव। शिक्षण-विधि को इन कठिनाइयों के अनुकूल बनाना आवश्यक है और अभी तक आदर्श शिक्षण विधि का विकास नहीं हो पाया है।

(५) पाँचवी कठिनाई अध्यापकों की कमी है। सामाजिक शिक्षा के क्षेत्र में ज्यादातर सामाजिक कार्यकर्ता या प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च-शिक्षा के अध्यापक ही काम कर रहे हैं। यह लोग सामाजिक शिक्षा की समस्याओं और प्रौढ़-जनों की मनोवैज्ञानिक स्थिति से परिचित नहीं होते। सामाजिक शिक्षा देने के लिए लाखों की संख्या में जिस प्रकार के प्रशिक्षित अध्यापक होने चाहिए, वे उपलब्ध नहीं हैं। सामाजिक शिक्षा देने वाले अध्यापक में उत्साह, सेवाभाव, सहिष्णुता, भाईचारा और सहयोग के गुण होने चाहिए। इन गुणों से युक्त अध्यापक काफी संख्या में नहीं मिलते।

(६) छठी समस्या साधनों की है। सामाजिक शिक्षा को सफल बनाने के लिए विभिन्न साधनों का उपयोग किया जाता है। वे हैं - फिल्म, फिल्मस्ट्रिप्स, लालटेन

की स्लाइडें, चित्र, चार्ट, पोस्टर, रेखाचित्र, प्रदर्शनी, सचल प्रदर्शनी, संग्रह पुस्तकालय, सचल पुस्तकालय, रेडियो, टेलीविजन, पत्र-पत्रिकाएँ, नव-साक्षरों साहित्य, ग्रामोफोन रेकार्ड, वार्ता, गोष्ठी, सांस्कृतिक कार्यक्रम, मेले, भजनम नृत्य-संगीत समारोह, धार्मिक उत्सव, यात्राएँ, सरस्वती यात्राएँ, देश-दर्शन नाटक आदि। इन विविध प्रकार के साधनों की कमी हमारे देश की सामाजिक शि के कार्यक्रम में अनुभव हो रही है। यह समस्या धनाभाव के कारण उत्पन्न हुई है

(७) सातवीं समस्या जनता की गरीबी की है। हमारे देश का जीवन- और आय बहुत नीचे बिन्दु पर है। यदि उनमें अपनी शिक्षा की प्रति चेतना उत्पन्न हो तो प्रौढ आयु में वे इस मद में खर्च करने की योग्यता नहीं रखते। महँ और धनाभाव के कारण वे अपनी प्राथमिक आवश्यकताएँ ही नहीं पूरी कर अपनी शिक्षा पर वे कहाँ से व्यय कर सकेंगे।

(८) आठवीं समस्या उत्तरदायित्व की है। हम पहले ही बता चुके हैं सामाजिक शिक्षा का काम अनेक सरकारी विभागों और गैर-सरकारी संस्थाओं ले रखा है। कोई एक सत्ता ऐसी नहीं है जो सामाजिक शिक्षा की पूरी जिम्मेद अपने कन्धों पर ले। इसमें हर संस्था जो कुछ कर पाती है, करती है परन्तु कोई पूरा उत्तरदायित्व नहीं अनुभव करता।

(९) नवीं समस्या सरकार की असमर्थता और उदासीनता की है। एक ब हम अन्य प्रसङ्गों में बता चुके हैं कि कई देशों की सरकारें शिक्षा पर दिल खोल खर्च करती हैं, क्योंकि वे इसे 'पूँजी विनियोग' (Investment) मानती हैं। भा सरकार ने अभी तक शिक्षा के प्रति वही कदम अपना रखा है, जो विदेशी सरक का था। वह देश के आर्थिक विकास और सुरक्षा पर ही ध्यान केन्द्रित कर रही और यह अनुभव नहीं करती कि शायद यह सारे कार्यक्रम सामाजिक शिक्षा के बि सफल नहीं हो सकते। सरकार के साधन सीमित हैं और उसकी कठिनाइयाँ भी इ उपेक्षा के लिए जिम्मेदार हैं। सामाजिक शिक्षा को सफल बनाने के लिए सरकार सारा कार्यक्रम युद्ध के पैमाने पर चलाना पड़ेगा परन्तु यह अनुभूति सरकार में पैद नहीं हुई है।

समस्याओं का हल

सामाजिक शिक्षा के क्षेत्र में व्याप्त समस्याओं का जो विवरण ऊपर दिय जा चुका है, उससे यह स्पष्ट हो जायगा कि देश और भारतीय जनता की आर्थि क्षमता को देखते हुए, उनका हल निकालना बड़ा कठिन है। फिर भी समय-समय प विद्वानों ने जो उपाय सुझाए हैं, उनका संक्षिप्त विवरण हम प्रस्तुत कर रहे हैं।

'नया शिक्षक' (बीकानेर से प्रकाशित) के प्रौढ एवं सामाजिक शिक्षा के विशेषांक में श्री एन० के० पन्त ने एक लेख में कहा है कि आकाशीय विश्वविद्यालय (Radio or Air Universit...

साधन है। गत २० वर्षों में इस देश में शहरी जनता ने रेडियो के सेट खरीदे ही है, देहातो मे इनकी लोकप्रियता बढ़ती जा रही है। पचायतो और सामुदायिक विकास खण्डो मे सार्वजनिक रेडियो सेट उपलब्ध हैं जिनसे हर व्यक्ति लाभ उठा सकता है। अब यह सम्भव है कि देश के कोने-कोने तक सामाजिक शिक्षा का एक-समान (Uniform) कार्यक्रम आकाशवाणी के द्वारा प्रसारित किया जा सकता है। यह कार्यक्रम विश्वविद्यालयो की भाषणमाला के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है, इसलिए यह आकाशीय विश्वविद्यालय कहा जायगा। विभिन्न विषयो की शिक्षा घर बैठे लोग ग्रहण कर सकते हैं। इस प्रकार के कार्यक्रम मे कई लाभ हो सकते है, जैसे सस्ते मे शिक्षा का पूरा होना, सबको शिक्षा के समान अवसर मिलना, प्रौढ़-जनो के अवकाश का, शिक्षा के लिए सदुपयोग, राष्ट्रीय साधनो पर कम से कम दबाव तथा शिक्षा का लचीलापन। आकाशीय विश्वविद्यालय की सहायता से अध्यापकों की कमी, प्रौढो की कठिनाइयाँ, जनसख्या की विशालता तथा प्रौढो की निरक्षरता (जिसके कारण वे पढने में असमर्थ है) आदि समस्याओ का सरलता से हल हो जाता है। इसके लिए केवल आकाशवाणी का एक केन्द्रीय विश्वविद्यालय स्थापित किया जा सकता है और पुरुषो, स्त्रियो और युवको के लिए भिन्न-भिन्न समय पर कार्यक्रम प्रसारित किये जा सकते हैं।

अपने एक लेख (प्रयोजनशील प्रौढ़-शिक्षा 'भारतीय शिक्षा', मार्च १९६६) मे राजकीय शिक्षण सस्थान, उदयपुर के निदेशक श्री बालगोविंद तिवारी ने कहा है कि हमारे देश का निरक्षर जन उतना मूर्ख नही है, जितना हम समझते है। वास्तविकता यह है कि हम उसे अपने इरादो के पीछे छिपी ईमानदारी का विश्वास नही करा पाये है। हमारी सामाजिक शिक्षा की योजनाएँ प्रयोजनशील न होने से आम भारतीयों को आकृष्ट नही कर पा रही हैं। दोष उन आयोजको का है जो सामान्य जनता को प्रेरित करने मे असफल रहे है। दूसरे, हम उनको समस्याओ और कठिनाइयो को समझने का प्रयत्न नही करते। प्रौढ़-जन सामाजिक शिक्षा से होने वाले लाभो को नही पहचानते, उनके पास समय की कमी है, वे नियमित रूप से पढ़ाई जारी नही रख सकते, सुविधाएँ भी कम हैं और वे उनसे लाभ भी नहीं उठा पाते। इसके विरुद्ध हमने जिन लोगो को प्रौढ़ शिक्षा की जिम्मेदारी सौंपी है, वे 'हुक्म' देना जानते है, सरकारी अफसरो मे धू-धाम और अलगाव की भावना है, जन-सहयोग का न तो वे अर्थ समझते हैं और न वे वास्तव मे कोई काम करना ही चाहते हैं। इसलिए समस्याओं को हल करने मे हम असफल रहे हैं।

श्री तिवारी ने पूरी समस्या पर विचार करने के बाद कई उपयोगी उपाय सुझाये है, यथा—(१) सामाजिक शिक्षा का कार्यक्रम वयानुसार बनाया जाय, और जिस वय-वर्ग के लिए जैसी शिक्षा की आवश्यकता हो, उसका प्रबन्ध किया जाय। हर वय-वर्ग मे वर्तमान शिक्षा की कमजोरी को दूर किया जाय। (२) शिक्षा को

मनोरंजन-प्रधान बनाया जाय, जैसा कि भारत में आदिकाल से होता आया है। (३) प्रौढ़-शिक्षा का कार्यक्रम उपयोगितापूर्ण होना चाहिए। प्रौढ़-जन जो भी सीखें, वह उनके दैनिक जीवन और कारोबार के लिए सार्थक सिद्ध हो। ऐसा तब होगा जब उनके लिए बीमारी, स्वास्थ्य, खेती, सफाई, कुटीर उद्योग, बच्चों का लालन-पालन, सागभाजी, पशु-चिकित्सा और मरम्मत के काम आदि विषयों पर साहित्य लिखा जाय और उसके माध्यम से शिक्षा दी जाय। (४) अध्यापकों को सेवा कार्य के बदले लाभ, यश और सम्मान मिलना चाहिए। (५) लम्बी-लम्बी बातें करने वाले नेतागण उत्तम नेतृत्व-प्रदान करें और वह प्रेरणाप्रद हो। हवाई बातें न करके वे यथार्थ की भूमि पर उतरें तो अच्छा हो। (६) हम अपने सारे कार्यक्रम को देश और काल के साँचे में ढाल कर चलायें, विदेशों की नकल से काम नहीं चल सकता।

भारतीय शिक्षा आयोग ने प्रौढ़-शिक्षा की समस्या पर विस्तार से विचार किया है। उसके प्रतिवेदन में बताया गया है कि प्रौढ़-शिक्षा के कार्यक्रम का बहुत बड़े पैमाने पर एक साथ चलाना इस देश में सम्भव नहीं है। इस काम को कुछ चरणों (Stages) में चलाना चाहिए। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में यह सारा कार्यक्रम भिन्न भिन्न समय पर ही पूरा हो सकेगा। फिर भी यह याद रखना है कि साक्षरता और प्रौढ़-शिक्षा के लक्ष्य को पूरा करने में बहुत समय न लगाया जाय। लक्ष्य-निर्धारण के प्रसंग में आयोग ने सन् १९६५ में तेहरान में यूनेस्को के तत्त्वावधान में होने वाले निरक्षरता उन्मूलन विश्व सम्मेलन द्वारा जिसमें अनेक देश के शिक्षा मन्त्रियों ने भाग लिया था, सामाजिक शिक्षा के सम्बन्ध में बताए गए तीन तत्त्वों का उल्लेख किया है। वे हैं

(१) साक्षरता का कार्यक्रम जहाँ तक सम्भव हो, 'कार्याधारित' (Work-based) होना चाहिए। इसका उद्देश्य व्यक्ति में अभिवृत्तियाँ और रुचियाँ पैदा करना और निपुणताएँ तथा सूचनाएँ प्रदान करना है जिससे वह जिस काम में लगा है, उसे कुशलतापूर्वक करने में समर्थ हो।

(२) इससे निरक्षर जन को राष्ट्र की महत्त्वपूर्ण समस्याओं में रुचि लेने तथा देश के राजनीतिक एवं सामाजिक जीवन में भाग लेने में सहायता मिले।

(३) इससे व्यक्ति को लिखने, पढ़ने और गणित का इतना ज्ञान हो जाय कि बाद में वह स्वयं या अपनी शिक्षा किसी न किसी प्रकार आगे बढ़ा सके।

निरक्षरता की समस्या को हल करने के लिए आयोग ने कई उपाय सुझाए हैं। सबसे पहले प्राथमिक शिक्षा की सुविधाएँ इस रूप में प्रदान की जाएँ ताकि निरक्षरता में वृद्धि न होने पाए। दूसरे उन किशोर तथा नवयुवक प्राथमिक शिक्षा से वंचित रह गए हैं उनके लिए अंशकालिक (Part-time) शिक्षा की व्यवस्था की जाए। [illegible] कुछ शिक्षा लेते हैं, परन्तु यह अपर्याप्त है, उनके लिए [illegible] शिक्षा की व्यवस्था हो। इन तीनों सुझावों को कार्यान्वित करने के लिए [illegible] चयनात्मक (Selective) और [illegible] (Mass) [illegible] इस प्रकार किया गया है।

रचनात्मक विधि के अन्तर्गत कारखानों तथा उद्योगपतियों द्वारा अपने श्रमिकों के लिए, सरकारी योजनाओं के अन्तर्गत लगे कर्मचारियों के लिए सरकार द्वारा, खादी तथा अन्य उद्योग प्रतिष्ठानों के द्वारा अपने कार्यकर्त्ताओं के लिए, सामाजिक शिक्षा की व्यवस्था का विधान रखा गया है। सामूहिक विधि के अन्तर्गत राजनीतिक और सामाजिक नेताओं, सभी सुशिक्षित जनों, शिक्षा संस्थाओं, रेडियो, फिल्म तथा अन्य सहायक उपकरणों द्वारा किये गये प्रयत्न आ जाते हैं। इन सबका उपयोग नियोजित ढंग से होना चाहिए।

साक्षरता का प्रसार सामाजिक शिक्षा का केवल एक प्रारम्भिक कार्य है। हम पहले बता चुके हैं कि सामाजिक शिक्षा जीवन-व्यापी शिक्षा है। औपचारिक संस्थागत शिक्षा की समाप्ति से शिक्षा का अन्त नहीं होता, उसका सूत्र आगे चलकर सामाजिक शिक्षा सँभालती है। इस प्रकार के कार्य को हम सतत शिक्षा (Continuing Education) कह सकते हैं। अध्यापक, वकील, डाक्टर, उद्योगपति, इंजीनियर, और प्रशासक सभी को इस सतत शिक्षा की आवश्यकता है जिसके बिना वे समय से पीछे रह सकते हैं। इस सतत शिक्षा को चलाने का भार विद्यालयों, विश्वविद्यालयों, औद्योगिक तथा वैज्ञानिक संस्थानों पर है। यह सब छोटे-छोटे पाठ्यक्रम चला सकते हैं और उनके द्वारा नवीनतम ज्ञान का प्रचार समाज में हो सकता है। यह पाठ्यक्रम कई प्रकार से चलाये जा सकते हैं। सान्ध्यकालीन पाठ्यक्रम ऐसे होंगे जिन्हें संस्थाओं में चलाया जाय और जिन्हें आवश्यकता हो, वे वहाँ जाकर अध्ययन करें। अध्ययन के उपरान्त अध्येताओं को उपाधियाँ, प्रमाणपत्र और डिप्लोमा दिये जायें। इससे लोगों को प्रेरणा मिलेगी। दूसरे पाठ्यक्रम वे होंगे जिन्हें पत्राचार (Correspondence) के द्वारा चलाया जा सकता है। इन पाठ्यक्रमों को रेडियो, फिल्म और टेलीविजन के द्वारा अधिक प्रभावशाली बनाया जा सकता है। इन्हें सफल बनाने के लिए कार्यक्रमित शिक्षण (Programmed Instruction) की विधि का प्रयोग किया जाय। आयोग ने पत्राचार द्वारा चलाये गये पाठ्क्रमों को अध्यापकों के प्रशिक्षण तथा तकनीकी ज्ञान के प्रसार के लिए उपयोगी बताया है। इनकी व्यवस्था विश्वविद्यालयों द्वारा होनी चाहिए। पत्राचार द्वारा शिक्षा में खूबी यह है कि हर व्यक्ति अपने देश में बने रहकर अपने ज्ञान का विकास कर सकता है।

शिक्षा-आयोग का मत है कि सामाजिक शिक्षा के विकास के लिए पुस्तकालय का एक जाल बिछाने की आवश्यकता है। विशेष रूप से देहातों में ऐसा करना बहुत जरूरी है क्योंकि पुस्तकों के द्वारा ही ग्रामीण जनों में कुछ जागृति लायी जा सकती है। पुस्तक ज्ञान-प्रसार का सस्ता परन्तु स्थायी साधन है। अभी तक बड़े-बड़े नगरों में सार्वजनिक पुस्तकालय हैं परन्तु गाँवों में उनका अभाव है। जिला और पंचायत स्तर पर इनका विकास जरूरी है। गाँवों में पुस्तकालयों के साथ रेडियो, टेपरेकार्डर, ग्रामोफोन और फिल्मों की व्यवस्था भी रहनी चाहिए। पुस्तकालयों के उचित उपयोग

के लिए भारत में पुस्तक पढ़कर सुनाने, उनके आधार पर विचार-विमर्श करने, वर्णनात्मक कविता-पाठ, भजन और प्रतियोगिता का आयोजन उपयोगी होगा।

प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में अनुसंधान का काम विश्वविद्यालयों के हाथ में रहना चाहिए। अभी तक विश्वविद्यालय अपनी वास्तविक भूमिका अदा नहीं कर पाए हैं। समाज का अनुसंधान सरकारी अधिकारियों के हाथ में चला गया है। यह अनुसंधान विश्वविद्यालय के हाथ में सौंपा जाना चाहिए। इसका सर्वोत्तम उपाय सामाजिक शिक्षा के प्रचार और प्रसार में भाग लेना है। इस देश के आर्थिक और सामाजिक विकास में हाथ बंटाना चाहिए। नव ज्ञान के प्रसार, साक्षरता की चेतना, सामान्य जनता की आदतों और अभिवृत्तियों के परिष्कार, आवश्यक नियोजन और नव जीवन दर्शन आदि के क्षेत्र में विश्वविद्यालय बहुत उपयोगी काम कर सकते हैं। वे संस्थाओं के सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं, कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण का प्रबन्ध कर सकते हैं, भाषण माला, विभिन्न क्षेत्रों में सम्पर्क और विचारों के आदान-प्रदान की व्यवस्था कर सकते हैं। इन सब कामों की सिद्धि के लिए हर विश्वविद्यालय में प्रौढ़-शिक्षा का एक बोर्ड कायम किया जाय। इसमें विश्वविद्यालय के हर विभाग का एक प्रतिनिधि रहे जो प्रौढ़ शिक्षा के लिए जिम्मेदार हो। उपकुलपति इस बोर्ड का अध्यक्ष रहे। अच्छा तो यह होगा कि हर विश्वविद्यालय में प्रौढ़-शिक्षा का विभाग स्थापित हो जाय, जैसा कि दिल्ली तथा राजस्थान विश्वविद्यालय में हो चुका है।

सारे देश में प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में समायोजन लाने के लिए सामाजिक शिक्षा का केन्द्रीय बोर्ड स्थापित किया जाय। इसमें सभी मन्त्रालयों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। शिक्षा मन्त्रालय को नेतृत्व करना चाहिए। इसका काम केन्द्र और राज्यों को परामर्श देना, प्रौढ़-साहित्य व विधि पर शोध करने वाली संस्थाओं की सहायता देना, विभिन्न सामाजिक शिक्षा की संस्थाओं में समायोजन लाना और सलाह देना आदि है। इस बोर्ड के समान ही राज्य और जिला-स्तर पर सामाजिक शिक्षा की परिषदें स्थापित की जायें। यह परिषदें सार्वजनिक संस्थाओं को आर्थिक सहायता देकर प्रेरणा दें तभी प्रौढ़-शिक्षा का कार्यक्रम सफल होगा। यह खेद का विषय है कि सार्वजनिक संस्थाएँ आजादी के बाद धीरे-धीरे नष्ट होती जा रही हैं। इसका कारण यह है कि सरकार अपने हाथों में अधिक से अधिक सत्ता ग्रहण करती जा रही है। पर यह स्पष्ट है कि सरकारी कर्मचारी और अधिकारी वेतनभोगी हैं और उनमें सेवा-भाव की कमी है। सार्वजनिक संस्थाएँ प्रेरणापूर्ण ढंग से काम करती हैं और उनका सहयोग मूल्यवान सिद्ध होगा।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. सामाजिक शिक्षा के लक्ष्यों की एक सूची बनाइए। इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए भारत में स्वतन्त्रता के बाद क्या-क्या कार्य किये गये हैं?

२. सामाजिक शिक्षा की क्या समस्याएँ है ? इनको हल करने के उपाय बताइए ।

३. सामाजिक शिक्षा के महत्व पर प्रकाश डालिए । भारत जैसे अर्द्ध-विकसित देश मे सामाजिक शिक्षा की आवश्यकता क्यो अधिक है ?

४. भारत मे सामाजिक शिक्षा के विकास का संक्षिप्त इतिहास लिखिए । इस समय 'सामाजिक शिक्षा' की क्या धारणा (Concept) स्वीकार की जाती है ?

५. सामाजिक शिक्षा कहाँ तक देश की दो निम्नलिखित प्रमुख आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती है—
   (क) सार्वजनिन (Universal) शिक्षा,
   (ख) प्रजातन्त्र के लिए शिक्षा ?

६. सामुदायिक विकास-खड सामाजिक शिक्षा के क्षेत्र मे क्या योगदान देते हैं ? विकास-खडो की उपलब्धियो पर विचार प्रकट कीजिए ।

७. सामाजिक शिक्षा क प्रचार-प्रसार के लिए कौन-से सगठन (Agencies) प्रयत्न कर रहे हैं ? सामाजिक शिक्षा का उत्तरदायित्व सरकार को लेना चाहिए अथवा सार्वजनिक सस्थाओ को ? अपने तर्क दीजिए ।

८. "सामाजिक शिक्षा देश की सुरक्षा की दूसरी रक्षा-पक्ति है ।" इस कथन के सदर्भ मे सामाजिक शिक्षा के उद्देश्यो का विवेचन कीजिए ।

राजस्थान विश्वविद्यालय की बी० एड० परीक्षा में पूछे गये प्रश्न

1. What are the various agencies of social education in India ? Discuss the role of Community Development Projects in social education ? (1961)

2. Show the importance of adult education in India of today with reference to—
   (a) the needs of democracy
   (b) the effect on children's education and enrolment
   (c) the improvement in the personal life of the adults
   Bring out the distinction between adult literacy, adult education and social education (1964)

3. Write short notes on
   (e) Adult and social education in India (1963)
   (क) जनता कॉलिज (१९६७)

अध्याय १६

भारत के पब्लिक स्कूल

पब्लिक स्कूल क्या है ?

सामान्य धारणा—आम तौर पर पब्लिक स्कूल के अर्थ के विषय में बहुत-से लोगों के मन में भ्रम पैदा हो जाता है। वे समझते हैं कि यह एक ऐसा स्कूल होगा जिसमें साधारण जनों के बच्चे पढ़ते हैं। यह भ्रम इसलिए होता है कि कुछ देशों में ऐसे पब्लिक स्कूल हैं जो सर्वसाधारण के लिए ही बने हैं और सरकार इन स्कूलों को जनहित के उद्देश्य से चलाती तथा इनका पूरा खर्च उठाती है। भारत के 'पब्लिक स्कूल' कुछ दूसरे ही प्रकार के हैं। 'पब्लिक स्कूल' एक ऐसा स्कूल है जिसके द्वार सर्वसाधारण के बच्चों के लिए बन्द होते हैं, इनमें सुविधा-प्राप्त उच्चवर्गीय बालक पढ़ते हैं और प्रायः इस पर सरकारी नियंत्रण नहीं होता क्योंकि इस स्कूल के पास धन की कमी नहीं होती। हमारे देश में इस प्रकार के अनेक स्कूल हैं, जो बड़े शहरों में बने हुए हैं और जिनमें अधिकारियों, पूँजीपतियों तथा सुविधा-प्राप्त जनों के बालक सैंकड़ों रुपये प्रतिमास खर्च करके शिक्षा प्राप्त करते हैं। इनमें से अधिकांश आवासीय भी हैं अर्थात् इनमें पढ़ने के लिए यह आवश्यक है कि बच्चों को उनके घरों से हटा कर इन स्कूलों के छात्रावास में रखा जाय तथा उनमें कठोर अनुशासन का पालन कराया जाय। कुछ पब्लिक स्कूल ऐसे हैं जिनमें छात्रावास में रहना अनिवार्य है परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जिनमें स्थानीय बालक घरों में रहते हैं परन्तु उन्हें दिन का अधिकांश भाग स्कूल में ही बिताना पड़ता है।

पब्लिक स्कूल की परम्परा—आम लोग पब्लिक स्कूल के सम्बन्ध में जो धारणा रखते हैं उसमें इस प्रकार के स्कूल को ठीक-ठीक समझना सम्भव नहीं है। कुछ स्कूल ऐसे हो सकते हैं, जिनमें उच्चवर्ग के बालक पढ़ते हों, खर्च भी ज्यादा लगता हो, छात्रावासों में रहना पड़ता हो परन्तु फिर भी वे पब्लिक स्कूल न हों।

जीवन में नेतृत्व करने का प्रशिक्षण छात्रों को दिया जाता है। यहाँ छात्रावास की सुविधाएँ अवश्य होती हैं क्योंकि बिना छात्रावासों में रहे, छात्रों के भीतर नेतृत्व और चरित्र के उत्तम गुण नहीं पैदा किये जा सकते। इन स्कूलों का कैम्ब्रिज और आक्सफोर्ड विश्वविद्यालयों से सम्पर्क होता है। यह दोनों विश्वविद्यालय शिक्षा-स्तर की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं और यह पब्लिक स्कूलों के छात्रों को सरलता से प्रवेश दे देते हैं। कारण, पब्लिक स्कूल का छात्र योग्यता और बुद्धि में श्रेष्ठ माना जाता है। यह स्कूल सरकार का मुँह नहीं ताकते। वे आर्थिक सहायता नहीं लेते, अतः वे राजकीय नियंत्रण से मुक्त रहते हैं। थी डेन्ट ने भी लगभग इन्हीं विशेषताओं का उल्लेख पब्लिक स्कूल की चर्चा में किया है।

पब्लिक स्कूलों में छात्रों के लिए प्रवेश पाना बड़ा कठिन होता है। इसके कई प्रमुख कारण हैं। एक, इनमें वही छात्र प्रवेश सरलता से पाते हैं, जिनके पूर्वज यहाँ पढ़ चुके हैं। *यहाँ पूर्व छात्रों का लेखा रहता है और उनकी सन्तानों को प्रवेश में वरीयता* दी जाती है। दूसरी कठिनाई यह है कि पब्लिक स्कूल में शुल्क बहुत ज्यादा होता है। एक छात्र पर हजार रुपये से भी अधिक प्रतिमास खर्च बैठता है। इसलिए असीम साधन वाले लोग ही बच्चों को यहाँ भेज सकते हैं। तीसरी कठिनाई यह है कि यहाँ का शिक्षा-स्तर भी ऊँचा होता है। पहले ३-४ वर्ष तक बालकों को 'प्रेपेरेटरी स्कूल' (जहाँ उन्हें बड़े परिश्रम से तैयार किया जाता है) में रखा जाता है। यह स्कूल पब्लिक स्कूल से सम्बद्ध होते हैं। फिर इतना समय लगाने के बाद ही वे इस योग्य बनते हैं कि पब्लिक स्कूल में चल सकें।

इन स्कूलों का कार्यक्रम बड़ा नियंत्रित तथा श्रम-साध्य होता है। सबेरे से लेकर शाम तक छात्रों को कठोर नियंत्रण में रहना पड़ता है। स्नान, भोजन, कक्षा, स्वाध्याय और खेलने आदि सभी कामों का समय बँधा होता है और नियमों का उल्लंघन करने वालों को कठोर दण्ड दिया जाता है। यहाँ शास्त्रीय विषय पढ़ाने पर जोर देते हैं यद्यपि अब आधुनिक भाषाओं और विज्ञान का प्रवेश भी यहाँ हो गया है।

इन पब्लिक स्कूलों में पढ़ने वाले लोगों की श्रेष्ठता का परिचय उनकी उपलब्धियों से मिलता है। *एक अध्ययन के अनुसार इंग्लैंड के सर्वश्रेष्ठ लेखकों,* राजनीतिज्ञों, वैज्ञानिकों, योद्धाओं तथा प्रशासकों में से अधिकांश इन नौ बड़े पब्लिक स्कूलों के पढ़े हुए छात्र हैं। साथ ही इससे यह निष्कर्ष निकाल लेना कि पब्लिक स्कूल की शिक्षा की उत्तमता के कारण ही ऐसे महान् पुरुष उत्पन्न हुए, उचित न होगा। निकोलस हैन्स के मत में, इन स्कूलों की श्रेष्ठता कुछ कारणों से है, जैसे इनमें अंग्रेज जाति के चुने हुए बालक पढ़ते हैं, इनमें प्रवेश पाने से पहले इन बालकों को जबरदस्त तैयारी करायी जाती है, इनके घर बड़े सम्पन्न होते हैं और उनके बौद्धिक विवरण के लिए अच्छी व्यवस्था की जाती है। तभी यहाँ के छात्र पढ़ने-लिखने में अच्छे होते हैं; यहाँ का शिक्षण-स्तर अद्वितीय हो, ऐसी बात नहीं है।

पब्लिक स्कूल में उत्पन्न व्यक्तित्व की धारणा आम धारणा यह है कि इन पब्लिक स्कूलों में शिक्षा पाये हुए लोग 'सज्जन' होते हैं, वे स्वभाव से धर्मभीरु, संयमी, नैतिक, इन्द्रियनिग्रही, दयालु और उदार होते हैं। यह सज्जन अंग्रेज की परिभाषा देते हुए अंग्रेजी लेखक कार्डिनल न्यूमैन तथा जॉन गाल्सवर्दी ने जो कुछ लिखा है वह सब इन स्कूलों में पढ़े हुए लोगों में मिलता है। प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में शिक्षा के उपरान्त तैयार जिस दार्शनिक राजा (Philosopher King) की चर्चा की है, लगभग वैसा ही 'सज्जन व्यक्ति' होता है, जो पब्लिक स्कूल की शिक्षा पाने से बनता है।

इन स्कूलों में व्यायाम प्रधान कार्यक्रमों तथा खेल-कूदों की व्यवस्था होती है। इसलिए यहाँ छात्र शरीर से हृष्ट-पुष्ट तो होते ही हैं, साथ ही उनमें परस्पर होड़ करने, दूसरों पर शासन करने और दूसरों से आदर पाने की आकांक्षा होती है। इन लोगों ने ही आगे चलकर अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना की और अंग्रेजी संस्कृति के आधार स्वयं बन गये। यह सब कैसे होता है? कच्ची उम्र में बालकों को उनके घरों से दूर रखा जाता है, वे मातृस्नेह और नारी के कोमल प्रभावों से वंचित रह कर वहाँ के उच्च कक्षाओं के छात्रों के दुर्व्यवहार का आदी बन जाता है। फिर आगे चल कर अपने से नीची कक्षाओं के बालकों का श्रद्धाभाजन बन कर संतोष पाने लगता है और बहुत कुछ हद तक संवेदनात्मक बन जाता है।

परम्परा के विरुद्ध प्रतिक्रिया—उन्नीसवीं शताब्दी में पब्लिक स्कूल की परम्परा इंग्लैण्ड में पनप रही थी क्योंकि यहीं के पढ़े-लिखे लोगों ने अंग्रेजी साम्राज्यवाद का विस्तार सारे संसार में किया था। साथ ही देश के भीतर इसके विरुद्ध एक भीषण प्रतिक्रिया का आरम्भ भी हो गया। रूसो ने जिस प्रगतिवादी शिक्षा को जन्म दिया था और प्रजातन्त्र की भावना का जिस प्रकार से विकास हो रहा था, उसमें बहुत से लोगों का दृष्टिकोण बदलने लगा था। पब्लिक स्कूलों की संकुचित और दमन-प्रधान शिक्षा इन नव-विकसित शिक्षा के आदर्शों से मेल नहीं खाती थी। इसलिए बीसवीं शताब्दी में इस परम्परा के विरुद्ध जोरदार आन्दोलन प्रारम्भ हो गया।

पब्लिक स्कूलों के दोषों को जनता के सामने स्पष्ट करने वाले वे लोग थे जो प्रगतिवादी शिक्षा का आन्दोलन चला रहे थे। नमूने के तौर पर इन आन्दोलनकारियों में से श्री एल० बी० पेकिन के विचारों का विश्लेषण हम करेंगे। इनकी पहली पुस्तक 'पब्लिक स्कूल, उनकी असफलता और उनका सुधार' सन् १६३२ में प्रकाशित हुई तो चारों ओर धूम मच गयी।

श्री पेकिन ने लिखा है कि प्राय पब्लिक स्कूलों की प्रशंसा में लिखना एक सम्मान की बात समझी जाती है। केवल कुछ लोग ही ऐसे हैं जो यह समझते हैं कि
हुत सी खराबियाँ हैं जिन्हें दूर किया जाना चाहिए। उन खराबियों में
पकों का छात्रों के साथ असहिष्णुता और घमंड का व्यवहार, उनके

ऊपर शारीरिक दंड के अत्याचार, खेलो की जी उबाने वाली मूर्खतापूर्ण पूजा, विषैली असामाजिक शिक्षण पद्धति, संकुचित पाठ्यक्रम, लैंगिक भ्रष्टाचार और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हनन आदि। शायद सामान्य जनता इन पर विश्वास न करे परन्तु यह तथ्य हैं और इन स्कूलो में पढे लोग इन्हे अच्छी तरह जानते हैं।

इसी प्रकार प्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक बर्टेण्ड रसेल ने अपनी पुस्तक 'शिक्षा और समाज व्यवस्था' (Education and Social Order) मे इन पब्लिक स्कूलो की कटु आलोचना की है। उनका कहना है कि पब्लिक स्कूल के पढे तथाकथित महापुरुषो ने अन्य देशों में केवल पशुता और बदूको के बल पर अपना झडा गाडा था, अपनी मानवता के बल पर नही। साम्राज्यवाद के 'इजन' के रूप मे पब्लिक स्कूल विफल रहा है। यहाँ के पढे लोगो मे 'बुद्धि' के प्रति घृणा होती है, वे सोचने और स्वतन्त्रता-पूर्वक सोचने के बिल्कुल आदी नही होते। विद्यार्थी जीवन मे उन्हे केवल कुछ स्थिर मूल्यों का पालन करना सिखाया जाता है। अनुकरण और आज्ञापालन करते-करते वे कुछ भी सीखने मे असमर्थ बन जाते हैं। इन लोगो मे मनोवैज्ञानिक असामान्यताएँ भी पैदा हो जाती हैं क्योकि लिंग के प्रति बडा ही अस्वस्थ दृष्टिकोण यहाँ होता है। यहाँ के छात्रो मे समलैंगिकता तथा हस्तमैथुन के अवगुण पैदा हो जाते है, जिनके कारण वे अपने विवाहित जीवन मे असफल रहते है। इस असफलता और निराशा की प्रतिक्रिया के कारण यह लोग आगे चलकर साम्राज्यवादी बर्बरता का प्रदर्शन करने लगते है।

इन विद्वत्तापूर्ण और साथ ही यथार्थवादी आलोचनाओं का परिणाम यह हुआ कि पब्लिक स्कूलो की 'पवित्र मूर्ति' खडित होने लगी और इनमें सुधारों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। इगलैण्ड में सन् १९४४ के ऐक्ट और इसी वर्ष दी गयी फ्लेमिंग रिपोर्ट मे, *यद्यपि इन स्कूलो को सर्वथा नष्ट कर देने की प्रवृत्ति का विरोध* किया गया परन्तु इनमे कुछ सुधार करने पर भी बल दिया गया। इन स्कूलो के द्वार उन छात्रों के लिए खोलने की सिफारिश की गयी, जो मध्यम वर्ग के हैं परन्तु धनाभाव के कारण इन स्कूलो म पढ नही पाते। ऐसे छात्रो की सख्या कम से कम २५% होना आवश्यक बताया गया। पब्लिक स्कूलो ने भी अपनी कमजोरी समझी और उन्होने स्वय अपने कार्यक्रम और पाठ्यक्रम मे अपेक्षित परिवर्तन कर डाले। फिर भी जहाँ २०वी शताब्दी में इन स्कूलो की प्रतिष्ठा मे अधिक कमी नही हुई, वहाँ यह भी स्पष्ट है कि शिक्षा की उत्तमता की दृष्टि से ये अप्रतिम नही हैं।

भारत मे पब्लिक स्कूलो की स्थापना और उनका संक्षिप्त इतिहास

इगलैण्ड का अधिकार भारत पर हो गया और वहीं की शिक्षा-प्रणाली इस देश मे लागू हो गई। यहाँ के साधन-सम्पन्न लोग इगलैण्ड मे जाकर पढने लगे। उनका परिचय इन पब्लिक स्कूलों से हुआ। भारतीयो के मन मे इन स्कूलो के प्रति आकर्षण उत्पन्न हुआ। बहुत से धनी वर्ग के लोगो ने अपने बच्चो को इन स्कूलो मे पढने के

लिए भेजा। प० जवाहरलाल नेहरू हैरो नामक पब्लिक स्कूल की उपज थे। परन्तु, भारतीयों को इन स्कूलों में प्रवेश पाने में कठिनाई होती थी। परिणाम यह हुआ कि यहाँ के राजा-महाराजाओं, बड़े-बड़े जागीरदारों और पूँजीपतियों के मन में यह इच्छा हुई कि भारत में ही पब्लिक स्कूल के नमूने के स्कूल खोले जायें। ऐसे स्कूलों के लिए इन लोगों ने मुक्तहस्त होकर धन और सम्पत्ति दान की, उन्हें चलाने के लिए इंगलैण्ड से अंग्रेजों को प्रधानाचार्यों के पदों पर काम करने के लिए बुलाया, इनमें अंग्रेजी संस्कृति और अंग्रेजी भाषा को प्रधानता दी और इनके दरवाजे यहाँ की शिक्षा को खर्चीला बनाकर सामान्य वर्ग के बालकों के लिए बंद कर दिए। इन्हें चीफ्स कालेज कहकर पुकारा गया। अजमेर का मेयो कालेज इसका एक नमूना है।

शुद्ध रूप में 'पब्लिक स्कूल' भारत में स्थापित हों, यह विचार कलकत्ता के एक प्रख्यात वकील श्री एस० आर० दास के मन में उत्पन्न हुआ। वे चाहते थे कि यह पब्लिक स्कूल केवल राजकुमारों के लिए ही न रहे वरन् इसके द्वार हर योग्य भारतीय के लिए खुले रहें ताकि वे उच्च पदों को, शिक्षा पूरी करने के बाद पा सकें। इसलिए श्री दास ने सन् १९२९ में इंडियन पब्लिक स्कूल सोसाइटी का रजिस्ट्रेशन करा लिया और जनता से १४ लाख रुपया चंदे के रूप में एकत्र कर लिया। यद्यपि श्री दास अपने निधन के कारण इस काम को पूरा न कर सके, तथापि १९३५ में उनकी प्रेरणा के प्रभाव से देहरादून में दून पब्लिक स्कूल की स्थापना हुई।

चीफ्स कालेज अलग चल रहे थे और उन्हें सरकारी अनुदान मिल रहा था। १९३० के बाद के दशक में भारत में राष्ट्रवादी आन्दोलन जोर पकड़ रहा था और प्रजातान्त्रिक विचारधारा भी प्रबल होती जा रही थी। इसलिए सरकार के सामने बराबर यह प्रश्न उठाया गया कि इन सुविधा-प्राप्त वर्गों के स्कूलों को सार्वजनिक कोष से धन क्यों दिया जाता है। इस माँग की प्रबलता से विवश होकर चीफ्स स्कूलों को दिया जाने वाला सरकारी अनुदान सरकार ने बन्द कर दिया। अब जो आर्थिक संकट इन स्कूलों के सामने आ गया, उससे परेशान होकर इनके प्रबन्धकों को नये ढंग से सोचना पड़ा। एक नया आन्दोलन इन स्कूलों की ओर से चला कि इन स्कूलों को पब्लिक स्कूलों के रूप में बदल दिया जाय। इस आन्दोलन का नेतृत्व करने वाले थे, सिंधिया स्कूल के प्रिंसीपल श्री एफ० सी० पियर्स। इन्होंने अपने स्कूल को 'पब्लिक स्कूल' के नाम से पुकारने की घोषणा कर दी। श्री पियर्स ने शीघ्र ही 'इण्डियन पब्लिक स्कूल कान्फ्रेंस' बनाने का निश्चय किया और सन् १९३९ में इनके प्रयासों से शिमला में इस प्रकार के स्कूलों के प्रधानाचार्यों की एक सभा हुई। इस सभा में तत्कालीन भारतीय सरकार के शिक्षायुक्त श्री जे० पी० सार्जेंट ने भी भाग लिया था।

इस सभा में कई बातों पर विचार हुआ, जैसे सावास शिक्षा संस्थाओं की समस्याएँ, भारतीय पब्लिक स्कूलों के एसोसिएशन का निर्माण तथा इन स्कूलों में भी भारतीय संस्कृति का समावेश। सन् १९३९ में ही ग्वालियर में पहले की तरह की

एक बैठक और हुई और इण्डियन पब्लिक स्कूल कान्फ्रेंस की स्थापना हो गई। चीफ्स स्कूलों के प्रधानाचार्य इसके सदस्य बने और उनके स्कूल पब्लिक स्कूल बने। इस बैठक में दून पब्लिक स्कूल के प्रधानाचार्य श्री फुट उपस्थित थे परन्तु वे इस कान्फ्रेंस के सदस्य नहीं बने। श्री सार्जेन्ट भी उपस्थित थे और उन्होंने भारत में पब्लिक स्कूलों के विकास को महत्त्वपूर्ण बताया। उनका तर्क यह था कि भविष्य में नेतृत्व का गुण भारत में पैदा करना आवश्यक है क्योंकि उन्हें कभी न कभी स्वायत्त-शासन प्राप्त करना है और ऐसे लोग तैयार करने की जिम्मेदारी पब्लिक स्कूल ही ले सकते हैं जो समाज का नेतृत्व कर सकें।

इण्डियन पब्लिक स्कूल कान्फ्रेंस की स्थापना के बाद एचीसन कालेज, लाहौर, राजकुमार कालेज, राजकोट, राजकुमार कालेज, रायपुर, डेली कालेज, इन्दौर, भोंसले मिलिट्री स्कूल पूना, पब्लिक स्कूल घोषित कर दिये गये। अब इन स्कूलों ने यह आवश्यक समझा कि इन्हें राष्ट्रीय नेताओं का समर्थन भी मिल जाय। इसलिए राजकुमार प्रिंस स्कूल, रायपुर के प्रधानाचार्य श्री स्मिथ ने गाधीजी से इन स्कूलों में पधारने का आग्रह किया परन्तु गाधीजी ने पब्लिक स्कूल की परम्परा का समर्थक होना स्वीकार नहीं किया। फिर भी श्री स्मिथ ने साहस नहीं छोड़ा और इस परम्परा को जमाने का प्रयत्न जारी रखा। उनका ख्याल था कि गाधी के अतिरिक्त अन्य कांग्रेसी नेता पब्लिक स्कूल के विरोधी नहीं हैं और वे गाधीजी की बुनियादी शिक्षा से सहमत नहीं हैं।

उधर इण्डियन पब्लिक स्कूल कान्फ्रेंस तो बन गई पर चीफ्स स्कूलों के प्रधानाचार्य इसके सदस्य बनने से इन्कार कर रहे थे। स्वय मेयो कालेज के प्रिंसीपल स्टो का कहना था कि उनका कालेज एक विशिष्ट वर्ग की सस्था है और उसका सदस्य बनना सम्भव नहीं है। दून पब्लिक स्कूल के प्रधानाचार्य श्री फुट ने भी उसकी सदस्यता स्वीकार नहीं की थी। अत प्रयत्न जारी रहा और सन् १९४० के अक्टूबर मास में रायपुर में एक बैठक हुई जिसमें इण्डियन पब्लिक स्कूल कान्फ्रेंस का स्मृतिपत्र तैयार किया गया। इसकी सदस्यता के लिए आवश्यक शर्तें तय कर दी गई। यह भी निश्चय किया गया कि पब्लिक स्कूलों में पढ़ने वाले छात्रों के लिए भारतीय भाषाओं में परीक्षा की व्यवस्था की जाय। इस बैठक के पश्चात् माडर्न स्कूल, दिल्ली; मेयो कालेज, अजमेर, शार्दूल स्कूल, बीकानेर ने इस सस्था की सदस्यता स्वीकार कर ली। इस संस्था के बनने के बाद नये पब्लिक स्कूल खुलने का क्रम आरम्भ हो गया। नये स्कूलों में प्रमुख हैं—महारानी गायत्री देवी स्कूल, जयपुर (१९४३); बिड़ला पब्लिक स्कूल, पिलानी (१९४४); बिड़ला विद्या मन्दिर, नैनीताल (१९४७), यादवेन्द्र पब्लिक स्कूल, पटियाला (१९४८)। सन् १९४६ में दी लॉरेंस स्कूल, सनावर और लारेंस स्कूल, लवडेल को जो सुरक्षा विभाग के हाथों में थे, शिक्षा मन्त्रालय ने ले लिया परन्तु सन् १९५३ में उन्हें स्वयचालित समितियों को सौंप

लिए भेजा। प० जवाहरलाल नेहरू हैरो नामक पब्लिक स्कूल की उपज थे। परन्तु, भारतीयों को इन स्कूलों में प्रवेश पाने में कठिनाई होती थी। परिणाम यह हुआ कि यहाँ के राजा-महाराजाओं, बडे-बडे जागीरदारों और पूँजीपतियों के मन में यह इच्छा हुई कि भारत में ही पब्लिक स्कूल के नमूने के स्कूल खोले जायें। ऐसे स्कूलों के लिए इन लोगों ने मुक्तहस्त होकर धन और सम्पत्ति दान की, उन्हें चलाने के लिए इंगलैण्ड से अंग्रेजों को प्रधानाचार्यों के पदों पर काम करने के लिए बुलाया, इनमें अंग्रेजी संस्कृति और अंग्रेजी भाषा को प्रधानता दी और इनके दरवाजे यहाँ की शिक्षा को खर्चीला बनाकर सामान्य वर्ग के बालकों के लिए बंद कर दिए। इन्हें चीफ्स कालेज कहकर पुकारा गया। अजमेर का मेयो कालेज इसका एक नमूना है।

शुद्ध रूप में 'पब्लिक स्कूल' भारत में स्थापित हो, यह विचार कलकत्ता के एक प्रख्यात वकील श्री एस० आर० दास के मन में उत्पन्न हुआ। वे चाहते थे कि यह पब्लिक स्कूल केवल राजकुमारों के लिए ही न रहे वरन् इसके द्वार हर योग्य भारतीय के लिए खुले रहें ताकि वे उच्च पदों को, शिक्षा पूरी करने के बाद पा सकें। इसलिए श्री दास ने सन् १९२९ में इंडियन पब्लिक स्कूल सोसाइटी का रजिस्ट्रेशन करा लिया और जनता से १४ लाख रुपया चंदे के रूप में एकत्र कर लिया। यद्यपि श्री दास अपने निधन के कारण इस काम को पूरा न कर सके, तथापि १९३५ में उनकी प्रेरणा के प्रभाव से देहरादून में दून पब्लिक स्कूल की स्थापना हुई।

चीफ्स कालेज अलग चल रहे थे और उन्हें सरकारी अनुदान मिल रहा था। १९३० के बाद के दशक में भारत में राष्ट्रवादी आन्दोलन जोर पकड़ रहा था और प्रजातांत्रिक विचारधारा भी प्रबल होती जा रही थी। इसलिए सरकार के सामने बराबर यह प्रश्न उठाया गया कि इन सुविधा-प्राप्त वर्गों के स्कूलों को सार्वजनिक कोष से धन क्यों दिया जाता है। इस माँग की प्रबलता से विवश होकर चीफ्स स्कूलों को दिया जाने वाला सरकारी अनुदान सरकार ने बन्द कर दिया। अब जो आर्थिक संकट इन स्कूलों के सामने आ गया, उससे परेशान होकर इनके प्रबन्धकों को नये ढंग से सोचना पड़ा। एक नया आन्दोलन इन स्कूलों की ओर से चला कि इन स्कूलों को पब्लिक स्कूलों के रूप में बदल दिया जाय। इस आन्दोलन का नेतृत्व करने वाले थे, सिंधिया स्कूल के प्रिंसीपल श्री एफ० सी० पियर्स। इन्होंने अपने स्कूल को 'पब्लिक स्कूल' के नाम से पुकारने की घोषणा कर दी। श्री पियर्स ने शीघ्र ही 'इण्डियन पब्लिक स्कूल कान्फ्रेंस' बनाने का निश्चय किया और सन् १९३९ में इनके प्रयासों से शिमला में इस प्रकार के स्कूलों के प्रधानाचार्यों की एक सभा हुई। इस सभा में तत्कालीन भारतीय सरकार के शिक्षायुक्त श्री जे० पी० सार्जेंट ने भी भाग लिया था।

इस सभा में कई बातों पर विचार हुआ, जैसे सावास शिक्षा संस्थाओं की समस्यायें, भारतीय पब्लिक स्कूलों के एसोसिएशन का निर्माण तथा इन स्कूलों में भी भारतीय संस्कृति का समावेश। सन् १९३९ में ही ग्वालियर में पहले की तरह की

एक बैठक और हुई और इण्डियन पब्लिक स्कूल कान्फ्रेंस की स्थापना हो गई। चौपस स्कूलों के प्रधानाचार्य इसके मदस्य बने और उनके स्कूल पब्लिक स्कूल बने। इस बैठक में दून पब्लिक स्कूल के प्रधानाचार्य श्री फुट उपस्थित थे परन्तु वे इस कान्फ्रेंस के मदस्य नहीं बने। श्री सार्जेन्ट भी उपस्थित थे और उन्होंने भारत में पब्लिक स्कूलों के विकास को महत्त्वपूर्ण बताया। उनका तर्क यह था कि भविष्य में नेतृत्व का गुण भारत में पैदा करना आवश्यक है क्योंकि उन्हें कभी न कभी स्वायत्त-शासन प्राप्त करना है और ऐसे लोग तैयार करने की जिम्मेदारी पब्लिक स्कूल ही ले सकते हैं जो समाज का नेतृत्व कर सकें।

इण्डियन पब्लिक स्कूल कान्फ्रेंस की स्थापना के बाद एचीसन कालेज, लाहौर, राजकुमार कालेज, राजकोट, राजकुमार कालेज, रायपुर, डेली कालेज, इन्दौर, भोंसले मिलिट्री स्कूल पूना, पब्लिक स्कूल घोषित कर दिये गये। अब इन स्कूलों ने यह आवश्यक समझा कि इन्हें राष्ट्रीय नेताओं का समर्थन भी मिल जाय। इसलिए राजकुमार प्रिंस स्कूल, रायपुर के प्रधानाचार्य श्री स्मिथ ने गांधीजी से इन स्कूलों में पधारने का आग्रह किया परन्तु गांधीजी ने पब्लिक स्कूल की परम्परा का समर्थक होना स्वीकार नहीं किया। फिर भी श्री स्मिथ ने साहस नहीं छोड़ा और इस परम्परा को जमाने का प्रयत्न जारी रखा। उनका ख्याल था कि गांधी के अतिरिक्त अन्य कांग्रेसी नेता पब्लिक स्कूल के विरोधी नहीं हैं और वे गांधीजी की बुनियादी शिक्षा से सहमत नहीं हैं।

उधर इण्डियन पब्लिक स्कूल कान्फ्रेंस तो बन गई पर चौपस स्कूलों के प्रधानाचार्य इसके सदस्य बनने से इन्कार कर रहे थे। स्वयं मेयो कालेज के प्रिंसीपल स्टो का कहना था कि उनका कालेज एक विशिष्ट वर्ग की संस्था है और उसका सदस्य बनना सम्भव नहीं है। दून पब्लिक स्कूल के प्रधानाचार्य श्री फुट ने भी उसकी सदस्यता स्वीकार नहीं की थी। अत प्रयत्न जारी रहा और सन् १९४० के अक्टूबर मास में रायपुर में एक बैठक हुई जिसमें इण्डियन पब्लिक स्कूल कान्फ्रेंस का स्मृतिपत्र तैयार किया गया। इसकी सदस्यता के लिए आवश्यक शर्तें तय कर दी गईं। यह भी निश्चय किया गया कि पब्लिक स्कूलों में पढ़ने वाले छात्रों के लिए भारतीय भाषाओं में परीक्षा की व्यवस्था की जाय। इस बैठक के पश्चात् माडर्न स्कूल, दिल्ली; मेयो कालेज, अजमेर, शार्दूल स्कूल, बीकानेर ने इस संस्था की सदस्यता स्वीकार कर ली। इस संस्था के बनने के बाद नये पब्लिक स्कूल खुलने का क्रम आरम्भ हो गया। नये स्कूलों में प्रमुख हैं—महारानी गायत्री देवी स्कूल, जयपुर (१९४३); बिड़ला पब्लिक स्कूल, पिलानी (१९४४); बिड़ला विद्या मन्दिर, नैनीताल (१९४७), यादवेन्द्र पब्लिक स्कूल, पटियाला (१९४८)। सन् १९४९ में दो लॉरेंस स्कूल, सनावर और लॉरेंस स्कूल, लवडेल को जो सुरक्षा विभाग के हाथों में थे, शिक्षा मन्त्रालय ने ले लिया परन्तु सन् १९५३ में उन्हें स्वयचालित समितियों को सौंप

दिया गया। बेगमपेठ स्थित जागीदार कालेज का स्थानान्तर सन् १९५० में हैदराबाद कर दिया गया और वह हैदराबाद पब्लिक स्कूल के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

सन् १९४७ में स्वतन्त्रता के पश्चात् ऐसा जान पड़ने लगा था कि इस देश में पब्लिक स्कूल की परम्परा को नष्ट होना पड़ेगा क्योंकि यह विशिष्ट वर्ग की संस्थाएँ है और भावी प्रजातन्त्र के लिए चुनौती हैं। साथ ही इनमें ब्रिटिश रीति रिवाजों की प्रधानता तथा अंग्रेजी के माध्यम का होना, पुरानी दासता का प्रतीक और भारतीय संस्कृति का अपमान है, परन्तु उच्च पदस्थ अधिकारियों और अंग्रेजी संस्कृति के प्रेमियों द्वारा इस परम्परा का पोषण प्रारम्भ हो गया क्योंकि 'नेतृत्व' और अपनी नौकरियों को बनाए रखने में उनका अपना स्वार्थ है और पब्लिक स्कूल की शिक्षा पाकर वे अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करना चाहते हे।

पब्लिक स्कूल का कार्यक्षेत्र माध्यमिक शिक्षा में है। इसलिए सन् १९५२-५३ में मुदालियर कमीशन ने इन स्कूलों पर विचार किया। कमीशन ने इनमें वर्तमान कई दोषों का उल्लेख तो किया परन्तु इनकी प्रशंसा में कह डाला कि नेतृत्व के गुण के विकास में इन स्कूलों का जो विशेष योगदान है, उसे नकारना बुद्धिमानी न होगी। उसने इनमें सुधार करने के उपाय भी सुझाए।

स्वतन्त्रता के बाद भारतीय नेताओं में राष्ट्रीयता के स्थान पर अन्तरराष्ट्रीयता का भाव प्रबल हो गया। इस अन्तरराष्ट्रीयता के प्रवाह में नेता और साधारण जन उल्टी दिशा में बहने लगे। अभी तक अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी सभ्यता के प्रति जो घृणा का भाव था, वह बदल गया। विदेश-गमन और सहायता-प्राप्ति के लिए अंग्रेजी भाषा-भाषियों की सहानुभूति-अर्जन आदि के कारण अंग्रेजी भाषा का महत्त्व बढ़ा और इस बात ने पब्लिक स्कूलों का महत्त्व बढ़ा दिया। बड़े-बड़े नगरों में जाली पब्लिक स्कूल खुल गए जिन्होंने अपने नाम के साथ 'पब्लिक' शब्द जोड़ कर जनता का ध्यान आकर्षित करना प्रारम्भ किया। फैशन-प्रेमी, महत्त्वाकांक्षी और पैसे वाले शहरी लोग इन स्कूलों में अपनी सन्तानों को पढ़ाना गौरव की बात मानते है।

आज शिक्षा के क्षेत्र में 'पब्लिक स्कूल' विवाद का विषय बना हुआ है। कोठारी शिक्षा-आयोग ने इन स्कूलों को अनावश्यक ठहराया है और इन्हें 'वर्ग शिक्षा' का प्रतीक बना कर इनका कायाकल्प करने पर जोर दिया है। पब्लिक स्कूल की अप्रजातान्त्रिक परम्परा को समाप्त करके 'सामान्य स्कूल' की परम्परा स्थापित करने की संस्तुति इस आयोग ने दी है। इस विषय पर जब लोकसभा में विचार चला, तो वहाँ पब्लिक स्कूल के कई कट्टर समर्थक निकल आए। वर्तमान केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री डा० त्रिगुणसेन चाहते हैं कि राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली निर्धारित हो जाय और कोई भी ऐसी परम्परा (जैसी पब्लिक स्कूल की है) उस प्रणाली का उपहास करने वाली न बनी रहे। कारण यह है कि यह स्कूल कुछ निहित स्वार्थ वाले वर्ग के अड्डे बने

रहेंगे। साथ ही सामान्य स्कूलों की दशा भी न सुधरेगी जब तक उनमें उन वर्गों के बालक पढ़ने न जायेंगे जिनके हाथों में सत्ता है। जब तक सामान्य स्कूल में प्रधान मन्त्री और राष्ट्रपति के घर के बालक नहीं पढ़ते, उसकी दशा नहीं सुधर सकती। दूसरे शब्दों में, पब्लिक स्कूलों के कारण सामान्य स्कूल नहीं सुधर रहे है।

भारत के पब्लिक स्कूल

भारत में इस समय ५२ पब्लिक स्कूल हैं। इनमें से २४ ऐसे है जो इंडियन पब्लिक स्कूल कान्फ्रेंस के सदस्य हैं, ६ अर्द्ध-सदस्य और ७ सैनिक स्कूल हैं। पब्लिक स्कूल की परम्परा पर किंग जार्ज स्कूल तथा कई मिशनरी स्कूल भी चलते हैं। प्रसिद्ध भारतीय पब्लिक स्कूलों के नाम निम्नलिखित है

१. दून स्कूल, देहरादून,
२. डैली स्कूल, इन्दौर,
३. लॉरेंस स्कूल, सनावर,
४ लारेंस स्कूल, लवडेल,
५ बिड़ला पब्लिक स्कूल, पिलानी;
६. बिड़ला विद्या मन्दिर, नैनीताल,
७ मेयो कालेज, अजमेर,
८ महारानी गायत्री देवी गर्ल्स पब्लिक स्कूल, जयपुर,
९. सार्दूल पब्लिक स्कूल, बीकानेर,
१० माडर्न स्कूल, नई दिल्ली,
११. हैदराबाद पब्लिक स्कूल, हैदराबाद,
१२ राजकुमार कालेज, रायपुर,
१३. राजकुमार कालेज, राजकोट,
१४. सिन्धिया स्कूल, ग्वालियर;
१५ शिवाजी प्रेपेरेटरी मिलिट्री स्कूल, पूना,
१६. विकास विद्यालय, रांची,
१७ यादवेन्द्र पब्लिक स्कूल, पटियाला।

पब्लिक स्कूल का कार्यक्रम तथा विशेषताएँ

पब्लिक स्कूल एक आवासीय संस्था है। सभी छात्रों को अपने २४ घण्टे इस विद्यालय के भीतर पूर्ण नियन्त्रण में बिताना होते हैं। एक सप्ताह में कुल १६८ घण्टे होते है जिनका $\frac{१}{५}$ अर्थात् ३७ घण्टे कक्षा के भीतर व्यय होते हैं। शेष १३१ घण्टे बालकों को छात्रावास में रहना पड़ता है और इस बीच उन पर विद्यालय के अधिकारियों का पूर्ण नियन्त्रण होता है। प्रधानाचार्य २४ घण्टे का दैनिक कार्यक्रम नियत करता है और बालकों को प्रातः ४-५ बजे से लेकर रात ८-९ बजे तक निश्चित समय-चक्र के अनुसार रहना पड़ता है। शौच, स्नान, कलेवा, अध्ययन, भोजन और

खेल-कूद आदि सब बँधे समय पर होते है। चूँकि बालक वही रहते हैं, इसलिए कार्यक्रम में हेर-फेर करने में कोई असुविधा नही होती।

पठन-पाठन के अतिरिक्त पब्लिक स्कूल छात्रों के लिए विभिन्न प्रकार की बहुमुखी क्रियाओं का आयोजन करता है; जैसे—तैरना, घुड़सवारी, कुश्ती, व्यायाम, खेल-कूद, मनपसन्द के काम (Hobbies), गोष्ठी, फोटोग्राफी, कला तथा दस्तकारी आदि। पाठ्य विषयों में, जो यहाँ पढ़ाये जाते हैं, गणित, भाषा, इतिहास, भौतिकी, रसायन आदि प्रमुख है। इन सभी प्रकार के क्रिया-कलापों में ऊँची कक्षाओं के छात्र अपने से नीचे छात्रों का नेतृत्व करते है और उन्हे अध्यापकों से बराबर नेतृत्व तथा निर्देशन मिलता रहता है। सभी छात्र अध्यापकों का अनुकरण करते हैं। छात्रों में सहयोगपूर्वक तथा एकदलीय तथा संघबद्ध होकर काम करने की प्रवृत्ति पैदा करने के लिए विषय समितियाँ है तथा स्वयंसेवक, स्काउट, सरस्वती यात्रा तथा घूमने आदि के साधन काम में लाये जाते है। इन सभी क्रियाओं में सहयोग, प्रतियोगिता और उत्तरदायित्व निर्वाह करने के गुणों के विकास पर जोर दिया जाता है। सारे छात्रों को कई वर्गों में बाँटते हैं जिन्हे 'भवन' कहते हैं। इन भवनों में कई पद होते हैं जिन पर योग्य छात्र नियुक्त किए जाते है और वे नेतृत्व करते है। भवनों तथा कक्षाओं में प्रीफेक्ट नियुक्त होते हैं जो अनुशासन का उत्तम आदर्श प्रस्तुत करते हैं। 'भवनों' का वातावरण ऐसा होता है कि छात्रों को पारिवारिक जीवन की कमी नही होती, छात्रावास का अधिपति सबसे पितृतुल्य व्यवहार करता है।

पब्लिक स्कूल के पास अपरिमित साधन होते है। सुन्दर तथा भव्य भवन, सुसज्जित कक्षाएँ, सहायक सामग्री, हॉल, प्रयोगशालाएँ, संग्रहालय, क्रीड़ागन, व्यायामशाला, तरणताल, छात्रावास, हरे-भरे घास के मैदान और उद्यान आदि, सभी इस विद्यालय को उपलब्ध होते है। यहाँ का अध्यापक वर्ग सभी सुविधाएँ पाता है और उन्हे उच्चवेतन मिलता है। उन्हे यहाँ रहने तथा भोजन के लिए धन नही व्यय करना पड़ता। यहाँ का प्रधानाचार्य भी बहुत अधिक वेतन पाता है। उसे पूरे अधिकार होते हैं और वह एक प्रकार से सर्वेसर्वा होता है। अध्यापकों की नियुक्ति-प्रोन्नति और छात्रों के प्रवेश और निष्कासन आदि में उसे पूरी स्वतन्त्रता होती है।

इन सब बातों के देखते हुए यह अनुमान लगाना सहज है कि यहाँ शुल्क बहुत ज्यादा होगा। अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए, यह स्कूल यथासम्भव सरकारी अनुदान नहीं लेते। ऐसी दशा में वे ज्यादा शुल्क न लें तो काम न चले। इसी शुल्क से इन्हें कुछ प्रतिभाशाली छात्रों के लिए छात्रवृत्तियों का भी प्रबन्ध करना पड़ता है।

पब्लिक स्कूल के गुण

पब्लिक स्कूलों की प्रशंसा में बहुत कुछ कहा गया है। 'स्वतन्त्र भारत में शिक्षा' पुस्तक में श्री हुमायूँ कबीर ने इस प्रकार के स्कूल का समर्थन करते हुए कहा है कि यह हमारे प्राचीन ऋषिकुलों की परम्परा में है जो स्वतन्त्र रहकर छात्रों

को जीवन के लिए तैयार करते थे। हमारे देश में सामान्य माध्यमिक स्कूलों की हालत बड़ी खराब है, उनमें शिक्षण का स्तर तथा छात्रों के विकास की सुविधाएँ सभी असन्तोषजनक हैं। ऐसे विद्यालयों के लिए पब्लिक स्कूल प्रकाश-स्तंभ का काम दे सकते हैं। यहाँ छात्रों पर जैसा नियन्त्रण रहता है, जिस प्रकार की उनकी नियमित दैनिक चर्या होती है और जैसा यहाँ का वातावरण है, वह सब व्यक्तित्व के विकास के लिए उत्तम अवसर प्रदान करता है। यहाँ की भवन प्रणाली तथा प्रीफैक्ट पद्धति से छात्रों में नेतृत्व तथा स्वेच्छा से काम करने की प्रवृत्ति पैदा होती है। अध्यापकों और छात्रों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध होने से अध्यापक के उत्तम प्रभाव उन पर पड़ते हैं और उनका अनुकरण करते हुए छात्र बहुत से गुणों का विकास करते हैं। चूँकि यह स्कूल सरकारी नियन्त्रण से मुक्त रहते हैं और इनके पास साधनों की प्रचुरता होती है, इसलिए यहाँ शैक्षिक स्वतन्त्रता का आदर्श बना रह सकता है और साथ ही साथ इन्हें नये-नये प्रयोग करने का अवसर मिलता है।

आज की दुनिया में स्कूल की कल्पना बदल चुकी है। जॉन डेवी का कहना है कि स्कूल को समाज का लघुरूप होना चाहिए। इस विचार का आशय यह है कि

देखने को नहीं मिलता क्योंकि वहाँ छात्र उसी प्रकार आते हैं, जैसे हम मेले, सिनेमाघर और स्टेशन में कुछ देर के लिए जाते हैं और वहाँ मौजूद लोगों से कोई भ्रातृत्व या एकता की भावना का अनुभव नहीं करते। इन स्कूलों के व्यक्तिगत स्वार्थ होते हैं। कक्षाओं में पढ़ने वाले ४० छात्रों में भी सौहार्द्र नहीं होता। इसके विपरीत, पब्लिक स्कूल एक ऐसा समाज है जिसकी व्याख्या डेवी ने की है कि यहाँ २४ घंटे छात्रों का रहना, विभिन्न भवनों की सदस्यता और अनेक सामाजिक क्रियाएँ उन्हें यह अनुभव कराती हैं कि हम सब एक ही समाज के सदस्य हैं और हमें अपने समाज के प्रति उत्तरदायी बनना है।

श्री आर० एस० जेम्स ने (NIE Journal, जुलाई १९६७ अंक, लेख 'The Public School in the Indian Community' में) पब्लिक स्कूल को एक संगठित समाज माना है (सामान्य स्कूलों का समाज विशृंखल होता है।) इसके सदस्य सच्चे अर्थों में सामाजिक चेतना का अनुभव करते हैं, सामाजिक क्रियाकलाप में भाग लेते हैं, उन्हें इस समाज पर गर्व होता है और उनका संकल्प भी सामाजिक ही होता है। सभी क्रियाओं, जैसे खेल-कूद, कुश्ती, क्लब, फोटोग्राफी आदि में सब सहयोगपूर्वक भाग लेते हैं। अवकाश का समय भी गप्प लड़ाने के लिए नहीं होता, अवकाश बिताने का समुचित कार्यक्रम इस समाज के लिए होता है। इस समाज की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि इसके सदस्य विभिन्न योग्यताओं, आयु और रुचियों के साथ-साथ विभिन्न पृष्ठभूमि के होते हैं। यह विविधता परिवार में नहीं पाई जा सकती। इस विविधता-

ताल की प्रबन्ध समिति के वे सदस्य रहे। देहली कालेज में उन्होंने पढ़ाया। अपने अनुभव के आधार पर वे कहते हैं

"इनमें से पढ़े हुए जो लोग निकले हैं, उनमें कितने लोग ऐसे हैं जो हमारे देश में माइटिस्ट हो गये हैं? उनमें से कितने ऐसे हैं जो पब्लिक स्कूल से आये हैं? कितने ऐसे लोग हैं जिन्होंने देश-सेवा की है, चाहे स्वाधीनता के संग्राम में या अन्य किसी प्रकार से? कितने लोग पब्लिक स्कूलों से निकले हैं जिन्होंने अपने चरित्र से, और बात से, साबित किया हो कि ये तो बड़े ऊँचे प्रकार के मनुष्य हैं? ऐसे अगर आप देखेंगे, तो बहुत छोटा परसेन्टेज निकलेगा, बहुत नीचा परसेन्टेज निकलेगा। कोई न कोई वजह तो होगी।"

यह कोई तर्क नहीं है कि पब्लिक स्कूल महान् पुरुषों को जन्म देता है, यदि यह सच होता तो अमरीका और रूस आदि देशों में महान् पुरुष होते। हमारे देश में पब्लिक स्कूलों ने एक पावडी समाज को जन्म दिया और उनमें चिन्तन की कमी है क्योंकि पब्लिक स्कूलों के प्रति उसकी आस्था वैसी ही है जैसी मन्दिर के प्रति होती है। यह कहना भी सरासर गलत है कि पब्लिक स्कूल भारतीय जनता के लिए नेतृत्व का प्रशिक्षण दे रहे हैं। जहाँ के छात्र सामान्य भारतीय जीवन से बिल्कुल अलग रहकर गरीबी और अभाव का अनुभव नहीं करते वे जनता का नेतृत्व नहीं कर सकते। यदि अंग्रेजी पब्लिक स्कूलों ने साम्राज्यवाद को जन्म दिया है, तो भारतीय 'पब्लिक स्कूल' सफेद पोशाक पहनने वाले प्रशासकों के पावडी समाज का जन्मदाता है जो आज भी सामान्य जन-जीवन से अलग रहा है और देश की समस्याओं को हल करने में असफल रहा है। प्रजातन्त्र में भेद-भावों की दुनिया को समतल बनाया जाता है, परन्तु पब्लिक स्कूल समाज में यह समतल स्थिति पैदा नहीं होने दे रहे हैं वरन् ऊँचे टीलों को जन्म दे रहे हैं।

भारतीय पब्लिक स्कूल द्वारा उत्पन्न समस्याएँ

१. **माध्यमिक स्तर पर दोहरी शिक्षा प्रणाली**—शिक्षा के कार्यक्रम में माध्यमिक शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है क्योंकि इसके द्वारा ज्ञान, चरित्र और कुशलता की दृष्टि से उत्तम कोटि के नागरिक तैयार होते हैं। प्रजातन्त्र की रक्षा यही नागरिक कर सकते है। सामाजिक जीवन के मूल्यों की रक्षा माध्यमिक शिक्षा प्राप्त जन करते हैं। देश के नेतृत्व और प्रशासन को यह मजबूत बनाते हैं। इस दृष्टि से माध्यमिक शिक्षा की एक सामान्य प्रणाली देश में होनी चाहिए। हमारे देश में माध्यमिक शिक्षा की एक ऐसी प्रणाली है जो सरकारी, अर्द्ध सरकारी और गैर-सरकारी स्कूलों में पनप रही है। इस माध्यमिक शिक्षा प्रणाली की दशा अच्छी नहीं है। भवन, साधन, साजसज्जा और अध्यापकों की दृष्टि से यह शिक्षा प्रणाली उत्तम परिणाम नहीं दे रही है। करोड़ों किशोर बालक-बालिकाएँ इस शिक्षा प्रणाली के बीच होकर गुजर रहे हैं। देश को जैसे नागरिक मिलने चाहिए, वैसे नहीं मिल रहे हैं।

इस सामान्य माध्यमिक शिक्षा प्रणाली के ठीक समानान्तर पब्लिक स्कूल प्रणाली है। इस प्रणाली पर चलने वाले भारतीय पब्लिक स्कूल, सैनिक स्कूल और मिशन स्कूल है जो भवन, साधन, साजसज्जा और अध्यापकों की दृष्टि से सामान्य स्कूलों से श्रेष्ठ है। यद्यपि यह दावा किया जाता है कि इन स्कूलों के पढ़े हुए छात्र श्रेष्ठ होते हैं परन्तु इस दावे में कितनी सच्चाई है, यह हम डा० सम्पूर्णानन्द के कथन से जान चुके हैं। वास्तविकता यह है कि यह स्कूल धनी वर्ग तथा अधिकारी जनों की सन्तानों के लिए चल रहे हैं।

इस प्रकार भारत में दो प्रकार की माध्यमिक शिक्षा प्रणाली है, एक सामान्य जनों के लिए और दूसरी साधन-सम्पन्न जनों के लिए। प्रजातंत्र में शिक्षा के लिए समान अवसर मिलने की जैसी व्यवस्था होनी चाहिए वैसी नहीं हो पा रही है। कुछ चुने हुए लोगों को विशेष सुविधाएँ शिक्षा के लिए प्राप्त हैं और अनेक जन उन सुविधाओं से वंचित है। पब्लिक स्कूलों के मोह के कारण यह दोहरी प्रणाली कायम है। सरकार ने अभी कुछ वर्ष पहले ही कोठारीजी की अध्यक्षता में शिक्षा-आयोग की नियुक्ति की और आयोग ने अपनी रिपोर्ट में इन पब्लिक स्कूलों के सम्बन्ध में अपना मत देते हुए कहा है

"परम्परागत अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली भिन्न रही है और उसमें गैर-सरकारी प्रबन्ध के सचालन में एक अच्छी प्रकार की शिक्षा को चलने का अवसर दिया गया है जो उन लोगों के लिए सुरक्षित है जो अधिक शिक्षा-शुल्क अदा करने की सामर्थ्य रखते हैं, परन्तु अभी हाल में तथाकथित पब्लिक स्कूलों की आलोचना इङ्गलैंड में हुई है और यह बात असम्भव नहीं है कि वहाँ इन्हें अधिक प्रजातांत्रिक बनाने के लिए इनमें मौलिक परिवर्तन कर दिये जायें। ब्रिटिश प्रशासकों ने लगभग उसी प्रकार की (पब्लिक स्कूल) प्रणाली इस देश में लागू कर दी और हम अब तक उससे चिपटे हुए हैं क्योंकि हमारे समाज के सोपानात्मक (Hierarchical) संगठन के अनुकूल थी। इसका जो भी इतिहास (शानदार ?) रहा हो, हमारी नयी प्रजातांत्रिक और समाजवादी व्यवस्था में जिसकी रचना हम करना चाहते हैं, इस प्रणाली का कोई औचित्यपूर्ण स्थान नहीं है।"

आयोग का स्पष्ट मत है कि पब्लिक स्कूलों को समाप्त हो जाना चाहिए और इस आयोग ने सारे भारत के लिए सामान्य विद्यालय (Common School) और निकटस्थ विद्यालय (Neighbourhood School) का विचार प्रस्तुत किया जो माध्यमिक शिक्षा में एकरूपता उत्पन्न करेगा। खेद है कि पब्लिक स्कूलों के प्रति मोह इतना बढ़ा है कि कांग्रेस के संसदीय दल ने तथा लोक सभा के अनेक सदस्यों ने इन स्कूलों को बनाये रखने का समर्थन किया है और सामान्य स्कूल का विरोध किया है। यह स्पष्ट है कि प्रजातंत्र के लिए दोहरी शिक्षा प्रणाली का होना खतरनाक है और पब्लिक स्कूल इस समस्या को उलझा रहे हैं।

२ पब्लिक स्कूल एक—परोपजीवी वृक्ष—जिस प्रकार एक परोपजीवी वृक्ष अपनी खुराक दूसरे वृक्ष के रस से प्राप्त करता है और इस दूसरे वृक्ष को सुखाकर स्वयं जिंदा रहता है, उसी प्रकार 'पब्लिक स्कूल' सामान्य जनता के स्कूलों की अधोगति का कारण है। यह शोषक और अनुत्पादक वर्ग का स्कूल है जिनके पास असीम साधन हैं और इस वर्ग की साधन—सम्पन्नता से ही पब्लिक स्कूल के पास भी प्रचुर साधन होते हैं। इस वर्ग में ही यह क्षमता होती है वह शिक्षा पर व्यय कर सके और यह वर्ग पब्लिक स्कूलों में रुचि रखता है जिसका परिणाम यह होता है *कि एक पब्लिक स्कूल पर जितना व्यय होता है उतने में कई सामान्य स्कूल अच्छी* तरह चल सकते हैं। जब इन साधन-सम्पन्न लोगों की संतान इन स्कूलों में सर्वोत्तम सुविधा पाकर पढ़ सकती है, तो *अन्य सामान्य स्कूलों की ओर उन्हें ध्यान देने* की जरूरत क्या है? आज प्रधानमंत्री, मंत्री, उच्च सरकारी अधिकारी, सेठ-साहूकार तथा उद्योगपतियों की सन्तानें इन पब्लिक स्कूलों में पढ़ती हैं, ऐसी दशा में उन लाखों स्कूलों की ओर इनका ध्यान नहीं जाता जो अपने छात्रों के लिए साफ-सुथरे कमरों, श्यामपटों, पीने के पानी तथा अच्छे अध्यापकों की व्यवस्था नहीं कर पाते। इन उच्चवर्गीय लोगों को शिक्षा के बारे में सोचने की जरूरत नहीं रह जाती क्योंकि उनकी सन्तान अच्छी शिक्षा पा लेती है और पब्लिक स्कूल उनके लिए बने हैं। आज यह लोग सरकारी स्कूल केवल परोपकार के लिए चला रहे हैं इसलिए वे भारतीय जनता के बच्चों पर शिक्षा के मद में खर्च करने में घबराते हैं। जैसे एक हलुवा-पूरी खाने वाला व्यक्ति भिखारी को एक सूखी रोटी देकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेता है, उसी प्रकार यह उच्चवर्गीय लोग सामान्य जनों के बालकों के लिए निरर्थक शिक्षा की व्यवस्था करके सन्तुष्ट हैं। *हर्ष की बात है कि भारतीय* शिक्षा-आयोग ने इस तथ्य को समझा है।

जब तक पब्लिक स्कूल विद्यमान हैं, उच्चवर्गीय लोगों का ध्यान जन विद्यालयों की ओर नहीं जायगा। इसी विचार से आयोग ने इन परोपजीवी पब्लिक स्कूलों को समाप्त करने और सामान्य तथा निकटस्थ विद्यालय चलाने का सुझाव दिया है, ताकि अमीर-गरीब बिना किसी भेदभाव के यहाँ पढ़ सकें। खेद की बात यह है कि इन पब्लिक स्कूलों का समर्थन हो रहा है। समर्थन करने वालों में वे लोग हैं, जो यहाँ शिक्षा पाकर अपने को श्रेष्ठ समझते हैं, उनका अपना वर्ग है और इस वर्ग को वे बनाये रखना चाहते हैं। कुछ सामान्य वर्ग के लोग 'पब्लिक स्कूल' में अपनी सन्तानों को पढ़ाकर उच्च वर्ग के समकक्ष बनना चाहते हैं। भारत में अंग्रेजी भाषा के समर्थक और यहाँ उच्च वेतन पाने वाले अध्यापक भी उन्हें बनाये रखने में अपना स्वार्थ देखते हैं।

३. 'शिक्षा के समान अवसर' के सिद्धान्त के उल्लंघन की समस्या—यदि यह मान भी लिया जाय कि पब्लिक स्कूल की शिक्षा उत्तमता की दृष्टि से श्रेष्ठ है, तो

भी यह समस्या बनी रहती है कि यह उत्तम शिक्षा केवल कुछ लोगों को ही मिल पाती है। यह शिक्षा कुछ लोग धनबल के बल पर प्राप्त कर सकें, तो भी इन पब्लिक स्कूलों का होना उचित ठहराया जा सकता है परन्तु वास्तविकता तो यह है कि यह उत्तम शिक्षा उन लोगों के लिए है जो धन दे सकते हैं। प्रजातन्त्र में ऐसा होना अच्छा नहीं है। इस स्थिति के होने से प्रभाव यह पड़ता है कि अनेक लोग जो उत्तम शिक्षा के अधिकारी हैं, इस शिक्षा से वंचित हैं। यद्यपि कुछ योग्य छात्रों को निःशुल्क या छात्रवृत्ति के द्वारा इन स्कूलों में शिक्षा दिलाने की व्यवस्था है, परन्तु इससे समस्या हल नहीं होती। इस बात को डा० सम्पूर्णानन्द के शब्दों में सुनिए-

" इस गरीब देश में अगर हम कुछ स्कालरशिप देकर कुछ लड़कों को भेज भी दें इन स्कूलों में, आज जो लड़के पढ़ते हैं जिनमें २० प्रतिशत, ३० प्रतिशत गरीब लड़के आ भी सकें, तो क्या होगा? कितना होगा, 'ऊँट के मुँह में जीरा' जैसी बात होगी। अगर राजस्थान में दस स्कूल इस प्रकार के हो जायें तो तीन सौ लड़कों का ही तो प्रबन्ध कर सकेंगे। राजस्थान में गरीब लड़के तो बहुत ज्यादा हैं। अच्छे प्रतिभा वाले पर गरीब लड़कों का नम्बर बहुत ज्यादा है।

स्पष्ट है कि कुछ छात्रवृत्तियाँ देने से गरीब तथा प्रतिभाशाली छात्रों को उत्तम शिक्षा दिलाने की समस्या हल नहीं हो जाती। इस समस्या का हल यही है कि पब्लिक स्कूलों के समान ही उत्तम शिक्षा देने वाले स्कूलों की व्यवस्था सरकार गरीब लोगों के लिए करे या फिर इन पब्लिक स्कूलों को समाप्त करे। प्रजातन्त्र और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के नाम पर समाज के कुछ लोगों को यह छूट देना कि वे उत्तम शिक्षा देकर अपनी सन्तानों को जीवन की दौड़ में आगे पहुँचा सकें, भारी अन्याय है। उत्तम शिक्षा धन के बल पर प्राप्त की जाय, यह प्रजातन्त्र के सिद्धान्त के अनुरूप नहीं है।

४ पब्लिक स्कूल द्वारा भाषा-समस्या की जटिलता में वृद्धि—आज हमारे देश में भाषा की समस्या के उत्पन्न होने का मूल कारण यह है कि उच्च शिक्षा अंग्रेजी के माध्यम से दी जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि उच्च शिक्षा प्राप्त जन अंग्रेजी में काम करने के आदी बन जाते हैं। उन लोगों का एक अलग वर्ग बन जाता है। इस वर्ग को सरकारी नौकरियाँ पाने में सुविधा होती है क्योंकि सरकारी काम-काज अंग्रेजी में चलता है। अंग्रेजी के इस महत्त्व के कारण पब्लिक स्कूलों में माध्यमिक शिक्षा भी अंग्रेजी में दी जाती है और अंग्रेजी का अध्ययन भली-भाँति कराया जाता है। यहाँ के पढ़े हुए छात्र उच्च शिक्षा में केवल माध्यम (अंग्रेजी) पर विशेष अधिकार रखने के कारण सामान्य तथा पेशेवर शिक्षा में बाजी मार लेते हैं। इसलिए इन पब्लिक स्कूलों की माँग बढ़ रही है। इस देश में सरकारी नौकरी भी एक पेशा है और उसमें सुख-सुविधाओं के होने से हर आदमी नौकरी चाहता है। नौकरी पाने के लिए अंग्रेजी की सीढ़ी पर चढ़ना आवश्यक है। इसमें नौकरशाही वर्ग के लोग अंग्रेजी का अच्छा ज्ञान कराने के लिए अपनी सन्तान को इन पब्लिक

स्कूलों में भेजते हैं और वे अपनी सन्तान का अच्छी नौकरी दिलाने के लिए अंग्रेजी का समर्थन करते है। साथ ही वे पब्लिक स्कूल का भी समर्थन करते है।

पब्लिक स्कूलों ने अपने अस्तित्व मे और विशेष रूप मे अंग्रेजी का माध्यम के रूप मे बनाये रखकर देश मे भाषा-विवाद की समस्या को उलझाया है। अंग्रेजी भाषा के सबसे बड़े समर्थक फ्रैंक एन्थोनी ने इस बात पर बड़ा बल दिया है कि इन स्कूलों तथा इस प्रणाली पर चलने वाले सैनिक स्कूलों मे शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषाएँ न हों, अंग्रेजी ही माध्यम के रूप मे इन स्कूलों मे जारी रहे। आज सरकार राष्ट्रीय नीति निर्धारित करना चाहती है और शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषाओं को बनाना चाहती है परन्तु पब्लिक स्कूलों को या तो छूट देनी होगी या फिर पब्लिक स्कूल के समर्थकों के विरोध का सामना करना होगा।

५ एक विशिष्ट वर्ग की उत्पत्ति—पब्लिक स्कूल का जैसा जीवन होता है अर्थात् उसमें रह कर विद्यार्थी जितना धन खर्च करता है, जैसा उत्तम भोजन पाता है और जैसे कपड़े पहनता तथा सुख-सुविधाओं का उपयोग करता है, उसे देखते हुए यह समझने मे देर नहीं लगेगी कि यहाँ का पढ़ा हुआ छात्र शोषक वर्ग का सदस्य बनेगा। जिस देश मे इतनी गरीबी हो, जहाँ इतना आर्थिक संकट हो, वहाँ ऐसे सुखमय जीवन बिताने वाले लोग कैसे अपना सामंजस्य स्थापित कर सकते है। वे लोग अपने को करोड़ो दीनहीन नर-नारियों से अलग ही समझते है। यह लोग सरकारी नौकरियो पर अपनी निगाह रखते है, कोई रचनात्मक या उत्पादक कार्य वे नहीं कर सकते। ऐसे लोगो की खपत तो तब होती जब भारत एक साम्राज्यवादी देश होता और पब्लिक स्कूलों के पढ़े हुए लोगो को दूसरे देशो म भारत का साम्राज्य चलाने के लिए भेजा जाता। १६वी शताब्दी मे इगलैण्ड के पब्लिक स्कूल इसलिए जम गये क्योंकि इसमें उत्पन्न विशिष्ट वर्ग की आवश्यकता थी, उन्हे इगलैण्ड की सरकार भारत तथा अन्य उपनिवेशों मे शासन चलाने के लिए भेज देती थी। वे इगलैण्ड के समाज के लिए कोई खतरा न पैदा करते थे। हमारे देश मे पब्लिक स्कूल के द्वारा उत्पन्न समाज ने एक शोषक वर्ग की स्थापना की है। वह वर्ग बराबर बढ़ता ही जा रहा है।

इस सम्बन्ध में एक बड़ा विचित्र तर्क दिया जा रहा है। श्री० डी० आर० ए० माउटफोर्ड ने अपने एक लेख 'अज्ञानता का शिकार' (D R A Mountford : 'A Victim of Ignorance', हिन्दुस्तान टाइम्स, ता० २५ अगस्त सन् १९४७ के अक मे प्रकाशित) मे कहा है कि हर व्यक्ति को इस बात का अधिकार प्रजातन्त्र मे होता है कि वह अपनी सन्तान को जैसी शिक्षा चाहे दिलाये और इस प्रकार हर एक को स्वतन्त्रता है कि वह अपनी सन्तान को पब्लिक स्कूल मे पढ़ाये। यही बात एक बार अपने भाषण मे मेयो कालेज के प्रिंसपल गिब्सन ने कही थी। उन्होंने कहा था कि यदि कोई अमीर आदमी अपनी सन्तान की शिक्षा पर हजार रुपया प्रतिमास खर्च करता है, तो प्रजातन्त्र मे उसे रोका कैसे जा सकता है?

जोड़ दिया गया। श्री मार्टफोर्ड ने अपने लेख में पब्लिक स्कूल को अज्ञानता का शिकार बताया है परन्तु उसके समर्थक कितने अज्ञानी हो सकते हैं, इसका परिचय उनके विचारों में मिलता है।

हमारे देश में पब्लिक स्कूल की उपलब्धियाँ सन्देहास्पद हैं। फिर भी उसके पक्ष मे तर्क दिये जाते हैं। पब्लिक स्कूल के द्वारा समाज में भेदभाव उत्पन्न होते हैं, इस बात को इस परम्परा के समर्थक नहीं स्वीकार करते। श्री दीनदयाल ने 'The Public School of India—Boon or Bane' NIE Journal, जुलाई सन् १९६७ के अंक मे प्रकाशित) अपने लेख में तर्क देते हुए कहा है कि भेदभावपूर्ण समाज पब्लिक स्कूल की देन नहीं हैं, यह भेदभाव पारिवारिक वातावरण की भिन्नता मे उत्पन्न होता है। अपने समर्थन में उन्होंने हैरो (इगलैण्ड) पब्लिक स्कूल के वर्तमान हेडमास्टर डॉ० जेम्स के विचारों का उल्लेख किया है। वे कहते है कि पब्लिक स्कूल में पढने वाले छात्रों के माता-पिता के वातावरण की भिन्नता से भेद पैदा होते हैं। यदि इस तर्क को मान लिया जाय तो यहाँ के छात्रों की श्रेष्ठता का कारण पब्लिक स्कूल नहीं, घरेलू तथा स्कूल का उत्तम वातावरण है। यदि उत्तम वातावरण मे उत्तम व्यक्ति पैदा होता है, तो यह उत्तम वातावरण कुछ चुने हुए लोगो को ही क्यों मिलना चाहिए ?

यह स्पष्ट है कि पब्लिक स्कूल भारत की परिस्थितियों के अनुकूल नही हैं। मुदालियर शिक्षा-आयोग ने वर्तमान काल मे इन स्कूलो का होना एक ऐतिहासिक भूल (Anachronism) बताया है। बड़े से बड़े पब्लिक स्कूल के समर्थक यह स्वीकार करते हैं कि पब्लिक स्कूल के स्वरूप को बदलना आवश्यक है। स्वयं श्री माउटफोर्ड ने कहा कि पब्लिक स्कूल की परम्परा के अनुकूल भारतीय पब्लिक स्कूल नही चल रहे हैं। उनके मत में यह सोचना अनुचित है कि कुछ लोग ईर्ष्या-द्वेष के कारण इन पब्लिक स्कूलो का विरोध कर रहे हैं। इनमें सुधार अपेक्षित है और उन्हे भारतीय परम्परा के अनुकूल बनाने की आवश्यकता है।

'पब्लिक स्कूल' की समस्याओं को हल करने के लिए मुदालियर शिक्षा आयोग द्वारा सुझाये गये उपाय—मुदालियर आयोग ने इन पब्लिक स्कूलों के सम्बन्ध में कहा है कि यदि इनका पुन. सगठन कर दिया जाय तो बहुत-सी समस्याएँ हल हो सकती हैं। आयोग के सुझाव निम्नलिखित हैं .

(१) पब्लिक स्कूल केवल एक विशिष्ट वर्ग के स्कूल न रहे। ऐसी व्यवस्था हो कि इन स्कूलो मे कुशाग्रबुद्धि के निर्धन छात्र प्रवेश पा सके। इसके लिए छात्रवृत्तियो की परम्परा कायम की जाय। इससे इन स्कूलों की विशिष्टता नष्ट हो जायगी।

इस सुझाव के विरुद्ध डा० सम्पूर्णानन्द की दलील यह है कि यदि इन स्कूलो में चन्द छात्र छात्रवृत्तियो को पाकर पढने भी लगे, तो उन असख्य मेधावी बालको का क्या होगा जिन्हें पब्लिक स्कूलो मे जगह नही मिल सकती क्योंकि इन स्कूलो

ी, धन तथा प्रभाव के भेदो के कारण केवल कुछ लोग इनसे लाभ न
।

) पब्लिक स्कूल की शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी न रहे, चाहे अंग्रेजी के
र विशेष बल दिया जाय। यहाँ छात्रों के प्रवेश मे अंग्रेजी बहुत बड़ी बाधा
क्षेत्र मे पब्लिक स्कूल स्थित हो, वही की भाषा माध्यम के रूप मे प्रयुक्त
माध्यम बदल देने से, पब्लिक स्कूल की हालत बदल जाएगी। यहाँ के
वातावरण मे परिवर्तन होगा और वास्तविक रूप से प्रतिभाशाली छात्र
केंगे। भारत के पब्लिक स्कूलो का निरीक्षण करने वाले एक अंग्रेज सज्जन
श्चर्य प्रकट करते हुए कहा था कि अंग्रेजी के माध्यम के द्वारा भारतीय
र छात्रो मे वह गुण पैदा नही कर सकते, जो उन्हे पैदा करने चाहिए।

) पब्लिक स्कूल मे एक श्रेष्ठ प्रकार की शिक्षा देने की व्यवस्था हो, यह
शत है और इनके लिए साधन जुटाए जायें, जैसे उत्तम भवन, प्रयोगशालाएँ,
दान आदि, परन्तु उत्तम साधनो के नाम पर फिजूलखर्ची न होने पाये।
, चमक-दमक की ओर से छात्रो को विमुख किया जाय। खान-पान और
पर खर्च कम कर दिया जाय। केवल इस आधार पर कि प्रतिभाशाली
पढ़ते है, उन पर प्रतिमास अत्यधिक धन व्यय करना अनुचित है। यही
को बढ़ावा देता है। यहाँ 'सादा जीवन उच्च विचार' के आदर्श की प्रतिष्ठा
ए। यदि कोई अमीर घर का प्रतिभाशाली छात्र यहाँ पढ़ता है तो उसे
जीवन बिताने का अधिकार नही मिलना चाहिए। हमारे देश की पुरानी
द और है। श्रीकृष्ण सांदीपन मुनि के आश्रम मे पढ़ने जाते है, तो वे
साथ चने चबाते हैं और जगलो मे लकड़ी एकत्र करते है। अगर अब ऐसा
है, तो इतना अवश्य हो सकता है कि पब्लिक स्कूल मे सादगी भरा जीवन
भिभावक के सामाजिक पद की परवाह न करके हर छात्र को सादा जीवन
ने को बाध्य करना चाहिए।

) यहाँ के अध्यापको और सामान्य स्कूलो के अध्यापको के वेतनक्रम मे
न रखा जाय। वेतन अधिक पाने के कारण यहाँ का अध्यापक अपने को
'जाति' का समझता है और उसका प्रभाव बालको पर पड़े बिना नही
ह चिन्तामुक्त रखने के लिए आवास, भोजन और पुस्तको की अतिरिक्त
दी जायें। आज यहाँ के अध्यापक के मन मे वेतन अधिक पाने से मिथ्या-
होता है, विद्वत्ता और ज्ञान के लिए कितने अध्यापक विख्यात है जो पब्लिक
म करते हो। अध्यापको के चयन मे केवल उपाधि का विचार न करके,
रायण, कर्तव्यपरायण तथा बालको की शिक्षा मे विशेष रुचि रखने वाले
ो नियुक्त किया जाय।

) पब्लिक स्कूल 'आवासीय' होता है। यह बात हमारे प्राचीन ऋषिकुलों
थी। छात्रों के लिए स्कूल के छात्रावासो मे रहना अनिवार्य होना एक

विशेष महत्त्व की बात है; इसका उद्देश्य यह है कि छात्रों पर परिवार तथा समाज के कुप्रभाव न पड़ने पायें। इस आवासीय शिक्षा प्रणाली की उपयोगिता तभी बढ़ सकती है, जब छात्रों के संस्कार भारतीय हों, यदि उन्हें अंग्रेजी तौर-तरीके में हर समय रहना पड़ता है तो वे आगे चलकर भारतीय समाज में नहीं खप सकते। इसलिए पब्लिक स्कूल की जीवन शैली भारतीय संस्कृति के अनुकूल अविलम्ब ढालने की आवश्यकता है।

(७) विनोबाजी का विचार है कि शिक्षा का काम निजी प्रयत्नों से हो तो स्वतन्त्रता का भाव बना रहेगा। पब्लिक स्कूलों की वर्तमान आर्थिक स्वतन्त्रता इस विचार से अच्छी है। हम पहले कह चुके हैं कि इन स्कूलों में सभी वर्गों के छात्रों को प्रवेश दिलाने के लिए यह आवश्यक है कि इन पर सरकारी नियन्त्रण हो और इन पर सार्वजनिक कोष से धन खर्च हो। ऐसी दशा में इन स्कूलों की शैक्षिक स्वतन्त्रता बनाये रखना आवश्यक है। इन्हें सरकारी फाइलों और शिक्षाधिकारियों की कलम से मुक्त रखना आवश्यक है। यहाँ के प्रधानाचार्य को असीम अधिकार मिलने चाहिए। उद्देश्य यह हो कि स्कूल के पास पर्याप्त धन रहे और यहाँ शिक्षा सम्बन्धी प्रयोग हों। समाज-सेवा और शिक्षा, अध्ययन-अध्यापन की विधियों, अध्यापक-शिक्षा सम्बन्ध और चरित्र-निर्माण आदि ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें नूतन प्रयोगों की आवश्यकता है और यह उत्तरदायित्व पब्लिक स्कूलों को उठाना चाहिए।

हम महान् परिवर्तनों की देहली पर खड़े हैं और युग-परिवर्तन के दौर में पब्लिक स्कूल अपने 'अंग्रेजी' स्वरूप में खड़ा नहीं रह सकता। डा० सम्पूर्णानन्द के शब्दों में, "सवाल तो ऐसा है कि अंग्रेजी राज्य के चले जाने के बाद भी अंग्रेजी संस्थाओं की नकल करने की प्रवृत्ति हमारी बनी हुई है, बिना सोचे-समझे। लेकिन देश एक दिन सोचेगा जरूर और जब सोचना शुरू करेगा तब देश के सामने सवाल होगा कि आखिर यह चीज क्यों? यदि इन पब्लिक स्कूलों के जरिये से कोई विशेषता नहीं, बड़ी भारी ऐसी विशेषता जिसे कहना चाहिए नुमायाँ विशेषता, जो प्रत्येक की समझ में आ जाय, जिसके ऊपर सबकी निगाहें जायें।" पब्लिक स्कूलों को अस्तित्व के लिए संघर्ष करना होगा, दम्भ छोड़ना होगा और तभी वे बच सकेंगे।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. भारत में 'पब्लिक स्कूल' की स्थापना और विकास का संक्षेप में इतिहास लिखिए। पब्लिक स्कूल की कुछ प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

२. "आज के प्रजातान्त्रिक युग में पब्लिक स्कूल का होना एक ऐतिहासिक भूल है"—इस कथन को स्पष्ट करते हुए अपने विचार लिखिए।

अध्याय १७

भारत में राष्ट्रीय तथा भावनात्मक एकता और शिक्षा

समस्या क्या है ?

आज हमारे देश मे चारों ओर से यह आवाज आ रही है कि राष्ट्र पर जहाँ बाहरी शत्रुओ के आक्रमण का भय है, वहाँ हमारे भीतर विघटनकारी तत्त्व मौजूद हैं। जब भारत आजाद होने लगा था, तो उसका एक अंग उससे कटकर अलग हो

रूप मे वर्तमान हैं, अपनी 'स्वतन्त्र सत्ता' को बनाये रखने की प्रवृत्ति प्रदर्शित कर रही हैं। इस समय मद्रास राज्य मे द्रविड मुनेत्रकडगम नामक राजनीतिक दल का राज्य है, सत्तारूढ होने पर उसकी *उच्छृङ्खलता मे कमी आयी है परन्तु उसकी अलगाव की* प्रवृत्ति नष्ट नही हुई। उन्होने 'मद्रास' के स्थान पर 'तमिलनाड' शब्द चुना है। 'आकाशवाणी' और 'सचिवालय' जैसे अखिल भारतीय प्रयोग वाले शब्दो के स्थान पर नये शब्द रख कर अपनी पृथक् सत्ता की घोषणा वे लोग कर रहे हैं और अंग्रेजो की भाषा और संस्कृति को अपनाने मे गौरव का अनुभव कर रहे है। इसी प्रकार पुराने पंजाब के टुकडे पाकिस्तान बनने पर हुए ही थे, अवशिष्ट पंजाब भी दो टुकडो मे पुन बँट गया। पंजाब के बाकी भाग मे स्वतन्त्र 'सिखिस्तान' की माँग है और पूर्व मे 'स्वतन्त्र नागालैण्ड' का कुचक्र चल रहा है।

सामान्य जीवन के स्तर पर भारत के नागरिको की विचित्र स्थिति है। हर भारतीय अपने 'स्व' की दीवारो के बीच बन्दी है। वह अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए नीचे से नीचे स्तर तक, पशु के स्तर तक आ सकता है। एक स्वामिभक्त कुत्ता समय पड़ने पर अपने स्वामी के लिए अपने प्राणो का बलिदान कर सकता है परन्तु

देश पर जब संकट था और शत्रु सेनाएँ आक्रमण करने वाली थीं, तब भी देश के कुछ व्यक्ति विदेशों से माल मँगाकर चोरी का व्यापार किया करते थे, चोरी से संचित सम्पत्ति की सूचनाएँ ही नहीं, प्रमाण भी छप गए हैं। उनके मन में जरा भी यह अनुभूति नहीं होती कि आज देश का हित अपना हित है। जिस समय देश पर अकाल की भयानक छाया पड़ रही थी, सर्वत्र अभाव था, निर्धन दम तोड़ रहे थे और मँहगाई के कारण सामान्य जनों की कमर टूट रही थी उस समय भी भारत के कुछ लोग मुनाफा-खोरी, चोरबाजारी और संचय के द्वारा अपने व्यक्तिगत स्वार्थ तथा अहं को सन्तुष्ट करते थे, तो यह समझ लेना आसान है कि देश में भावनात्मक एकता की कमी है। ये कुछ लोग समस्त भारत के दुःख को अपना दुःख नहीं समझते। कहा गया है कि 'बुभुक्षितः किम् न करोति पापम्' परन्तु अराष्ट्रीय जन पेट भरा होने पर नाना प्रकार के पाप करते हैं।

इसी प्रकार एक भाषा बोलने वाले, एक धर्म को मानने वाले, एक जाति के और एक वर्ग के लोग अपनी-अपनी भाषा, धर्म, जाति और वर्ग के दायरे में रह रहे हैं। राष्ट्रीय जीवन के विशाल समुद्र में यह अनगिनत द्वीप अपना सिर ऊँचा किये हुए खड़े हैं और उस समुद्र की लहरें उन द्वीपों के तटों से केवल टकरा कर लौट जाती हैं। राष्ट्रीय जीवन के उस विशाल समुद्र को चुनौती देने वाले इन द्वीपों का बना रहना ही 'भारत में राष्ट्रीय तथा भावनात्मक एकता की समस्या' है। इस देश के भीतर बसने वाले ४० करोड़ लोग जब तक लहर बन कर इस विशाल समुद्र में तिरोहित नहीं हो जाते, यह समस्या हमेशा-हमेशा बनी रहेगी। जिस प्रकार एक जीवित शरीर में पैर के अंगूठे से लेकर सिर के एक-एक बाल तक जितने सूक्ष्म से सूक्ष्म अंग हैं, जीवित शरीर से अलग अपनी पृथक् सत्ता नहीं रखते हैं, उसी प्रकार हर नागरिक की चेतना राष्ट्रीय चेतना से पृथक् अपनी सत्ता नहीं रखती। पैर के अंगूठे में जरा सी चोट लगते ही शरीर भर झनझना उठता है। इसी प्रकार की वेदना, हर व्यक्ति को राष्ट्र के संकट के अवसर पर होनी चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं हो रहा है, यही राष्ट्रीय तथा भावनात्मक एकता की समस्या है। इंगलैण्ड के इतिहास की एक घटना है, 'जेनकिन्स इयर।' एक समुद्री यात्री जेनकिन एक बोतल में अपना कटा हुआ कान लेकर इंगलैण्ड की लोकसभा में प्रस्तुत होता है और कहता है कि स्पेनवासियों ने एक अंग्रेज का कान काट करके इंगलैण्ड का अपमान किया है। सारा राष्ट्र स्पेन से युद्ध करने के लिए तैयार हो जाता है। इस प्रकार का भाव हमारे देश में अभी नहीं पैदा हुआ है। विदेशों में भारतीयों का अपमान होता है परन्तु हमारे नेता कायरतावश इसका प्रतिकार नहीं कर सकते और राष्ट्रीय एकता के आदर्श का प्रचार करते हैं।

राष्ट्रीय तथा भावनात्मक एकता की प्रक्रिया

भारत में रहने वाले समस्त जनों के हृदयों में परस्पर सम्बद्ध रहने की भावना की कमी राजनीतिक नेताओं को आजादी के दस वर्षों के बाद होने लगी और

सन् १६६१ मे राष्ट्रीय एकता सम्मेलन (National Integration Conference) का आयोजन श्री जवाहरलाल नेहरू ने किया जो उस समय भारत के प्रधानमन्त्री थे। इस सम्मेलन द्वारा दी गई रिपोर्ट मे राष्ट्रीय एकता के भाव की व्याख्या इस प्रकार की गई

"राष्ट्रीय एकता एक मनोवैज्ञानिक तथा शैक्षिक प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत जनता के हृदयो मे एकता, सघटन और समक्ति (Cohesion) की भावना, एक-समान नागरिकता की अनुभूति तथा राष्ट्र के प्रति वफादारी (निष्ठा) की भावना का विकास आ जाता है।"

सरल शब्दो मे इस बात को हम यो समझें कि राष्ट्रीय तथा भावनात्मक एकता का भाव एक मानसिक दृष्टिकोण या अभिवृत्ति (Attitude) है जो सीखने से और अनुभव करके धीरे-धीरे उदय होती है। इसके विकास मे शिक्षा का सबसे अधिक योगदान होता है। इस अभिवृत्ति के अन्तर्गत कई बातें आ जाती है, जैसे एक देश मे रहने वाले सभी जन धार्मिक, सामाजिक, भाषाई तथा जातिगत सभी भेदो को भुलाकर परस्पर भाई-भाई होने की भावना से प्रेरित हो उठते हैं। वे समझते हैं कि हम किसी भी परिस्थिति मे चाहे वह व्यक्तिगत स्वार्थ या विदेशी शत्रु के दबाव से उत्पन्न हुई हो, एक-दूसरे से टूट कर अलग नही होगे। हमारा एक देश है, हम उसके नागरिक हैं और नागरिक की हैसियत से हमारी जिम्मेदारी है। उस राष्ट्र के साथ हम किसी भी दशा मे धोखाधडी नहीं करेंगे।

राष्ट्रीय तथा भावनात्मक एकता की यह प्रक्रिया केवल प्रचार या व्याख्यान से नही पैदा होती है। किसी भी देश के समस्त नागरिको के हृदयो को एक सूत्र मे बाँधने के लिए शिक्षा की आवश्यकता है। इस कार्य मे कई तत्त्व सहायक होते हैं। इन तत्त्वो का उल्लेख डा० निकोलस हैन्स ने अपनी पुस्तक 'तुलनात्मक शिक्षा' (Comparative Education) मे किया है। सक्षेप मे उन पर विचार कर लेना उपयोगी होगा।

डा० हैन्स के मत मे राष्ट्रीय एकता का एक प्रमुख तत्त्व है—निश्चित भौगोलिक सीमा। जब कोई निश्चित भू-भाग कुछ भौगोलिक सीमाओ (प्राकृतिक सीमाओ) मे घिरा होता है, उस भू-भाग के रहने वाले परस्पर एकता का भाव अनुभव करने लगते है। यदि यह भू-भाग एक ही शासन सत्ता के अधीन हो तो यह भाव अधिक पुष्ट होता है। दूसरा तत्त्व है—वर्ण तथा जाति का। ससार मे सफेद, काली और पीली जातियाँ है। उन्हें हम आर्य, मगोल और द्रविण जातियो के नाम से पुकारते है। क्योंकि शरीर-रचना की दृष्टि से एक जाति के लोग समान होते है। यदि किसी भू-भाग मे एक ही वर्ण या जाति के लोग हो, तो वे परस्पर एकता का अनुभव करने लगते हैं। तीसरा तत्त्व धर्म और सस्कृति का है। यदि किसी भू-भाग के रहने वाले एक ही धर्म को मानते है और उनका सास्कृतिक जीवन अर्थात् खान-पान, वेशभूषा,

नाम 'समाधिराज' में भी है। यही नहीं कवि अन्य महाकाव्यों, जैसे रामायण और महाभारत, देश की एकता की अनुभूति कराने के लिए विभिन्न स्थलों के वर्णन देते है और उनकी महिमा गाते हैं। उत्तरवासी राम दक्षिण में आकर कुमारी अंतरीप का समुद्र और शिव की अर्चना करते हैं। पाठकगण सारे देश का भ्रमण करके यह आभास देते हैं कि यह सारा देश एक है। बहुत से कवियों ने भारत माता की मधुर मूर्ति का मादक वर्णन करते हुए विभिन्न प्राकृतिक वस्तुओं को भारत माता का अंग और शृंगार माना है, जैसे हिमालय भारत माँ का मुकुट है, गंगा-यमुना कण्ठहार है, विन्ध्याचल मेखला है, हरे-भरे मैदान धानी अंचल है और कुमारी अन्तरीप उसके चरण हैं जिन्हें रत्नाकर अपने पवित्र जल से निरंतर धोया करता है। भारत माता की यह मूर्ति जो यहाँ के करोड़ों लोगों के हृदय में निवास करती है हमारी राष्ट्रीय तथा भावनात्मक एकता का दृढ़ आधार है। उस प्रादेशिक अखंडता का बोध कराने वाले देश के कोने-कोने में वर्तमान तीर्थ हैं जिनकी संख्या हजारों में है और भारतवासी, चाहे जिस कोने में रहते हों, उनके प्रति श्रद्धा रखते हैं। भारत के चारों कोनों पर स्थापित चारों ज्योतिर्मठ जिनकी परिक्रमा के लिए लाखों की संख्या में प्रति वर्ष नर-नारी प्राचीन काल से उमड़ते चले आए हैं हमारी राष्ट्रीय एकता का संबल है।

प्रादेशिक अखंडता का भाव सदा से हमारे हिन्दू, मुसलमान शासकों के मन में वर्तमान रहा है यद्यपि अंग्रेज इतिहासकारों ने विभ्रम उत्पन्न करने के लिए उस भावना को साम्राज्यवादी भावना बताया है। बड़े-बड़े हिन्दू सम्राट् इस प्रादेशिक एकता को प्राप्त करने की सम्भावस्था को अश्वमेध यज्ञ के द्वारा प्रकट करते थे। अशोक, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य और हर्ष आदि सम्राटों ने प्रादेशिक अखंडता के लिए बराबर प्रयत्न जारी रखे थे। यद्यपि अंग्रेजों द्वारा लिखे गए इतिहास ने हिन्दू, मुसलमान की पृथकता बनाये रखने के लिए मुसलमानों का विजेता के रूप में चित्रित किया है और उनके द्वारा हिन्दुओं को पददलित करने के चित्र प्रस्तुत किए हैं परन्तु हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि यवन सम्राट् भी भारत में आकर प्रादेशिक अखंडता के लिए बराबर प्रयत्न करते रहे। अकबर महान् के मन में इस देश की राष्ट्र के रूप में एक तस्वीर थी और वह सारे देश को एक झंडे के नीचे लाने के लिए बराबर प्रयत्नशील रहा।

कई हजार मील लम्बा और चौड़ा यह भारत विभिन्न विचारों, धर्मों, संस्कृतियों और भाषाओं की जन्म-स्थली हो, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। साथ ही प्राचीन काल से लेकर अब तक इन विभिन्नताओं को एकता में आत्मसात् कर लेने की प्रवृत्ति चल रही है जिसे हम समन्वय की प्रवृत्ति भी कह सकते हैं। हुमायूँ कबीर कहते हैं—' 'अनेकता में एकता भारतीय सभ्यता और संस्कृति की विशेषता है। हिन्दू समाज-व्यवस्था अपने आप में इस सिद्धान्त का विशिष्ट उदाहरण है। इसी के कारण परस्पर विरोधी विश्वासों और मतों के लोग भी एक ही समाज के सदस्य रहे हैं। हिन्दू समाज ने तब तक न तो नास्तिकों का बहिष्कार किया

और न एकेश्वरवादियों का और न अनेकेश्वरवादियों का जब तक कि उन्होंने कुछ सामाजिक आचारों का पालन किया। इस प्रकार उसने सामाजिक आचार के निश्चित ढाँचे के पालन पर बल देते हुए बौद्धिक मतभेदों को अधिकतम छूट दी। व्यवहार में भी विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों और धर्मों में अधिकतम अनेकता की छूट दी गयी।"

विरोधों को बने रहने देने के कारण भारत में कभी भी विस्फोटक स्थिति नहीं पैदा हुई और राष्ट्रीय तथा भावनात्मक एकता की प्रक्रिया को निरन्तर बल मिलता रहा जिसके फलस्वरूप हर प्रकार के अनिविरोधी तत्व निकट आने का प्रयास करने लगते थे। उदाहरण के लिए, प्रागैतिहासिक काल में देवासुर संग्राम चला परन्तु बाद में यह सुर-असुर का भेद मिट गया। ऋग्वेद के काल से लेकर अथर्ववेद के काल तक आते-आते भारत की आर्य और अनार्य जातियों के विरोध कम होते चले गये और दोनों जातियों ने एक-दूसरे के आचार-विचार ग्रहण कर लिये। इस देश में वर्तमान विभिन्न जातियाँ उपहास की वस्तु बन गयी हैं परन्तु इस भारत की यह खूबी है कि यहाँ यह सारी जातियाँ सहअस्तित्व के सिद्धान्त का पालन करते हुए अपनी सीमाओं के भीतर जीवित हैं। जहाँ यूरोप में विजित जातियों को समूल नष्ट करने या उन्हें दास बनाने की प्रथा थी वहाँ इस देश में विरोधी तत्वों को जीवित रहने के अधिकार दिये जाते थे, जाति प्रथा के अन्तर्गत विजित को निम्न स्तर पर अपनी सत्ता बनाये रखने का अधिकार मिल ही जाता था। यहाँ विभिन्नता को मिटाने का प्रयत्न कभी नहीं हुआ। यह क्रम मुसलमानों के शासन काल में भी चलता रहा। यद्यपि कुछ सुल्तानों ने बलपूर्वक हिन्दू समाज को नष्ट करने का प्रयत्न किया परन्तु सामान्य जन-जीवन के स्तर पर हिन्दू, मुस्लिम संस्कृतियों के विरोधों को नष्ट करने का प्रयत्न हिन्दू, मुस्लिम सन्त बराबर करते रहे। इस प्रवृत्ति का सबसे बड़ा प्रतिनिधि सम्राट अकबर था जिसने हिन्दू, मुसलमानों के भेदभाव को अपनी उदार नीति से मिटाने के लिए भरसक प्रयत्न किए थे। उसका दीनइलाही मत समन्वय की चेष्टा का प्रमाण है। मुगल साम्राज्य के अन्त के समय हिन्दू, मुसलमान अपने मतभेद बहुत कुछ भुला चुके थे परन्तु अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना के बाद विदेशी शासकों की कूटनीति ने उन दबे हुए भेदों को पुनः उभार दिया और प्रचार द्वारा ऐसा विष फैलाया कि देश दो टुकड़ों में बँट गया।

भारत की भारतीयता या जिसे हम 'राष्ट्रत्व' कह सकते हैं, नयी चीज नहीं है। बहुत से लोग अज्ञानतावश कहते हैं कि राष्ट्रीयता का भाव भारत में पश्चिम से आया है और अंग्रेजी पढ़ने से आजादी की प्यास भारतीयों में पैदा हुई। बहुत प्राचीन काल में 'भारतीयता' अथवा भारत के राष्ट्रीय जीवन की एक परम्परा को विदेशियों ने अनुभव किया था। इस बात का समर्थन करते हुए प्रोफेसर हुमायूँ कबीर ने कहा है कि जब मेगस्थनीज, फाहियान और ह्वेनसांग जैसे यात्री यहाँ आए, तो उन्होंने यहाँ जातियों और सम्प्रदायों की भिन्नता देखी परन्तु फिर भी उन्होंने उन सबको भारतीय

नता के रूप मे स्वीकार किया। बाबर यहाँ आया और उसने भी 'भारतीयता' को हचाना। उसने भारत की जीवन शैली को अन्य देशो की जीवन शैली से भिन्न ानते हुए, उसे हिन्दुस्तानी कहा। तात्पर्य यह है कि इस देश में रहने वाले करोड़ों ोगों मे चाहे जितनी भिन्नता हो, उनमे एक भौतिक एकता है। वही एकता सन् ८५७ मे अंग्रेजो के विरुद्ध विद्रोह के रूप मे और १९४२ मे क्रान्ति के रूप मे प्रकट ई, वही एकता चीन और पाकिस्तान के आक्रमणो के समय या देश पर सकट आने समय प्रकट हुई थी। आज भी वह भावना विद्यमान है यद्यपि वह कभी-कभी मिल पड जाती है।

ाष्ट्रीय एकता को चुनौती देने वाली बाधाएँ

(१) देश की विशालता—भारत एक लम्बा-चौड़ा देश है। उसकी सीमाएँ ई हजार मील लम्बी है। यद्यपि प्राचीन काल मे धर्मयात्रा, तीर्थयात्रा और व्यापार ी परम्पराओं के कारण देश के एक कोने के लोग दूसरे कोने तक जाते रहे है परन्तु नकी सख्या कम रही है। यातायात के साधन कभी विकसित नही रहे और मार्ग मे दियाँ, पर्वत और रेगिस्तान बाधाएँ उत्पन्न करके आवागमन को कठिन बनाते रहे। ा बीसवीं शताब्दी मे जब रेल, मोटर, हवाई जहाज तथा अन्य साधनों के विकास मे ह बाधाएँ दूर हुई और समय कम लगने लगा तो भी इस देश के दो-चार तिशत लोग ही सारे देश का चक्कर लगाकर यह अनुभव कर सकते है कि उनका ा कहाँ से कहाँ तक फैला है। जब इस देश मे एक छोटे से गाँव मे रहने वाले ाग एक-दूसरे के साथ भावनात्मक एकता का अनुभव नही करते, तो इस विशाल ा मे कश्मीर का निवासी केरल अथवा बगाल के निवासी के साथ एकता का अनुभव से कर सकता है ?

(२) धर्म, सम्प्रदाय, सस्कृति और जातिभेद के ऐतिहासिक तत्त्व—भारत मे वास करने वालों के बीच वर्तमान अनेक भेदभावों के कारण ऐतिहासिक है। इस ा का इतिहास बहुत प्राचीन है और यह नाना प्रकार की जातियो और धर्मो की त्पत्ति तथा आगमन का केन्द्र रहा है। यहाँ हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई धर्मा साथ-साथ बौद्ध और जैन मतावलम्बी भी रहते है, जो हिन्दू सस्कृति से अधिक न्नता नहीं रखते। धर्मो के भेद से सम्प्रदाय और सस्कृति भेद भी उत्पन्न हो गए। न्दू-समाज मे जातिप्रथा प्राचीनकाल से जारी रही और यह समाज हजारो जातियो बँटा है जिनका आधार जन्मगत है। इतिहास के लम्बे दौर मे यह सारे भेद उत्पन्न ए और इतिहास के सामान्य विद्यार्थी इनसे परिचित है। धर्म, सम्प्रदाय, सस्कृति र जाति के आधार पर बने यह घटक (Units) राष्ट्रीय जीवन से अलग अपनी ा मानते है और उसके प्रवाह मे विलीन हो जाने से इन्कार करते है। इतिहास ाता है कि यह सारे घटक अपनी स्वतन्त्र सत्ता के लिए बराबर लड़ते आए है। ाहरण के लिए, मुसलमानी शासन मे हिन्दुओं ने अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए

बराबर संघर्ष किया। इधर स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों में राष्ट्रीय प्रवाह में अलग रह कर मुसलमानों ने 'मुस्लिम लीग' के नेतृत्व में चलकर अपने अस्तित्व की पृथकता को प्रधान लक्ष्य बनाया। जिन्ना साहब ने तो 'द्विराष्ट्र का सिद्धान्त' चला कर पाकिस्तान की माँग की। मुसलमानों को यह भय था कि स्वतन्त्र भारत में उनके धर्म, सम्प्रदाय तथा संस्कृति का लोप हो जाएगा। सिक्खों की सिखिस्तान की माँग और द्रविड जाति के लिए तमिलनाड की माँग उन ऐतिहासिक कारणों की देन है।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है। धर्म, सम्प्रदाय, जाति और संस्कृति के भेद, इस भारतीय इतिहास-काल के दौर में उतने वेगशाली नहीं हैं, जितना हम समझते हैं। वह राष्ट्रीय तथा भावनात्मक एकता में उतने बाधक नहीं हैं जितना हम समझते हैं। वर्तमान भारत में राष्ट्रीय एकता की बाधाएँ बुनियादी तौर पर दूसरी हैं। इन ऐतिहासिक भेदों को उभारने की चेष्टा की जाती है। हमारे देश में समन्वय की प्रक्रिया के फलस्वरूप धर्म, सम्प्रदाय और जाति के भेद समाप्त तो नहीं हुए थे पर उनके बीच सह-अस्तित्व का भाव अवश्य पैदा हो गया था। दुर्भाग्य से अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली और शासकों की कूटनीति ने इस सह-अस्तित्व के भाव को नष्ट किया है। भेद उत्पन्न करके राज्य करने और विभिन्न इकाइयों को एक दूसरे के विरुद्ध उठा कर खड़ा कर देने की राजनीति ने राष्ट्रीय एकता में बाधा पहुंचायी है परन्तु हम 'कारण' को न देखकर परिणामों को देखते हैं। पुराने और निर्बल ऐतिहासिक भेदों को सबल किया है, इस राजनीति ने। यदि इस देश में धर्म, सम्प्रदाय, संस्कृति और जातियों के भेद इतने सबल थे, तो अंग्रेजों से पहले यहाँ के लोगों में साम्प्रदायिक और भाषाई दंगे क्यों नहीं हुए? यूरोप में धर्मयुद्ध हुए हैं और एक धर्म के मानने वालों ने दूसरे धर्म के मानने वालों को जिन्दा जलाया है। सभ्य अंग्रेजों के देशों में यह सब हुआ परन्तु हमारे देश में नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि समन्वय-कारी राष्ट्रीय प्रवृत्ति के कारण इस देश में धर्म-सम्प्रदाय-जाति के भेद निर्बल पड़ गए थे परन्तु उन भेदों को जानबूझ कर उभारा गया और बुझती हुई आग में घी डाला गया।

(३) राजनीति का खेल—हम पहले बता चुके हैं कि विदेशी शासन में भारतीय जनता में वर्तमान मौलिक एकता जो सह-अस्तित्व के रूप में प्रकट हो चुकी थी, उनके लिए एक खतरा थी जिसका आभास उन्हें सन् १८५७ के विद्रोह में मिला। तब से अंग्रेजों ने राजनीति का प्रयोग पुराने सांस्कृतिक, धार्मिक और जातियों के भेदों को उभारने में किया परन्तु कांग्रेस के नेतृत्व में भारतीय जनता ने उन भेदों के संकटों को पाकर आजादी प्राप्त कर ली। विदेशियों की वह राजनीति उनकी दृष्टि से उचित थी क्योंकि वे यहाँ की जनता का शोषण करना चाहते थे। आजादी के बाद 'राजनीति' का स्थान 'राजधर्म' को लेना चाहिए था। परन्तु ऐसा नहीं हो पाया। दुर्भाग्य से और सच्ची शिक्षा के अभाव से यहाँ के लोगों में राष्ट्रीय चेतना सबल नहीं हो पाई और यहाँ के अनेक वर्ग ऐसे बन गए हैं, जो शासन को अपने हाथ में रख कर मनमाने

देश से लाभ उठाना चाहते हैं। यह वर्ग राष्ट्रीय तथा भावनात्मक एकता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधाएँ हैं। यह वर्ग है राजनीतिक दल, सुविधा-प्राप्त नौकरशाही, और पूँजीपति वर्ग। यह तीनों वर्ग नये हैं और यह धर्म, जाति, संस्कृति और सम्प्रदाय के भेदों से अनुप्राणित न होकर राज्य सत्ता, विशेष सुविधा और धन के आधार पर बने हैं और अपने स्वार्थ साधन के लिए पुराने ऐतिहासिक भेदों को सामान्य जनता में उभार कर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं। इन वर्गों में और इनके नेताओं में जाति, धर्म और संस्कृति की भिन्नता का कोई विचार नहीं। उदाहरण के लिए, नौकरशाही संगठित है यद्यपि उसके सदस्य हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी हैं और विभिन्न संस्कृतियों के हैं। कांग्रेस एक राजनीतिक दल है परन्तु उसमें सभी सम्प्रदायों और संस्कृतियों के लोग शामिल हैं। यह वर्ग निरक्षर जनता के पुराने भेदों को उभार कर उन पर शासन करना चाहते हैं। यह राजधर्म नहीं, राजनीति का एक भ्रष्ट रूप है।

भारत में राष्ट्रीय तथा भावनात्मक एकता का अभाव है- यह विचार सबसे पहले राजनीतिज्ञों को ही सूझा। राष्ट्रीय एकता सम्मेलन का आयोजन शासक दल की ओर से हुआ। सभी राजनीतिक दलों ने इस समस्या पर चिन्ता प्रकट की और बार-बार यही दल इसके लिए आवाज उठाते हैं, परन्तु वास्तविकता यह है कि अपने स्वार्थों के लिए यह दल राष्ट्रीय एकता पर बहुत बड़ा आघात पहुँचाते हैं। उदाहरण के लिए, कुछ राजनीतिक दल केवल एक सम्प्रदाय या संस्कृति-विशेष के आधार पर संगठित हैं और खुले आम प्राचीन ऐतिहासिक भेदों को उभारने का प्रयत्न करते हैं। कुछ राजनीतिक दल ऐसे भी हैं, जिनमें विभिन्न सम्प्रदायों, जातियों और धर्मों के लोग शामिल हैं परन्तु उन दलों के नेता चुनाव के समय साम्प्रदायिक और जातिगत भेदों के आधार पर बहुमत पाने का प्रयत्न करते हैं और वे जिन आदर्शों पर खड़े हैं, उन्हें भूल जाते हैं। यह राष्ट्रीय एकता पर आघात पहुँचाना है।

कार्लमार्क्स के द्वारा बनाये गये वर्ग-संघर्ष को यदि हम छोड़ भी दें, तो भी सामान्य अनुभव यह बताता है कि एक प्रकार के स्वार्थों के आधार पर वर्ग तो बनते ही हैं। इस प्रकार के वर्ग हमारे देश में सदा रहे हैं और अब भी हैं। उदाहरण के लिए, राजे-महाराजे और जमींदारों के वर्ग जिनको पैतृक सम्पत्ति थी और जो हर प्रकार से खुशहाल थे। वे मिलकर अपनी शक्ति राजनीति की सहायता से बनाये रखना चाहते थे। वे आजादी के पूर्व बराबर अंग्रेजों की सहायता करते थे और राष्ट्रभावना का विरोध। स्वतन्त्रता के बाद यह वर्ग नष्टप्राय है परन्तु उनके स्थान पर पूँजीपति वर्ग और नौकरशाही वर्ग आ गया है। पूँजीपति वर्ग स्वार्थवश और धन के लिए सामान्य जनता का शोषण अनेक प्रकार से करता है और अपनी शक्ति बनाये रखने के लिए राजनीति में प्रवेश करता है। यही बात नौकरशाही पर भी घटित होती है। इन लोगों का संगठन विशेष सुविधाओं और पद के आधार पर बना हुआ है। यह लोग अपनी शक्ति बनाये रखने के लिए राजनीति का सहारा लेते

है। वे खुलकर सामने लड़ नहीं सकते परन्तु वे नये-नये उपायों से काम लेते हैं जिनका संक्षेप में उल्लेख आवश्यक है।

(क) भाषाई विवाद—अब यह स्पष्ट हो चला है कि भाषाई विवाद के पीछे दलगत राजनीति है। केन्द्र के प्रशासन में जो नौकरशाही जमी हुई है, वह चाहती है कि उसकी सन्तान ही जमी रहे। यह तभी सम्भव है जब अंग्रेजी बनी रहे क्योंकि यह निश्चय है कि सामान्य वर्ग के नवयुवक अंग्रेजी पर उतना अधिकार नहीं रख सकते जितना हिन्दी तथा अपनी मातृभाषाओं पर रखते है। अंग्रेजी रहती है तो प्रशासन में नये खून और नये वर्गों का प्रवेश सम्भव न होगा। इस प्रकार शिक्षा, खासकर विश्वविद्यालय तथा तकनीकी शिक्षा के स्तर पर जो ऊँचे-ऊँचे वेतन पा रहे हैं और हर प्रकार की सुविधाएँ अंग्रेजी के माध्यम के बल पर पा रहे है, वे हिन्दी के आ जाने से संकट में पड़ सकते हैं, और विरोध का जन्म इसी भावना से हुआ है।

(ख) क्षेत्रीयता—भाषा-विवाद की तीव्रता के कारण आजादी के बाद देश में भाषाई प्रान्त (राज्य) बना दिये गये। इससे क्षेत्रीयता को बढ़ावा मिला। यह प्रान्त भी राजनीति की देन हैं। हर भाषा क्षेत्र के लोग संगठित होकर अपनी शक्ति को बढ़ाये रखना चाहते है। इसका एक नमूना 'द्रविड़मुनेत्रकड़गम' दल है। वह केवल मद्रास राज्य तक सीमित है। भाषा और संस्कृति के आधार पर वह भारत से पृथक् अपना अस्तित्व समझता है। बंगाल और मद्रास के लोग अंग्रेजी के बल पर अंग्रेजों के शासन काल में प्रशासन के माध्यम में अपनी श्रेष्ठता बनाये हुए थे। यही दो क्षेत्र अब अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए भाषा के मोर्चे पर डटे हुए हैं।

इन दोनों उदाहरणों में राजनीति के खेल का स्पष्टीकरण हो जाता है। अत हिन्दी का विरोध केवल 'स्वमातृभाषा' प्रेम के कारण नहीं है या द्रविस्तान-तमिलनाड की माँग केवल अपने क्षेत्र-विशेष के प्रेम के कारण नहीं है, वरन् उसके पीछे उन वर्गों की राजनीति है, जो अपनी सत्ता और शक्ति को किसी प्रकार बनाये रखना चाहते हैं। अस्तित्व-रक्षा के लिए लड़ना तो हर वर्ग के अधिकार है परन्तु जब केवल अपने स्वार्थ के लिए दूसरों पर बलपूर्वक अधिकार जमाने की प्रवृत्ति हो और राष्ट्रीय चेतना के साथ मिलकर चलने को अस्वीकार करने की प्रवृत्ति हो, तो उससे भावनात्मक एकता पर आघात पहुँचता है।

(४) देश को बदली परिस्थितियाँ तथा मनोवैज्ञानिक भय—आजादी प्राप्त होने के बाद राष्ट्रीय चेतना के निर्बल होने का एक कारण यह था कि वह 'एकोद्देश्यता' (आजादी पाने का उद्देश्य) जो सब विभिन्न विचारों वाले लोगों को एक सूत्र में बाँधे हुए था, नष्ट हो गया। कांग्रेस दल की इस दृष्टि से उपयोगिता नष्ट हो गई परन्तु वह दल शासनारूढ़ हुआ। यह दल देश को एक स्पष्ट उद्देश्य नहीं दे सका। जिस लगन, त्याग और सेवा की भावना से प्रेरित होकर आजादी की लड़ाई लड़ी गई,

यह भावना एक दिशा में लगाने में हम असमर्थ रहे और यह बिखर गई। इस अवसर पर जरूरी यह था कि इस भावना को 'देश का पुनर्निर्माण' के लक्ष्य की ओर मोड़ना था पर परिस्थितियों ने ऐसा नहीं होने दिया। वह परिस्थितियाँ क्या थी ?

आजादी के बाद अधिकार मिले। यह अधिकार शासनसत्ता, धन, सुविधाएँ तथा नौकरियों के रूप में थे। देश के निर्माण की ओर किसी का ध्यान नहीं गया और सब इन अधिकारों का उपभोग करने के लिए आतुर हो उठे और इनके लिए छीना-झपटी प्रारम्भ हो गई। एक-दूसरे को गिराने के प्रयत्न में फूट, घृणा और विद्वेष का भाव प्रबल हो गया जिसमें राष्ट्रीय एकता पर चोट पहुँचना अवश्यम्भावी था। यह एक ऐसी विशेष परिस्थिति है जिसने देश में विद्यार्थियों के आन्दोलनों, मजदूरों की हड़तालों, कर्मचारियों के उपद्रवों और असहयोग और भाषाई दंगों को जन्म दिया है। आज हर वर्ग की भूख बढ़ी है। जिन्हें कभी अधिकार, सुख और सुविधाएँ नहीं मिली थीं, वे उन्हें पाने के लिए लड़पने लगे हैं और जो उन पर अधिकार जमा चुके हैं, वे अपने स्थान पर जमे रहकर महत्वाकांक्षी वर्गों से लड़ने पर आमादा हैं। इस मनोवैज्ञानिक स्थिति ने संघर्ष को जन्म दिया है।

अधिकार और सत्ता के संघर्ष में जो वर्ग सबल तथा बहुमत में होगा, उसमें कुछ गर्व, आत्मविश्वास और आशा की भावना होती है। परन्तु जो अल्पमत में है, उसमें निराशा और भय का होना स्वाभाविक होता है। कभी बहुमत तथा सबल वर्ग के इरादे पवित्र भी हो सकते हैं और कभी सारे अधिकार हड़प जाने की प्रवृत्ति भी हो सकती है। इसके विपरीत, अल्पमत तथा निर्बल वर्ग में यह भय सही हो सकता है कि कहीं उनका अहित न हो और कभी इस वर्ग में बलपूर्वक बहुमत वाले वर्ग पर बलपूर्वक लदे रहने की प्रवृत्ति हो सकती है। इस मनोवैज्ञानिक तत्व के संदर्भ में राष्ट्रीय एकता की समस्या को समझना आवश्यक है।

भारत में हिन्दू सम्प्रदाय का बहुमत है और प्रजातन्त्र में इसी सम्प्रदाय को अधिक लाभ मिलना स्वाभाविक है और न्याययुक्त भी है। दूसरी ओर मुसलमान, ईसाई और सिख सम्प्रदाय अल्पमत में हैं और अनुपात में इन्हें कम लाभ मिलना स्वाभाविक तथा न्याययुक्त है परन्तु इस स्थिति को कोई नहीं समझ पा रहा है। हिन्दू सम्प्रदाय धन की दृष्टि से अधिक सबल है और इसके कुछ उच्च स्तरीय वर्गों में सारी सुविधाएँ हड़पने की प्रवृत्ति है। और अगर यह प्रवृत्ति न हो तो भी वे अपनी ईमानदारी सिद्ध नहीं कर पा रहे हैं। दूसरी ओर मुसलमान, ईसाई तथा सिक्ख केवल एक शताब्दी पूर्व पहले अल्पमत होने पर भी बहुसंख्यक सम्प्रदाय पर राज्य कर चुके है और अब वे उचित से अधिक भाग की कामना करते हैं। उन्हें यह भय है कि कहीं वे बिल्कुल न मिट जायें। ऐसा भय कभी-कभी 'मिथ्या भय' का रूप ले लेता है, जो बड़ा घातक हो सकता है। मिथ्या भय आक्रामक होता है, मिटने के भय से अपने से सबल शत्रु को मिटा देने की प्रवृत्ति ने दक्षिण भारत में भाषाई दंगे

किए हैं, हिन्दी को मद्रास से उखाड़ फेंकने के पीछे भयजनित आक्रामक प्रवृत्ति काम कर रही है।

श्री हुमायूँ कबीर ने अपने लेख 'राष्ट्रीय एकता का आधार' मे अल्पमत वाले वर्गों के भय का विश्लेषण करते हुए उसका दबे स्वर मे समर्थन किया है। वे कहते हैं—"कभी-कभी ऐसा लगता है कि विभिन्न भाषाई और क्षेत्रीय वर्ग इस एकता का विरोध कर रहे है, किन्तु हम यदि उनके रवैये का सावधानी से विश्लेषण करें, तो हम देखेंगे कि वे एकता के विरोधी नही बल्कि अपनी पृथक् सत्ता के नाश के विरोधी हैं। अल्प-सख्यक वर्ग आम तौर पर अपने पृथक् स्वरूप की रक्षा के लिए अधिक सवेदनशील और आग्रही है। यही भय भारत मे हाल के जमाने मे भाषा के प्रश्न पर दिखाए गये भावनाओ के उग्र आवेश के पीछे भी था।"

अब अल्पसख्यको के भय निर्मूल हैं या असली, इसका निश्चय बडा कठिन है। दुर्भाग्य से श्री हुमायूँ कबीर जैसे लोग इस प्रकार के भय को उचित समझते हैं। वे कहते है कि बहुमत वाले वर्ग के हित या दृष्टिकोण को सर्वोपरि नही समझा जा सकता क्योंकि वे इसे राष्ट्रीय रूप देते हैं जिससे अल्पसख्यक वर्ग पर उनका प्रकारान्तर से यह अभियोग है कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के पीछे, उसकी स्वार्थ वृत्ति है। यदि उसका यह दृष्टिकोण सही है, तो इस समस्या का क्या हल है? श्री कबीर यह तो नही कहते कि अंग्रेजी ही स्थानापन्न रहनी चाहिए पर कोई सुझाव न देकर कहते हैं कि सभी भाषाओ को विकसित होने देना चाहिए। वे भाषा का सम्बन्ध धर्म और सस्कृति से जोडकर यह तर्क देते हैं कि भाषा की स्वतन्त्रता जरूरी है। हर भाषा के विकास की गारन्टी सविधान देता है पर जहाँ 'मिथ्याभय' और 'आशका' हो, उसके दूर करने का और क्या उपाय हो सकता है? वास्तव मे श्री कबीर राष्ट्रीय हित की न तो व्याख्या कर पाते हैं, जिस पर सभी वर्ग एकमत हो और न वे कोई हल दे पाते है। उनके पूरे लेख मे जिस 'पृथकत्व की भावना' की सच्चे हृदय से निन्दा है, उसी का अन्त मे विचित्र ढंग से समर्थन है। इसका कारण शायद यह हो कि एक अल्पसख्यक वर्ग के सदस्य होने के कारण राष्ट्रीय भावना से पूर्ण होने पर भी, उनके अचेतन मन मे पृथकत्व की दबी हुई भावना मौजूद रही है।

(५) पृथकत्व की होड—विभिन्न वर्गों के पृथकत्व का प्रश्न राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। हमारा देश एक बहुत बडा वृत्त है जिसके भीतर असख्य छोटे-छोटे वृत्त नाच रहे हैं। इसका कारण हमारा 'व्यक्तिवादी' जीवन-दर्शन है। इस देश का हर व्यक्ति अपनी पृथक् सत्ता की अनुभूति करता है। इसलिए वह अगर अपने 'स्व' से आगे बढा, तो जाति तथा धर्म या परिवार के छोटे वृत्त मे बन्दी बनकर रह जाता है। फिर वह 'वृत्त' या वर्ग अपनी स्वतन्त्र सत्ता के लिए प्राण-पण से लडता है। यह समन्वय के मार्ग मे बहुत बडी बाधा है। इस बात का अच्छा स्पष्टीकरण श्री हुमायूँ कबीर ने किया है। उन्होंने बताया है कि हिन्दू सम्प्रदाय ने

अपना एक अलग कुल बना लिया और उस दायरे में किसी अन्य सम्प्रदाय के सदस्य का प्रवेश वर्जित है। अपनी संस्कृति के साथ उसने अन्य संस्कृतियों के समन्वय की शक्ति खो दी। दूसरी ओर भारतीय मुसलमानों और ईसाइयों ने भी अपने संकुचित दायरे में सिमट कर भारतीयता की विशाल धारा में स्नान करने से इन्कार कर दिया और अब तक भी कर रहे हैं। उन्होंने भारतीय परम्पराओं और वीरों को उस प्रकार नहीं स्वीकार किया जिस प्रकार इण्डोनेशिया के मुसलमानों ने किया था। इससे राष्ट्रीय एकता में बाधा उपस्थित हो रही है। श्री हुमायूँ कबीर ने अपने एक लेख ('National Integration in India', Careers and Cources, Nov. 1961) में कहा है

"ऐसे भारतीय बहुत थोड़े हैं, जो भारत की समस्त सांस्कृतिक विरासत को स्वीकार करते हैं, अधिकांश भारतीय ऐसे हैं जो भारतीय इतिहास और संस्कृति के कुछ अंशों और पहलुओं पर गर्व करने और उनसे प्रेरणा लेते हैं।"

यह बात हिन्दू, मुसलमान, सिख और ईसाई आदि सभी सम्प्रदायों के लिए एक कटु सत्य है और इस भावना से राष्ट्रीय चेतना टुकड़ों में बँट गयी है।

(६) **एक आर्थिक सवाल** —इस समय राष्ट्रीय एकता में धर्म और जाति के तत्त्व इतने बाधक नहीं हैं, जितना आर्थिक विषमताएँ। एक ओर तो भारतीय समाज आर्थिक रूप से अन्य देशों की तुलना में पिछड़ा हुआ है। दूसरी ओर भारत में जो कुछ आर्थिक विकास की सुविधाएँ हैं, उनका समान रूप से वितरण नहीं है। श्री हुमायूँ कबीर ने आर्थिक विषमता को राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधक माना है। उनका कहना है कि यद्यपि भारतीय संविधान में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि भारत के हर नागरिक को अपने विकास की पूरी सुविधा मिलेगी परन्तु ऐसा हो नहीं रहा है। हर भारतीय नागरिक को यह विश्वास नहीं है कि उसे अपने मनचाहे स्तर तक उठने की सुविधा मिल सकेगी। इसका प्रमाण यह है कि हमारे अनेक सुशिक्षित नागरिकों को उपयुक्त पेशा नहीं मिल पाता। फिर उनके सामने कोई चारा नहीं रह जाता सिवाय इसके कि वह धर्म, सम्प्रदाय और भाषा के नाम पर संगठन खड़ा करें और विशेष सुविधा या अधिकार की माँग करें। यह सब राष्ट्रीय एकता में बाधा पहुँचाने में सहायक होता है।

अभी हाल के होने वाले भाषाई दंगे और विवाद की जड़ में यही आर्थिक प्रश्न काम कर रहा है। आज तमिलनाड में हिन्दी का विरोध केवल इसलिए है कि वहाँ के लोग अंग्रेजी में अच्छी प्रगति रखते हैं और विदेशी भाषा के बल पर केन्द्रीय शासन में वे जमे हुए हैं। अंग्रेजी जाने का अर्थ है उनकी रोजी का जाना। जब तक उन्हें विश्वास न हो जाय कि हिन्दी के आने से उनकी आर्थिक समस्या हल हो जायगी, हिन्दी का विरोध करते रहेंगे। पेट की भूख प्रबल होने पर राष्ट्रहित भूल ही जाता है। तमिलभाषी तमिल का प्रेम न दिखाकर अंग्रेजी के प्रति प्रेम प्रकट कर रहे हैं

क्योंकि समिति भी उनकी आर्थिक कठिनाई को हल नहीं कर सकती। इसी प्रकार आन्ध्र राज्य में इस्पात के कारखाने को लेकर आन्दोलन होता है क्योंकि यदि वह कारखाना किसी दूसरे राज्य में हो, तो आन्ध्रवासी को नौकरी का अवसर कम मिलेगा। महाराष्ट्र में 'शिवसेना' की उत्पत्ति इसीलिए हुई है कि वहाँ उनके राज्य में दूसरे प्रदेशों के लोग अपेक्षाकृत अधिक अवसर पा रहे हैं। उत्तर मुसलमान उर्दू के नाम पर संगठित हो रहे हैं क्योंकि वे अपने को उपेक्षित अनुभव कर रहे हैं। इन सारे अराष्ट्रीय कार्यों की जड़ में आर्थिक समस्याएँ हैं।

वास्तव में इस युग में उपर्युक्त सारी प्रवृत्तियों का विश्लेषण करना पूरी तरह सम्भव नहीं है क्योंकि इसमें बड़ी जटिलता है। सारी प्रवृत्तियाँ एक दूसरे से इस प्रकार जुड़ी हैं कि अलग-अलग उन्हें समझना कठिन है। फिर भी हमने उन्हें यथा-सम्भव सरल करके समझाने का प्रयत्न किया है।

चारित्रिक संकट और राष्ट्रीय एकता

राष्ट्रीय एकता में बाधक तत्वों की व्याख्या हम कर चुके हैं परन्तु यदि अधिक गहराई से विचार करके देखा जाय तो धर्म, जाति, भाषा, सम्प्रदाय, क्षेत्र, भय और आर्थिक स्वार्थ के कारण राष्ट्रहित का ध्यान न रखने का मूल कारण है चरित्र की दुर्बलता। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डा० राधाकमल मुकर्जी ने अपने एक लेख ('An Ethical Basis for Integration', Careers and Courses, अगस्त १९६४) में कहा है कि राष्ट्रीय एकता की समस्या मूलतः एक नैतिक समस्या है। जब किसी राष्ट्र के लोगों का चारित्रिक पतन हो जाता है और वे अपने क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर न उठ कर राष्ट्र के हित को हानि पहुँचाने लगते हैं तो समाज में भावनात्मक एकता नष्ट होने लगती है। यह बात कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो सकती है।

आज हमारे देश में उपभोग्य वस्तुओं का अभाव है। जीवन की अत्यन्त मौलिक आवश्यकताएँ, जैसे खाद्यान्न, वस्त्र और आवास भी हर एक को सुलभ नहीं है परन्तु कुछ सुविधा-प्राप्त वर्ग जैसे पूँजीपति और अधिकारी वर्ग, किसी भी प्रकार से इन अभावों से परेशान नहीं है। इस वर्ग में चारित्रिक दुर्बलता के कारण ही स्वार्थ-परता है। वे अभावग्रस्त वर्गों के दुःखों का अनुभव नहीं करते हैं और वे अपने सुख को ही सर्वोपरि मानते हैं। राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत जन 'परदुःखकातर' (दूसरों के दुःखों से दुःखी होने वाला) होता है। इसी प्रकार एक उच्च पदाधिकारी जो अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के चुनाव में अपने धर्म, जाति या भाषा का विचार करके ही अपने आदमियों को नियुक्त करता है तो यह उसके चरित्र की दुर्बलता है। चरित्रवान अधिकारी वह है जो न्यायानुसार योग्य तथा पद के उपयुक्त कर्मचारी नियुक्त करता है।

जब एक बड़ा वर्ग, जो बहुसंख्यक है, सामूहिक तौर पर चारित्रिक दोष का

२०

शिकार बन जाता है तो निरंकुश हो जाता है और अन्य अल्प मत वाले समुदायों के हितों को कुचलने लगता है। उसमें दंभ और स्वार्थ प्रबल हो जाते हैं। यह भी चारित्रिक दुर्बलता का प्रमाण है। यदि चरित्र की उच्चता होगी तो उदारता और सहिष्णुता के गुण होंगे। इसी प्रकार अल्पसंख्यकों में भी चारित्रिक दोष हो सकते हैं। हमारे देश के अल्पसंख्यक रूढ़िवादिता और स्वार्थ से ग्रस्त हैं। यदि वे राष्ट्र की व्यापक विचारधारा से धर्म और संस्कृति की सुरक्षा की आवाज उठाकर अलग रहना चाहते है तो यह उनकी संकुचित मनोवृत्ति है। भारत में कई सम्प्रदाय इस दोष से मुक्त नहीं है। निर्वाचनों के समय अल्पमत के लोग धर्म और जाति के आधार पर अपने प्रतिनिधि चुनते है। इस प्रकार की चारित्रिक दुर्बलता अज्ञानता और स्वार्थ के कारण उत्पन्न हुई है। अधिकारीवर्ग को राष्ट्र के कोष से वेतन मिलता है परन्तु वे जनता के हित की उपेक्षा करके उत्कोच (घूस) ग्रहण कर लेते हैं और वे उन समाज-विरोधी तत्त्वों को खुली छूट दे देते हैं जो समाज का शोषण करते हैं। भारत में चोर-बाजारी, संग्रह और मुनाफाखोरी के कारण आम जनता बड़े कष्ट में है जिसके लिए अधिकारीवर्ग और व्यापारीवर्ग जिम्मेदार है। चरित्रहीनता के कारण यह दुर्गुण पैदा हो गए हैं और आम जनता का विश्वास इन पर से उठ गया है।

इन कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा कि चारित्रिक संकट हमारे देश में वर्तमान है और हमारे देश के कुछ नेता इस संकट का अनुभव भी कर रहे है। यों तो चरित्र एक व्यापक गुण है परन्तु समझने की दृष्टि से उसकी कुछ विशेषताओं को सहज ही समझा जा सकता है। चरित्र के अन्तर्गत ईमानदारी, निःस्वार्थभाव, त्याग, न्याय-प्रेम, निष्पक्षता, मन की दृढ़ता और कष्ट-सहन जैसे गुण आते है जिनके बिना मनुष्य चरित्रवान् नहीं कहला सकता। खेद की बात यह है कि हमारे देश में इन गुणों का सामान्य जनों में अभाव है। चरित्र की दृष्टि से हमारे देश में महान् पुरुष अवश्य हुए हैं परन्तु सामान्य जनता में इनकी कमी है। विचार करने से यह बात सिद्ध हो जाती है कि अतीत काल में भारत ने अपनी आजादी चरित्र-हीनता के दुर्गुण से खोई है। यहाँ के लोगों में वीरता का अभाव न था परन्तु मुट्ठी भर विदेशी यहाँ आकर सबको पराजित कर गए। कारण यह था कि स्वार्थ, ईर्ष्या-द्वेष, दर्प और अन्याय के कारण एक वर्ग के लोग दूसरे वर्ग को गिराने का प्रयत्न करते थे और विदेशियों का स्वागत करते थे। सिकन्दर के आक्रमण से लेकर अंग्रेजों के आगमन तक हर बार यहाँ के चरित्रहीन लोगों ने स्वार्थवश विदेशियों को गले लगाया है। यह प्रवृत्ति आज भी वर्तमान है। पाकिस्तान और चीन के आक्रमणों के समय भारत के भीतर ही कुछ ऐसे लोग रहे हैं, जो शत्रुओं के प्रति सहानुभूति रखते रहे थे और यह आशा रखते थे कि उन शत्रुओं की विजय से हमारा लाभ होगा, शासनसत्ता पर हमारा अधिकार हो जायगा। संक्षेप में यही चारित्रिक संकट है। हमें हर समय सन्देह रहता है कि कहीं हमारे अपने भाई ही हमारे साथ विश्वासघात न करें। चारित्रिक कमजोरी के

कारण हम एक-दूसरे पर विश्वास नहीं करते जिससे राष्ट्रीय एकता पर आघात पहुँचता है।

शिक्षा की जिम्मेदारी

भारत में इस समय एक सुदृढ़ शासनसत्ता है। राज्य के हाथों में सेना और पुलिस की शक्ति है और यह बलपूर्वक सारे भारतवासियों को एक सूत्र में बाँध कर रख सकती है। यह विचार सर्वथा उचित नहीं है। एक तो शासनसूत्र राजनीतिज्ञों के हाथ में होता है और प्रजातंत्र में शासन दल बदलता रहता है। शासन प्रायः बल-प्रयोग से काम लेता है। इससे सारी जनता के हृदयों में वह परिवर्तन नहीं कर पाता यद्यपि उसके हाथ में प्रचार के असीम साधन हैं, जैसे फिल्म और रेडियो। प्राचीन काल में धर्म एकता का आधार था पर उसकी शक्ति क्षीण हो चुकी है। समाज-सेवी संस्थाओं का आश्चर्यजनक ह्रास आजादी के बाद हुआ है। इसका एक प्रमाण भारत सेवक-समाज जैसी संस्था और भूदान आन्दोलन हैं। सामान्य जनता में इनके प्रति बहुत कम आकर्षण है। ऐसी हालत में हमारा ध्यान शिक्षा की ओर जाता है क्योंकि शिक्षा की प्रक्रिया में करोड़ों लोग स्वेच्छा से लाभ उठाते हैं और उससे प्रभावित होते हैं। वर्तमान काल में शिक्षा को राष्ट्रीय एकता के उत्पन्न करने का उत्तम साधन बनाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में 'राष्ट्रीय एकता सम्मेलन' की रिपोर्ट में कुछ वाक्यों को उद्धरित करना उचित है —

"राष्ट्रीय एकता उत्पन्न करने में शिक्षा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण साधन है। चूँकि एकता की या राष्ट्रीय संगठन की समस्या मूलतः विभिन्न समूहों या समाज के बड़े अंगों के दृष्टिकोण से सम्बन्धित है और चूँकि अपने व्यापक अर्थों में शिक्षा को दृष्टिकोणों या अभिवृत्तियों (Attitudes) के बदलने या प्रभावित करने का शक्तिशाली साधन माना गया है इसलिए सम्मेलन के विचार से शिक्षा की प्रक्रिया और उसके शोधित रूप को जहाँ वह आवश्यक हो, प्रथम महत्त्व दिया जाना चाहिए।"

शिक्षा कहाँ तक राष्ट्रीय एकता में सहायक हो सकती है, इस सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए कांग्रेस के एक भूतपूर्व अध्यक्ष श्री ढेबर ने अपने एक लेख ('Process of National Integration', Careers and Courses, अप्रैल १९६८) में कहा है कि मनुष्य का मन अपने अतीत के सम्बन्ध को बनाए रखने के कारण छोटे-छोटे वृत्तों में कार्य करने का आदी हो गया है। चूँकि मनुष्य उन सीमित वृत्तों के संकुचित दायरे में घूमा करते हैं, वे व्यापकता और विशालता के एक अंग को ही देख पाते हैं। साथ ही उस छोटे वृत्त में भी व्यक्तिगत स्वार्थ का दृष्टिकोण प्रबल बन जाता है। दूसरी ओर प्रकृति सर्वव्यापक स्तर पर कार्य करती है और परिणाम यह होता है कि वे छोटे वृत्त इस व्यापक वृत्त के विरोधी बन जाते हैं। इस तथ्य का अर्थ यह है कि भारत में अनेक सामाजिक वर्ग हैं और उनका अपना अलग-अलग इतिहास है। हर वर्ग अपने इतिहास की याद रखकर अपने छोटे दायरे में रह जाता है और

आयोजन किया। इसमें इस समस्या के आर्थिक पहलू पर विचार किया गया और राजनीतिक दलों के लिए एक समान आचार संहिता (Code of Conduct) की आवश्यकता पर बल दिया गया। सन् १९६१ इस समस्या पर विचारों के आदान-प्रदान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस वर्ष ३१ मई से १ जून तक होने वाली राष्ट्रीय एकता समिति (National Integration Committee) की बैठक, ता० १० अगस्त से १२ अगस्त तक होने वाले मुख्य मन्त्रियों के सम्मेलन, अक्टूबर १९६१ में ही होने वाले भारतीय विश्वविद्यालयों के उपकुलपति-सम्मेलन तथा सितम्बर-अक्टूबर में होने वाले राष्ट्रीय एकता सम्मेलन (National Integration Conference) में इस महत्त्वपूर्ण समस्या पर विचार किया गया। इन सबमें विघटनकारी प्रवृत्तियों जैसे जातिवाद, सम्प्रदायवाद, धर्म, क्षेत्रीयता, भाषाई निष्ठा, अल्पसंख्यकों के भय तथा उचित शिकायतों पर विस्तार से विचार-विमर्श किया गया। इन सब आयोजनों के परिणामस्वरूप यह स्पष्ट हो चला कि राष्ट्रीय एकता उत्पन्न करने में शिक्षा को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करनी होगी। इन सभी समितियों और सम्मेलनों में जो शैक्षिक उपाय बताये गये, उनका उल्लेख हम नीचे कर रहे हैं

उपकुलपति सम्मेलन, अक्टूबर १९६१ में चर्चित शैक्षिक उपाय

१ अखिल भारतीय अभिवृत्ति तथा राष्ट्रीय दृष्टिकोण पैदा करने के लिए हर विश्वविद्यालय अपने यहाँ भारत के विभिन्न भागों के छात्रों के कुछ प्रतिशत को अवश्य प्रवेश दे और उन्हें छात्रावास में रहने की सुविधाएँ प्रदान करे।

२ नागरिकशास्त्र, सामाजिक अध्ययन, इतिहास और भाषा के विषयों को पढ़ाने के लिए ऐसी पाठ्य-पुस्तकें तैयार की जायँ जिनमें उदारतापूर्वक सारे देश की प्रवृत्तियों को स्थान मिले, यद्यपि ऐतिहासिक तथ्यों का बलिदान न किया जाय और एक प्रदेश को दूसरे प्रदेश से श्रेष्ठ समझने की प्रवृत्ति पैदा न हो। यह पुस्तकें प्राथमिक स्तर से लेकर उच्च स्तर तक पढ़ायी जायँ।

३ विश्वविद्यालयों को वास्तविक रूप से 'विश्व' भावना से परिपूर्ण होना चाहिए। भारतीय विश्वविद्यालयों के साम्प्रदायिक रूप को समाप्त किया जाय।

४ छात्र संघों को समाप्त कर दिया जाय। इससे छात्रों में फूट पैदा होती है। उनके स्थान पर वाद-विवाद तथा सांस्कृतिक कार्यों की समितियाँ चलायी जायँ।

५ दक्षिण भारत में केन्द्रीय विश्वविद्यालय खोले जायँ और इनमें योग्यता के आधार पर नियुक्तियाँ हों। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी हो या हिन्दी।

उसके अधिकार स्वार्थ बन आते हैं। उधर राष्ट्र का एक व्यापक-विस्तृत दायरा है परन्तु यह छोटे वर्ग अपने को उस दायरे से अलग रखते हैं। इसी से राष्ट्रीय एकता की समस्या पैदा होती है। श्री पेवर के मत में इन विरोधों और भिन्नताओं को दूर करने का एकमात्र उपाय शिक्षा ही हो सकती है जिसके माध्यम से मेल-जोल पर इन विरोधों का अन्त कर सकते हैं।

राष्ट्रीय एकता पर विचार प्रकट करते हुए श्री हुमायूँ कबीर ने शिक्षा की भूमिका के सम्बन्ध में लिखा है "भारतीय राष्ट्रीयता को कभी-कभी विनाशक ताकतों की चुनौती के आगे जो झुकना पड़ता है उसका कारण यह है कि हम कोई ऐसी बौद्धिक प्रणाली नहीं निकाल सके जिसमें विभिन्न विश्वास अपना उचित स्थान प्राप्त कर सकें। भारत के विश्वविद्यालयों को बौद्धिक आधार पर संस्कृतियों के संश्लेषण के लिए एक संयोजक अभिकर्ता का काम करना चाहिए। आज हमारे यहाँ भारत में पाए जाने वाले विभिन्न मतवादों के बौद्धिक तर्कीकरण का ही अभाव नहीं है, बल्कि एक राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली जैसी बुनियादी आवश्यकता का अभाव है। इसका अभाव ही इस बात का मुख्य कारण है कि बहुत से भारतीयों में आज भी प्रादेशिक, भाषाई या साम्प्रदायिक दृष्टिकोण नजर आता है।

इन सब बातों से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय एकता उत्पन्न करने की जिम्मेदारी मुख्य रूप से शिक्षा पर है क्योंकि यह शान्तिपूर्ण तथा मूक ढंग से उन विरोधों को समाप्त कर सकती है जिनका जिक्र इस अध्याय के पूर्व भाग में किया जा चुका है। शिक्षा के माध्यम से उत्तम नागरिक पैदा किये जा सकते हैं जो चारित्रिक दुर्बलताओं से ऊपर उठ कर राष्ट्र की सेवा में प्रवृत्त हो सकते हैं। ऐसे चरित्रवान् नागरिक स्वतः एक सूत्र में आबद्ध हो सकते हैं और एकोद्देश्यता का अनुभव कर सकते हैं। उनमें वर्तमान निःस्वार्थभाव, तटस्थता, निष्पक्षता और त्याग के गुण होंगे और उनके मन में भिन्नता-भय नहीं होगा, उनमें आक्रामक और शोषक प्रवृत्तियाँ नहीं होंगी और वे राष्ट्रीय चेतना के अखंड प्रवाह में अपने को निमज्जित कर देंगे। शिक्षा मनुष्य के मन का संस्कार करती है, उनमें वर्तमान क्षुद्रता को दूर करके उदारता, चिन्तन और सहिष्णुता के गुण पैदा करती है। इसलिए भारत में शिक्षा को राष्ट्रीय एकता की सुरक्षा का कवच बनाना आवश्यक है। यदि हमें प्राचीन भारत की समन्वयकारी प्रवृत्ति को पैदा करना है तो उसके लिए शिक्षा के अस्त्र का प्रयोग करना होगा। यह सब कैसे हो? इसके लिए बहुत से उपाय सुझाए गये हैं और योजनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। इनका संक्षिप्त विवरण नीचे प्रस्तुत है।

शिक्षा द्वारा राष्ट्रीय तथा भावनात्मक एकता की अभिवृद्धि

देश की राष्ट्रीय एकता के लिए शिक्षा महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकती है—इस तथ्य की अनुभूति आजादी के १० वर्षों बाद होने लगी। सन् १९५८ में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने 'राष्ट्रीय एकता' विषय पर एक उपनिषद (Seminar) का

आयोजन किया। इसमें इस समस्या के आर्थिक पहलू पर विचार किया गया और राजनीतिक दलों के लिए एक समान आचार संहिता (Code of Conduct) की आवश्यकता पर बल दिया गया। सन् १९६१ इस समस्या पर विचारों के आदान-प्रदान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस वर्ष ३१ मई से १ जून तक होने वाली राष्ट्रीय एकता समिति (National Integration Committee) की बैठक, ता० १० अगस्त से १२ अगस्त तक होने वाले मुख्य मन्त्रियों के सम्मेलन, अक्टूबर १९६१ में ही होने वाले भारतीय विश्वविद्यालयों के उपकुलपति-सम्मेलन तथा सितम्बर-अक्टूबर में होने वाले राष्ट्रीय एकता सम्मेलन (National Integration Conference) में इस महत्त्वपूर्ण समस्या पर विचार किया गया। इन सबमें विघटनकारी प्रवृत्तियों जैसे जातिवाद, सम्प्रदायवाद, धर्म, क्षेत्रीयता, भाषाई निष्ठा, अल्पसंख्यकों के भय तथा उचित शिकायतों पर विस्तार से विचार-विमर्श किया गया। इन सब आयोजनों के परिणामस्वरूप यह स्पष्ट हो चला कि राष्ट्रीय एकता उत्पन्न करने में शिक्षा को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करनी होगी। इन सभी समितियों और सम्मेलनों में जो शैक्षिक उपाय बताये गये, उनका उल्लेख हम नीचे कर रहे हैं

उपकुलपति सम्मेलन, अक्टूबर १९६१ में चर्चित शैक्षिक उपाय

१ अखिल भारतीय अभिवृत्ति तथा राष्ट्रीय दृष्टिकोण पैदा करने के लिए हर विश्वविद्यालय अपने यहाँ भारत के विभिन्न भागों के छात्रों के कुछ प्रतिशत को अवश्य प्रवेश दे और उन्हें छात्रावास में रहने की सुविधाएँ प्रदान करें।

२ नागरिकशास्त्र, सामाजिक अध्ययन, इतिहास और भाषा के विषयों को पढ़ाने के लिए ऐसी पाठ्य-पुस्तकें तैयार की जायँ जिनमें उदारतापूर्वक सारे देश की प्रवृत्तियों को स्थान मिले, यद्यपि ऐतिहासिक तथ्यों का बलिदान न किया जाय और एक प्रदेश को दूसरे प्रदेश से श्रेष्ठ समझने की प्रवृत्ति पैदा न हो। यह पुस्तकें प्राथमिक स्तर से लेकर उच्च स्तर तक पढ़ायी जायँ।

३ विश्वविद्यालयों को वास्तविक रूप में 'विश्व' भावना से परिपूर्ण होना चाहिए। भारतीय विश्वविद्यालयों के साम्प्रदायिक रूप को समाप्त किया जाय।

४ छात्र संघों को समाप्त कर दिया जाय। इससे छात्रों में फूट पैदा होती है। उनके स्थान पर वाद-विवाद तथा सांस्कृतिक कार्यों की समितियाँ चलायी जायँ।

५ दक्षिण भारत में केन्द्रीय विश्वविद्यालय खोले जायँ और इनमें योग्यता के आधार पर नियुक्तियाँ हों। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी हो या हिन्दी।

६. विश्वविद्यालयों को छात्रों में धार्मिक सहिष्णुता का गुण उत्पन्न करना चाहिए।

७ दक्षिण की भाषाओं के अध्ययन की व्यवस्था विश्वविद्यालयों में की जाय।

राष्ट्रीय एकता समिति द्वारा सुझाये गये उपाय

राज्य के शिक्षा मन्त्रियों का सम्मेलन इस समस्या पर विचार के लिए हुआ और उसने डा० सम्पूर्णानन्द की अध्यक्षता में राष्ट्रीय एकता समिति नियुक्त की। इस समिति ने राष्ट्रीय भावनात्मक एकता में शिक्षा के योगदान का निश्चय करने के लिए १००० लोगों को जिनमें विश्वविद्यालयों के उपकुलपति तथा विद्यालयों के प्रधानाचार्य शामिल थे, एक प्रश्नावली (Questionnaire) वितरित की। फिर उनका अध्ययन करके दिसम्बर १९६१ में अपना प्रतिवेदन शिक्षा मन्त्रालय को भेजा। उसमें निम्नलिखित सुझाव थे

१ राष्ट्रीय एकता को अज्ञानता से बढ़ावा मिलता है। इसलिए प्राथमिक शिक्षा की पूरी व्यवस्था की जाय। अनुसूचित और पिछड़ी जन-जातियों के लिए १० वर्ष तक शिक्षा की विशेष सुविधाएँ दी जायें। प्रति १० वर्ष बाद इस कार्य का मूल्यांकन करके सामाजिक तौर पर पिछड़े लोगों को विशेष सुविधा दी जाय।

२ शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश तथा छात्रवृत्तियों की व्यवस्था योग्यता के आधार पर हो, जाति, धर्म और सम्प्रदाय का विचार न किया जाय।

३ छात्रावासों में किसी एक वर्ग या जाति के लोग न रखे जायें और शिक्षा संस्थाओं के धार्मिक स्वरूप को बदल दिया जाय।

४ प्रवेश के लिए निर्धारित प्रार्थनापत्रों में 'जाति' और 'धर्म' के कॉलमों को निकाल दिया जाय।

५ हर राज्य में दूसरे राज्यों के छात्रों को बिना बाधा के प्रवेश दिया जाय। एक प्रदेश में जन्म तथा निवास की अवधि के विचार त्याग दिये जायें।

६. प्राथमिक शिक्षा के स्तर पर भाषाई अल्प-संख्यकों को उनकी मातृ-भाषा में शिक्षा दी जाय।

७ माध्यमिक शिक्षा आयोग द्वारा समर्थित त्रिभाषा सूत्र सर्वत्र लागू कर दिया जाय।

८ भारतीय भाषाओं पर शोध करने के लिए एक अखिल भारतीय शोध संस्थान स्थापित किया जाय जो सभी भाषाओं से शब्द लेकर हिन्दी की एक बुनियादी शब्द-सूची (Basic Hindi) पर शोध कार्य करे।

९. भाषा व सामाजिक अध्ययन पर विशेषज्ञों द्वारा पुस्तक लिखायी जायें।

१०. वर्ष में दो बार शिक्षा संस्थाओं के प्रधानों को छात्रों तथा अध्यापकों को एकत्र करके निम्नलिखित प्रतिज्ञा करवानी चाहिए

"भारत मेरा देश है। सभी भारतीय मेरे भाई और बहिन हैं। मैं अपने देश से प्रेम करता हूँ और मुझे इसकी सम्पन्न तथा विविधतापूर्ण संस्कृति पर गर्व है। मैं सदा देश के योग्य बनने का प्रयत्न करता रहूँगा। मैं अपने माता-पिता, अध्यापकों तथा सभी गुरुजनों का सम्मान दूँगा और हर एक के साथ शिष्ट व्यवहार करूँगा। मैं पशुओं पर दया करूँगा। अपने देश और राष्ट्रवासियों के लिए मैं अपनी पूर्ण निष्ठा रखने की प्रतिज्ञा करता हूँ। उनके सुख और उन्नति में ही मेरा सुख है।"

११ प्रतिदिन शिक्षा संस्था का कार्य अध्यापकों, छात्रों और प्रधानाचार्य के सामूहिक एकत्र होने से आरम्भ हो। इस सभा में प्रधानाध्यापक मुख्य महापुरुषों के जीवन और कार्यों के सम्बन्ध में चर्चा करे और सभा का अन्त राष्ट्रगान से हो। राष्ट्रीय झण्डे और गीत की कहानी से सबको परिचित कराया जाय।

१२. छात्रों के लिए एक वस्त्र-विन्यास (Uniform), सांस्कृतिक कार्यक्रमों, जैसे इतिहास के उत्तम अंशों पर आधारित नाटकों की व्यवस्था की जाय।

१३ इतिहास और भूगोल को अध्ययन का अनिवार्य विषय बना दिया जाय और इन पर लिखी पुस्तकों का उद्देश्य राष्ट्रीय एकता उत्पन्न करना हो।

१४ हाईस्कूल तथा इण्टर के छात्रों के लिए जो हर राज्य के हों, एक ऐसा पुरस्कार रखा जाय जो उस छात्र को प्रदान किया जाय जो अपने राज्य के अतिरिक्त अन्य राज्य की संस्कृति पर सर्वश्रेष्ठ निबन्ध लिखे। इसका विषय किसी राज्य के लोगों की विशेषताएँ, अथवा योजना, सामाजिक प्रथा आदि हो।

इस समिति ने राष्ट्रीय संघटन (National Integration) शब्द को अनुपयुक्त बताया।

राष्ट्रीय एकता सम्मेलन

स्व० प्रधानमन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू के आमन्त्रण पर २८ सितम्बर से १ अक्टूबर तक दिल्ली स्थित विज्ञान-भवन में इस सम्मेलन का आयोजन हुआ। १५३ प्रमुख शिक्षाविदों, विद्वानों, राजनीतिज्ञों और नागरिकों को बुलाया गया। जिसमें से केवल १३० उपस्थित हो सके। इसका उद्घाटन करते हुए उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् ने कहा—

"राष्ट्रीय एकता को ईंट और पत्थर, आरी और हथौड़े से नहीं तैयार किया

हो पर यदि अन्तरराष्ट्रीय शब्दावली स्वीकार कर ली जाय तो माध्यम को शीघ्र बदल दिया जाय।

९ शिक्षा को समवर्ती (Concurrent) सूची में शामिल कर दिया जाय अर्थात् शिक्षा पर केन्द्र तथा राज्यों का समान अधिकार रहे। साथ ही अखिल भारतीय शिक्षा-सेवा लागू कर दी जाय।

१० एक राज्य के विश्वविद्यालय दूसरे राज्य के छात्रों को प्रवेश दें और उन्हें छात्रवृत्तियाँ प्रदान करें।

११ शिक्षा की उत्तमता, अनुशासन, सहिष्णुता, उत्तरदायित्व की भावना तथा कर्तव्यबोध का विकास करने के लिए शिक्षा का पुनर्गठन और रूप-परिवर्तन किया जाय। "शिक्षा को राष्ट्रीय भावना, राष्ट्र का अंग होने का भाव विकसित करना चाहिए ताकि हमारे नवयुवक उत्तम नागरिक बन सकें। पेशेवर तथा विद्वत्तापूर्ण शिक्षा का समन्वय केवल एक उद्देश्य के लिए— भारतीयता का भाव उत्पन्न करने के लिए हो।"

१२. हर रोज विद्यालयों का कार्य राष्ट्रगान के साथ प्रारम्भ हो।

राष्ट्रीय एकता सम्मेलन ने एक महत्त्वपूर्ण बात पर गौर किया जिसका उल्लेख आवश्यक है। उसने यह बताया कि अकेले शिक्षा राष्ट्रीय एकता के गम्भीर दायित्व को नहीं सँभाल सकती। शिक्षा की सफलता के लिए राजनीति और अर्थनीति का सहयोग मिलना चाहिए। इसलिए सम्मेलन में राजनीतिक दलों के लिए समान आचार संहिता बनाने, उसका पालन करने तथा उसके निरन्तर विकास करने पर जोर दिया गया। साथ ही आर्थिक दृष्टि से सभी राज्यों के समान विकास की आवश्यकता भी बतायी गयी। राष्ट्रीय एकता पर अधिक गहराई से विचार करने के लिए एक राष्ट्रीय एकता कौंसिल नियुक्त कर दी गई जिसके सदस्य प्रधानमन्त्री, गृहमन्त्री, सभी राज्यों के मुख्यमन्त्री, राजनीतिक दलों के सात नेता, कांग्रेस महासभा द्वारा नियुक्त राष्ट्रीय एकता समिति की अध्यक्षा श्रीमती गांधी, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष, दो शिक्षाविद्, भाषाई अल्प-संख्यकों के आयुक्त आदि थे।

कुछ विद्वज्जनों के विचार

(१) श्री हुमायूँ कबीर ने राष्ट्रीय एकता उत्पन्न करने के लिए स्कूलों में चलने वाले पाठ्यक्रम में सुधार को आवश्यक बताया है। उनके मत में यह पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए जो वर्गीय भेदों का उन्मूलन करे, जैसे स्कैंडिनेविया में विभिन्न जातियों का समन्वय सम्भव हुआ है। भारतीय भाषाओं के बीच आदान-प्रदान करने के लिए अनुवादों को लोकप्रिय बनाया जाय। फिल्मों के जरिए विभिन्न राज्यों की संस्कृतियों के विनिमय को सम्भव बनाया जाय। संग्रहालयों का उपयोग इस कार्य के लिए किया जाय। श्री कबीर का कहना है कि देश के औद्योगिक विकास में अनेक सुअवसर पैदा हुए हैं परन्तु कुछ वर्ग शिक्षा के अभाव में उन अवसरों से लाभ नहीं

द्वारा भरा इतिहास लिखा। इसकी दो विशेषताएँ हैं—एक यह कि मुसलमान हिन्दुओं पर अत्याचार करते रहे और एक हजार वर्ष तक हिन्दू इसका प्रतिरोध करते रहे। दूसरे, उत्तर के सभी सम्राटों ने दक्षिण पर अपना साम्राज्यवादी अधिकार स्थापित करने की चेष्टा की। वास्तव में यह दृष्टिकोण अनुचित है। श्री हुमायूँ कबीर ने स्पष्ट कहा है कि मुसलमान शासकों में परस्पर कहीं अधिक युद्ध हुए हैं, हिन्दुओं से उनका इतना संघर्ष नहीं रहा। इसी प्रकार कई प्रसंगों में मुसलमानों ने हिन्दुओं के साथ मिलकर मुसलमानों के साथ संघर्ष किया है। उदाहरण के लिए, हुमायूँ ने राजपूतों की सहायता मालवा के मुसलमान शासक के विरुद्ध की या स्वयं मोहम्मद गौरी के भाई ने राजपूतों का साथ दिया था। अंग्रेजों द्वारा लिखे गये इतिहास में जान-बूझकर ऐसे तथ्यों की अवहेलना की गयी है ताकि हिन्दू-मुसलमानों में एकता का भाव पैदा न हो।

(३) प्रो० हबीब ने राष्ट्रीय एकता के लिए भारतीय इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता बतायी है। अध्यापकों को छात्रों के समक्ष राष्ट्रीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करना चाहिए। इस सदर्भ में अशोक और अकबर जैसे सम्राटों की महत्ता स्पष्ट करना आवश्यक है। साहित्य, धर्म और संस्कृति में वर्तमान समन्वय की प्रवृत्तियों को उभार कर लाना चाहिए। इतिहास में औरंगजेब और शिवाजी के चरित्रों को साम्प्रदायिकता के रंग में रँगकर प्रस्तुत करके उनके उद्देश्यों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। इसी प्रकार इतिहास में देश की कहानी के रूप में सभी प्रदेशों की महानता के सूत्रों को उपस्थित करके छात्रों के मन में सारे राष्ट्र के प्रति प्रेम पैदा करना चाहिए।

भारतीय शिक्षा आयोग

डा० दौलतसिंह कोठारी की अध्यक्षता में नियुक्त भारतीय शिक्षा आयोग ने राष्ट्रीय तथा भावनात्मक एकता को पर्याप्त महत्त्व दिया है। उसके द्वारा १९६६ में प्रस्तुत प्रतिवेदन में बताया गया है कि देश को शक्तिशाली बनाने तथा उसके सर्वाङ्गीण विकास के लिए भारत की एकता अत्यन्त आवश्यक है। इस कार्य में शिक्षा सहायक हो सकती है।

राष्ट्रीय एकता के कई तत्त्व हैं जो आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक हैं और एकता का भाव उत्पन्न करने के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं

(क) राष्ट्र के भविष्य में विश्वास।

(ख) सामान्य जनता के जीवन-स्तर में उठान, बेरोजगारी में कमी और देश के सभी भागों के विकास में असमानता में कमी ताकि हर एक को यह अनुभव हो कि राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक मामलों में हमें समान अवसर प्राप्त हो रहा है।

(ग) [illegible]
[illegible] विकास।

(घ) विभिन्न वर्गों के [illegible] और [illegible]
और [illegible] की भावना।

राष्ट्रीय एकता के लिए यह आवश्यक है कि [illegible] सुविधा [illegible] (Loyalty) का [illegible] किया जाए [illegible] है।

[illegible] आयोग ने निम्नलिखित [illegible]

(१) समान विद्यालय प्रणाली — आयोग ने यह [illegible] किया कि भारत में [illegible] शिक्षा की [illegible] भाग [illegible] किया। अभी स्थिति यह है कि प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च सभी शिक्षा स्तरों पर विभिन्न प्रकार के स्कूल और शिक्षा संस्थान हैं। उदाहरण के लिए, सरकार द्वारा चलाए [illegible] प्राथमिक और माध्यमिक स्कूल, निजी विद्यालय [illegible] और पब्लिक तथा मिशनरी स्कूल जिनमें उत्तम वातावरण और विशेष सुविधाएँ मिलती हैं। इन विभिन्न प्रकार के स्कूलों के कारण समाज कई वर्गों में बँट गया है जो राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से हानिकारक है।

इस सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए आयोग ने एक सामान्य स्कूल (Common School) की कल्पना की है। इस स्कूल में जाति, धर्म, सम्प्रदाय और आर्थिक स्तर का भेद-भाव किये बगैर हर भारतीय के बच्चे पढ़ सकेंगे। इस स्कूल में शिक्षण की उत्तमता का पूरा ध्यान रखा जायगा ताकि किसी को विशेष प्रकार के स्कूल में जाने की आवश्यकता न रह जाय। शुल्क की मात्रा गरीबों के रास्ते में बाधक न होगी और इनमें प्रवेश योग्यता के आधार पर मिलेगा। इनमें नि:शुल्क शिक्षा होगी और सभी की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सकेगी। जब सब बच्चे एक प्रकार के स्कूल में पढ़ेंगे, तो परिणाम यह होगा कि उनमें पारस्परिक सहानुभूति बढ़ेगी और राष्ट्रीय एकता में आगे चलकर अभिवृद्धि होगी।

(२) सामाजिक तथा राष्ट्रीय सेवाएँ — हमारी शिक्षा पद्धति में एक दोष यह है कि उच्चवर्गीय और बुद्धिवादी वर्गों के बालक निर्धन वर्गों से अलग हट कर पढ़ते हैं। सम्पर्क के अभाव में वे निम्नस्तरीय बालकों से घृणा करने लगते हैं या अपने को भिन्न समझने हैं। गांधीजी ने इस कमी को समझा और उन्होंने 'हरिजन' पत्र के कई लेखों में छात्रों से यह अनुरोध किया था कि वे बड़ी तथा लम्बी छुट्टियों में

'समाज-सेवा' का कार्य करें। आजादी के बाद उल्टा प्रवाह बहने लगा और बुद्धिवादी वर्ग पुनः सेवा कार्य से विरत हो रहा है। इस प्रवृत्ति को रोकना चाहिए।

छात्रों में सेवा की भावना बढ़ाने के लिए शिक्षाविदों का ध्यान कुछ सेवाओं की ओर गया जिन्हें शिक्षा का अंग बनाने का निश्चय हुआ। यह सेवाएँ दो प्रकार की हो सकती हैं, एक वे जो कभी-कभी एक वर्ष में और केवल दिन के कुछ भाग में चलायी जा सकती हैं और दूसरी वे हैं जो समस्त शिक्षाक्रम में व्याप्त हों और निरन्तर चलती रहें। इस विषय पर सर्वप्रथम श्री सी० डी० देशमुख की अध्यक्षता में नियुक्त एक राष्ट्रीय सेवा समिति (National Service Committee) ने विचार किया। विश्वविद्यालय में अथवा नौकरी या व्यवसाय में प्रवेश करने के पहले हर छात्र के लिए लगभग १ वर्ष का सेवा-कार्यक्रम तैयार किया गया परन्तु यह लोकप्रिय न हो सका। बाद में एन० सी० सी० का विचार आया। शिक्षा-मन्त्रालय ने विभिन्न देशों जैसे युगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया, जर्मनी, जापान, संयुक्त राज्य अमरीका, इंगलैंड, स्वीडन तथा नार्वे में प्रचलित छात्रों की सेवाओं का अध्ययन किया और एक रिपोर्ट (National Service for Youth) प्रकाशित की। इस रिपोर्ट में यह कहा गया कि यह सेवाएँ ऐच्छिक हों और विविध प्रकार की हों। इन सेवाओं को सार पाठ्यक्रम माध्यमिक तथा उच्च स्तर पर जारी रखने की संस्तुति थी।

इन राष्ट्रीय सेवाओं के कई रूप हैं, जैसे छात्रों को एक साथ छात्रावासों या कैंप में रहकर सारे काम करना (जापान की भाँति)। इससे सामाजिक जीवन बिताने का अभ्यास होगा। दूसरी सेवा सामुदायिक विकास में भाग लेने की हो सकती है। प्रतिवर्ष १० दिन गाँवों में जाकर ग्रामीणों से सम्पर्क, श्रम कार्य, समाज-सेवा आदि इसके अंग होंगे। एन० सी० सी० सभी छात्रों के लिए एक सेवा के रूप में होगी ताकि युद्ध का काम केवल एक विशेष वर्ग तक ही न सीमित रहे।

इन सेवाओं से छात्रों में अहं का भाव नष्ट होगा और वे सारे देश को अपना देश समझेंगे। सामाजिक अलगाव दूर होगा। इससे राष्ट्रीय एकता का भाव पुष्ट होगा। शिक्षा आयोग ने इन सेवाओं को इसीलिए आवश्यक बताया।

(२) भाषा नीति का विकास – भारत में भाषा का प्रश्न अत्यन्त भावात्मक बन गया है। कई बार भाषाई दंगे हो चुके हैं। अभी तक यह नहीं तय हो पाया कि शिक्षा में भाषाओं की पढ़ाई की क्या व्यवस्था हो। इससे राष्ट्र में फूट उत्पन्न हो रही है। भाषा का प्रश्न राजनीति के साथ उलझ गया है। अतः शिक्षा आयोग ने भाषा नीति स्थिर करने का प्रयत्न किया है। इस नीति के मुख्य अंग यह हैं (क) वर्तमान भारतीय भाषाओं का समान विकास किया जाय ताकि प्राविधिक तथा औद्योगिक ज्ञान हर एक को समान रूप से प्राप्त हो सके। शिक्षा का माध्यम हर स्तर पर मातृभाषा हो जैसा कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा महात्मा गांधी ने कहा था। अंग्रेजी के माध्यम से एक वर्ग बन गया है जो सामान्य जनता से अलग रहता है और

१३ भारत में कुछ ऐसी सामयिक घटनाएँ हो रही हैं जो एकता को नष्ट करने वाली है, जैसे भाषाई विवाद, क्षेत्रीय विवाद और साम्प्रदायिक भेद आदि। अध्यापक को इन विवादों का बौद्धिक विश्लेषण करके, इनसे सम्बन्धित उभरी तथा उत्तेजित भावना को कम करना चाहिए।

१४. विद्यालय-भवन तथा कक्षों को ऐसे चित्रों से सजाया जाय, जो देश के गौरव का भाव जगाती हों। विभिन्न राज्यों के महापुरुषों के चित्र तथा वहाँ होने वाले विकास कार्यों के चित्र लगाना उपयोगी रहेगा।

१५. शिक्षण की व्यक्तिवादी पद्धति के स्थान पर सामूहिक शिक्षण का प्रयोग किया जाय, जैसे छोटे-छोटे समूहों में बैठकर छात्रों द्वारा विचार-विमर्श और विचारों का आदान-प्रदान, गोष्ठियाँ, कर्मशाला और उपनिषद् आदि।

राज्य का दायित्व

कुछ कार्य ऐसे हैं, जिन्हें सरकार शिक्षा के क्षेत्र में कर सकती है और जो राष्ट्रीय एकता के मार्ग में सहायता पहुँचा सकते है। इन्हे निजी संस्थाओं पर छोड़ना उचित नही है। उदाहरण के लिए, हमारे देश में अनेक साम्प्रदायिक विद्यालय हैं, इनके स्वरूप तथा वातावरण को बदलना सरकार की जिम्मेदारी है। सारे देश में शिक्षा की एक-समान प्रणाली चलनी चाहिए। भारतीय शिक्षा-आयोग की संस्तुति जो सामान्य विद्यालय के सम्बन्ध में दी गयी है, अविलम्ब स्वीकार की जाय। सारे देश में अध्यापकों के वेतन-क्रम एक-समान हों। जब तक वेतन के आधार पर अध्यापकों में जाति प्रथा चलती है, उनमें राष्ट्रीय भावना नही पैदा होगी और इसका प्रभाव छात्रों पर पड़ता रहेगा। एक-समान देशव्यापी शिक्षण-स्तर रखने के लिए पाठ्यक्रम का भी पुनर्गठन करना आवश्यक है। छात्रों के लिए एक ही पोशाक हो और हर विद्यालय में राष्ट्रीय झंडे, राष्ट्रगान और संविधान के प्रति नतमस्तक होना हर छात्र का अनिवार्य कर्तव्य माना जाय। सारे देश के लिए सरकार एक अखिल भारतीय शिक्षा सेवा (All India Educational Service) चलायी जाय। खेद है कि सरकार उसी प्रकार दृढ़ता से काम नही ले रही है, जैसे भाषा-विवाद के सम्बन्ध में हुआ है। सरकार की दृढ़ता की कमी से भी एकता की समस्या पैदा हुई है।

राज्य के शिक्षा विभागों में बड़े दोष हैं। यहाँ के अधिकारी और कर्मचारी वर्ग में फाइलों में उलझे रहने और मिथ्याचरण की आदतें पड़ गयी हैं। बहुत-सी उत्तम योजनाओं को चलाने में वे असमर्थ रहते हैं क्योंकि उनमें नेतृत्व के गुणों का सर्वथा अभाव होता है। वे अध्यापकों के प्रति 'नौकरों' जैसा व्यवहार करते है और

१३ भारत में कुछ ऐसी सामयिक घटनाएँ हो रही हैं जो एकता को नष्ट करने वाली है, जैसे भाषाई विवाद, क्षेत्रीय विवाद और साम्प्रदायिक भेद आदि। अध्यापक को इन विवादों का बौद्धिक विश्लेपण करके, इनमें सम्बन्धित उभरी तथा उत्तेजित भावना को कम करना चाहिए।

१४. विद्यालय-भवन तथा कक्षों को ऐसे चित्रों से सजाया जाय, जो देश के गौरव का भाव जगाती हों। विभिन्न राज्यों के महापुरुषों के चित्र तथा वहाँ होने वाले विकास कार्यों के चित्र लगाना उपयोगी रहेगा।

१५ शिक्षण की व्यक्तिवादी पद्धति के स्थान पर सामूहिक शिक्षण का प्रयोग किया जाय, जैसे छोटे-छोटे समूहों में बैठकर छात्रों द्वारा विचार-विमर्श और विचारों का आदान-प्रदान, गोष्ठियाँ, कर्मशाला और उपनिषद् आदि।

राज्य का दायित्व

कुछ कार्य ऐसे हैं, जिन्हें सरकार शिक्षा के क्षेत्र में कर सकती है और जो राष्ट्रीय एकता के मार्ग में सहायता पहुँचा सकते हैं। इन्हें निजी संस्थाओं पर छोड़ना उचित नहीं है। उदाहरण के लिए, हमारे देश में अनेक साम्प्रदायिक विद्यालय हैं, इनके स्वरूप तथा वातावरण को बदलना सरकार की जिम्मेदारी है। सारे देश में शिक्षा की एक-समान प्रणाली चलनी चाहिए। भारतीय शिक्षा-आयोग की संस्तुति जो सामान्य विद्यालय के सम्बन्ध में दी गयी है, अविलम्ब स्वीकार की जाय। सारे देश में अध्यापकों के वेतन-क्रम एक-समान हों। जब तक वेतन के आधार पर अध्यापकों में जाति प्रथा चलती है, उनमें राष्ट्रीय भावना नहीं पैदा होगी और इसका प्रभाव छात्रों पर पड़ता रहेगा। एक-समान देशव्यापी शिक्षण-स्तर रखने के लिए पाठ्यक्रम का भी पुनर्संगठन करना आवश्यक है। छात्रों के लिए एक ही पोशाक हो और हर विद्यालय में राष्ट्रीय झंडे, राष्ट्रगान और संविधान के प्रति नतमस्तक होना हर छात्र का अनिवार्य कर्तव्य माना जाय। सारे देश के लिए सरकार एक अखिल भारतीय शिक्षा सेवा (All India Educational Service) चलायी जाय। खेद है कि सरकार उसी प्रकार दृढ़ता से काम नहीं ले रही है, जैसे भाषा-विवाद के सम्बन्ध में हुआ है। सरकार की दृढ़ता की कमी से भी एकता की समस्या पैदा हुई है।

राज्य के शिक्षा विभागों में बड़े दोष हैं। यहाँ के अधिकारी और कर्मचारी वर्ग में फाइलों में उलझे रहने और मिथ्याचरण की आदतें पड़ गयी हैं। बहुत-सी उत्तम योजनाओं को चलाने में वे असमर्थ रहते हैं क्योंकि उनमें नेतृत्व के गुणों का सर्वथा अभाव होता है। वे अध्यापकों के प्रति 'नौकरों' जैसा व्यवहार करते हैं और

Suggest some positive educational programmes to strengthen them and to ward off the tendencies which come in the way of their development (1962)

2 Was India one ?
Is India one ?
Shall India be one ?
What do you mean by India ?

Give reasons for your belief and show what you can do as a teacher to serve India in the best possible way by shaping the patriotic sentiments of your students (1963)

3 Is there a 'crisis of character' today in India ? Support your view with reasons and suggest educational measures to remedy the evil if it exists. (1964)

मे लगाई है, उसके अनुकूल यहाँ की सास्कृतिक भूमि ठहरती नही। इसी से इस प्रणाली ने एक व्यापक असतोष को जन्म दिया है जिसके कुछ लक्षण गत २० वर्षों मे होने वाले छात्र-आन्दोलन और भाषाई विवाद मे देखने को मिलते हैं। यदि इन समस्याओ को हल करना है तो वर्तमान भारतीय शिक्षा-प्रणाली के मूल को बल पहुँचाने वाली पाश्चात्य शैक्षिक विचारधाराओं को अच्छी तरह समझना होगा। उन विचारो को राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली के सदर्भ मे, जिसकी बात हम कर रहे हैं, जाँचना होगा। यह इसलिए आवश्यक है कि भारतीय संस्कृति की धारा मे यह पाश्चात्य शिक्षा परम्परा घुल-मिल नही पा रही है। यही शिक्षा के क्षेत्र मे बेचैनी का कारण है।

पाश्चात्य शैक्षिक विचारधारा की निरन्तरता

बहुत प्राचीन काल मे पश्चिम मे शैक्षिक चिन्तन का क्रम चलता आया है। यूनानी सभ्यता के दौर मे स्पार्टा और एथेन्स के नगर-राज्यो मे नवयुवको की शिक्षा को व्यावहारिक बनाने का प्रयत्न हुआ। वह परम्परा वर्तमान काल मे इटली, जर्मनी और जापान के तानाशाहो ने फिर मे जिन्दा की जिसके फलस्वरूप विश्वयुद्ध हुए। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिकों—सुकरात, प्लेटो और अरस्तू—ने ज्ञान-विज्ञान प्रधान शिक्षा को समाज की स्थिरता के लिए आवश्यक बनाया और उसकी स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत की। रोमन काल मे शैक्षिक चिन्तन की विचार-प्रधान परम्परा लुप्त हो गयी परन्तु ईसाई धर्म प्रचारको ने शिक्षा की अमूल्य शक्ति का उपयोग धर्म-प्रचार के लिए किया। फिर भी शिक्षा का चिन्तन करने वाले स्वतन्त्र रूप से भी अपने विचार प्रस्तुत करते रहे जिनमे ऐन्सेल्म, अबेलार्ड, मेंगनस, ऐक्वीनास आदि प्रमुख हैं।

ज्ञान के पुनरोदय से यूरोप मे शिक्षा के चिन्तन मे नया मोड आया। मानवतावाद का व्यापक प्रभाव शिक्षा पर पड़ा। इसमे उदार तथा साहित्य प्रधान शिक्षा की विचारधारा पनपी जिसके आधार-स्तभ हैं, इरास्मस, रोजर ऐशम, इलियट आदि। ज्ञान के पुनरोदय मे ईसाई धर्म सुधारवादी आन्दोलन के धक्के खाकर बड़ी उथल-पुथल के दौर से गुज़रने लगा। ... विशेषता

रखता है। यूथर ... पर ज़ोर

दिया। ... ने शिक्षा मे

व्यवह ... कट किये।

... उदय हुआ जब

... मुख्य रूप से

... भ्रान्त ही है।

... और हेवी

... ज्ञानेन्द्रिय-

'प्रकृति की ओर वापसी' एक अद्भुत विचार है और इसे समझने में प्रायः भ्रम हो जाता है। बहुत से लोग यह समझ बैठते हैं कि रूसो समाज-विरोधी था और वह मनुष्य की उस दशा को पसंद करता था जिसमें वह नंगा और भूखा, पशुओं की भाँति जंगलों और घाटियों में मारा-मारा घूमा करता था। ऐसी बात नहीं है। इतना मूर्ख न था कि वह मनुष्य को सामाजिक प्राणी न मानता हो। वह केवल उस 'समाज' का विरोधी था, जिसे उसने पेरिस में देखा था और जिसमें मिथ्या *आडम्बर, क्रूरता, शोषण, अनाचार और स्वार्थपरता के अवगुण थे।* उसका स्पष्ट मत था कि अच्छी शिक्षा में ऐसा समाज बाधक है क्योंकि ऐसे सामाजिक परिवेश में मनुष्य 'मनुष्य' नहीं बन सकता। *ऐसे समाज में रहने से बेहतर यह है कि पहाड़ों,* जंगलों और नदियों के मुक्त वातावरण में बच्चों को छोड़ दिया जाय ताकि उनके भीतर वर्तमान नैसर्गिक तत्त्व नष्ट न हो।

रूसो ने लिखा है कि आदर्श शिक्षा तब हो सकती है जब मनुष्य, प्रकृति और विभिन्न वस्तुओं के सामंजस्य की स्थिति के बीच रहे। इसका तात्पर्य यह है कि जब मनुष्य की सहज शक्तियों, सामाजिक और प्राकृतिक वातावरण के बीच ताल-मेल होता है तो शिक्षा उत्तम प्रभाव उत्पन्न करती है, परन्तु दुर्भाग्य से मनुष्य की सहज शक्तियों और सामाजिक वातावरण में विरोध होता है और समाज मनुष्य की प्रकृत शक्ति को नष्ट करने का प्रयास करता है। इसलिए रूसो को विवश होकर 'प्रकृति की ओर वापसी' का निर्णय लेना पड़ा। यदि समाज मनुष्य का विरोध करे, तो 'समाज' को नष्ट होना चाहिए। हाँ, यदि प्रकृत समाज हो अर्थात् समाज उन्हीं नियमों के अनुसार *चले जो प्रकृति में चलते हैं, तो ऐसा समाज शिक्षा की दृष्टि से उपयोगी है,* शहरी समाज ऐसा होता नहीं है ?

'प्रकृति की ओर वापसी' के सूत्र का एक दूसरा अर्थ भी है। प्रकृति अर्थात् मानव प्रकृति का शिक्षा में ध्यान रखा जाय। मानव प्रकृति सहज रूप से भावना-प्रधान है। इसलिए बालकों की भावना को शिक्षा के माध्यम से उल्लसित करना चाहिए, बुद्धिवादी और तार्किक होना एक बनावटीपन है। दुर्भाग्य से शिक्षा में बुद्धि-वाद की प्रधानता है। रूसो बुद्धिवाद की कृत्रिमता से शिक्षा को मुक्त रखने का समर्थन करता है। मनुष्य की प्रकृति उसकी मूल प्रवृत्तियों और आवश्यकताओं के मिश्रण से बनी है परन्तु रूसो ने देखा कि बच्चों की मूल प्रवृत्तियों और सहज आवश्यकताओं की अवहेलना शिक्षा में होती है। 'प्रकृति की ओर वापसी' का तात्पर्य यही है कि बच्चों की सहज आवश्यकताओं की पूर्ति शिक्षा के माध्यम से की जाय और उनका दमन न करके उन्हें प्रस्फुटित होने दिया जाय।

रूसो के इस विचार के प्रति बहुत से लोग आकृष्ट हो गए। अंग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ ने तो स्वयं शहरी जीवन से हट कर झीलों के प्रदेश में जाकर रहना प्रारम्भ कर दिया। उसने अपनी कविताओं जैसे 'माइकेल' में शहरी जीवन की भ्रष्टता और

'प्रकृति की ओर वापसी' एक अद्भुत विचार है और इसे समझने में प्रायः भ्रम हो जाता है। बहुत से लोग यह समझ बैठते हैं कि रूसो समाज-विरोधी था और वह मनुष्य की उस दशा को पसंद करता था जिसमें वह नंगा और भूखा, पशुओं की भाँति जंगलों और घाटियों में मारा-मारा घूमा करता था। ऐसी बात नहीं है। इतना मूर्ख वह था कि वह मनुष्य को सामाजिक प्राणी न मानता हो। वह केवल उस 'समाज' का विरोधी था, जिसे उसने पेरिस में देखा था और जिसमें मिथ्या आडम्बर, क्रूरता, शोषण, अनाचार और स्वार्थपरता के अवगुण थे। उसका स्पष्ट मत था कि अच्छी शिक्षा में ऐसा समाज बाधक है क्योंकि ऐसे सामाजिक परिवेश में मनुष्य 'मनुष्य' नहीं बन सकता। ऐसे समाज में रहने से बेहतर यह है कि पहाड़ों, जंगलों और नदियों के मूक वातावरण में बच्चों को छोड़ दिया जाय ताकि उनके भीतर वर्तमान नैसर्गिक तत्त्व नष्ट न हों।

रूसो ने लिखा है कि आदर्श शिक्षा तब हो सकती है जब मनुष्य, प्रकृति और विभिन्न वस्तुओं के सामञ्जस्य की स्थिति के बीच रहे। इसका तात्पर्य यह है कि जब मनुष्य की सहज शक्तियों, सामाजिक और प्राकृतिक वातावरण के बीच ताल-मेल होता है तो शिक्षा उत्तम प्रभाव उत्पन्न करती है, परन्तु दुर्भाग्य से मनुष्य की सहज शक्तियों और सामाजिक वातावरण में विरोध होता है और समाज मनुष्य की प्रकृत शक्ति को नष्ट करने का प्रयास करता है। इसलिए रूसो को विवश होकर 'प्रकृति की ओर वापसी' का निर्णय लेना पड़ा। यदि समाज मनुष्य का विरोध करे, तो 'समाज' को नष्ट होना चाहिए। हाँ, यदि प्रकृत समाज हो अर्थात् समाज उन्हीं नियमों के अनुसार चले जो प्रकृति में चलते हैं, तो ऐसा समाज शिक्षा की दृष्टि से उपयोगी है, शहरी समाज ऐसा होता कहाँ है ?

'प्रकृति की ओर वापसी' के सूत्र का एक दूसरा अर्थ भी है। प्रकृति अर्थात् मानव प्रकृति का शिक्षा में ध्यान रखा जाय। मानव प्रकृति सहज रूप से भावना-प्रधान है। इसलिए बालकों की भावना को शिक्षा के माध्यम से उल्लसित करना चाहिए, बुद्धिवादी और तार्किक होना एक बनावटीपन है। दुर्भाग्य से शिक्षा में बुद्धि-वाद की प्रधानता है। रूसो बुद्धिवाद की कृत्रिमता से शिक्षा को मुक्त रखने का समर्थन करता है। मनुष्य की प्रकृति उसकी मूल प्रवृत्तियों और आवश्यकताओं के मिश्रण से बनी है परन्तु रूसो ने देखा कि बच्चों की मूल प्रवृत्तियों और सहज आवश्यकताओं की अवहेलना शिक्षा में होती है। 'प्रकृति की ओर वापसी' का तात्पर्य यही है कि बच्चों की सहज आवश्यकताओं की पूर्ति शिक्षा के माध्यम से की जाय और उनका दमन न करके उन्हें प्रस्फुटित होने दिया जाय।

रूसो के इस विचार के प्रति बहुत से लोग आकृष्ट हो गए। अंग्रेजी कवि वर्ड्सवर्थ ने तो स्वयं शहरी जीवन से हट कर झीलों के प्रदेश में जाकर रहना प्रारम्भ कर दिया। उसने अपनी कविताओं जैसे 'माइकेल' में शहरी जीवन की भ्रष्टता और

कि बच्चो के विकास के सोपानों के अनुकूल शिक्षा दी जानी चाहिए। जन्म से लेकर वयस्कावस्था तक पहुँचने के क्रम को रूसो ने चार मुख्य सोपानो में बाँटा है। वे हैं—शैशवकाल, बाल्यकाल, बाल्यांत्तरकाल और किशोरकाल। इन सोपानो पर चढ़ते हुए बालक का जैसा विकास होता है, उस विकास की प्रकृति के अनुसार शिक्षा देने का उसने पूरा विवरण प्रस्तुत किया है जिस पर हम प्रसगवश प्रकाश डालेंगे। उसने यह बताया है कि शिक्षा के लिए एक निर्धारित 'समय' होता है। यहाँ 'समय' का अर्थ यह है कि जब बालक शिक्षा प्राप्त करने के लिए शारीरिक और मानसिक रूप से तैयार हो, तभी शिक्षा देनी चाहिए। इस प्रकार रूसो ने बहुत पहले 'विकासात्मक मनोविज्ञान' के मूल तत्वों, जैसे प्रौढ़न (Maturation) तथा थानडाइक के मुख्य सिद्धान्त 'प्रस्तुतता' (Readiness) का पूर्व संकेत दे दिया था।

निषेधात्मक शिक्षा—मनुष्य के विकास के प्रारम्भिक चरण में जिस प्रकार की शिक्षा का समर्थन किया है, उसे निषेधात्मक शिक्षा (Negative Education) कहते हैं। निषेधात्मक शिक्षा का अर्थ समझ लेना आवश्यक है, अन्यथा इस सम्बन्ध में भ्रम हो सकता है। 'निषेधात्मक शिक्षा' का अर्थ यह नहीं है कि बालकों को शैक्षिक प्रभावों से वंचित कर दिया जाय या उन्हें किसी प्रकार की शिक्षा ही न दी जाय। शिक्षा तो दी जानी चाहिए यदि मनुष्य को सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाना है। रूसो ने 'व्यक्ति की स्वतन्त्रता' का हर प्रकार से समर्थन किया है। वह कहता है कि ससार में सबसे उत्तम चीज 'शक्ति' नहीं, स्वतन्त्रता है। 'स्वतन्त्र मनुष्य वही है, जो उन्हीं बातों की इच्छा करता है जिन्हें पूरा करने की शक्ति रखता है और वह वे ही बातें करता है जिनकी वह इच्छा करता है।

दुर्भाग्य से इस प्रकार की स्वतन्त्रता का भाव पुराने ढंग की शिक्षा से नहीं पैदा होता। पुरानी शिक्षा दमन प्रधान होती है और वह मनुष्य की इच्छाओं को ही नष्ट करती है, तब 'स्वतन्त्रता' का अनुभव कोई अर्थ नहीं रखता। अत उस पुरानी शिक्षा के स्थान पर रूसो निषेधात्मक शिक्षा की रूपरेखा निश्चित करता है। इस शिक्षा का सीधा-सादा क्रम यह है कि बच्चो को सत्य या उत्तम सिद्धान्तों की शिक्षा न देकर, केवल उनके मन को बुराइयों और मस्तिष्क को भूलों से बचाया जाय। इससे उनकी स्वतन्त्रता बनी रहेगी।

निषेधात्मक शिक्षा द्वारा बच्चों को बुराइयों से कैसे सुरक्षित रखा जाय इसका एक उदाहरण है—'आदत' का निर्माण। रूसो ने कहा है कि बच्चो में केवल 'एक आदत' पैदा करनी चाहिए और वह यह है कि वह किसी आदत का गुलाम न बने। इसी से उन्हें सच्ची स्वतन्त्रता मिलेगी। वह अच्छी आदत का विरोधी नहीं है क्योंकि वह शिक्षा को एक अच्छी आदत मानता है परन्तु वह बुरी आदतों का अवश्य विरोधी है, यह ठीक भी है क्योंकि मनुष्य में बुरी आदतें ही पड़ती हैं। वह अच्छी आदतों को प्रकृत (Natural) कहता है। इनके अन्तर्गत सफाई, शौच, स्नान आदि की आदतें आती हैं जिन्हें निषेधात्मक शिक्षा उत्पन्न करती है।

कि बच्चों के विकास के सोपानों के अनुकूल शिक्षा दी जानी चाहिए। जन्म से लेकर वयस्कावस्था तक पहुँचने के क्रम को रूसो ने चार मुख्य सोपानों में बाँटा है। वे हैं—शैशवकाल, बाल्यकाल, बाल्योत्तरकाल और किशोरकाल। इन सोपानों पर चढ़ते हुए बालक का जैसा विकास होता है, उस विकास की प्रकृति के अनुसार शिक्षा देने का उसने पूरा विवरण प्रस्तुत किया है जिस पर हम प्रसंगवश प्रकाश डालेंगे। उसने यह बताया है कि शिक्षा के लिए एक निर्धारित 'समय' होता है। यहाँ 'समय' का अर्थ यह है कि जब बालक शिक्षा प्राप्त करने के लिए शारीरिक और मानसिक रूप से तैयार हो, तभी शिक्षा देनी चाहिए। इस प्रकार रूसो ने बहुत पहले 'विकासात्मक मनोविज्ञान' के मूल तत्त्वों, जैसे प्रौढन (Maturation) तथा थार्नडाइक के मुख्य सिद्धान्त 'प्रस्तुतता' (Readiness) का पूर्व संकेत दे दिया था।

निषेधात्मक शिक्षा—मनुष्य ने विकास के प्रारम्भिक चरण में जिस प्रकार की शिक्षा का समर्थन किया है, उसे **निषेधात्मक** शिक्षा (Negative Education) कहते हैं। निषेधात्मक शिक्षा का अर्थ समझ लेना आवश्यक है, अन्यथा इस सम्बन्ध में भ्रम हो सकता है। 'निषेधात्मक शिक्षा' का अर्थ यह नहीं है कि बालकों को शैक्षिक प्रभावों से वंचित कर दिया जाय या उन्हें किसी प्रकार की शिक्षा ही न दी जाय। शिक्षा तो दी जानी चाहिए यदि मनुष्य को सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाना है। रूसो ने 'व्यक्ति की स्वतन्त्रता' का हर प्रकार से समर्थन किया है। वह कहता है कि संसार में सबसे उत्तम चीज 'शक्ति' नहीं, स्वतन्त्रता है। 'स्वतन्त्र मनुष्य वही है, जो उन्हीं बातों की इच्छा करता है जिन्हें पूरा करने की शक्ति रखता है और वह वे ही बातें करता है जिनकी वह इच्छा करता है।

दुर्भाग्य से इस प्रकार की स्वतन्त्रता का भाव पुराने ढंग की शिक्षा से नहीं पैदा होता। पुरानी शिक्षा दमन प्रधान होती है और वह मनुष्य की इच्छाओं को ही नष्ट करती है, तब 'स्वतन्त्रता' का अनुभव कोई अर्थ नहीं रखता। अतः उस पुरानी शिक्षा के स्थान पर रूसो निषेधात्मक शिक्षा की रूपरेखा निश्चित करता है। इस शिक्षा का सीधा-सादा क्रम यह है कि बच्चों को सत्य या उत्तम सिद्धान्तों की शिक्षा न देकर, केवल उनके मन को बुराइयों और मस्तिष्क को भूलों से बचाया जाय। इससे उनकी स्वतन्त्रता बनी रहेगी।

निषेधात्मक शिक्षा द्वारा बच्चों को बुराइयों से कैसे सुरक्षित रखा जाय इसका एक उदाहरण है—'आदत' का निर्माण। रूसो ने कहा है कि बच्चों में केवल 'एक आदत' पैदा करनी चाहिए और वह यह है कि वह किसी आदत का गुलाम न बने। इसी से उन्हें सच्ची स्वतन्त्रता मिलेगी। वह अच्छी आदत का विरोधी नहीं है क्योंकि वह शिक्षा को एक अच्छी आदत मानता है परन्तु वह बुरी आदतों का अवश्य विरोधी है, यह ठीक भी है क्योंकि मनुष्य में बुरी आदतें ही पड़ती हैं। वह अच्छी आदतों को प्रकृत (Natural) कहता है। इसके अन्तर्गत सफाई, शौच, स्नान आदि की आदतें आती हैं जिन्हें निषेधात्मक शिक्षा उत्पन्न करती है।

कि बच्चों के विकास के सोपानों के अनुकूल शिक्षा दी जानी चाहिए। जन्म से लेकर वयस्कावस्था तक पहुँचने के क्रम को रूसो ने चार मुख्य सोपानों में बाँटा है। वे हैं—शैशवकाल, बाल्यकाल, बाल्योत्तरकाल और किशोरकाल। इन सोपानों पर चढ़ते हुए बालक का जैसा विकास होता है, उस विकास की प्रकृति के अनुसार शिक्षा देने का उसने पूरा विवरण प्रस्तुत किया है जिस पर हम प्रसंगवश प्रकाश डालेंगे। उसने यह बताया है कि शिक्षा के लिए एक निर्धारित 'समय' होता है। यहाँ 'समय' का अर्थ यह है कि जब बालक शिक्षा प्राप्त करने के लिए शारीरिक और मानसिक रूप से तैयार हो, तभी शिक्षा देनी चाहिए। इस प्रकार रूसो ने बहुत पहले 'विकासात्मक मनोविज्ञान' के मूल तत्त्वों, जैसे प्रौढन (Maturation) तथा थार्नडाइक के मुख्य सिद्धान्त 'प्रस्तुतता' (Readiness) का पूर्व संकेत दे दिया था।

निषेधात्मक शिक्षा—मनुष्य के विकास के प्रारम्भिक चरण में जिस प्रकार की शिक्षा का समर्थन किया है, उसे निषेधात्मक शिक्षा (Negative Education) कहते हैं। निषेधात्मक शिक्षा का अर्थ समझ लेना आवश्यक है, अन्यथा इस सम्बन्ध में भ्रम हो सकता है। 'निषेधात्मक शिक्षा' का अर्थ यह नहीं है कि बालकों को शैक्षिक प्रभावों से वंचित कर दिया जाय या उन्हें किसी प्रकार की शिक्षा ही न दी जाय। शिक्षा तो दी जानी चाहिए यदि मनुष्य को सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाना है। रूसो ने 'व्यक्ति की स्वतन्त्रता' का हर प्रकार से समर्थन किया है। वह कहता है कि संसार में सबसे उत्तम चीज 'शक्ति' नहीं, स्वतन्त्रता है। 'स्वतन्त्र मनुष्य वही है, जो उन्हीं बातों की इच्छा करता है जिन्हें पूरा करने की शक्ति रखता है और वह वे ही बातें करता है जिनकी वह इच्छा करता है।

दुर्भाग्य से इस प्रकार की स्वतन्त्रता का भाव पुराने ढंग की शिक्षा में नहीं पैदा होता। पुरानी शिक्षा दमन प्रधान होती है और वह मनुष्य की इच्छाओं को ही नष्ट करती है, तब 'स्वतन्त्रता' का अनुभव कोई अर्थ नहीं रखता। अत: उस पुरानी शिक्षा के स्थान पर रूसो निषेधात्मक शिक्षा की रूपरेखा निश्चित करता है। इस शिक्षा का सीधा-सादा क्रम यह है कि बच्चों को सत्य या उत्तम सिद्धान्तों की शिक्षा न देकर, केवल उनके मन को बुराइयों और मस्तिष्क को भूलों से बचाया जाय। इससे उनकी स्वतन्त्रता बनी रहेगी।

निषेधात्मक शिक्षा द्वारा बच्चों को बुराइयों से कैसे सुरक्षित रखा जाय इसका एक उदाहरण है—'आदत' का निर्माण। रूसो ने कहा है कि बच्चों में केवल 'एक आदत' पैदा करनी चाहिए और वह यह है कि वह किसी आदत का गुलाम न बने। इसी से उन्हें सच्ची स्वतन्त्रता मिलेगी। वह अच्छी आदत का विरोधी नहीं है क्योंकि वह शिक्षा को एक अच्छी आदत मानता है परन्तु वह बुरी आदतों का अवश्य विरोधी है, यह ठीक भी है क्योंकि मनुष्य में बुरी आदतें ही पड़ती हैं। वह अच्छी आदतों को प्रकृत (Natural) कहता है। इनके अन्तर्गत सफाई, शौच, स्नान आदि की आदतें आती हैं जिन्हें निषेधात्मक शिक्षा उत्पन्न करती है।

है कि "उसे विज्ञान सिखाया न जाय वरन् उसे अपने आप खोज करने दी जाय।' तात्पर्य यह कि 'ह्यूरिस्टिक' (स्वबोध) पद्धति से पढ़ाया जाय। यों तो रूसो पुस्तकों का घोर विरोधी है परन्तु डेनियल डीफो के प्रसिद्ध उपन्यास 'रॉबिन्सन क्रूसो' को पढ़ाने पर वह जोर देता है क्योंकि इस पुस्तक में यह दिखाया गया है कि प्रकृति के बीच में रहकर मनुष्य किस प्रकार उत्तम जीवन व्यतीत करता है। उस काल की सारी शिक्षा 'क्रिया' द्वारा सम्पन्न होनी चाहिए। सारे पाठ व्यावहारिक हों और पुस्तकों का सहारा तभी लिया जाय जब कोई चारा न रहे। बच्चों को दस्तकारी की शिक्षा अवश्य दी जाय। दस्तकारी के कामों में उसे बढ़ईगीरी सबसे ज्यादा पसन्द है। यह दस्तकारी बालक को स्वावलम्बी बनाती है।

बारह वर्ष तक बालकों को सामाजिक प्रभावों से दूर रखा जाना चाहिए परन्तु किशोर काल में उसे मानवीय सम्बन्धों का ज्ञान कराना आवश्यक हो जाता है। मानवीय सम्बन्धों का ज्ञान भी दस्तकारी के माध्यम से कराया जा सकता है क्योंकि कई लोग सहयोग करके वस्तुएँ तैयार करते है। मानवीय सम्बन्धों की शिक्षा का दूसरा उपाय यात्रा है जिसके द्वारा विभिन्न प्रकार के समाजों के जीवन का परिचय मिलता है।

(घ) पन्द्रह से बीस वर्ष की शिक्षा—इस काल में 'हृदय' की शिक्षा का ध्यान रखना होगा। यह नैतिकता और धर्म की शिक्षा का उपयुक्त अवसर होता है। 'स्व' में केन्द्रित बालक को अब 'पर' की ओर उन्मुख करना है। मानवीय सम्बन्ध यहीं से आरम्भ होता है और धर्म तथा नैतिकता इस सम्बन्ध के माध्यम हैं। मानवीय सम्बन्धों के लिए रूसो ने भावना को आवश्यक बताया है। धर्म का आधार भी भावना है। धर्म की शिक्षा देते समय उसने कर्मकाण्ड और धार्मिक कृत्यों से किशोरों को अलग रखने की सलाह दी है। उसके मत में मनुष्य ईश्वर का अंश है और ईश्वर हर पदार्थ में विद्यमान है। इस बात का अनुभव प्रकृति की निकटता से होता है। यही धर्म की शिक्षा है।

सामान्य जन की शिक्षा—रूसो अभिजात वर्गीय समाज की भ्रष्टता का अनुभव पेरिस में कर चुका था। वह सामान्य जन को इसीलिए अधिक महत्त्व देता था। प्लेटो आदि ने उच्चवर्ग की शिक्षा की व्याख्या की। रूसो ने उच्चवर्गों के बच्चों को शिक्षा के द्वारा सामान्य जन की कोटि में लाने का विचार प्रकट किया। वह सामान्य जन को इसलिए शिक्षा देना चाहता था कि वे भाग्य अथवा लक्ष्मी के सहारे रहकर नष्ट न हो जायँ। उसका यह विचार प्रजातान्त्रिक शिक्षा का मूलाधार बन गया।

स्त्रियों की शिक्षा—'एमील' में रूसो ने स्त्री शिक्षा के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रकट किये हैं। वह स्त्री और पुरुष की शिक्षा में अन्तर रखने का पक्षपाती है और यह अन्तर 'सोफी' की शिक्षा में स्पष्ट हो जाता है। वह कहता है कि पुरुष की शिक्षा प्राकृत होनी चाहिए और स्त्री की परम्परागत (Conventional)। वास्तव

में स्त्री और पुरुष की शिक्षा में लिंग-भेद के कारण अन्तर हो
जीवन का उद्देश्य सेवा करना, ज्ञान प्राप्त करना और विद्रोह
दूसरों को प्रसन्न करने, आज्ञापालन करने और पुरुष के लिए
लिए बनी है। इसलिए स्त्री की शिक्षा भिन्न प्रकार की होनी चा

स्त्री की शिक्षा में रूसो लिखने-पढ़ने को महत्त्वपूर्ण स्था
लिए वह सीना, कढ़ाई तथा घर के काम-काज के सीखने को
स्त्रियों के लिए धार्मिक शिक्षा उसी प्रकार देनी चाहिए जैसे पु
है। फिर भी स्त्री-शिक्षा सम्बन्धी उसके विचार बहुत उदार नहीं

२. पेस्तालॉजी

सामान्य परिचय

रूसो के शिक्षा सम्बन्धी विचार क्रान्तिकारी हैं। उस
विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। यह सब उसके स्वभाव के
वह भावुक, चिन्तक और घुमक्कड़ प्रकृति का जीव था। उसके
का कारण उसकी अद्भुत साहित्यिक शैली है, यद्यपि उन वि
विरोध के साथ-साथ कुछ अव्यावहारिकता भी है। इसके विपरी
सुधारक था। उसने समाज में सुधार लाने के लिए शिक्षा को सा
उसने स्वयं अध्यापक बनकर बच्चों को पढ़ाया। इसलिए उ
विचारों पर अनुभव की छाप है। उसकी लेखन शैली में वह लालि
में थी परन्तु उसका कार्य ऐसा था जिससे हरबार्ट और फ्रोबेल
शास्त्रियों ने प्रेरणा ग्रहण की।

पेस्तालॉजी के शिक्षा सम्बन्धी विचार उसकी पुस्तक
में स्पष्ट रूप से मिल सकते हैं। यह 'एमील' की भाँति ही एक उपन्य
गयी पुस्तक है। उसने अपनी दूसरी पुस्तक 'हाऊ गर्टूड टीच
शिक्षण की विधि की व्याख्या प्रस्तुत की है। रूसो के क्रान्तिक
अवश्य प्रभावित हुआ है परन्तु वह शिक्षा की व्यावहारिकता को

पेस्तालॉजी के शिक्षा सम्बन्धी विचार

नियोजित शिक्षा—पेस्तालॉजी बच्चों की शिक्षा को पूर्ण
छोड़ देने के लिए तैयार नहीं है। यहीं पर वह रूसो के विचार
उल्लेख करता है कि यदि बालक को यों ही प्रकृति पर छोड़ दि
अन्त ही रह जाती, बड़ी सम्भावनाएँ ... नहीं पैदा होता।
प्रकृति को अंध ... पर नहीं छोड़ देना चाहिए। प्रकृति के

सिखाना चाहिए। उसका कहना था कि बालकों को पहले वे शब्द सिखाने चाहिए जिन्हें वे बोलते समय सरलता से प्रयोग में ला सकते हों। शब्द-ज्ञान केवल 'भाषा सीखने' के लिए नहीं वरन् जीवन में व्यवहार करने के लिए कराया जाना है। रट्टू तोते की तरह बिना अनुभव के शब्द-ज्ञान कराने का वह घोर विरोधी है। निरर्थक शब्दों को बच्चों के दिमाग में भरना हानिकारक है।

भाषा की शिक्षा को सुगम बनाने के लिए पेस्तालॉजी ने शब्द-चयन का मार्ग सुझाया। अध्यापक को पहले संज्ञा अर्थात् ऐसे शब्दों को चुनना चाहिए जो विभिन्न वस्तुओं, गुणों और क्रियाओं के नाम हों। ऐसे शब्द उसने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों, जैसे प्रकृति, इतिहास, भूगोल, मानवीय सम्बन्धों और पेशों से चुने। इन शब्दों का तात्कालिक अनुभव संभव है। इसी आधार पर शब्द-चयन का वह पक्षपाती है। फिर दूसरा कदम है, इन शब्दों की सहायता से वाक्य बनाना जिसमें विभिन्न वस्तुओं का सम्बन्ध ज्ञात हो जाय। शब्दों को सिखाने में उसने ध्वनियों का विश्लेषण किया और उन्हें ध्वनि-ग्रहण द्वारा सिखाने पर जोर दिया।

वस्तु-पाठ—पेस्तालॉजी ने तात्कालिक अनुभव के प्रशिक्षण के लिए 'वस्तु-पाठ' (Object lesson) की विधि तैयार की। इसके अन्तर्गत विभिन्न वस्तुओं का भली प्रकार निरीक्षण कराया जाता है। जब कोई वस्तु बालक के सामने प्रस्तुत की जाती है, तो उससे तीन गुण उसे अनुभव कराये जाते हैं, वे है—वस्तु की संख्या, उसका आकार और उसका नाम। अतः इस विधि के द्वारा बच्चों को पढ़ाने में पहले उन्हें यह बताया जाता है कि यह वस्तु एक इकाई है और इसकी संख्या एक है। इस प्रकार की अनेक वस्तुएँ हैं जिन्हें गिनना बताया जाता है। फिर उस वस्तु के आकार और रूप का अनुभव कराया जाता है। उसकी लम्बाई, चौडाई, ऊँचाई, आकृति, रूप और रंग का निरीक्षण बच्चे करते हैं। बाद में उन्हें वह शब्द बताया जाता है जिसके द्वारा उस वस्तु का वर्णन किया जाता है और जिससे उस वस्तु का बोध होता है। इस प्रकार तात्कालिक अनुभव द्वारा एवं वस्तुओं की भिन्नता का ज्ञान बालकों को हो जाता है।

वस्तु-पाठ की सबसे बड़ी विशेषता है, उसकी यथार्थता। स्थूल वस्तुओं की शिक्षा में कैसे इसका ध्यान रखा जाता है, यह हम बता चुके हैं। नैतिक पाठों में भी यथार्थ का पूरा स्थान रहता है। उदाहरण के द्वारा नैतिक आचरणों को प्रत्यक्ष रूप में स्पष्ट किया जाता है। जैसे, प्रति शनिवार को शाम को गर्ट्रूड बच्चों को एकत्र करती है और वह उनसे पूछती है कि सप्ताह भर में तुमने कोई बुरा काम तो नहीं किया। यदि बच्चे नहीं समझ पाते तो वह उनके दुर्व्यवहारों का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उनका अनौचित्य सिद्ध करती है। यह भी एक प्रकार का वस्तु-पाठ ही है।

इन वस्तु-पाठों की सफलता का वर्णन करते हुए हरबार्ट ने अपनी डायरी में लिखा है कि पेस्तालॉजी के स्कूल में पढ़कर निकलने के बाद बच्चे हर वस्तु और शब्द को जितनी अच्छी तरह समझते हैं, उतनी अच्छी तरह वे शब्दों द्वारा की गयी शब्दों की

व्याख्या को नहीं समझते। वह अपने अनुभव के आधार पर कहता है कि मुझे कभी-कभी पेस्तालॉजी की शिक्षण विधि पर अविश्वास होता था परन्तु बच्चों की प्रसन्नता और उनके समझने की शक्ति का विकास देखकर मुझे चकित रह जाना पड़ता था।

३. हरबार्ट

सामान्य परिचय

हरबार्ट को अपने जीवन में उतना संघर्ष नहीं करना पड़ा जितना पेस्तालॉजी को करना पड़ा था। उसने अपना अधिकांश जीवन विश्वविद्यालयों में अध्ययन करते तथा चिन्तन करते हुए बिताया। शिक्षा में उसकी दिलचस्पी थी, इसका प्रमाण यह है कि वह कुछ समय तक पेस्तालॉजी के साथ उसके स्कूल में काम करता रहा। विश्वविद्यालय में उसने शैक्षिक उपनिषदों का आयोजन किया और पाण्डित्यपूर्ण भाषण भी दिये। उसकी लिखी हुई कृतियों में 'शिक्षा का विज्ञान' और 'शैक्षिक सिद्धान्त की रूपरेखा' प्रसिद्ध हैं।

हरबार्ट की प्रसिद्धि का सबसे बड़ा आधार उसकी पंचपदी शिक्षण विधि है। इस विधि को उसने सीखने में मनोविज्ञान का आधार देकर इतना ग्राह्य बना दिया कि आज भी कुछ हेरफेर के साथ सभी अध्यापक इसका प्रयोग करते हैं। उसने शिक्षण की प्रक्रिया का जो विश्लेषण किया है, उसी ने अध्यापक प्रशिक्षण की परम्परा डाली। शिक्षा में यह सारी व्यावहारिकता पैदा करते हुए भी वह मूल रूप से दार्शनिक था और उसकी रुचि आचरण शास्त्र में अधिक थी। इसका बहुत प्रभाव उसके शैक्षिक चिन्तन पर पड़ा है।

हरबार्ट का शैक्षिक चिन्तन

शिक्षा का उद्देश्य-चरित्र-निर्माण—हरबार्ट ने एक स्थान पर कहा है कि सारी शिक्षा के भाव को केवल एक प्रत्यय 'नैतिकता' के द्वारा प्रकट किया जा सकता है। सरल शब्दों में, हरबार्ट के मतानुसार शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के चरित्र का निर्माण है। मनुष्य के व्यक्तित्व को ऊँचा उठाने के लिए यह आवश्यक है कि उसमें सच्चाई, पवित्रता और भलमनसाहत के गुण पैदा किये जायें। सद्गुणों की व्याख्या करते हुए उसने उनकी पाँच संख्या बताई। वे सद्गुण (Virtues) हैं—१. आन्तरिक स्वतन्त्रता जिसका अर्थ है संकल्प और इच्छा तथा अन्तर्दृष्टि और विश्वास के बीच समन्वय; २. दक्षता अथवा पूर्णता, ३. उच्चहृदयता, ४. न्याय, और ५ साम्य दृष्टि। मनुष्य का चरित्र इन्हीं सद्गुणों से बनता है।

चरित्र का प्रमुख आधार संकल्प (Will) है जो एक सद्गुण है। मनुष्य में यदि संकल्प गुण पैदा हो जाय तो उसका चरित्र उच्चकोटि का होगा। यह संकल्प बहुमुखी रुचियों (Many sided interest) और इच्छाओं पर निर्भर है और इन दोनों की उत्पत्ति का आधार उत्तम विचार वृत्त (Right circle of ideas) हैं।

उसमें सकल्प के साथ किसी काम में डटे रहने की शक्ति पैदा हो जाती है। इस प्रकार रुचि एक ऐसी मानसिक स्थिति पैदा कर देती है कि मनुष्य अत्यन्त नीरस और कष्टसाध्य काम में लगा रहता है और उसे पूरा करने का प्रयत्न करता रहता है।

रुचि की महत्ता स्पष्ट करने के बाद हरबार्ट यह कहता है कि मनुष्य, के लिए एक रुचि नहीं वरन् बहुमुखी रुचियों की आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य की रुचि एक बात में नहीं, अनेक बातों में होनी चाहिए ताकि वह मानव संस्कृति के विभिन्न पहलुओं को आत्मसात कर सके। यदि एक ही रुचि उत्पन्न होती है, तो मनुष्य का व्यक्तित्व एकांगी और संकुचित बन जाता है। रुचियाँ बहुमुखी होनी चाहिए और उनके संघटित होने से संकल्प और चरित्र बनते हैं। रुचियों के संघटन के लिए उसने प्रस्तुतीकरण (पाठ्य-सामग्री) में सानुबन्ध (Correlation) की आवश्यकता बतायी। इस सम्बन्ध में हम आगे विचार करेंगे।

अध्यापन विज्ञान—हरबार्ट ने चरित्र-निर्माण के लिए क्रमशः कई पद स्थिर किये हैं, यथा चरित्र, संकल्प, रुचि, इच्छा, विचारवृत्त तथा प्रस्तुतीकरण। इनमें से प्रथम पाँच तो आन्तरिक क्रियाएँ हैं, जिनका सम्बन्ध मन से है और छठा प्रस्तुतीकरण बाह्य क्रिया है जो अध्यापक के हाथ में है और इसी की सहायता से उसने मन की आन्तरिक क्रियाओं पर नियन्त्रण करने की जो व्यवस्थित पद्धति निकाली उसे अध्यापन विज्ञान कहते हैं। उत्तम शिक्षा के लिए इस अध्यापन विज्ञान की बड़ी आवश्यकता है। बिना अध्यापन के शिक्षा की न तो कल्पना हो सकती है और न *अध्यापन ही सार्थक है जब तक उसके द्वारा शिक्षा का काम पूरा नहीं होता।* इस विचार से हरबार्ट ने अध्यापन को एक विज्ञान का रूप देने का निश्चय किया। हरबार्ट से पहले जेसुइट संगठन के सदस्यों ने शिक्षण का क्रम निश्चित किया था परन्तु हरबार्ट ने अध्यापन विज्ञान को जो परिष्कृत रूप दिया, वैसा किसी ने अब तक नहीं किया था।

हरबार्ट के मत में चरित्र-निर्माण की आधार-शिला अध्यापन है क्योंकि अध्यापन द्वारा ही प्रस्तुतीकरण (Presentation) अर्थात् विषय सामग्री छात्रों के सामने प्रस्तुत की जाती है। इस प्रस्तुतीकरण से विचारवृत्त बनते हैं, जो चरित्र-निर्माण में सहायक होते हैं। उत्तम अध्यापन वह है जिसके परिणामस्वरूप उत्पन्न प्रत्ययों (Concepts) और ज्ञान में स्पष्टता, संसर्ग (association) और प्रणाली आदि गुण हों ताकि विचारों में नवीनतापन उच्चतम अंशों में वर्तमान रहे। तात्पर्य यह है कि अध्यापन के द्वारा उत्पन्न विचारों में स्पष्टता, परस्पर-सम्बद्धता और उनका क्रम आदि बालकों को स्पष्ट रहे। इसमें उनकी रुचियाँ भी संगठित रहें ताकि संकल्प की शक्ति अच्छी तरह क्रियाशील रहे। अन्ततः उत्तम अध्यापन चरित्र और आचरण पर प्रभाव डालता है।

(क) अध्यापन और प्रस्तुतीकरण—अध्यापन का मूल कार्य 'प्रस्तुतीकरण' है। हरबार्ट ने अपनी अध्यापन विधि के पाँच पद या सोपान निश्चित किये हैं।

फिर हरबार्ट ने यह बताया कि उत्तम विचार वृत्तों की उत्पत्ति के लिए सही प्रस्तुतीकरण (Presentation) की आवश्यकता है। इस प्रकार पूरे क्रम को देखने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि चरित्र-निर्माण की मूल जड़ प्रस्तुतीकरण है जिसकी अवहेलना करना किसी अध्यापक के लिए उचित नहीं है। हरबार्ट ने चरित्र-निर्माण की प्रक्रिया के प्रत्येक अंग की स्पष्ट व्याख्या की है। जिन पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

(क) संकल्प—पुराने शिक्षाविदों का विचार था कि मनुष्य के मन में संकल्प की एक फैकल्टी (विभाग) होती है जो जन्मजात है, परन्तु हरबार्ट इस बात पर विश्वास नहीं करता। उसका कहना है कि संकल्प जन्मजात नहीं है। यह इच्छाओं और रुचियों के अनुसार बनता है। "जब इच्छाएँ निश्चय का रूप ग्रहण कर लेती हैं और मनुष्य को यह अनुभव होने लगता है कि वह अपने निश्चय को पूरा कर सकता है तो संकल्प की उत्पत्ति होती है।" तात्पर्य यह है कि पहले मनुष्य इच्छा करता है, फिर वह उसे पूरा करने का निश्चय करता है और जब वह उस निश्चय को क्रियान्वित करने की शक्ति भी रखता है, तो संकल्प जाग्रत हो जाता है। हरबार्ट स्पष्ट कहता है कि मनुष्य की महानता केवल जानने पर निर्भर नहीं है वरन् उसके संकल्प करने में है।

मनुष्य के भीतर संकल्प का निर्माण बाह्य प्रभावों से होता है और यह बाह्य प्रभाव प्रस्तुतीकरण से उत्पन्न होते हैं। हरबार्ट का कहना है कि अध्यापकों को प्रस्तुतीकरण के समय तीन बातों का ध्यान रखना चाहिए। जब बच्चों के आगे पाठ्य-सामग्री उपस्थित की जाती है, तो उनके मन में तीन क्रियाएँ होती हैं, वे हैं—इच्छा करना, निरीक्षण करना, और कल्पना करना। इनमें से वह प्रथम और तृतीय को संकल्प-निर्माण में बाधक मानता है क्योंकि यह मनुष्य को भ्रम में डालने वाली होती हैं। निरीक्षण को महत्त्वपूर्ण मानता है। इसलिए वह पेस्तालॉजी के तात्कालिक अनुभव के सिद्धान्त के अनुसार ही निरीक्षण कराने की सलाह देता है। निरीक्षण से संकल्प के निर्माण में सहायता मिलती है।

(ख) बहुमुखी रुचियाँ—चरित्र-निर्माण और संकल्प का निर्माण रुचियों के आधार पर होता है। इसलिए हरबार्ट के मतानुसार यदि शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य चरित्र-निर्माण है, तो तात्कालिक उद्देश्य 'रुचि' है। अभी तक रुचि के बारे में लोगों का विचार अस्पष्ट था या फिर उसे वे अत्यन्त साधारण बात समझते थे। हरबार्ट ने स्पष्ट बताया है कि रुचि 'मनोरंजन वृत्ति' का पर्याय नहीं है। उसने रुचि की व्याख्या नये तरीके से की। उसके मत में 'रुचि प्रस्तुतीकरण (पाठ्य-सामग्री) के आत्मगत (Self realization) करने की प्रक्रिया के साथ-साथ होने वाली चेतनावस्था है।' इस बात को स्पष्ट करते हुए उसने बताया कि 'रुचि', 'उदासीनता' का उल्टा है। जब कोई सामग्री प्रस्तुत की जाती है, तो मन में उत्तेजन होता है। मन उस वस्तु को आत्मगत करना चाहता है तो उसे पाने की आशा से ही रुचि का उदय होता है। उस वस्तु को पाने की इच्छा और प्रयत्न में बाधा पड़ने से रुचि पैदा होती है। यह रुचि ही मनुष्य को प्रयत्न करने के लिए विवश करती है और

उसमें सकल्प के साथ किसी काम में डटे रहने की शक्ति पैदा हो जाती है। इस प्रकार रुचि एक ऐसी मानसिक स्थिति पैदा कर देती है कि मनुष्य अत्यन्त नीरस और कष्टसाध्य काम में लगा रहता है और उसे पूरा करने का प्रयत्न करता रहता है।

रुचि की महत्ता स्पष्ट करने के बाद हरबार्ट यह कहता है कि मनुष्य, के लिए एक रुचि नहीं वरन् बहुमुखी रुचियों की आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य की रुचि एक बात में नहीं, अनेक बातों में होनी चाहिए ताकि वह मानव संस्कृति के विभिन्न पहलुओं को आत्मसात कर सके। यदि एक ही रुचि उत्पन्न होती है, तो मनुष्य का व्यक्तित्व एकांगी और संकुचित बन जाता है। रुचियाँ बहुमुखी होनी चाहिए और उनके संघटित होने से संकल्प और चरित्र बनते हैं। रुचियों के संघटन के लिए उसने प्रस्तुतीकरण (पाठ्य-सामग्री) में सानुबन्ध (Correlation) की आवश्यकता बतायी। इस सम्बन्ध में हम आगे विचार करेंगे।

अध्यापन विज्ञान—हरबार्ट ने चरित्र-निर्माण के लिए क्रमश कई पद स्थिर किये हैं, यथा चरित्र, संकल्प, रुचि, इच्छा, विचारवृत्त तथा प्रस्तुतीकरण। इनमें से प्रथम पाँच तो आन्तरिक क्रियाएँ हैं, जिनका सम्बन्ध मन से है और छठा प्रस्तुतीकरण बाह्य क्रिया है जो अध्यापक के हाथ में है और इसी की सहायता से उसने मन की आन्तरिक क्रियाओं पर नियन्त्रण करने की जो व्यवस्थित पद्धति निकाली उसे अध्यापन विज्ञान कहते हैं। उत्तम शिक्षा के लिए इस अध्यापन विज्ञान की बड़ी आवश्यकता है। बिना अध्यापन के शिक्षा की न तो कल्पना हो सकती है और न अध्यापन ही सार्थक है जब तक उसके द्वारा शिक्षा का काम पूरा नहीं होता। इस विचार से हरबार्ट ने अध्यापन को एक विज्ञान का रूप देने का निश्चय किया। हरबार्ट से पहले जेसुइट संगठन के सदस्यों ने शिक्षण का क्रम निश्चित किया था परन्तु हरबार्ट ने अध्यापन विज्ञान को जो परिष्कृत रूप दिया, वैसा किसी ने अब तक नहीं किया था।

हरबार्ट के मत में चरित्र-निर्माण की आधार-शिला अध्यापन है क्योंकि अध्यापन द्वारा ही प्रस्तुतीकरण (Presentation) अर्थात् विषय सामग्री छात्रों के सामने प्रस्तुत की जाती है। इस प्रस्तुतीकरण से विचारवृत्त बनते हैं, जो चरित्र-निर्माण में सहायक होते हैं। उत्तम अध्यापन वह है जिसके परिणामस्वरूप उत्पन्न प्रत्ययों (Concepts) और ज्ञान में स्पष्टता, संसर्ग (association) और प्रणाली आदि गुण हों ताकि विचारों में नवीनतम उच्चतम अंशों में वर्तमान रहे। तात्पर्य यह है कि अध्यापन के द्वारा उत्पन्न विचारों में स्पष्टता, परस्पर-सम्बद्धता और उनका क्रम आदि बालकों को स्पष्ट रहे। इससे उनकी रुचियाँ भी संगठित रहें ताकि संकल्प की शक्ति अच्छी तरह क्रियाशील रहे। अन्तत उत्तम अध्यापन चरित्र और आचरण पर प्रभाव डालता है।

(क) अध्यापन और प्रस्तुतीकरण—अध्यापन का मूल कार्य 'प्रस्तुतीकरण' है। हरबार्ट ने अपनी अध्यापन विधि के पाँच पद या सोपान निश्चित किये हैं।

इसीलिए हरबार्ट की विधि पंचपदी शिक्षण विधि कहलाती है। इस विधि पद हैं—१ तैयारी या भूमिका (Preparation), इस सोपान में बालको ग्रहण करने के लिए मानसिक रूप से तैयार किया जाता है। इस मानसिक काल मे बालकों के मन मे वर्तमान पूर्व ज्ञान को जाग्रत किया जाता है औ वर्तमान पाठ का सम्बन्ध जोड़ा जाता है। २ प्रस्तुतीकरण (Presentatio सोपान के काल मे नवीन पाठ्य-सामग्री क्रमानुसार छात्रो के आगे प्रस्तुत है। ३ संसर्ग (Association), इस सोपान मे पूर्वज्ञान और वर्तमान सम्बन्ध पक्का कर दिया जाता है। नये ज्ञान का पूर्वानुवर्ती ज्ञान के साथ सम देने से हर बात अच्छी तरह समझ मे आ जाती है। ४. प्रणाली (System); मे अध्यापक इस बात का प्रयत्न करता है कि पाठ्य-सामग्री का विश्लेषण करे क्रम पैदा करे, जटिलता को दूर करे, पढ़े हुए उदाहरणो मे तुलना के आधार प निकाले। ५ अनुप्रयोग (Application), पढ़े हुए ज्ञान का नयी स्थितियो मे करके यह देखना आवश्यक है कि बालको के लिए नये ज्ञान का क्या लाभ मि

प्रस्तुतीकरण उत्तम अध्यापन का प्रमुख अंग है। चूँकि इस प्रक्रि हरबार्ट ने निश्चित पदो मे बाँट दिया और उन तक पहुँचने की विधि भी कर दी, इसलिए उसकी विधि वैज्ञानिक बन गई। अध्यापक बनने के लि विधि के अंगो और उसकी प्रक्रिया जानना जरूरी बन गया। फल यह हुआ चलकर अध्यापक-प्रशिक्षण की परम्परा चालू हुई और ट्रेनिंग कालेजो मे अ कला की शिक्षा दी जाने लगी। हरबार्ट ने पाठ्य-सामग्री के प्रस्तुतीकरण के भी स्पष्ट कर दिये, वे है—सूचनात्मक (*Informing kind*), और प्रेर (Inspiring kind)। सूचनात्मक सामग्री वह है जिसमे कुछ सूचनाएँ होती हैं उसका चरित्र पर कोई प्रभाव नही पड़ता। प्रेरणात्मक प्रस्तुतीकरण चरित्र पर डालता है। इसलिए यही श्रेष्ठ है।

(ख) अध्यापन की व्यवस्था—हरबार्ट ने अध्यापन को विज्ञान का रू के बाद यह भी बताया कि अध्यापन की सफलता के लिए दो बातो की जरूर एक है शासन (Government) और दूसरे प्रशिक्षण (Training)। वास्तव दोनो शब्दो का अर्थ, जो है उसके लिए हम दूसरे शब्द प्रयोग म लाते है। 'शा का अर्थ है बाह्य नैतिक अनुशासन और 'प्रशिक्षण' का अर्थ है आत्मानुशासन आन्तरिक अनुशासन। यह समझ लेने पर हरबार्ट के विचार सुगम बन जाते हैं।

हरबार्ट कहता है कि अध्यापन के लिए यह आवश्यक है कि विद्याल 'शासन' हो। इस शासन का तात्कालिक उद्देश्य यह है कि शान्ति रहे और अध्य बिना बाधा के पढ़ा सके। शासन दमनपूर्ण होता है और कभी-कभी इसकी आवश्य पड़ती है। यह एक आवश्यक अवगुण (Necessary evil) है और अराज (Anarchy) मे हर हालत मे अच्छा है। इसके विपरीत, प्रशिक्षण या आत्मानुशा का क्षेत्र दूरस्थ और व्यापक है। इसका सम्बन्ध चरित्र से है और यह अध्य

आत्मनियंत्रण और सोद्देश्यता से उत्पन्न होता है। इसकी निरंतरता इसकी प्रमुख विशेषता है। बहुत से लोग प्रशिक्षण को ही अध्यापन समझ लेने की भूल कर बैठते हैं। प्रशिक्षण केवल अध्यापन का साधन है और एकमात्र प्रशिक्षण पर्याप्त नहीं है। अध्यापन से विचारों के बीज बोए जाते हैं, इसकी सहायता से ज्ञान के अंकुर उत्पन्न होते हैं। प्रशिक्षण अध्यापन का साधन मात्र समझा जाना चाहिए।

(ग) अध्यापन के प्रकार—हरबार्ट ने अध्यापन के दो प्रकार बताए हैं, एक को उसने विश्लेषणात्मक और दूसरे को संश्लेषणात्मक बताया है। विश्लेषणात्मक अध्यापन की आवश्यकता इसलिए है कि जब बच्चों के सामने पाठ्य-सामग्री प्रस्तुत की जाती है तो उसमें अस्पष्टता और कुछ का कुछ समझ लेने के दोष पैदा हो जाते हैं, तो यह विश्लेषण के द्वारा स्पष्टता पैदा करता है और विचारों को शुद्ध करता है। इसके विपरीत, संश्लेषणात्मक अध्यापन का उद्देश्य विचारों को संगठित करना और उनके बीच एक सम्बन्ध स्थापित करना है। इसके द्वारा विभिन्न विचारों के बीच क्रम और व्यवस्था पैदा की जाती है। यह आवश्यक नहीं है कि इन दोनों प्रकारों को अलग-अलग प्रयोग में लाया जाय। उचित यह होगा कि इन दोनों प्रकारों को अध्यापन क्रिया का अंग बना लिया जाय पहले विश्लेषणात्मक और बाद में संश्लेषणात्मक अध्यापन का प्रयोग किया जाय।

अध्यापन की मनोवैज्ञानिकता—अध्यापक पढ़ायें और बच्चे सीखें, यह शिक्षण की मूल समस्या है। हरबार्ट ने चरित्र-निर्माण के लिए शिक्षण की आवश्यकता बताई तथा शिक्षण के कार्य को अध्यापन तथा प्रस्तुतीकरण पर अवलम्बित बनाया। परन्तु यह सब काम सफलतापूर्वक पूरा कैसे किया जाय ? जब तक बालक सीखता नहीं, या दूसरे शब्दों में, जब तक वह प्रस्तुतीकरण के प्रभाव को ग्रहण नहीं कर सकता, चरित्र-निर्माण का कार्य पूरा नहीं हो सकता। इसलिए हरबार्ट ने यह भी स्पष्ट करने की चेष्टा की कि बच्चे प्रभाव किस प्रकार ग्रहण करते हैं।

हरबार्ट ने पेस्तालॉजी के स्कूल में काम किया था। पेस्तालॉजी ने अपने प्रमुख सिद्धान्त—तात्कालिक अनुभव के द्वारा ग्रहण करने अथवा सीखने की प्रक्रिया की कुछ व्याख्या की थी जिस पर हम पीछे प्रकाश डाल चुके हैं। हरबार्ट ने अपनी डायरी में इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि शब्दों, वाक्यों और परिभाषाओं को जब बच्चे सीखते थे, तो मुझे यह सन्देह रहता था कि वे कुछ सीखते भी हैं। मैं जब यह संदेह पेस्तालॉजी के आगे प्रकट करता, तो वह पूछता कि यदि बच्चे इन्हें समझते नहीं तो वे इन्हें क्यों प्रसन्नता तथा शीघ्रता से सीख लेते हैं ? मैं यह अवश्य देखता कि बच्चे उन बातों को समझते अवश्य हैं। फिर भी मेरी समझ में यह नहीं आता कि यह सब कैसे हो जाता है और फिर मैं यह मान लेता कि बच्चे किसी आन्तरिक क्रिया (Inner activity) द्वारा सीखते हैं।

जब हरबार्ट ने अपने अध्यापन सम्बन्धी सिद्धान्त स्थिर किये तो उसने 'आन्तरिक क्रिया' का विचार छोड़ दिया। उसे लॉक का विचार ज्यादा उचित जान पड़ा जिसके

अनुसार बालक का मन कोरी पटिया (Tabula Rasa) माना गया है और जिस पर बाह्य प्रभावों या संवेदनाओं से लिखा अंकित होते हैं। इन लिखों से विचार उत्पन्न होते हैं। हरबार्ट ने इस विचार को उसी रूप में स्वीकार नहीं किया। उसने कहा कि मन का स्वरूप और प्रकृति स्पष्ट नहीं है। विचारों से मन की प्रक्रिया संचालित होती है। दर्शन में जो शक्ति आत्मा कहलाती है वह वास्तव में अनेक मानसिक प्रक्रियाओं का एक संघात है।

हरबार्ट के मत से मन न तो अच्छा है और न बुरा। वह अच्छा और बुरा बाह्य प्रभावों से बनता है। इस विचार के अनुसार मन की सबसे बड़ी विशेषता ग्रहणशीलता (Assimilation) है। इसके अतिरिक्त, दूसरी प्रमुख विशेषता है, मन का अपने भीतर आने वाले प्रभावों का समन्वय करना। मन की इन दोनों विशेषताओं को अपने आप में समेट लेने वाले 'पूर्वानुवर्ती अभिबोध पुंज' (Apperception Mass) की कल्पना हरबार्ट ने कर डाली। इसे पूर्वानुवर्ती ज्ञान भी कहते हैं परन्तु मन की उपर्युक्त दोनों विशेषताओं का बोध कराने वाले 'पूर्वानुवर्ती अभिबोध पुंज' शब्द का प्रयोग उपयुक्त है। इसका तात्पर्य यह है कि बाहरी प्रभावों से बच्चे के मन में पहले जो संस्कार जम जाते हैं, उनका एक 'पुंज' बन जाता है। यह पुंज मन की ग्रहणशीलता का कारण है। बच्चे का मन केवल उन्हीं प्रभावों को ग्रहण करता और धारण करता है, जो पूर्व-स्थापित संस्कार पुंजों से समानता रखता है। विपरीत प्रभावों से उत्पन्न इस पूर्व-स्थापित अभिबोध पुंज के विरोधी संस्कार को मन कभी ग्रहण नहीं करता। अब सरल शब्दों में यों कहा जा सकता है कि मनुष्य आरम्भ में जो कुछ ज्ञान प्राप्त करता है, उससे समानता रखने वाले नवीन ज्ञान को वह सरलता से सीख लेता है। समान विचार उस पुराने ज्ञान में विलीन होते जाते हैं और ज्ञान का भंडार बढ़ता जाता है।

'पूर्वानुवर्ती अभिबोध पुंज' के कारण मन की ग्रहणशीलता (सीखने) तथा धारणा शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इसके अतिरिक्त वह अवधान (Attention), रुचि और बोध शक्तियाँ भी पैदा करता है। यह बात भी व्यावहारिक जीवन में स्पष्ट होती है। बच्चे के मन में जो बातें पहले से रहती हैं, उन्हीं से मिलती-जुलती बातें वे आसानी से सीखते हैं, उन्हीं में रुचि रखते हैं और उन्हें वे ध्यान से सुनते हैं।

हरबार्ट के इस 'पूर्वानुवर्ती अभिबोध पुंज' ने सीखने की प्रक्रिया की एक ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की जो बड़ी लोकप्रिय बन गयी। इसके आधार पर ही 'ज्ञात से अज्ञात की ओर' या 'परिचित से अपरिचित की ओर' जैसे सूत्र शिक्षा के क्षेत्र में उत्पन्न हुए। प्रशिक्षण महाविद्यालयों में हरबार्ट की पाठ-योजना का प्रचलन हुआ और हर प्रशिक्षार्थी को यह बताया जाता है कि वह बच्चों के पूर्वज्ञान से नवीन ज्ञान का सम्बन्ध स्थापित करे।

पाठ्य-विषयों में सानुबन्ध—हम पहले ही देख चुके हैं कि चरित्र-निर्माण के लिए हरबार्ट ने संकल्प को बहुत अधिक महत्त्व दिया। संकल्प 'द्विविधा' का विरोधी

है। मनुष्य के मन में संकल्प शक्ति तभी पैदा होती है जब उसका मन बहुत से विकल्पों में फँसा न रहे। अनेक विकल्पों के कारण ही मनुष्य के मन की चेतना शक्ति टुकडों में बँट जाती है। हरबार्ट ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए यह कहा था कि विचार वृत्तों और बहुमुखी रुचियों से संकल्प बनता है परन्तु जब विचार वृत्त और रुचियाँ अनेक होंगी, तो उनमें परस्पर विरोध होने का भय हो सकता है। यदि विरोधी तत्त्व पैदा हो गये तो यह निश्चय है कि संकल्प नष्ट होगा। इस दोष से बचने के लिए हरबार्ट ने 'सानुबन्ध' (Correlation) का सिद्धान्त निश्चित किया। सानुबन्ध के द्वारा चेतना शक्ति की एकता बनाए रखकर संकल्प शक्ति को उत्पन्न करना आवश्यक है। इस सिद्धान्त के अनुसार जब बालकों के आगे पाठ्य-सामग्री प्रस्तुत की जाय तो उनके बीच वर्तमान सम्बन्ध का बोध बालकों को अवश्य कराया जाय। इससे यह लाभ होगा कि 'पूर्वानुवर्ती अभिबोध पुंज' संघटित बना रहेगा। अतः अध्यापक को यह चाहिए कि वह विभिन्न विषयों के बीच समवाय या सानुबन्ध उत्पन्न करने का प्रयत्न करता रहे।

अध्यापन में 'सानुबन्ध' का उपयोग करने के लिए हरबार्ट ने दो बातें आवश्यक बतायीं, एक एकाग्रीकरण (Concentration) और दूसरी समायोजन (Correlation)। एकाग्रीकरण का अर्थ है, किसी विषय पर लगातार अपनी समस्त मानसिक शक्तियों को केन्द्रित करना और समायोजन का तात्पर्य है, तमाम प्रभावों में क्रम उत्पन्न करना। इन प्रक्रियाओं को चलाने के लिए हरबार्ट ने केन्द्र विषय (Core Subject) की कल्पना की और बताया कि 'इतिहास' ही ऐसा विषय है जिसकी सहायता से सारे पाठ्य-विषयों के बीच कड़ी या सम्बन्ध उत्पन्न हो सकता है। इतिहास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है क्योंकि यह मानव संस्कृति का खजाना है और इतिहास रूपी फ्रेम में सारे पाठ्य-विषय जड़े जा सकते हैं। यदि सारे पाठ्य-विषय मोती हैं तो इतिहास वह डोर है जिसमें यह सभी मोती पिरोए जा सकते हैं। इतिहास की पृष्ठभूमि में सभी विषयों को पढ़ाने से मनुष्य के मन की एकता पैदा होती है।

४. फ्रोबेल

सामान्य परिचय

बहुचर्चित और प्रशंसित 'किंडरगार्टन' पद्धति के स्कूल से शायद ही कोई अपरिचित न हो। किंडरगार्टन फ्रोबेल का सबसे बड़ा परिचय है। आज दुनिया का शायद ही कोई ऐसा सभ्य देश होगा जिसमें किंडरगार्टन स्कूल न हों। राजनीतिक दर्शन की भिन्नता के बीच इन स्कूलों का होना, बिना देश, जाति और संस्कृति की भिन्नता के विचार से इनका अपनाया जाना फ्रोबेल के विचारों की श्रेष्ठता का प्रमाण है।

फ्रोबेल आदर्शवादी दार्शनिक और वैज्ञानिक था। उसने जर्मनी के प्रसिद्ध

जर्मन दार्शनिकों जैसे कांट, शैलिंग, हीगल, हर्डर और नोवालिस आदि के दार्शनिक साहित्य का अनुशीलन किया जिनकी गहरी छाप उसके शिक्षा-दर्शन पर पड़ी है। साथ ही उसने कुछ समय तक पेस्तालॉजी के स्कूल में भी काम किया। वहाँ उसने बाल स्वभाव का सूक्ष्म पर्यवेक्षण किया और यहीं उसके मन में शैशव गुणों को पूरा करने का उत्साह पैदा हुआ। वह पेस्तालॉजी के विचारों से पूरी तरह सहमत न हो सका। अन्त में उसने केवल तीन बच्चों को लेकर एक किसान की झोंपड़ी में एक स्कूल चलाना प्रारम्भ किया। उसके मन में एक नये प्रकार के स्कूल की कल्पना पैदा हुई। लगातार ८-१० वर्षों तक प्रयोग करते-करते उसने इस विचार को मूर्त रूप देना प्रारम्भ किया। अन्त में उसने ब्लैंकेनबर्ग में एक स्कूल खोला जिसे उसने किंडरगार्टेन के नाम से पुकारना आरम्भ किया। फ्रोबेल के शिक्षा सम्बन्धी विचार उसकी पुस्तक 'मनुष्य की शिक्षा' (Education of Man) में संगृहीत हैं।

फ्रोबेल का शैक्षिक चिन्तन

जीवन तत्त्व की एकता—फ्रोबेल एक अद्वैतवादी दार्शनिक था। उसका मत है कि विश्व एक तत्त्व से बना है। ईश्वर, जीव और प्रकृति सभी उसी एक तत्त्व से बने हैं और यह जीवन तत्त्व की एकता का प्रमाण है। यह एकता ही सत्य और चिन्तन है। उसने बताया है कि जीव और प्रकृति उस महान् एकता के अंग हैं। अपने सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए उसने लिखा है

"सृष्टि के सभी पदार्थों पर एक शाश्वत नियम व्याप्त होकर शासन करता है। यह सर्वशासक नियम निश्चय ही किसी सर्वव्यापक, स्फूर्तिमान, सजीव चेतन तथा सार्वभौम अभिसत्ता या 'एकता' पर अवलम्बित है। यह एक एकता ही भगवान है। सब पदार्थ उसी विराट दैवी चेतना से प्रादुर्भूत हैं और उसी में उनका मूल है। सब पदार्थ उसी दैवी एकता या ईश्वर से बँधे रहकर जीते रहते हैं। प्रत्येक पदार्थ में जो दैवी स्फुरण होता है, वही उस पदार्थ का चेतन तत्त्व है।"

इस 'एकता' का बोध किस प्रकार हो—यही फ्रोबेल के शैक्षिक चिन्तन का मुख्य विषय है। इस पर कुछ अधिक चर्चा आवश्यक है।

(क) 'एकता' के विचार की उत्पत्ति—फ्रोबेल के समय में नेपोलियन के आक्रमणों से तत्कालीन जर्मनी देश की असाधारण क्षति हुई थी। वह देश टुकड़ों में बँट गया और जर्मन निवासियों की एकता नष्ट हो गई। जर्मन दार्शनिकों को इससे बड़ा क्लेश पहुँचा और उन्होंने जर्मन जाति की एकता का आधार ढूँढ निकाला। वह आधार था, जीवन तत्त्व की एकता। उन्होंने बताया कि यद्यपि जर्मन लोग राजनीतिक कारणों से टुकड़ों में बँट गये हैं तथापि वे एक हैं क्योंकि उनके शरीरों में वह 'एकता' का तत्त्व मौजूद है। यह विचार फ्रोबेल ने कांट, हीगेल, फिक्टे आदि दार्शनिकों से ले लिया।

(ख) अनेकता की व्याख्या— भौतिक जगत् में हम अनेकता और विविधता देखते हैं। फ्रोबेल ने इन दोनों बातों की जो 'एकता' की विरोधी हैं, व्याख्या की जो 'विकासवाद' के मत से बहुत मिलती-जुलती है। उसका कहना है कि जन्म के समय प्रारम्भिक दशा में वस्तुएँ एक-सी होती हैं परन्तु विकास के दौरान भिन्नता पैदा हो जाती है। यह भिन्नता केवल ऊपरी है और किसी तरह भी वास्तविक नहीं। फ्रोबेल का यह विचार आगे चलकर डारविन के 'विकासवाद' की पृष्ठभूमि बना।

(ग) एकता का बोध कराने के उपाय—फ्रोबेल ने 'एकता का बोध कराना' शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य निश्चित किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने प्रकृति को प्रमुख साधन माना। उसका विचार था कि चूँकि उस महान् एकता से मनुष्य और प्रकृति दोनों उत्पन्न हुए हैं, इसलिए 'प्रकृति' के माध्यम से मनुष्य को एकता का बोध कराया जा सकता है। किंडरगार्टन के बच्चों की शिक्षा में प्रकृति के अध्ययन (Nature Study) को उसने सर्वोपरि स्थान दिया। अध्यापिकाएँ बच्चों को फूल, पेड़, सूर्य, आकाश तथा प्रकृति के अन्य अंगों के प्रति आकृष्ट करती है।

छोटे बच्चों को प्रकृति के विशाल जगत् में ले जाना सम्भव नहीं है। इसलिए फ्रोबेल ने प्रकृति के अध्ययन को ही 'एकता' की अनुभूति का एकमात्र साधन नहीं माना। कक्षाओं में इस तत्त्व का बोध कराने का एक सुन्दर उपाय उसकी समझ में आया और वह था—'उपहार'। यह उपहार एक प्रकार की सहायक सामग्री है परन्तु उसे बालक बहुत पसन्द करते हैं और उनके खेलने में वे काम आते हैं, इसलिए इस शिक्षोपयोगी सामग्री का नाम उपहार रखा। इन उपहारों की संख्या २० है परन्तु इनमें से सात मुख्य हैं। यह सात उपहार भी तीन आकृतियों, यथा लम्बगोल, गोल और घन के रूपान्तरमात्र हैं। यह उपहार खेल में काम आते हैं परन्तु इनका मूल उद्देश्य 'एकता' का बोध कराना है। उदाहरण के लिए, 'गेंद' को लें। गेंद की लम्बाई चौड़ाई, ऊँचाई या मोटाई इसके विशेष आकार के कारण स्पष्ट नहीं है। कहाँ इसका आरम्भ है और कहाँ अन्त, यह भी नहीं मालूम। इसलिए यह इकाई का प्रतीक है। इसकी सहायता से छोटे बच्चे 'एकता' का बोध करते हैं और वह भी खेलते हुए। इसी प्रकार दूसरा उपहार 'घन' (Cube) एकता के अनेकता में विभाजन और अनेकता के एकता में रूपान्तर का बोध कराने में सहायक है। यह घन छोटी-छोटी इकाइयों से बनता है और उन इकाइयों से कई प्रकार की शक्लें बन जाती हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एकता अनेकता का रूप ग्रहण करती है।

एकता का बोध कराने के लिए फ्रोबेल ने एक अन्य बात पर काफी बल दिया है। उसने बताया कि हर व्यक्ति के विकास में चार प्रकार के विरोधी तत्त्व क्रियाशील रहते हैं। वे हैं—(१) माता-पिता की प्रकृति और उनके संस्कार, (२) परमात्मा और प्रकृति की चेतना, (३) परिवार की संस्कृति और प्रवृत्तियाँ, तथा (४) मानवता की प्रवृत्ति और संस्कृति। इन चारों तत्त्वों का समायोजन बच्चों के मनस्

रहें। रूसो ने भी यही बताया था कि जो बात जबानी बताई जाती है उसे बच्चे भूल जाते हैं परन्तु जिस बात को सीखने में श्रम होता है, वह याद रहती है। दूसरे श्रम द्वारा रचनात्मक काम हो सकता है। फ्रोबेल के मत में रचनात्मक काम आध्यात्मिकता का अंग है। इसलिए किंडरगार्टन पद्धति में श्रम करने का अभ्यास न केवल बागवानी के द्वारा वरन् उन सभी क्रियाओं द्वारा कराया जाता है जिनमें बच्चे भाग लेते हैं। सक्रियता द्वारा बच्चों को श्रम कराते हैं जिससे उनका स्वास्थ्य बनता है और उनके मन का परिष्कार भी होता है।

५. हरबर्ट स्पेंसर

सामान्य परिचय

शिक्षा के क्षेत्र में वैज्ञानिक प्रवृत्ति का प्रारम्भ १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फ्रांसिस बेकन ने किया था और लॉक ने इन्द्रियजन्य ज्ञान का महत्त्व स्पष्ट करके विज्ञान की उन्नति का मार्ग खोल दिया था। इसके परिणामस्वरूप मानव जीवन में जो परिवर्तन उत्पन्न हुए, उनके अनुरूप शिक्षा को क्या मोड़ लेना चाहिए, इसकी ओर किसी का ध्यान नहीं गया। हरबर्ट स्पेंसर ने इस आवश्यकता का अनुभव किया और शिक्षा के कार्यक्रम का पुनर्गठन करने की आवाज उठाई। वह शिक्षा में उत्पन्न होने वाली वैज्ञानिक प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है। साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वह एक महान् चिन्तक भी था जिसके शिक्षा सम्बन्धी विचार उसकी पुस्तक 'शिक्षा—बौद्धिक, नैतिक और शारीरिक' में देखने को मिलते हैं। वैज्ञानिक विषयों का महत्त्व सिद्ध करते हुए भी वह इस बात को नहीं भूल पाया कि मानव जीवन में नैतिकता और संस्कृति का महत्त्व है। यह बात अवश्य रही कि वह नैतिकता और संस्कृति के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही रखता था।

स्पेंसर का शैक्षिक चिंतन

बदलता हुआ मानव जीवन और शिक्षा—इन्द्रियजन्य ज्ञान और प्रकृति के नियमों की जानकारी ने मनुष्य के जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन उत्पन्न करना प्रारम्भ कर दिया था। इस परिवर्तन का सूत्रपात अठारहवीं शती के अन्तिम चरण में इंगलैण्ड से प्रारम्भ हुआ और उसे इतिहास में औद्योगिक क्रान्ति कहते हैं। इस क्रान्ति का जन्म वैज्ञानिक आविष्कारों से हुआ था। अभी तक मनुष्य हाथों से काम करता आया था परन्तु अब मशीनों के बन जाने से उसके हाथ में बहुत बड़ी शक्ति आ गयी और मशीनों के बल पर उसने अपनी सुख-सुविधा में वृद्धि की। पिछले हजारों वर्षों में भोजन, वस्त्र, आवास, यातायात तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों में मनुष्य ने अनेक सुविधाएँ प्राप्त कर ली और साथ ही प्रकृति की शक्तियों को उसने गुलाम बना लिया। [illegible], उसका जीवनक्रम बदलने लगा।

विज्ञान की उन्नति से मनुष्य के विचारों में बड़ा परिवर्तन हुआ। उसके [illegible]न का ढंग ही बदल गया। पहले वह 'अनुमान' और 'अन्तर्दृष्टि' को ज्ञान का

साधन मानता था परन्तु अब प्रत्यक्ष अनुभव और पर्यवेक्षण के साथ तर्क शक्ति का प्रयोग करके वह अपनी समस्याओं को हल करने लगा। इसका फल यह हुआ कि धार्मिक रूढ़ियाँ और प्रचलित अंधविश्वास नष्ट होने लगे। अभी तक दर्शन, धर्म और साहित्य में जो कुछ लिखा था, उस पर आँखें बन्द करके विश्वास कर लेने की प्रवृत्ति का अन्त होने लगा। इस बात का प्रमाण हमें कोपरनिकस, गैलीलियो और डारविन के विचारों में मिलता है। इसका स्पष्ट प्रभाव यह हुआ कि मानव समाज में दर्शन, धर्म और साहित्य का वह सम्मानपूर्ण स्थान नहीं रह गया, जो पहले था। पुरानी मान्यताओं और मूल्यों के प्रति संदेह के पैदा होने से विचार जगत् में जो हलचल पैदा हुई वह इंगलैण्ड के कवियों, जैसे टेनीसन और आरनोल्ड, की कृतियों में देखने को मिल सकती है। इन लोगों ने मनुष्य के बदलते हुए जीवन के प्रति निराशापूर्ण दृष्टिकोण प्रकट किया तो स्पेंसर ने उसका आशावादी पक्ष सामने प्रस्तुत किया।

मानव जीवन बड़ी तेज़ी में बदल रहा था परन्तु तदनुरूप शिक्षा नहीं बदल रही थी। शिक्षा का काम जीवन की तैयारी है और यदि जीवन बदलता है तो शिक्षा को भी बदलना चाहिए। यह परिवर्तन शिक्षा के उद्देश्यों, विधियों और पाठ्यक्रम में आने चाहिए। 'इन्द्रियजन्य ज्ञान' की महत्ता विज्ञान ने बढ़ाई थी। ज्ञान-प्राप्ति के ढङ्ग बदल गये थे। इन विधियों की ओर शिक्षा को मोड़ने का काम पेस्तालॉजी और हरबार्ट ने किया था परन्तु पाठ्य सामग्री में क्या परिवर्तन हों, ताकि शिक्षा बदलते हुए मानव जीवन के अनुकूल बन जाय, इस बात की ओर स्पेंसर ने संकेत किया।

पाठ्यक्रम का पुनर्गठन—स्पेन्सर ने इंगलैण्ड के स्कूलों में पढ़ाये जाने वाले विषयों की कटु आलोचना की क्योंकि वे मनुष्य के बदलते हुए जीवन में मेल नहीं खाते थे। इन स्कूलों में पढ़ाये जाने वाले प्रमुख विषय थे–धर्म, दर्शन, इतिहास और साहित्य। स्पेन्सर ने इन विषयों की शैक्षिक उपयोगिता पर सन्देह प्रकट किया। उसने कहा कि ज्ञान दो तरह का हो सकता है–१ साधक ज्ञान (Instrumental knowledge), और २ साध्य ज्ञान अथवा विधायक ज्ञान (Positive knowledge)। साधक ज्ञान अधिक महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि वह साध्य ज्ञान को पाने का एक साधन है। असली महत्त्व तो साध्य ज्ञान अथवा विधायक ज्ञान का है, जो मानव जीवन की उन्नति के लिए आवश्यक है। साधक ज्ञान पाने के लिए धर्म, दर्शन और साहित्य तथा भाषा के विषय पढ़ाये जा सकते हैं और साध्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए विज्ञान-विषयों का पढ़ाना जरूरी है। इस दृष्टि से इंगलैण्ड में पढ़ाये जाने वाले दर्शन, भाषा और साहित्य विषय गौण हुए और विज्ञान-विषय प्रमुख हुए। स्पेंसर ने खेद प्रकट करते हुए कहा कि विज्ञान-विषयों को शिक्षा में महत्त्व नहीं दिया जा रहा है जिससे भावी पीढ़ी घाटे में रहेगी। अच्छा यह होगा कि स्कूलों के पाठ्यक्रम का पुनर्गठन किया जाय और विज्ञान के विषयों को उसमें सम्मानपूर्ण स्थान दिया जाय।

विज्ञान-विषयों के पक्ष-समर्थन में हरबर्ट स्पेंसर ने वे सभी तर्क दिये जो साहित्यिक विषयों के समर्थन में सदियों से दिये जाते रहे हैं। उसने कहा कि वैज्ञानिक विषयों की व्यावहारिक उपयोगिता है। उनके पढ़ने से मानव जीवन में सुख की वृद्धि होगी और नया ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलेगी। इन विषयों का सुरक्षात्मक मूल्य है अर्थात् इनकी जानकारी जितनी अधिक होगी उतनी ही अधिक सुरक्षा की गारंटी हो सकेगी। उसने विज्ञान-विषयों के पक्ष में दूसरा तर्क यह दिया कि साहित्यिक विषयों की अपेक्षा मानसिक शक्तियों के उत्थान में विज्ञान-विषय कहीं अधिक समर्थ है, इसलिए उनका अभ्यासात्मक मूल्य (Disciplinary value) भी अधिक है। उसका तीसरा प्रबल तर्क यह था कि विज्ञान-विषयों का सांस्कृतिक मूल्य भी अपेक्षाकृत अधिक है। मानव संस्कृति वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण बदल चुकी है और उस संस्कृति का ज्ञान नौजवान पीढ़ी को विज्ञान-विषयों के माध्यम से ही कराया जा सकता है।

शिक्षा का उद्देश्य--सर्वाङ्गीण जीवन विज्ञान-विषयों का महत्त्व स्पष्ट करने के लिए स्पेंसर एक कदम और आगे बढ़ा। उसने वही महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया जो शिक्षा के सम्बन्ध में आदि काल से उठाया जाता रहा है, अर्थात् शिक्षा क्यों दी जानी चाहिए अथवा शिक्षा का उद्देश्य क्या है? इस प्रश्न का उत्तर उसने 'सर्वाङ्गीण जीवन की तैयारी के लिए' सूत्र द्वारा दिया। शिक्षा का काम, उसके मत में, मनुष्य को सर्वाङ्गीण जीवन के लिए तैयार करना है।

सर्वाङ्गीण जीवन (Complete living) का तात्पर्य क्या है? इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए स्पेंसर ने कहा है कि सर्वाङ्गीण जीवन वह है जो महत्त्व क्रम से पाँच बातों के लिए समर्थ हो, वे हैं -(१) अस्तित्व रक्षा में समर्थता, (२) मूल आवश्यकताओं की पूर्ति में समर्थता, (३) संतति रक्षा में समर्थता, (४) सामाजिक सम्बन्धों का निर्वाह करने में समर्थता, और (५) आमोद-प्रमोद की समर्थता।

इन पाँच बातों के महत्त्व क्रम के आधार पर स्पेंसर ने विषयों को भी महत्त्वक्रम में विभाजित किया। चूँकि अस्तित्व रक्षा सबसे अधिक आवश्यक है, इसलिए इस कार्य में सहायक विज्ञान विषय सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। दूसरा स्थान मूल आवश्यकताओं की पूर्ति को प्राप्त है जिसके लिए व्यावसायिक और औद्योगिक विषय पढ़ाना जरूरी है। तीसरा स्थान हरबर्ट ने संतति रक्षा को दिया है जिससे गृह-विज्ञान का महत्त्व बढ़ा। चौथा स्थान सामाजिकता का है जिसके विकास के लिए सामाजिक विषय पढ़ाने चाहिए और अन्तिम स्थान जीवन में आमोद-प्रमोद को है जिसके लिए साहित्य और दर्शन पढ़े जा सकते हैं। इस वर्गीकरण से एक बात स्पष्ट है कि अभी तक १९वीं शताब्दी में जिन विषयों जैसे धर्म, साहित्य, भाषा, दर्शन और इतिहास का महत्त्व सबसे अधिक था, वही स्पेंसर के मत में सबसे कम महत्त्व के बन गए।

वास्तव में स्पेन्सर का दृष्टिकोण सर्वथा नवीन था। अभी तक शिक्षा केवल कुछ वर्गों तक सीमित थी जो अवकाश तथा धन की सुविधा का उपयोग कर रहे थे। स्पेन्सर के मन में एक ऐसी शिक्षा की कल्पना पैदा हुई जो सर्वसाधारण के लिए सुलभ हो। सुविधा-प्राप्त जनों के लिए, जो जीवन के संघर्ष से बचे रहते थे, साहित्य और दर्शन जैसे विषय पढ़ना स्वाभाविक था। अब प्रजातन्त्र के उदय से जनसाधारण का महत्त्व बढ़ा और उनको ऐसी शिक्षा चाहिए थी जो उन्हें जीवन के संघर्ष में सफलता दिला सके। इसीलिए हरबर्ट स्पेन्सर ने सर्वाङ्गीण जीवन की तैयारी का उद्देश्य लेकर शिक्षा में आमूल परिवर्तन की सम्भावनाएँ उत्पन्न कर दीं।

स्पेन्सर के विचारों को पढ़ने के बाद कुछ ऐसा जान पड़ने लगता है कि वह विशुद्ध रूप से भौतिक और उपयोगितावादी चिन्तक है और उसकी नजरों में दर्शन और साहित्य का कोई मूल्य नहीं है। ऐसा विचार भ्रमात्मक है। स्पेन्सर नैतिकता का उतना ही समर्थक था जितना हरबार्ट रहा था।

प्रकृत परिणामों का सिद्धान्त—स्पेन्सर का विचार था कि बालकों में नैतिकता का भाव उत्पन्न करने के लिए उन्हें प्रकृति पर छोड़ देना चाहिए। रूसो ने भी लगभग यही बात कही थी परन्तु 'प्रकृत परिणामों का नियम' स्पेन्सर की ही देन है। उसके विचार के गम्भीर शैक्षिक परिणाम हुए हैं। बच्चों की शिक्षा में 'स्वतन्त्रता' और साथ-साथ में स्व 'संयम' का महत्त्व इस सिद्धान्त से प्रकट होता है। उन्हें अच्छाई और बुराई का ज्ञान प्रकृति करा देती है—यह विचार पूरी तरह से ग्राह्य भी नहीं है यद्यपि इसमें एक आकर्षण है।

स्पेन्सर की मान्यता यह है कि प्रकृति अच्छे काम का पुरस्कार सुख के रूप में और बुरे काम का दंड कष्ट के रूप में देती है। प्रकृति के निर्णय प्रशंसनीय होते हैं क्योंकि वे अनिवार्य होते हैं अर्थात् बुरा काम करने पर दंड और अच्छा काम करने पर पुरस्कार मिलेगा ही। साथ ही परिणाम समानुपातिक भी होता है, अर्थात् जिस सीमा तक आचरण बुरा होगा, उसी सीमा तक दंड कठोर होगा। प्रकृति का दंड या पुरस्कार अपवाद शून्य है अर्थात् ऐसा कभी नहीं होता कि बुरे काम का दंड किसी स्थिति में न मिले। प्रकृति का यह नियम हर काल और हर स्थान पर इसी प्रकार चलता आया है।

प्रकृति के परिणामों का सिद्धान्त तर्क की दृष्टि से बड़ा चमत्कारी जान पड़ता है परन्तु जब स्पेन्सर उसे बच्चों की शिक्षा पर घटित करता है, तो उसमें कई दोष नजर आने लगते हैं और इस सिद्धान्त की सीमा स्पष्ट होने लगती है। उदाहरण के लिए, वह कहता है कि यदि कक्षा में दिये गये काम को कोई बालक नहीं करता, तो उसका प्रकृत परिणाम यह होना चाहिए कि बालक को स्कूल समाप्त होने के बाद घर जाने से रोक लिया जाय। अब इस प्रकार के उदाहरण से यह शंका पैदा होती है कि ठीक से काम न करने या न पढ़ने पर बालक को घर न जाने देना का क्या प्राकृतिक परिणाम गिना जाना चाहिए। दूसरे, इस प्रकार का परिणाम किसी प्रकार शिक्षाप्रद

है अथवा नहीं। [illegible] स्वयं [illegible] उचित है ? इन सब प्रश्नों का समाधान स्पष्ट नहीं हो पाता।

उपर्युक्त परिणामों के उपरान्त [illegible] की शिक्षा का [illegible] यह भी होता है कि बच्चे का हम उत्तम और [illegible] के सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा देना चाहते हैं जिसमें समय और [illegible] की अति बरबादी हो जाती है। साथ ही हम यह भी मान लेते हैं कि शिक्षा में निर्देशन का कोई महत्त्व नहीं है। इसके अतिरिक्त [illegible] का मत नई की कसौटी पर खरा भी नहीं उतरता। जब यह कहना है कि प्रवृत्ति के परिणाम हर हालत में लाभप्रद होते हैं तो यह प्रश्न उठता है कि क्या ऐसा नहीं हो सकता कि अज्ञान और अपरिपक्व बुद्धि के कारण व्यक्ति का ढंग पर जीवन के मार्ग में न पड़ जाए और किसी बात या किन्हीं [illegible] के कहे [illegible] कहीं अधिक दंड न पा जायें। किसी स्थिति में यह भी सम्भव है कि भूल बालक ने की हो, पर दंड मिले माता-पिता को। उदाहरण के लिए, यदि बालक स्वास्थ्य के सम्बन्ध में सावधान नहीं है, तो उस बीमारी के कारण के लिए माता-पिता को परेशानी उठानी पड़ती है। सबसे बड़ी बात यह है कि सामाजिक जीवन में प्रकृत परिणाम का नियम पूर्ण रूप से लागू नहीं होता। कई काम ऐसे हो सकते हैं जिनका परिणाम सुखद हो, पर वह [illegible] हो या दुखद होते हुए भी शुभ हो।

इस प्रकार स्पेन्सर का यह नियम अचूक नहीं है। फिर भी यह मानना पड़ेगा, इस विचार का बहुत से सीमित प्रयोगों में स्वीकार भी कर लिया गया। उदाहरण के लिए, इंग्लैण्ड में 'समरहिल स्कूल' की व्यवस्था का प्रमुख आधार यही नियम है और यह स्कूल प्रशंसनीय कार्य कर रहा है।

६. जॉन ड्यूवी

सामान्य परिचय

जॉन ड्यूवी अमरीका के सर्वविदित दार्शनिक और शिक्षाविद रहे हैं। वे प्रयोजनवादी (Pragmatic) दार्शनिकों, यथा जेम्स और पियर्स, की परम्परा की एक मजबूत कड़ी है। उन्होंने दर्शन और शिक्षा के दायित्व की नई व्याख्या की जिससे शिक्षा की नयी परम्पराएँ पड़ीं।

जॉन ड्यूवी अपने विद्यार्थी जीवन में कोई विशेष चमत्कार नहीं दिखा सके थे। वे एक धर्मपरायण वृत्ति के व्यक्ति थे परन्तु सहसा उनके हाथों में विकासवादी दार्शनिक टी० एच० हक्सले की पुस्तक पड़ गयी। उसके पढ़ने से उनकी विचारधारा में बड़ा परिवर्तन पैदा हो गया। फिर उन्होंने डारविन का साहित्य पढ़ा और विज्ञान-साहित्य में उनकी रुचि इतनी बढ़ी कि वे गहन अध्ययन में जुट गये। सौभाग्य से उन्हें स्टेनले हॉल तथा चार्ल्स पियर्स जैसे विद्वान जनों के सम्पर्क में रहने और उनके पथ-प्रदर्शन में अध्ययन करने का भी सुअवसर प्राप्त हुआ। उनके ऊपर हीगल के [illegible]न का भी काफी प्रभाव पड़ा। शिक्षा में उनकी अभिरुचि बढ़ी और तब उन्होंने

हरबार्ट तथा फ्रोबेल के शैक्षिक साहित्य को अच्छी तरह पढ़ा। इसके बाद जॉन ड्यूवी ने शिक्षा के चलतू विद्यालयों से असन्तुष्ट होकर एक नया विद्यालय खोला जो 'प्रयोगशाला विद्यालय' अथवा ड्यूवी स्कूल के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

ड्यूवी का शिक्षा-दर्शन उनकी पुस्तकों, यथा 'विद्यालय और समाज' (School and Society), 'प्रजातन्त्र और शिक्षा' (Democracy and Education) तथा 'हम कैसे सोचते हैं' (How We Think) में विकसित हुआ है।

ड्यूवी का शिक्षा-चिन्तन

ड्यूवी ने अपने दर्शन का विकास प्रत्यक्ष अनुभव तथा प्रयोग के आधार पर किया है। यद्यपि उन्होंने अध्ययन और मनन किया है, परन्तु वे उन लोगों में नहीं हैं जो आप्तवचन (Authority) को बिना समझे-बूझे मान लेते हैं। जो विचार उन्होंने ग्रहण किया वह अनुभव की प्रामाणिकता के आधार पर और उसकी जाँच करने के पश्चात्, और उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वालों को यही सलाह दी कि वे छात्रों को इस प्रकार तैयार करें कि वे सत्यासत्य की परख में कुशल बनें। ड्यूवी का यह विचार मूर्तरूप में प्रकट हुआ, जिसे प्रयोगशाला विद्यालय कहते हैं। अस्तु, संक्षेप में इस विद्यालय के क्रिया-कलाप की जानकारी आवश्यक है।

प्रयोगशाला-विद्यालय—यह विद्यालय ड्यूवी ने शिकागो में अपनी पत्नी के सहयोग से सन् १८९६ में चलाना प्रारम्भ किया। इसमें ४ वर्ष से लेकर १४ वर्ष की आयु तक के छात्र थे। छात्रों की संख्या कम थी। पहले इस नये प्रकार के विद्यालय का लोगों ने मजाक बनाया परन्तु शीघ्र ही जब इसके उत्तम परिणाम स्पष्ट होने लगे और विद्वानों ने इस विद्यालय की श्रेष्ठता स्वीकार की। इस विद्यालय की कई प्रमुख विशेषताएँ थीं :

(क) विद्यालय समाज का लघुरूप—इस विद्यालय में ड्यूवी ने छात्रों को एक छोटे-से समाज के रूप में संगठित किया। छात्रों को यहाँ के सामाजिक जीवन में सहयोगपूर्वक भाग लेने के लिए यहाँ प्रेरित किया गया। साथ ही, सारे विद्यार्थियों को यह अनुभव कराया गया कि वे एक सार्थक तथा उपयोगी जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

(ख) क्रियात्मक कार्यक्रम—इस प्रयोगशाला विद्यालय की दूसरी विशेषता है—क्रियात्मक कार्यक्रम (Activity programme)। यहाँ का पाठ्यक्रम पूर्व-निर्धारित नहीं होता। बालकों के वर्तमान जीवन पर विद्यालय का सारा कार्यक्रम आधारित है। मौखिक पढ़ाई का तिरस्कार करके व्यावहारिक कार्यों और प्रत्यक्ष अनुभवों को यहाँ की शिक्षा में प्रमुख स्थान दिया गया। ड्यूवी का यह विश्वास था कि शिक्षा के कार्यक्रम का स्रोत बालकों की सहज क्रियाएँ और रुचियाँ हैं। यहाँ पर पढ़ने, लिखने तथा गणित जैसी बौद्धिक क्रियाओं को विभिन्न क्रियाओं (activities)

के माध्यम से सिखाने की व्यवस्था थी। यहाँ की शिक्षाप्रद क्रियाओं में सैर, रचनात्मक कार्य, आत्माभिव्यक्ति (Self expression) और प्रकृति का अध्ययन प्रमुख है।

ड्यूवी के विद्यालय के क्रियात्मक कार्यक्रम की उपयोगिता निम्नलिखित है :

१ 'क्रिया के द्वारा सीखना' (Learning by doing) सूत्र का प्रयोग सीखने की शक्ति बढ़ाना है। पाठ्य-विषय को क्रिया के रूप में बदल कर उसे प्रत्यक्ष करते और अनुभव करते हुए बालक को हर बात अच्छी तरह समझ में आ जाती है।

२ यहाँ बालकों को यह अवसर मिलता है कि वे अपने अनुभवों की जाँच कर लें। केवल अनुभव मात्र काफी नहीं है, बालकों को यह जानना चाहिए कि कौन-सा अनुभव शुद्ध है और कौन-सा अशुद्ध ?

३. बालक यहाँ जो कुछ सीखते हैं उसकी प्रत्यक्ष उपयोगिता प्रमाणित हो जाती है। सीखे हुए ज्ञान का व्यवहार करके उपयोगिता की परख कर ली जाती है।

४ विद्यालय का वातावरण पुराने प्रकार के स्कूलों से बिल्कुल बदला हुआ होता है। विभिन्न क्रियाओं में भाग लेते हुए छात्र एक-दूसरे से सहयोग करते हैं परन्तु स्पर्द्धापूर्वक कार्य करते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि वे आपसी मतभेद भूल गये हैं और जुट कर एक उद्देश्य की पूर्ति में लगे हुए हैं। इससे उनमें सामाजिक गुणों का विकास होता है।

५ छात्र शिक्षा प्राप्त करते हुए प्रयोगात्मक (Experimental) दृष्टिकोण अपनाते हैं। वे किसी भी तथ्य को बिना सोचे-समझे नहीं ग्रहण करते।

शिक्षा का दायित्व— ड्यूवी एक प्रयोजनवादी दार्शनिक थे। वे दर्शन में 'आप्तवचन' को प्रमाण नहीं मानते थे, सत्य की प्रामाणिकता की कसौटी उनके मत में कुछ दूसरी है। वे कहते हैं

(क) सत्य की हम हर दशा में जाँच (Verification) कर सकते हैं।

(ख) जो विचार जाँच की कसौटी पर खरा उतरे, वही सत्य है।

(ग) सत्य हर दशा में उपयोगी होता है।

(घ) जो विचार उपयोगिता की कसौटी पर खरा उतरे वही सत्य है।

कोई भी सिद्धान्त या विचार स्थायी रूप से सत्य नहीं होता, दूसरे शब्दों में, सत्य परिवर्तनशील है। इसलिए उस विचार की सत्यता और प्रामाणिकता की जाँच की आवश्यकता है। यह कार्य कैसे हो ? ड्यूवी ने बताया कि दर्शन में बताये गये सत्यों की जाँच विद्यालय में हो सकती है। 'शिक्षा दर्शन की प्रयोगशाला है' इस सूत्र का अर्थ यह है कि ड्यूवी की मान्यता के अनुसार शिक्षा के माध्यम से ही सत्य की 'सत्यता' की परख की जा सकती है। इस प्रकार यह तय हुआ कि शिक्षा का प्रमुख दायित्व सत्य की जाँच-पड़ताल करना है।

शिक्षा का दूसरा उत्तरदायित्व यह है कि वह दर्शन की 'उपयोगिता' की परख ... अभी तक दार्शनिकों का विचार यह था कि दर्शन 'ज्ञान' प्रदान करता है और ... इस कार्य में सहायक होती है। जो 'ज्ञान' छात्रों को प्राप्त होता है, उससे वे 'जानते' हैं ('ज्ञान' शब्द 'ज्ञा' धातु से बना है, जिसका अर्थ जानना है)। ड्यूवी ...ना है कि 'ज्ञान' केवल मनुष्य को कुछ सत्यों की जानकारी मात्र नहीं कराता। ...नुष्य को इस योग्य बनाता है कि वह अपनी परिस्थितियों को नियन्त्रण में ला ...र जिस दुनिया में रहता है, उसे और अच्छा बना सके। यही ज्ञान की उप... है। ड्यूवी ने अपनी पुस्तक 'दर्शन का पुर्ननिर्माण' (Reconstruction of ...osophy) में लिखा है :

"यदि सिद्धान्तों, विचारों, नियमों या विधियों से, परिस्थिति को अपने अनुकूल ... और कठिनाइयों या समस्याओं को हल करने में सहायता मिलती है तो उन्हें ...और निर्भरशील समझना चाहिए। यदि वे इस काम में सफल हो सकें, तो उन्हें ...शील, विश्वसनीय, सत्य और अच्छा समझना चाहिए। यदि उनसे अस्पष्टता ...दोषों को दूर करने में सहायता न मिले, या उसके अनुसार काम करने पर और ...धिक अस्पष्टता और परेशानी बढ़ जाय, तो उन्हें 'झूठी' और 'असत्य' समझना ...चित है।"

अस्तु, शिक्षा का दायित्व यह भी है कि वह पढ़े जाने वाले सत्यों, विचारों, ...न्तों, नियमों और विधियों की उपयोगिता की जाँच भी करे। दूसरे शब्दों में ... यह सिद्ध करे कि 'दर्शन' कहाँ तक व्यावहारिक है या यों कहें कि शिक्षा ... का व्यावहारिक रूप है (Education is the practical side of ...osophy)।

शिक्षा का तीसरा दायित्व यह है कि वह ज्ञान तथा अनुभव का प्रत्यक्ष ...न्ध जोड़ दे। ड्यूवी ने अपनी पुस्तक 'प्रजातन्त्र और शिक्षा' में बताया है कि ...ा का उद्देश्य 'मानव संस्कृति का हस्तान्तरण' (Transmission of Culture) ... तरह उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। पाठ्य विषयों के रूप में मानव संस्कृति ... पीढ़ी के समक्ष प्रस्तुत की जाती है परन्तु छात्रों को यह कदापि अनुभव नहीं ... कि उनके पूर्वजों का यह ज्ञान क्या था और उसे कैसे जीवन में प्रत्यक्ष रूप से ...रा जा सकता है? ज्ञान अनुभवशून्य होने पर बेकार हो जाता है। हमारे ...ने स्कूल एक प्रकार की दूकान हैं जिनमें सड़े-गले अनुभवशून्य ज्ञान की बिक्री ... है। असली शिक्षा वह है जिसके माध्यम से छात्रों को यह जाँचने का मौका ...ता है कि कौनसे ज्ञान के तत्त्व अनुभव-प्रधान हैं और उन्हें कहाँ तक स्वीकार ...ा चाहिए? इससे उन्हें दर्शन के सत्यों का अनुभव के आधार पर पुनर्गठन ...ने का मौका मिलता है। इस अर्थ में शिक्षा अनुभव का पुनर्गठन है (Education ... reconstruction of experience)।

शिक्षा का चौथा दायित्व है—शिक्षा में व्याप्त विरोधों को समाप्त करना। ड्यूवी का कहना है कि प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि समाज तथा शिक्षा में वर्तमान कई प्रकार के विरोधों को समाप्त किया जाय। विशेष रूप से प्रजातन्त्र, उद्योग और विज्ञान के बीच विरोध उत्पन्न हो गया है। प्रजातान्त्रिक जीवन में उद्योग और विज्ञान को सहायक होना चाहिए परन्तु ऐसा नहीं हो रहा है। उदाहरण के लिए, उद्योगों के विकास से पूँजीवाद विकसित हो रहा है, जो प्रजातन्त्र को सार्थक नहीं होने देता। धन कुछ लोगों के हाथों में पहुँच जाता है और वे पूँजीपति जनता के प्रतिनिधियों को खरीदने का प्रयत्न करते हैं और कहीं-कहीं वे तथाकथित लोक सभाओं पर अधिकार करके साधारण जनता का रक्त चूसते हैं। इसी प्रकार विज्ञान की सहायता से प्रजातन्त्र में अनेक प्रकार की सुख-सुविधाएँ सामान्य जनता को मिल सकती हैं परन्तु होता कुछ और है। विज्ञान की शक्ति को कुछ राजनीतिज्ञ बन्दी बना लेते हैं और वे भयानक शस्त्रास्त्रों की सहायता से प्रजातन्त्र को नष्ट करके अधिनायकतन्त्र (Dictatorship) चलाते हैं। शिक्षा का काम प्रजातन्त्र को उबारना है। शिक्षा सामान्य जनता को विवेक-सम्पन्न बनाकर यह परिस्थितियाँ आने नहीं देती अर्थात् पूँजीपतियों और अधिनायकों की शक्ति बढ़ने नहीं देती।

विचार जगत् में कई अन्तर्विरोध हैं, जैसे 'स्कूल और समाज' में, 'रुचि और प्रयत्न' (Interest and effort) में, 'व्यक्तिवाद और सामूहिकतावाद' में और 'बालक तथा पाठ्यक्रम' में। शिक्षा पर इन अन्तर्विरोधों को समाप्त करने की जिम्मेदारी है। अभी तक 'स्कूल' को समाज का अंग नहीं समझा जाता, हर स्कूल के चारों ओर बनी दीवारें इसका प्रमाण हैं। ड्यूवी के मत में स्कूल समाज का लघु रूप है। समाज की सारी प्रक्रियाएँ स्कूल में रखकर, इस अन्तर्विरोध को दूर कर सकते हैं। इसी प्रकार सामान्य धारणा यह है कि रुचि जहाँ होगी वहाँ प्रयत्न न होगा अर्थात् जो काम रुचिकर होता है, वह श्रमसाध्य नहीं होता और बिना प्रयत्न के किया जाता है और जो काम श्रमसाध्य हो या जिसमें बड़ा प्रयत्न करना पड़े, वह रुचिकर नहीं होता। यह विरोध भी निरर्थक है। शिक्षा के द्वारा हर श्रमसाध्य कार्य को रुचिकर बनाया जा सकता है। शिक्षा के द्वारा यह भी प्रत्यक्ष रूप से दिखाया जा सकता है कि व्यक्ति और समाज में कोई विरोध नहीं है, जैसा प्रयोग-शाला के विवरण से प्रकट है। समाज व्यक्ति का रक्षक है और उसके विकास में सहायक है तथा व्यक्ति समाज को उन्नति की ओर अग्रसर करता है। इसी प्रकार 'बालक और पाठ्यक्रम' के विरोध को शिक्षा समाप्त करती है। पूर्व-निर्धारित पाठ्यक्रम तो बालक की सत्ता को नहीं स्वीकार करता परन्तु क्रियात्मक पाठ्यक्रम में तो सब कुछ बालक की क्रिया से निकलता है और दोनों में कोई विरोध नहीं रह जाता।

शिक्षा और बालक—ड्यूवी ने शिक्षा का मूल केन्द्र बालक को माना है। यह उनके क्रियात्मक कार्यक्रम से ही प्रकट हो जाता है, वे वास्तव में शिक्षा के सारे

पाठ्यक्रम तथा क्रियाकलाप का उद्गम बालक को ही मानते हैं। इसके अतिरिक्त एक बात और भी विचारणीय है। 'सत्य की उपयोगिता' की जाँच के बारे में हम बता चुके हैं और कह चुके हैं कि ड्यूवी के अनुसार शिक्षा का एक उत्तरदायित्व 'सत्य की उपयोगिता' की जाँच है। ड्यूवी महोदय इस प्रश्न को और आगे ले जाते हैं। शिक्षा में बालकों को जो सत्य बताये जाते हैं, उन 'सत्यों की उपयोगिता' किसके लिए है ? यह प्रश्न भी विचारणीय है।

वही विचार, सिद्धान्त या सत्य उपयोगी है, जो 'मनुष्य' के लिए उपयोगी है। अब इस बात का शैक्षिक परिणाम यह निकलता है कि हमें बालकों को वही कुछ पढ़ाना या सिखाना है, जो 'उनके' लिए उपयोगी है। इस दृष्टि से भी 'बालक' का महत्त्व बढ़ जाता है। सारा शैक्षिक कार्यक्रम वही होना चाहिए जो छात्रों के लिए उपयोगी हो। पाठ्यक्रम के अनुसार बालकों को तोड़ना-मोड़ना नहीं है वरन् बालकों के हित की दृष्टि से पाठ्यक्रम को बदलना है।

दूसरी बात यह है कि हर सत्य हमेशा के लिए उपयोगी नहीं रहता। आज जो सत्य उपयोगी है, कल की बदली हुई परिस्थितियों में अनुपयोगी सिद्ध हो सकता है। यही बात सारे सिद्धान्तों और ज्ञान के तत्त्वों पर घटित होती है। यदि समय परिवर्तन के कारण 'उपयोगिता' नष्ट हो सकती है, तो 'भूत' और 'भविष्य' का महत्त्व नष्ट हो जाता है। इनके स्थान पर वर्तमान की महत्ता बढ़ जाती है। दुर्भाग्य से शिक्षा का एक उद्देश्य अति प्राचीनकाल से 'भावी जीवन की तैयारी' रहा है। भावी जीवन की जो कल्पना है वह साकार होगी भी या नहीं, इसका विचार किए बिना बालक के सुखद वर्तमान की उपेक्षा होती रही है। ड्यूवी ने स्पष्ट रूप से बताया कि 'भूत-भविष्य' का ध्यान न करके बालकों के वर्तमान जीवन की दृष्टि से उपयोगी बातों को सिखाना विद्यालय का प्रथम कर्त्तव्य है।

शिक्षा एक अनिवार्य क्रिया है—प्रयोगशाला विद्यालय में शिक्षा 'जीवन का प्रतिरूप है', यह हम पहले ही देख चुके हैं। परम्परागत शिक्षा में यह बात नहीं है क्योंकि वहाँ शिक्षा को जीवन से अलग एक प्रक्रिया माना गया है। ड्यूवी के मत में जिस प्रकार जीवन का क्रम निरंतर चलता रहता है उसी प्रकार शिक्षा का क्रम भी निरंतर चला करता है। इस अर्थ में शिक्षा एक अनिवार्य क्रिया है।

इस दृष्टि से शिक्षा का दायित्व यह है कि वह छात्रों को मानव संस्कृति के मूल, उपयोगी तथा शुद्ध तत्त्वों से अवगत कराए। यह काम मशीनी तरीके से नहीं होना चाहिए क्योंकि हमारी पुरानी धारणा कि मानव संस्कृति एक धरोहर है और उसे एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को दे जाती है, सर्वथा गलत है। क्योंकि मानव संस्कृति कोई ईंट या रोड़ा अथवा सोने का आभूषण नहीं है, जिसे एक हाथ से दूसरे हाथ में दिया जा सके। संस्कृति अनुभवों का अमूल्य कोश है और 'अनुभवों' के *प्रत्यक्ष अनुभव से जाना जा सकता है अर्थात् प्रत्यक्ष जीवन के सन्दर्भ में ही हम*

अनुभव की ताजगी को जान सकते हैं। इस दृष्टि से शिक्षा एक अनिवार्य क्रिया बन जाती है।

शिक्षा एक सामाजिक क्रिया है—ड्यूवी के प्रयोगशाला विद्यालय में 'समाज के लघु रूप' की चर्चा हम पहले कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त हम यह भी बता चुके हैं कि इस स्कूल में छात्रों को सहयोगपूर्ण ढंग से सामाजिक जीवन बिताने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है। इस दृष्टि से शिक्षा एक सामाजिक क्रिया बन जाती है। स्कूल के समाज का वातावरण धीमे-धीमे बालकों के अन्तर्मन पर प्रभाव डालता है। इस समाज में रहकर वे *'सफलता', 'असफलता', 'मान' और 'अपमान'* के भावों का अनुभव करता है। यहीं उसे भाषा का ज्ञान प्राप्त होता है। इस समाज की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि सारे छात्र मिल-जुल कर एक उद्देश्य के पीछे चलते हैं।

पुराने ढंग के स्कूल में 'समाज' का सच्चा स्वरूप देखने को नहीं मिलता क्योंकि यहाँ हर छात्र उस प्रकार कुछ समय के लिए आता है जैसे मेले में या स्टेशन पर लोग आते हैं। उनके बीच में कोई अटूट सम्बन्ध नहीं होता। इन स्कूलों में 'भीड़' (Crowd) या समूह होता है, समाज नहीं। उत्तम शिक्षा देने वाले स्कूल का समाज संघटित होता है, उसके सारे सदस्य सहयोग, सहानुभूति, भ्रातृभावना और एक उद्देश्य की डोर में बँधे होते हैं। शिक्षा का उद्देश्य ऐसे सामाजिक वातावरण को नियोजित रूप से उत्पन्न करना है।

ड्यूवी ने प्रजातान्त्रिक समाज को ही सच्चा समाज माना है। इसलिए वह शिक्षा में प्रजातान्त्रिक वातावरण की रचना करने पर विशेष बल देता है। प्रजातांत्रिक समाज की श्रेष्ठता इस बात में है कि यहाँ प्रत्येक व्यक्ति को अपने सर्वाङ्गीण विकास के लिए समान अवसर मिलते हैं। ड्यूवी का विचार है, शिक्षा की यह सारी सामाजिक क्रिया नियोजित होनी चाहिए। इसके कई कारण ड्यूवी ने बताये हैं।

समाज में तीन प्रकार के प्रमुख प्रयोजन (Motive) देखने को मिलते हैं। प्रथम, मनुष्य मात्र में स्नेह (Affection) की आकांक्षा प्रबल होती है। समाज इस स्नेह के सूत्र में बँधा होता है। दूसरा प्रयोजन है, सामाजिक विकास की भावना अर्थात् हर मनुष्य यह कामना करता है कि वह मानव-हित के लिए प्रयत्न करे। तीसरा प्रयोजन है, जाँच की इच्छा अर्थात् मनुष्य हर अनुभव को परखना चाहता है। यदि तीन प्रयोजन न हों तो समाज न चले। इस दृष्टि से यह नितान्त आवश्यक है कि योजनापूर्वक विद्यालय में इन तीनों प्रयोजनों को आधार मानकर सामाजिक जीवन बिताने की व्यवस्था की जाय।

शिक्षा विकास के रूप में—ड्यूवी ने शिक्षा को 'विकास' (Growth) का एक रूप माना है। शिक्षा की प्रक्रिया के बीच बालक का विकास होता है। लगभग यही विचार फ्रोबेल का भी था परन्तु फ्रोबेल आदर्शवादी था और उसने 'विकास' की

व्याख्या रहस्यवादी ढंग से की। वह ईश्वरीय सत्ता पर विश्वास करता था और यह मानता था कि मनुष्य उस सत्ता का एक अंश है। इसलिए उसका यह तर्क था कि उस अंश का विकास स्वतः होता है। इसके विपरीत, ड्यूवी ने डारविन के विकास वाद से ज्यादा सीखा। इसलिए उसका मत यह था कि शिक्षा के माध्यम से मनुष्य का विकास होता है या यों कहें कि बालक की शिक्षा वास्तव में विकास की प्रक्रिया का एक अंग है।

चूँकि ड्यूवी विकास को किसी अलौकिक (Supernatural) शक्ति पर छोड़ देने में विश्वास नहीं करता, इसलिए वह शिक्षा के नियोजन और निर्देशन को बहुत अधिक महत्त्व देता है। इस सम्बन्ध में ड्यूवी के कई तर्क हैं

(क) *परिवार तथा स्कूल के बाहर समाज में बालक केवल चलन, दैनिक* तथा वर्तमान बातों, विश्वासों और परम्पराओं का ज्ञान प्राप्त करता है परन्तु स्कूल में उसे अनेक ऐसी बातों का ज्ञान प्राप्त होता है जिनका सम्बन्ध भूत और भविष्य से है। स्कूल बालक के अनुभव का दायरा बहुत अधिक बढ़ाने में समर्थ है। यह तब तभी सम्भव है, जब शिक्षा का नियोजन हो।

(ख) *स्कूल की एक विशेषता यह है कि यहाँ प्रत्येक स्थिति, विचार या* सिद्धान्त को सुलभ कर (Simplified) बालकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। यदि ऐसा न हो, तो बालकों का ज्ञान ठीक से विकसित ही न हो पाए। नियोजन से हर पाठ्य विषय सरल और बोधगम्य बनता है।

(ग) स्कूल में जो भी ज्ञान या प्रभाव बालकों के आगे प्रस्तुत किया जाता है, वह चयन (Selection) के द्वारा प्राप्त होता है। हर उचित-अनुचित, उत्तम या अधम बात उनके आगे नहीं रखी जाती क्योंकि इससे शिक्षा का प्रभाव घटता है। चयन के कार्य के लिए भी नियोजन आवश्यक है।

(घ) स्कूल का सारा वातावरण सतुलित (Balanced) होता है अर्थात् हर आवश्यक ज्ञान के तत्त्व को बालकों की शिक्षा में स्थान दिया जाता है ताकि बालकों के विकास में असंतुलन न पैदा होने पाये। यह भी नियोजन का ही महत्त्व प्रदर्शित करता है।

बालकों के समुचित विकास के लिए शिक्षा का वातावरण नियोजित होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह हुआ कि हर शैक्षिक कार्यक्रम सोद्देश्य होना चाहिए। हरबार्ट ने भी नियोजन (Planning) को महत्व दिया है परन्तु हरबार्ट और ड्यूवी के चिन्तन में अन्तर यह है कि हरबार्ट नियोजन के सूत्र को अध्यापक के हाथ में दे देता है और सारे कार्यक्रम में अध्यापक की प्रधानता रहती है जबकि ड्यूवी का सारा नियोजन बाल-केन्द्रित है। स्कूल के वातावरण को नियोजित बनाने के लिए तीन बातें आवश्यक हैं .

(क) निर्देशन (Direction)—बालकों के हर कार्य को एक समुचित दिशा होनी चाहिए ताकि वह हितकर हो और उनकी शक्तियों का क्षय न हो।

(ग) नियंत्रण (Control)—ड्यूवी ने बालकों की प्रवृत्तियों के अनुकूल स्वतंत्र शैक्षिक वातावरण तैयार करने का विचार प्रकट किया है, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उन्हें मनमानी करने की छूट दे दी जानी चाहिए। अध्यापक को उनकी क्रिया पर नियंत्रण रखना चाहिए।

(घ) पथ-प्रदर्शन (Guidance)—बालकों के विकास-क्रम में अध्यापक हस्तक्षेप तो नहीं करता परन्तु उन्हें उनकी कठिनाइयों का हल बताना आवश्यक होता है। वह उनके कार्यक्रम में सलाह-सुझाव देता रहता है।

नियोजित वातावरण में इन तत्त्वों के निर्देशन, नियंत्रण और पथ-प्रदर्शन से बालकों के समुचित विकास में सहायता मिलती है।

ड्यूवी की शिक्षण विधि—अब तक ड्यूवी के विचारों और उनके प्रयोगशाला विद्यालय के सम्बन्ध में वर्णन आ चुका है। उनसे उनकी शिक्षण विधि का कुछ आभास तो मिल ही जाता है परन्तु उस पर अलग से विचार करना आवश्यक है।

यह पहले बताया जा चुका है कि ड्यूवी शिक्षा का दर्शन भी प्रयोगात्मक मानते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि स्कूल में हर समस्या का विश्लेषण तथा निराकरण प्रयोगात्मक ढंग से होना चाहिए। इस प्रयोगात्मक विधि का प्रयोग कई कारणों से आवश्यक है। प्रथम, ड्यूवी प्रयोजनवादी हैं और मानते हैं कि सत्य परिवर्तनशील है। इसलिए प्रयोगात्मक विधि से हर सिद्धान्त, विचार और सत्य की परीक्षा करना आवश्यक है। दूसरे, मनुष्य अपने भाग्य का विधाता है और वह अपनी परिस्थितियों पर विजय पाकर उन्हें अपने अनुकूल बना सकता है। उसे अपनी बुद्धि पर विश्वास करना चाहिए। जीवन में चिन्तन शक्ति का महत्त्व इस बात में है कि यह जीने में सहायक है। चिन्तन और विचार प्रयोगात्मक शिक्षण के प्रमुख अंग हैं। प्रयोगात्मक शिक्षण के प्रमुख पद निम्नलिखित हैं:

(क) पर्यवेक्षण और तथ्य-संग्रह—हर विचार, सत्य और सिद्धान्त की पूरी तरह छान-बीन करना चाहिए और उससे सम्बन्ध रखने वाले हर तथ्य का संग्रह करना चाहिए।

(ख) तुलना—उपलब्ध तथ्यों में समानता और विभिन्नता की जाँच करना चाहिए।

(ग) परिकल्पना (Hypothesis)—समानता और विभिन्नता का स्पष्टीकरण हो जाने पर सम्भावित कारण या नियम का अनुमान परिकल्पना कहलाता है।

(घ) जाँच—इस परिकल्पना की जाँच करके देखना चाहिए।

(ङ) नियम-स्वीकृति या अस्वीकृति—जाँच करने के उपरान्त यदि नियम, सिद्धान्त या विचार सही जान पड़े तो उसे स्वीकार करना चाहिए या अस्वीकार।

यह सभी पद विज्ञान तथा शोध के पद हैं। ड्यूवी ने इनका उपयोग विचारों और सिद्धान्तों की परख में करने की सलाह दी है। उनके प्रयोगशाला विद्यालय

में शिक्षण इसी विधि द्वारा होता था। इसका परिणाम यह हुआ कि चिन्तन और मनन के स्थान पर शिक्षा में प्रयोगों का बाहुल्य हुआ। अमरीकी शिक्षा पर ड्यूवी के शैक्षिक विचारों का व्यापक प्रभाव हुआ है और आज प्रयोगात्मक शिक्षा को ही वहाँ अधिक महत्त्व दिया जाता है।

पाश्चात्य चिंतन का भारतीय शिक्षा पर प्रभाव

इस समय पाश्चात्य शैक्षिक प्रभाव बड़ी तेजी से भारत पर प्रभाव डाल रहे हैं। उन प्रभावों को कुछ सीमाओं के भीतर ग्रहण करने में जहाँ औचित्य है, वहाँ उन्हें बिना सोचे-समझे ग्रहण करने में अपना अहित भी कर रहे हैं और इस प्रवृत्ति के कारण हमारे देश में अनेक शैक्षिक समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। इस सम्बन्ध में संक्षेप में कुछ विचार प्रकट करना आवश्यक है।

शैक्षिक मूल्यों में परिवर्तन

हमारे देश में शिक्षा का आदर्श बड़ा ऊँचा रहा है। यहाँ प्राचीन काल में शिक्षा का सीधा सम्बन्ध धर्म और आध्यात्म से रहा। मनुष्य के प्रकृत रूप में परिवर्तन करके उसका संस्कार-सुधार शिक्षा का मुख्य उत्तरदायित्व रहा है। इसके फलस्वरूप अति प्राचीन काल में भारतीय जाति ने अनेक नर-रत्न उत्पन्न किये थे जिनकी धाक आज भी संसार मानता है। हमारा तमाम वैदिक, पौराणिक और साहित्यिक वाङ्मय इस बात का प्रमाण है। उस शिक्षा पद्धति ने ऐसे लोगों को जन्म दिया था जिन्होंने वृहत्तर भारत का निर्माण किया था। उस प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली में भौतिक सुख की ओर से मनुष्य को विमुख करके उच्च सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक आदर्शों की ओर प्रेरित किया जाता था। पाश्चात्य शिक्षा के विचारों से प्रभावित होकर आज हम उन आदर्शों को छोड़ रहे हैं। आज यह कहा जाता है कि वे आदर्श पुराने पड़ गये हैं और शिक्षा को रोजी की समस्याओं को हल करना चाहिए। पिछले डेढ़ सौ वर्षों से शिक्षा का सम्बन्ध 'रोजी कमाने' से भी नहीं जुड़ा, अब तो वह शिक्षा नौकरशाही का एक शोषक वर्ग तैयार करती जा रही है, इस नौकरशाही में स्वार्थपरता, चरित्र की निर्बलता और प्रशासन की अक्षमता है। आज देश में व्यापक रूप से चरित्र का संकट है। इस घोर संकट की घड़ी में हमें यह सोचना है कि पाश्चात्य भौतिक शिक्षा के मूल्यों से हमारे देश को लाभ हो रहा है या नहीं? हमें यह सोचना होगा कि ड्यूवी का शुद्ध प्रयोजनवादी और उपयोगितावादी शिक्षा-दर्शन हमारी समस्याओं को हल कर सकता है? क्या वह स्वयं अपने देशवासियों का हित करने में सफल हुआ है?

रूसो, पेस्तालॉजी और ड्यूवी ने सामान्य जन की शिक्षा पर बहुत जोर दिया है। इनके विचारों ने प्रजातांत्रिक शिक्षा का महत्त्व बढ़ाया है। आज पाश्चात्य देशों में यह विश्वास प्रबल हो गया है कि शिक्षा पाना हर नागरिक का अधिकार है और राज्य को शिक्षा की जिम्मेदारी उठानी चाहिए। वहाँ शिक्षा को 'निवेश' (*Invest-*

ment) माना है। कुछ देशों में शिक्षा के 'राष्ट्रीयकरण' की माँग भी प्रबल है। यह प्रवृत्तियाँ हमारे देश में भी जड़ पकड़ रही हैं। हर ओर से माँग है कि शिक्षा पर अधिक से अधिक धन लगाया जाय पर हमारी कठिनाइयाँ हैं—एक तो हमारी आर्थिक तंगी हमें विवश कर रही है परन्तु दूसरी ओर हमारे शासक यह पूरी तरह अनुभव नहीं करते कि शिक्षा का भार उठाना राष्ट्र की जिम्मेदारी है। सभी पंचवर्षीय योजनाओं में शिक्षा के कार्यक्रम को वह महत्त्व नहीं मिला है, जो उसे मिलना चाहिए। ऐसी हालत में हमें यह सोचना चाहिए कि हमें पाश्चात्य प्रजातांत्रिक शिक्षा के आदर्श को स्वीकार करना कहाँ तक सम्भव है।

ड्यूवी का शिक्षा का प्रयोगवादी दर्शन हम भारतीयों के लिए बड़े प्रलोभन की वस्तु है। शिक्षा की समस्याओं को प्रायोगिक ढंग से हल करने के लिए हमने 'शोध' और प्रयोग का मार्ग अपनाया है। हम अपने सीमित साधनों से असीम लक्ष्यों की प्राप्ति में जुटे हैं और करोड़ों रुपया इन शोध कार्यों पर लगा रहे हैं। विशेष रूप से हमारी रुचि नयी प्रकार की वस्तुनिष्ठ शिक्षा-प्रणाली, विवरण-पत्रों, पाठ्यक्रम का पुनर्गठन, पाठ्य-पुस्तक लेखन, शैक्षिक कर्मशालाओं तथा पथ-प्रदर्शन सेवाओं की ओर बढ़ती जा रही है और यह सब बातें अमरीका से उधार लेकर हम अपने देश में लागू कर रहे हैं। इनमें अच्छाइयाँ हैं परन्तु इन प्रवृत्तियों को व्यावहारिक रूप देने के लिए और उनसे पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता है, उनके साधन हमारे पास नहीं हैं। फल यह हुआ है कि करोड़ों रुपयों की धनराशि बरबाद हुई है। यह एक महत्त्वपूर्ण बात समस्या के रूप में उत्पन्न हुई है।

नये शैक्षिक क्रिया-कलाप

पाश्चात्य शिक्षा-दर्शन में 'बालकेन्द्रित शिक्षा' का महत्त्व दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। रूसो, पेस्टालाजी, फ्रोबेल तथा ड्यूवी—इन सभी ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि शिक्षा में बालक के 'विकास', 'उसकी प्रवृत्तियों और रुचियों' का विशेष ध्यान रखा जाय। इस विचार ने शिक्षण-विधियों और पाठ्यक्रम पर बहुत प्रभाव डाला है। मनोविज्ञान का विकास करके बालकों के सम्बन्ध में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न किया जा रहा है। भारत में इस 'बालकेन्द्रित शिक्षा' की चर्चा बराबर सुन रही है। हमारे यहाँ किण्डरगार्टेन, मांटेसरी, नर्सरी और प्रिपेरेटरी स्कूलों की लोकप्रियता बढ़ती जा रही है परन्तु इस प्रकार की प्रवृत्तियों से केवल कुछ धनसम्पन्न लोग ही जो इनका व्यय सह सकते हैं, लाभ उठाते हैं। उन धनी लोगों के बच्चों का पूर्णतः इस ओर झुकाव बढ़ता जा रहा है। पाश्चात्य प्रभाव से बच्चों की शिक्षा में प्रारम्भिक स्तर पर जो बातें अपनानी चाहिए, वह तो अपनाई ही नहीं, बल्कि एक विभिन्न वर्ग के लिए एक नयी शिक्षा व्यवस्था का जन्म हुआ जो अब विकास में आया है।

हमारे देश में 'शिक्षक' की कल्पना कुछ और रही है। इस क्षेत्र में प्रायः वही लोग आते रहे हैं, जो त्याग और समाज-सेवा की भावना से प्रेरित हों। इस भौतिक युग में 'त्याग-सेवा' के पीछे मर मिटने की प्रवृत्ति नष्ट होती जा रही है। पाश्चात्य देशों में शिक्षण एक पेशा बन गया है, वह धन कमाने का एक साधन है। हम अपने आदर्श को यह कहकर छोड़ रहे हैं कि शिक्षक भूखा नहीं मर सकता। शिक्षक को जीने के लिए आवश्यक साधन तो चाहिए परन्तु हमारे शिक्षक केवल वेतन-भोगी बनते जायँ और उनमें कर्तव्य-भावना नष्ट होती जाय, यह शुभ लक्षण नहीं है। अध्यापन एक पेशा बन गया परन्तु पेशेवर नैतिकता का भाव अध्यापक में जाग्रत न हो और ट्रेनिंग कालिजों में हरबार्ट के 'पंच सोपानों' वाली शिक्षण-पद्धति का अभ्यास कराया जाय परन्तु अध्यापकों में चिन्तन, मनन और अध्ययन की प्रवृत्ति को न विकसित किया जाय, तो लाभ के स्थान पर हानि होगी और यही हो रहा है।

हमने पाश्चात्य शिक्षा से कुछ 'नारे' (Slogans) लिये हैं, ठीक उसी तरह से जैसे हमने राजनीति में 'प्रजातन्त्र', 'व्यक्तिगत स्वतन्त्र्य', 'समानता' और 'राष्ट्रीय एकता' के नारे अपनाये हैं। हमने शिक्षा में 'चलचित्र और रेडियो' का उपयोग (यन्त्रानुयोगकरण), 'खेल-कूद तथा पाठेतर क्रियाएँ,' 'स्वास्थ्य की जाँच', 'पाठ्य-पुस्तकों की रचना आदि अनेक नारे भारतीय शिक्षा में लगाने प्रारम्भ कर दिये हैं परन्तु इनका हमारे नवयुवकों के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ रहा है, इस बात की जाँच करने की आवश्यकता नहीं अनुभव की। इसी प्रकार हमारी शिक्षा में 'धर्म-निरपेक्षता' (Secularism) का नारा भी प्रबल है। इस देश में धर्म और शिक्षा का अटूट सम्बन्ध रहा है परन्तु हमने पश्चिम के प्रभाव में इस सम्बन्ध को तोड़ दिया। 'धर्म' का बहिष्कार करके हमने कुछ खोया है, धर्म की असली आत्मा को न पहचान कर हमने उसे 'सम्प्रदाय' समझ लिया है। विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायियों को एक-समान शिक्षा का कार्यक्रम भी हम नहीं बना पाये और न वर्तमान धर्मनिरपेक्ष शिक्षा के द्वारा राष्ट्रीय एकता और चेतना का विकास कर सके। पश्चिम का अन्धानुकरण करके और वहाँ के ज्ञान-विज्ञान को ही सब कुछ मान कर आज हमने देश में एक विदेशी भाषा को शिक्षा का माध्यम बना रखा है, जो अपने आप में एक बड़ी विस्फोटकारी समस्या है। संक्षेप में, हमने पाश्चात्य शिक्षा से 'कुछ' पाया है तो 'कुछ' ऐसी समस्या भी खड़ी कर दी है, जो इस नवोदित राष्ट्र के लिए रोग बन गयी है।

समन्वय का प्रयत्न

अंग्रेजों के शासन-काल में जिस तेजी से शैक्षिक प्रभावों का आगमन यूरोप से हुआ, उसमें यहाँ के कई महापुरुष चिन्तित हुए जैसे दयानन्द सरस्वती और तिलक आदि। इन महान आत्माओं का विचार था कि हमें अपनी भारतीय शिक्षा-पद्धति को

अपनाना चाहिए। उसकी प्रेरणा से 'गुरुकुल' प्रणाली का उद्धार करने का प्रयत्न भी किया परन्तु इस पुनीत कार्य में सफलता नहीं मिली। महात्मा गांधी ने यह अनुभव किया कि हमारे लिए पश्चिमी शिक्षा उपयुक्त नहीं है। इन्होंने सम्पूर्ण भारत की बुनियादी शिक्षा की योजना द्वारा स्वावलम्बी और औद्योगिक शिक्षा के महत्त्व का प्रतिपादन करके ध्यानाकर्षित किया। इसकी बुनियादी शिक्षा में 'करके' तथा 'अनुभव' द्वारा सिखाने तत्त्वों का समावेश भी हुआ था। शिक्षण विधि में प्रगति हुई। क्रियात्मक कार्यक्रम (Activity programme) तथा समन्वय (Correlation) के तत्त्वों का भी समावेश किया परन्तु इस देश में पश्चिम के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति ने इसके प्रसार को सफल नहीं होने दिया और आज भी हमारी शिक्षा का रूप पश्चिम से प्रभावित ही बना हुआ है।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. 'बाल-केन्द्रित शिक्षा' इस वाक्यांश से आप क्या तात्पर्य समझते हैं ? बाल-केन्द्रित शिक्षा के आन्दोलन ने शिक्षण विधियों तथा पाठ्यक्रम पर क्या प्रभाव डाला है और उसमें क्या परिवर्तन किए हैं ?

२. 'इन्द्रिय शिक्षण' का शिक्षा में क्या महत्त्व है ? बच्चों की शिक्षा में इसकी किस किस प्रकार व्यवस्था की जा सकती है ?

३. अध्यापक के रूप में आप निम्नलिखित में से किसे अधिक महत्त्व देंगे और क्यों ?

(क) शिक्षण-कला, (ख) पुस्तक, (ग) बालक, (घ) विद्यालय-उपकरण।

४. भारतीय स्कूलों में भाषा की पढ़ाई नीरस, जी उबाने वाली और प्रभाव-हीन है। इन्द्रिय शिक्षण किस प्रकार भाषा की पढ़ाई में सुधार पैदा कर सकता है ?

५. भारतीय शिक्षा की प्रमुख समस्या यह है कि छात्रों को अत्यधिक सूचनात्मक ज्ञान प्रदान किया जाता है पर उन्हें जीवन के लिए तैयार करने का कोई भी प्रयत्न नहीं होता। भारत के वर्तमान शैक्षिक कार्यक्रम में आप क्या परिवर्तन उचित समझते हैं ?

६. कक्षा में सीखने तथा पढ़ाने की समस्याएँ हल करने में शिक्षा-मनोविज्ञान के अध्ययन से क्या लाभ प्राप्त हो सकता है ?

७. पश्चिम के 'बाल-केन्द्रित शिक्षा' के आन्दोलन से हम भारतीय अध्यापक क्या लाभ उठा सकते हैं ? पाठ्यक्रम और शिक्षण की समस्याओं के हल करने में इससे क्या सहायता मिलती है ?

८. पश्चिम में शिक्षा के क्षेत्र में चलने वाले समाजशास्त्रीय आन्दोलन ने

भारतीय शिक्षा पर क्या प्रभाव डाला है ? स्कूलों के समाजीकरण के लिए भारत में क्या कार्यक्रम अपनाये गये हैं ?

९. आपको पाश्चात्य शिक्षा की विचारधाराओं का अध्ययन करने से क्या लाभ हुआ ? भारतीय शिक्षा का स्वरूप निर्धारित करने में आप पाश्चात्य शैक्षिक विचारों को कहाँ तक ग्रहण करना उचित मानते हैं ?

१०. "जीवन की तैयारी" के रूप में शिक्षा के महत्त्व पर प्रकाश डालिए। पाश्चात्य शिक्षा के क्षेत्र में किन विद्वानों ने इस तत्त्व पर जोर दिया है ? उनके विचार संक्षेप में लिखिए।

११. निषेधात्मक शिक्षा का क्या अर्थ है ? १२ वर्ष तक के बालकों के लिए रूसो द्वारा तैयार की गई निषेधात्मक शिक्षा की योजना का वर्णन कीजिए। यह योजना कहाँ तक व्यावहारिक है ?

१२. पेस्तालॉजी ने भाषा की शिक्षा को इतना अधिक महत्त्व क्यों दिया है ? भाषा सिखाने के लिए उसने किस विधि का प्रयोग किया ? कुछ उदाहरणों द्वारा इस विधि को स्पष्ट कीजिए।

१३. चरित्र के विकास में अध्यापन (Instruction) का क्या योगदान है ? हरबार्ट द्वारा वर्णित अध्यापन की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

१४. 'शिक्षा दर्शन की प्रयोगशाला है।'—ड्यूवी के इस कथन को स्पष्ट करते हुए एक निबन्ध लिखिए।

१५. शिक्षा को ज्ञानार्जन का साधन किन यूरोपीय शिक्षाविदों ने माना है और क्यों ? बालकों को ज्ञानार्जन कराने में अध्यापक किन बातों का ध्यान रखेगा ?

१६ ड्यूवी ने बच्चों की शिक्षा में 'अनुभव' पर क्यों अधिक बल दिया है ? यदि आपको किसी विद्यालय का प्रधानाध्यापक बना दिया जाय तो आप 'अनुभव' के तत्त्व को किस प्रकार दैनिक कार्यक्रम में प्रयोग करेंगे ?

राजस्थान विश्वविद्यालय की बी० एड० परीक्षा में पूछे गये प्रश्न

1. Give a brief sketch of the historical development of the Activity Movement in Europe and India (1961)
2. Explain the effects of western educational thought on the present day educational thinking in India. (1962)
3. Trace the evolution of educational thought in the West and show how far it can solve our educational problems today.

अध्याय १९

प्राचीन गुरुकुल प्रणाली और आधुनिक भारतीय शिक्षाविद्

गुरुकुलों के प्रति ध्यानाकर्षण

जब अंग्रेजों का शासन भारत में पूरी तरह जम गया तो उनका ध्यान यहाँ के निवासियों की शिक्षा की ओर गया। अपने देश में वे शिक्षा की प्रणाली का निर्माण कर रहे थे और उन्होंने यह उचित समझा कि अपने देश की शिक्षा प्रणाली ही यहाँ चलाई जाय। शासकों के अतिरिक्त यूरोप और विशेष रूप से इंगलैण्ड से आने वाले ईसाई धर्म-प्रचारकों ने भी भारत में शिक्षा का प्रचार करना आरम्भ किया और इस आड़ में वे ईसाई धर्म में हिन्दू-मुसलमानों को दीक्षित करना चाहते थे। इन लोगों ने भी विदेशी शिक्षा-प्रणाली का सूत्रपात यहाँ किया। अंग्रेज सरकार और धर्म-प्रचारकों की शिक्षा-प्रणाली में भारतीय भाषाओं और संस्कृति की घोर अवहेलना हुई थी जिसका परिणाम यह हुआ कि बहुत अधिक संख्या में भारतीय अपने धर्म और संस्कृति से विमुख होने लगे।

यद्यपि पाश्चात्य शिक्षा के मोह में पड़ने वाले भारतीय जनों की संख्या कम न थी, कुछ ऐसे भी लोग थे जिन्हें भारतीय संस्कृति और प्राचीन शिक्षा की परम्परा के प्रति बड़ा प्रेम था। इनमें से स्वामी दयानन्द सरस्वती, बाल गंगाधर तिलक, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी, श्री अरविन्द और महर्षि कर्वे प्रमुख हैं। इन्होंने पाश्चात्य शिक्षा के विषमय प्रभावों को समझा और उनका ध्यान भारत की प्राचीन गुरुकुल पद्धति की ओर गया। उन्होंने बदले हुए युग और परिस्थितियों को समझ कर उस प्रणाली में परिवर्तन करके नये प्रकार की शिक्षण-संस्थाएँ चलाई जो आज भी चल रही हैं। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली के प्रति हमारे मन में प्रबल आकर्षण है। महात्मा गांधी ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व बुनियादी शिक्षा पद्धति का निर्माण किया था और यह आशा की थी कि बुनियादी शिक्षा

भी भविष्य में हमारी राष्ट्रीय शिक्षा का प्रमुख अंग बनेगी परन्तु पाश्चात्य शिक्षा के व्यामोह में पड़ कर हमने बुनियादी शिक्षा प्रणाली की दुर्गति बनादी। यही नहीं, जिन महापुरुषों ने शिक्षा में भारतीयता लाने का प्रयास किया था, उस प्रक्रिया को हम मन्द करते जा रहे हैं। उनके द्वारा चलाई गई संस्थाओं में आज वह चेतना नहीं है, जो उनके समय में थी। गुरुकुल कांगड़ी, विश्व भारती तथा अन्य ऐसी ही संस्थाएँ अब पाश्चात्य धारा ग्रहण करके जीवित रहने का प्रयत्न कर रही हैं। यह एक दुखद अनुभव है।

शिक्षा-प्रणाली को लेकर हमारे मन में बड़ा संकल्प-विकल्प चल रहा है। इसका कारण यह है कि हम पाश्चात्य शैक्षिक विचारधारा के प्रति आकृष्ट अवश्य हैं परन्तु हमारे मन से प्राचीन शैक्षिक प्रणाली के प्रति आदर की भावना सर्वथा नष्ट नहीं हुई है। हमारे सामने बार-बार यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि हमारे लिए क्या अपनी शैक्षिक परम्पराओं को त्याग देना उचित और उपयोगी है, या फिर उनकी ओर पीछे लौटना हितकर है। राष्ट्रीय शिक्षा-आयोग ने, जिसमें भारतीय शिक्षाविदों के साथ-साथ विदेशी शिक्षा-विशेषज्ञों ने काम किया है, प्राचीन भारतीय संस्कृति के महत्त्व को स्वीकार किया है और पुराने शैक्षिक आदर्शों को स्वीकार करने की संस्तुति दी है। इससे स्पष्ट है कि पुरानी शिक्षा-प्रणाली और विशेष रूप से गुरुकुल प्रणाली के प्रति हमारे शिक्षाविदों के मन में आकर्षण मौजूद है। यही कारण है कि हम भारतीय तथा पाश्चात्य शैक्षिक आदर्शों के बीच समन्वय करना चाहते हैं।

गुरुकुल प्रणाली की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

गुरुकुल शिक्षा प्रणाली प्राचीन भारतीय शिक्षा का उत्कृष्ट रूप है। निश्चय ही इसके उत्कृष्ट रूप का विकास क्रमशः और समय के थपेड़ों में पक कर ही हुआ होगा। जैसा कि इसका नाम है, यह प्रणाली 'गुरु' के प्रयत्नों से हुई होगी। ज्ञान तथा अनुभव में श्रेष्ठ विद्वानों को 'गुरु' का नाम दिया गया था। यह महान् आत्माएँ अपना जीवन ज्ञान और सत्य की खोज को अर्पित कर देती थी। इनका 'स्व' समाज के प्रति उनकी कल्याण भावना में विलीन हो जाता था। अतः समाज इनके प्रति अगाध श्रद्धा रखता था और इनकी सुख-सुविधा का ध्यान रखने के साथ-साथ नयी नवजवान पीढ़ी की शिक्षा-दीक्षा का भार इनको सौंप देता था। इन विद्वानों ने शिक्षा देने की एक परम्परा डाली। वे छात्रों को अपने घरों पर बुला कर ही पढ़ाते थे। शिक्षा अधिक से अधिक प्रभावशाली बने, इसलिए वे छात्रों को अपने परिवारों में ही रख लेते थे। छात्र उनके यहाँ घर पर विद्यार्थी जीवन व्यतीत करते थे। चूँकि यह महान् शिक्षाविद् निस्पृह जीवन बिताते थे, इसलिए वैभवपूर्ण नगर के जीवन के प्रति उनके मन में विराग होता था और वे नगरों से बाहर अपने आश्रम स्थापित करके रहते जहाँ अधिक संख्या में छात्रों को रहने में सुविधा होती थी। धीरे-धीरे यह शिक्षा-प्रणाली 'गुरुकुल' प्रणाली के रूप में विकसित हो गयी।

भारतीय साहित्य जैसे महाकाव्यों, पुराणों तथा आख्यानों में अनेक 'गुरुकुलों' का जिक्र आता है। प्रत्येक गुरुकुल के साथ किसी एक मनीषी विद्वान् का नाम जुड़ा होता है। उदाहरण के लिए, 'रामायण' में वर्णित विश्वामित्र के गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करके राम-लक्ष्मण ने रावण जैसे आततायियों का वध किया था। श्रीमद्भागवत में सान्दीपनि ऋषि के गुरुकुल का उल्लेख है जहाँ राजवंशी कृष्ण ने निर्धन सुदामा के के साथ रहकर शिक्षा पायी। महाभारत में धौम्य ऋषि के गुरुकुल का वर्णन है जिसमें अरुण और उपमन्यु जैसे आदर्श विद्यार्थी रहे थे। महाभारत की कथा में द्रोणाचार्य का प्रसंग है, जिन्होंने अपना गुरुकुल हस्तिनापुर नगर के पास चलाया था और कौरवों तथा पाडवों को युद्ध-कौशल सिखाया था। इन गुरुकुलों के कुलपतियों में वशिष्ठ, परशुराम, विश्वामित्र, कण्व, वाल्मीकि तथा धौम्य आदि भारतीय साहित्य में सदा अमर रहेंगे। इन गुरुकुलों में शिक्षा पाए हुए विद्वानों और वीरों की कथाएँ भी उतनी ही महत्वपूर्ण हैं। गुरु-सेवा और अनुशासन के अद्वितीय उदाहरण यहाँ के छात्र प्रस्तुत करते थे। उदाहरण के लिए, द्रोणाचार्य की इच्छा-पूर्ति के लिए अर्जुन अकेले द्रुपद से युद्ध करके उन्हें बन्दी बनाकर ले आते हैं, उनका भील शिष्य एकलव्य उनके आदेश पर अपना अँगूठा काट कर दक्षिणा के रूप में दे देता है, कर्ण परशुराम की निद्रा के समय अपनी जाँघ पर से नहीं हटाता यद्यपि उसकी जाँघ को एक भयंकर कीड़ा काटता रहता है, आरुणि धौम्य ऋषि के वचनों को आशीर्वाद मान कर भयंकर बरसात में खेत का पानी रोकने के लिए मेड़ बनकर लेटा रहता है और उपमन्यु बिना कुछ खाये-पिये गायों को चराता फिरता है। संक्षेप में, गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का इतिहास अत्यन्त उज्ज्वल है।

गुरुकुल प्रणाली की विशेषताएँ—गुरुकुल शिक्षा प्रणाली की अद्वितीय सफलता का कारण उसकी कुछ विशेषताएँ हैं जिन पर विचार करना आवश्यक है। यह विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

(१) गुरुकुल प्रणाली में आवासीय शिक्षा का होना उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। यद्यपि अंग्रेजों के यहाँ पब्लिक स्कूलों में 'आवासीय' शिक्षा है अर्थात् छात्रों के लिए वहाँ स्कूल के प्रांगण में स्थित छात्रावासों में रहना आवश्यक होता है, फिर भी गुरुकुल में छात्रों का निवास अपनी अलग विशेषता रखता है। भारतीय गुरुकुलों में छात्र उसी प्रकार विकास करता था, जैसे वह अपने घर में रहता हो। यहाँ रहकर उसे स्नेह का अभाव कभी नहीं रहता था। वह अपने गुरु और गुरुपत्नी से वही स्नेह पाता था, जो माता-पिता से मिलता है। इन गुरुकुलों में दंड, दमन और नियन्त्रण के साथ-साथ विलासिता के वे दोष नहीं थे जो वर्तमान पब्लिक स्कूलों में पाए जाते हैं।

(२) गुरु-शिष्य का आदर्श सम्बन्ध गुरुकुल प्रणाली की दूसरी प्रमुख विशेषता थी। शिक्षक और विद्यार्थी के बीच पिता-पुत्र का सम्बन्ध था। शिक्षक अपने छात्र

के साथ कभी दुर्व्यवहार नहीं करता था, यद्यपि वह समय-समय पर उसके आचरण की कठोर परीक्षा लिया करता था। आज विद्यालयों में जिस प्रकार की अनुशासन-हीनता और दुर्भावना छात्रों में दिखाई देती है, उसका गुरुकुलों में सर्वथा अभाव था। अध्यापक के स्नेहसिक्त हृदय में छात्र के प्रति हित कामना वर्तमान रहती थी। हर छात्र को 'द्विज' कहा जाता था। 'द्विज' वह है जिसका दो बार जन्म होता है, छात्र एक बार माता-पिता से पैदा होता है परन्तु वह दुबारा अध्यापक के द्वारा भी पैदा होता है। अथर्ववेद में सूत्र है—आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्त अर्थात् जब छात्र को गुरुकुल में अध्यापक के पास ले जाया जाता है तो आचार्य उसे पुन अपने गर्भ में धारण करता है। तात्पर्य यह है कि अध्यापक छात्र को आध्यात्मिक जीवन प्रदान करता है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि अध्यापक छात्र को पुत्रवत् माने।

(३) गुरुकुल शिक्षा का उद्देश्य व्यावसायिक न था। यहाँ छात्र को सत्य का अनुभव कराया जाता था। आज यह कहा जाता है कि गुरुकुलों की शिक्षा धर्म-प्रधान थी और आध्यात्मिकता के तत्त्वों की अधिकता के कारण वह वर्तमान जीवन के अनुकूल नहीं है। यह आलोचना अनुचित है। यदि शिक्षा का अर्थ संस्कार है, या फिर शिक्षा वह है जो मनुष्य को मुक्त करती है (सा शिक्षा या विमुक्तये) तो निश्चय ही उसे ज्ञान-प्रधान होना चाहिए। ज्ञान का अर्थ पुस्तकों की रटाई नहीं है। 'ज्ञान' हमारे जीवन में तटस्थता, चिन्तन और निस्पृह भावना उत्पन्न करता है और प्लेटो के शब्दों में ज्ञानदायिनी शिक्षा 'दार्शनिक राजा' (Philosopher king) पैदा करती है। ऐसी ही शिक्षा गुरुकुल में दी जाती थी और छात्र में यह योग्यता पैदा हो जाती थी कि वह उचित-अनुचित, सत्य-असत्य की जाँच करने लगता था। उस शिक्षा की आवश्यकता इस समय कहीं अधिक है।

(४) गुरुकुलों में व्यावहारिक शिक्षा के साथ-साथ बौद्धिक शिक्षा दी जाती थी। छात्रगण आचार्य के साथ विविध स्थानों की यात्रा करते थे। वे नगरों, राज-सभाओं, तीर्थ स्थानों, स्वयवरों और उत्सवों में अपने आचार्य के साथ उपस्थित होते थे और अनुभव करते थे। विश्वामित्र अपने शिष्यों—राम और लक्ष्मण को जनकपुर में होने वाले सीता के स्वयंवर में ले जाते हैं और वहीं उन दोनों का विवाह हो जाता है। जीवन के विविध पक्षों का ज्ञान छात्रों को अनुभव के द्वारा कराया जाता है। हिन्दी के उपन्यासकार श्री भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'चित्रलेखा' में एक महत्व-पूर्ण नैतिक प्रश्न पर प्रकाश डाला गया है और वह यह है कि ज्ञान को अनुभव की कसौटी पर परखा जाय। आचार्य रत्नांगिरि अपने दो शिष्यों—श्वेतांक और विशालदेव को पाप-पुण्य का वास्तविक अर्थ समझाने के लिए बीजगुप्त और कुमारगिरि योगी के पास ले जाते हैं। दोनों शिष्यों को विचित्र अनुभव यह होता है कि विलास और वैभव के बीच पुण्य हो सकता है और तपोवन में पाप। उपन्यास के अन्त में आचार्य अपने शिष्यों को सही निष्कर्ष निकालने में सहायता देता है।

...नी के कई उद्देश्य थे। गुरुकुल में सभी प्रकार के छात्रों के बीच भेदभाव ... इसलिए पद-मर्यादा का ध्यान रखे बगैर हर छात्र को भिक्षा माँगनी पड़ती ...नसे छात्रों का मिथ्या गर्व दूर होता और उनमें विनय का गुण पैदा होता। ...ी उन्हें यह भी अनुभव होता था कि वे समाज के ऋणी हैं। विद्यार्थी जीवन ... भरण-पोषण समाज से प्राप्त होता है और शिक्षा पूरी करने के बाद उन्हें ...ण को चुकाना है। 'भिक्षा' लेना छात्रों के हित में था तो भिक्षा देना समाज ...न में। समाज को यह अनुभव होती था कि शिक्षा के प्रति उसकी जिम्मेदारी गुरुकुल समाज के लिए उत्तम प्रकार के नागरिक तैयार करता था तो समाज ...गों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता था।

गुरुकुल का ह्रास—ऊपर गुरुकुल प्रणाली का उज्ज्वल चित्र प्रस्तुत किया ...ा है। उस प्रणाली ने भारतीय समाज को उन्नति के शिखर पर पहुँचाया था ...रन्तु आगे चलकर इसका ह्रास आरम्भ हो गया। महाभारत काल में ही यह ...्रिया आरम्भ हुई। महाभारत की कथा में हम पढ़ते हैं कि गुरुकुल नगर के निकट ...ाने लगे। द्रोणाचार्य का गुरुकुल हस्तिनापुर के निकट स्थापित हुआ। आचार्य ...ाजाओं का वेतन-भोगी भृत्य बन गया था। द्रोणाचार्य केवल राजकुमारों को ही शिक्षा देते थे, एकलव्य और कर्ण के प्रति उनका उपेक्षा भाव इस बात का प्रमाण है। महाभारत के युद्ध में द्रोणाचार्य अन्याय को जानते हुए भी दुर्योधन का पक्ष लेते हैं क्योंकि उन्होंने उसके पिता का अन्न खाया था। स्पष्ट है कि गुरुकुल की स्वतन्त्रता और आचार्य की महत्ता में गिरावट आने लगी थी। यह ह्रास की प्रक्रिया निरन्तर चलती रही और भारत के ऐतिहासिक सम्राटों के काल में, ऐसे गुरुकुलों का जीवन लगभग समाप्त हो गया। जब किसी देश की शिक्षा-प्रणाली निर्जीव हो जाती है तो उस देश की शक्ति नष्ट होने लगती है। भारत में ऐसा ही हुआ। लगभग एक हजार वर्षों से भारत बार-बार शत्रुओं के द्वारा पददलित हुआ और प्राचीन काल के गौरव को खो बैठा। इसका कारण भी स्पष्ट है अर्थात् उसने शिक्षा की शक्तिशाली प्रणाली की उपेक्षा की जिससे सामान्य जनों का मनोबल घटता रहा।

वर्तमान भारत की आवश्यकताएँ तथा उनके अनुरूप गुरुकुल प्रणाली का संशोधन

हम पहले बता चुके हैं कि हमारे देश के कुछ आधुनिक शिक्षाविदों ने गुरुकुल प्रणाली के पुनरुद्धार की आवश्यकता अनुभव की और इस प्रणाली की विशेषताओं का समावेश अपनी शिक्षा पद्धतियों में किया। उनमें स्वामी दयानन्द सरस्वती, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी और आचार्य कर्वे प्रमुख हैं। इन सभी ने गुरुकुल को महत्त्वपूर्ण समझा परन्तु स्वामी दयानन्द को छोड़कर किसी ने भी विशुद्ध गुरुकुल प्रणाली को अपनाना उचित नहीं समझा। उन्होंने यह स्पष्ट समझा कि वर्तमान युग की आवश्यकताओं के अनुरूप ही शिक्षा का स्वरूप होना चाहिए। स्वयं स्वामी दयानन्द

इस प्रणाली के कई उद्देश्य थे। गुरुकुल में सभी प्रकार के छात्रों के बीच भेदभाव न रहे, इसलिए पद-मर्यादा का ध्यान रखे बगैर हर छात्र को भिक्षा मांगनी पड़ती थी। इससे छात्रों का मिथ्या गर्व दूर होता और उनमें विनय का गुण पैदा होता। साथ ही उन्हें यह भी अनुभव होता था कि वे समाज के ऋणी हैं। विद्यार्थी जीवन में उन्हें भरण-पोषण समाज से प्राप्त होता है और शिक्षा पूरी करने के बाद उन्हें इस ऋण को चुकाना है। 'भिक्षा' लेना छात्रों के हित में था तो भिक्षा देना समाज के हित में। समाज को यह अनुभव होती था कि शिक्षा के प्रति उसकी जिम्मेदारी है। गुरुकुल समाज के लिए उत्तम प्रकार के नागरिक तैयार करता था तो समाज गुरुकुलों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता था।

गुरुकुल का ह्रास—ऊपर गुरुकुल प्रणाली का उज्ज्वल चित्र प्रस्तुत किया गया है। उस प्रणाली ने भारतीय समाज को उन्नति के शिखर पर पहुँचाया था परन्तु आगे चलकर इसका ह्रास आरम्भ हो गया। महाभारत काल में ही यह प्रक्रिया आरम्भ हुई। महाभारत की कथा में हम पढ़ते हैं कि गुरुकुल नगर के निकट आने लगे। द्रोणाचार्य का गुरुकुल हस्तिनापुर के निकट स्थापित हुआ। आचार्य राजाओं का वेतन-भोगी भृत्य बन गया था। द्रोणाचार्य केवल राजकुमारों को ही शिक्षा देते थे, एकलव्य और कर्ण के प्रति उनका उपेक्षा भाव इस बात का प्रमाण है। महाभारत के युद्ध में द्रोणाचार्य अन्याय को जानते हुए भी दुर्योधन का पक्ष लेते हैं क्योंकि उन्होंने उसके पिता का अन्न खाया था। स्पष्ट है कि गुरुकुल की स्वतन्त्रता और आचार्य की महत्ता में गिरावट आने लगी थी। यह ह्रास की प्रक्रिया निरन्तर चलती रही और भारत के ऐतिहासिक सम्राटों के काल में, ऐसे गुरुकुलों का जीवन लगभग समाप्त हो गया। जब किसी देश की शिक्षा-प्रणाली निर्जीव हो जाती है तो उस देश की शक्ति नष्ट होने लगती है। भारत में ऐसा ही हुआ। लगभग एक हजार वर्षों में भारत बार-बार शत्रुओं के द्वारा पददलित हुआ और प्राचीन काल के गौरव को खो बैठा। इसका कारण भी स्पष्ट है अर्थात् उसने शिक्षा की शक्तिशाली प्रणाली की उपेक्षा की जिससे सामान्य जनों का मनोबल घटता रहा।

वर्तमान भारत की आवश्यकताएँ तथा उनके अनुरूप गुरुकुल प्रणाली का संशोधन

हम पहले बता चुके हैं कि हमारे देश के कुछ आधुनिक शिक्षाविदों ने गुरुकुल प्रणाली के पुनरुद्धार की आवश्यकता अनुभव की और इस प्रणाली की विशेषताओं का समावेश अपनी शिक्षा पद्धतियों में किया। उनमें स्वामी दयानन्द सरस्वती, रवीन्द्रनाथ टाकुर, महात्मा गांधी और आचार्य कर्वे प्रमुख हैं। इन सभी ने गुरुकुल को महत्त्वपूर्ण समझा परन्तु स्वामी दयानन्द को छोड़कर किसी ने भी विशुद्ध गुरुकुल प्रणाली को अपनाना उचित नहीं समझा। उन्होंने यह स्पष्ट समझा कि वर्तमान युग की आवश्यकताओं के अनुरूप ही शिक्षा का स्वरूप होना चाहिए। स्वयं स्वामी दयानन्द

ने भी 'वर्तमान' की पूर्ण रूप से उपेक्षा नहीं की वरन् यह चेष्टा की कि प्राचीन वैदिक शिक्षा आधुनिकता के साँचे में फिट हो जाय।

स्वामी दयानन्द द्वारा अनुमोदित शिक्षा-प्रणाली तथा गुरुकुल

स्वामीजी के शैक्षिक विचारों का मूल—स्वामी दयानन्द ने 'वेदों' का ज्ञान अपनी कुल परम्परा और अपने दीर्घ अध्ययन से प्राप्त किया। उन्होंने ५ वर्ष से कम की आयु में ही वेदों के मन्त्र और वेद भाष्य के अंश कंठस्थ कर लिये थे। ८ वें वर्ष के बाद उपनयन संस्कार होने पर उन्होंने यजुर्वेद का अध्ययन किया। १४ वर्ष की आयु तक उन्होंने व्याकरण और शब्दरूपावली और वेदों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। संस्कृत के भाषा तत्वों और उत्तमोत्तम ग्रन्थों पर पूर्ण अधिकार पाने के लिए काशी जाने की इच्छा वे पूरी न कर सके परन्तु २१ वर्ष की आयु में वे व्याकरण, निरुक्त, निघण्टु, पूर्व मीमांसा और यजुर्वेद में पारंगत हो गये। फिर भी वे सन्तुष्ट नहीं हुए। गृह-त्याग के बाद अनेक स्थानों पर भ्रमण करते हुए दयानन्द ने प्रसिद्ध विद्वानों से प्राचीन साहित्य का अध्ययन किया और अन्त में मथुरा आकर आर्य-ग्रन्थों के प्रबल समर्थक और अद्भुत प्रतिभा-सम्पन्न स्वामी विरजानन्द के साथ रहकर लगभग ६-७ वर्ष तक वैदिक साहित्य का अध्ययन करके पूर्णतया निष्णात हो गए।

स्वामी दयानन्द के संस्कार और उनकी शिक्षा-दीक्षा विशुद्ध रूप से प्राचीन आर्य साहित्य द्वारा संपोषित थे। इसलिए प्राचीन गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के प्रति आस्था होना स्वाभाविक था। साथ ही हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि वे कूपमंडूक न थे। केवल वेदादि का अध्ययन करने से ही वे प्राचीन शिक्षा के अन्धभक्त नहीं बन गये। उन्होंने भारत की वर्तमान अधोगति को अपनी आँखों से देखा और हिन्दू जाति के पतन के कारणों को अच्छी तरह समझकर प्राचीन गुरुकुल प्रणाली में प्राण प्रतिष्ठा करना ही देश के कल्याण का एकमात्र उपाय समझा। हर महान् सुधारक और चिन्तक की तरह स्वामीजी ने शिक्षा की ओर ध्यान दिया। उनका विचार था कि शिक्षा के माध्यम से इस भूमि में निवास करने वाले सभी निवासियों का कल्याण हो सकता है।

स्वामीजी के शिक्षा सम्बन्धी विचार—स्वामी दयानन्द ने अपने शिक्षा सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन करते समय देश और काल के वृहत् सदर्भ पर पूरी तरह ध्यान रखा। उन्होंने देखा कि भारत में अनेक प्रकार के धर्म और सम्प्रदाय हैं जो परस्पर विरोधी हैं। हिन्दू, इस्लाम, ईसाई, पारसी—इन सबमें बना समाज तीव्र भेदों के कारण सुगठित नहीं हो सकता तथा निरंतर विदेशियों के अधीन बना रहेगा। स्वयं हिन्दू धर्म भी अनेक मत-मतान्तरों में बँटा है। साथ ही अंधविश्वास और कुरीतियों ने हिन्दू जाति की नींव को खोखला बना दिया है और दूसरे आक्रमणकारी धर्म जो विदेशों की उपज है, भारत में प्रतिष्ठित होकर हिन्दुओं को अपने में आत्मसात् करते जा रहे हैं। इन सब दोषों को दूर करने के लिए उन्होंने भारत की

प्राचीन अमूल्य रत्नराशि वेदों की ओर सबका ध्यान आकर्षित करने की चेष्टा वे करने लगे और इस कार्य के लिए वे शिक्षा को साधन बनाने लगे। विद्याध्ययन के बाद ही अपनी विचारधारा के प्रसार और प्रचार के लिए जहाँ भी वे गये, उन्होंने वैदिक पाठशालाओं को चलाया। स्पष्ट है कि वे प्राचीन आर्य ग्रन्थों की शिक्षा को ही देश के उद्धार का मूल साधन मानते थे।

(क) वैदिक शिक्षा का महत्त्व—स्वामीजी वेदों को अपौरुषेय मानते हैं। विशेष रूप से वेदों का संहिता भाग ईश्वरकृत है। मनुष्यकृत समस्त साहित्य झूठा है और उसी के कारण अनेक मत-मतान्तर पैदा हो गए है। इसलिए जो समाज वेदों की शिक्षा ग्रहण करेगा, वही सत्य का पोषक होगा। दूसरे, उनका विचार है कि समस्त ज्ञान-विज्ञान का स्रोत वेद है। अरविन्द घोष ने भी दयानन्द के विचार का समर्थन करते हुए कहा है कि वेदों में ज्ञान-विज्ञान अपनी पूर्णता के साथ वर्तमान है। स्वामी जी ने वेद-साहित्य की श्रेष्ठता को स्वीकार करके कहा है कि हमें वेदों की ओर लौटना होगा। यदि वेदों को स्वीकार कर लिया जाय तो सारे मानवमात्र में एकता भी स्थापित हो सकती है। उनके मत में वेदज्ञान सम्पन्न व्यक्ति, चाहे किसी सम्प्रदाय का हो, आर्य है। अस्तु, उनका आर्यसमाज केवल हिन्दुओं के लिए ही नहीं वरन् सभी धर्मावलम्बियों के लिए ग्राह्य है। स्वामीजी ने अंधविश्वास और कुप्रथाओं का खंडन किया है, चाहे वे किसी सम्प्रदाय की हों। वैदिक शिक्षा द्वारा सत्यानुराग पैदा किया जा सकता है। इसी के द्वारा सभी भेदों को नष्ट करके मानव-समाज में एकता पैदा की जा सकती है।

स्वामीजी ने पाश्चात्य शिक्षा का विरोध इसलिए किया कि वह किसी प्रकार भी प्रगतिशील नहीं कही जा सकती। पाश्चात्य शिक्षा भौतिकता प्रधान है और वह सभ्यता की पहली सीढ़ी के अनुकूल है। इसके विपरीत, भारत में आध्यात्म का विकास हो चुका है और भारतीय शिक्षा में आध्यात्म के तत्त्वों की प्रधानता होनी चाहिए परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हमारे सामने जो कुछ वर्तमान है, उसकी उपेक्षा होनी चाहिए। वैदिक शिक्षा में आधुनिकता का समावेश करके भारतीय शिक्षा को समर्थ बनाया जा सकता है—ऐसा विश्वास दयानन्द का था।

(ख) वैदिक शिक्षा का स्वरूप—भारत में वेदों का अध्ययन-अध्यापन स्वामी जी से पहले प्रचलित था परन्तु उस अध्ययन से समाज का कोई लाभ नहीं होता था। पंडित और ब्राह्मण वैदिक ग्रन्थों को पढ़ते, रटते, शास्त्रार्थ और वाद-विवाद करते परन्तु उस ज्ञान का मानव समाज को कोई लाभ नहीं मिलता था। व्यक्ति के आचरण और व्यवहार पर भी वेदों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। यदि ऐसा होता तो भारत का पतन न होता। दूसरे, वेदों का ज्ञान कुछ थोड़े से लोगों तक सीमित रह जाता था। स्वामी दयानन्द वेदों की शिक्षा हर एक को देने के पक्षपाती थे। उन्होंने उन पुराने विचारों का खंडन किया जिनके अनुसार शूद्रों और स्त्रियों के लिए वेदों की शिक्षा वर्जित थी। उनका कहना था कि शूद्र और स्त्रियाँ भी वेद पढ़ने के अधिकारी

है। स्वामीजी कितने प्रगतिशील थे, इसका अनुमान उनके तर्क से लगता है। स्त्रियों और शूद्रों को वैदिक शिक्षा से वंचित करके भारत के बहुत बड़े समाज को निष्क्रिय बनाना उनके समान व्यक्ति कभी स्वीकार नहीं कर सकता था। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि वैदिक ज्ञान संस्कृत भाषा में था जो अब भारत में धीरे-धीरे जर्जरित होती जा रही थी। स्वामीजी से पहले किसी ने भी इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि प्रचलित भाषाओं का प्रयोग वैदिक शिक्षा के लिए किया जाय। उन्होंने पहले संस्कृत को शिक्षा का माध्यम बनाने का निश्चय किया परन्तु व्यावहारिक कठिनाइयों को समझ कर और ब्रह्म समाज के नेता केशवचंद्र सेन के परामर्श से हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने का निश्चय किया। हर एक को वेदों का ज्ञान हो और वह संस्कृत के माध्यम से हो – यह कभी भी सम्भव न हो सकता था। इसलिए स्वामी दयानन्द ने *यथार्थवाद* का आश्रय लिया।

स्वामीजी वैदिक शिक्षा को केवल पुस्तकीय ज्ञान तक सीमित नहीं रखना चाहते थे। उनका विश्वास था कि वेदों का ज्ञान प्राप्त करने से आचरण और व्यवहार पर अवश्य प्रभाव पड़ना चाहिए। उन्होंने शिक्षा और चरित्र-निर्माण के सम्बन्ध पर बल दिया। इसलिए सत्य और उचित-अनुचित का प्रमाण वेदों को बताया। शुद्धाचरण के प्रमाण सत्यार्थप्रकाश में ४ बताए गये हैं—वेद, वेद-सम्मत स्मृतियाँ, वेदविहित व्यवहार जो महापुरुष करते आए हैं, और अन्तरात्मा। वेदों में मानवीय आचरण के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, वह शाश्वत सत्य है परन्तु शिक्षा की दृष्टि से उनकी नवीन और देश-काल के अनुकूल व्याख्या करना दयानन्द ने आवश्यक समझा। उदाहरण के लिए, 'धर्म' का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने बताया कि धर्म केवल एक पूजा-उपासना या कर्मकांड नहीं है; धर्म मनसा वाचा कर्मणा *सत्यारूढ़ होकर न्यायोचित व्यवहार करना है। 'अर्थ' का तात्पर्य धर्माधर्म का विचार* किये बिना धन-संग्रह करना नहीं वरन् नैतिक ढंग से धनार्जन करना है, अन्याय और धूर्तता से पैदा किया गया धन 'अनर्थ' है। उन्होंने 'वर्ण' और 'आश्रम' का आधार योग्यता बताया। 'देव' का अर्थ है, ऐसा व्यक्ति जो बुद्धिमान और ज्ञानी हो। उन्होंने 'अग्निहोत्र' का समर्थन स्वास्थ्य विज्ञान के आधार पर, यज्ञ और धर्मयात्रा का समर्थन समाजशास्त्र और राष्ट्रीयता की दृष्टि से किया। इस प्रकार स्वामीजी ने वैदिक साहित्य की अनेक मान्यताओं की नई व्याख्या करके शिक्षा में क्रांति पैदा की।

वैदिक शिक्षा केवल कर्मकाण्ड की शिक्षा नहीं रही, जैसा कि पहले था। स्वामी दयानन्द ने उसे चरित्र की शिक्षा का रूप दिया। अपनी शिक्षा में उन्होंने १२ यमों का अभ्यास आवश्यक बताया, वे हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असंग, ह्री, असंचय, आस्तिक्य, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थैर्य, क्षमा और अभय। यह गुण मानवीय चरित्र की दृढ़ आधारशिला है। पाश्चात्य शिक्षा साहित्य में, इन सबकी इतनी सूक्ष्म व्याख्या शायद ही उपलब्ध हो सके। दयानन्द द्वारा वर्णित शिक्षा के यह मूल्य भारत की वर्तमान आवश्यकता की पूर्ति में सहायक हो सकते हैं। इस समय भारतीय समाज में हिंसा,

झूठ, चोरी, लम्पटता, निर्लज्जता, उपयोगी वस्तुओं का सचय और चोरबाजारी, ईश्वर-चिन्तन का अभाव, कामुकता और व्यभिचार, व्यर्थ की बकवास, अस्थिरता, वदले की भावना और भय आदि दुर्गुण पनप रहे हैं और अब से १०० वर्ष पूर्व महर्षि दयानन्द ने इस बात को समझकर वैदिक शिक्षा का समर्थन किया था। यदि आज भी उस पर अमल कर लिया जाय तो देश की सारी समस्याएँ हल हो सकती हैं।

(ग) शिक्षा का संगठन—स्वामी दयानन्द पुराने विचारों के रूढ़िवादी व्यक्ति न थे। उनकी प्रगतिशीलता का परिचय उनके शिक्षा-सगठन सम्बन्धी विचारों से मिलता है। वे आधुनिक विचारकों की तरह मानते थे कि राज्य को शिक्षा की जिम्मेदारी लेनी चाहिए। प्राथमिक स्तर से लेकर उच्च स्तर तक शिक्षा का प्रबंध सरकार को करना चाहिए। वे यह भी मानते थे कि शिक्षा की प्रक्रिया बड़ी व्यापक है। इसका आरम्भ मनुष्य के गर्भ में आते ही हो जाता है। इसलिए बच्चों की शिक्षा में माता-पिता का गम्भीर उत्तरदायित्व उन्होंने माना है। सत्यार्थप्रकाश में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि माता का चरित्र गर्भस्थित बच्चे के चरित्र पर प्रभाव डालता है। इसलिए बच्चे का लालन-पालन गर्भ से प्रारम्भ समझना चाहिए। गर्भाधान के बाद और पहले भी माता-पिता को मदिरापान और अमात्विक भोजन जो बाल-विकास पर कुप्रभाव डालते हैं, नहीं करना चाहिए। उन्हें अपने भोजन में शुद्ध घृत, दूध, मिष्ठान्न तथा पौष्टिक पदार्थ रखना चाहिए, जो बच्चे के स्वास्थ्य, शक्ति, बुद्धि तथा चारित्रिक गुणों के विकास में सहायक हों। जन्म के बाद माता शिक्षा दे, बच्चे को मृदुभाषी, विनयी, शिष्ट, शुद्ध उच्चारण में पटु और सयमी बनाने का प्रयत्न माता को करना चाहिए। इन सब बातों से स्पष्ट है कि स्वामीजी मनोविज्ञान के आधुनिक सिद्धान्तों, जैसे वशानुक्रम और वातावरण, के महत्त्व से पूर्व-परिचित थे। इससे उनकी अग्रगामिता ही सिद्ध होती है।

प्राचीन काल में जिस प्रकार गुरुकुल नगरों से दूर जगलों में स्थित थे, उसी प्रकार आजकल भी विद्यालयों को नगरों से दूर रखने का समर्थन स्वामीजी करते थे। सम्भवत वे केवल अनुकरण के लिए ऐसा करना उचित नहीं समझते थे। उन्होंने यह देखा था कि आजकल के कोलाहलपूर्ण तथा उद्योग-प्रधान सभ्यता के कारण दूषित नगरों से विद्यालयों को दूर रखना कहीं अधिक आवश्यक है। कच्ची आयु के बालकों को शहरों की विलासिता और कामुकता किस प्रकार भ्रष्ट करने वाली है, इस बात को आज हर आम व्यक्ति समझता है। छात्रों में बढ़ती हुई अनुशासनहीनता और अपराधवृत्ति इस बात का प्रमाण है। आज भी पब्लिक स्कूलों और आवासीय विद्यालयों को, जो नगरों से बाहर स्थित होते हैं, अच्छा समझा जाता है। अमरीका और रूस जैसे प्रगतिशील देशों में विद्यालय नगरों से बाहर स्थित होते हैं और छात्रों के लिए सुन्दर यातायात की व्यवस्था करके उन्हें शान्त वातावरण में शिक्षा प्रदान की जाती है। अत स्वामीजी ने प्राचीन गुरुकुलों के आदर्श को अपनाने में इन सभी बातों पर विचार किया। दूसरी बात थी 'ब्रह्मचर्य' की, जिसके कारण विद्यालयों को नगरों से

विज्ञान का व्यावहारिक ढंग से शिक्षा के द्वारा विकास करके, पाश्चात्य देशों से हर क्षेत्र में आगे जाने का प्रश्न वे हल नहीं कर सकते थे। यह काम तो उन लोगों का है, जो उस ज्ञान को प्राप्त करके ज्ञान-विज्ञान का विकास कर सकते हैं, उन्होंने केवल रास्ता दिखाया है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर और गुरुकुल

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का विचार था कि भारत की शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं का एकमात्र हल 'तपोवन आश्रम' के पुनरुद्धार से प्राप्त हो सकता है। उन आश्रमों का वह महान् आदर्श—सादा जीवन उच्च विचार—कविवर को निरन्तर प्रेरणा देता रहा। उन्होंने एक स्थल पर लिखा है—

"जंगलों में निवास करने वाले श्रेष्ठ शिक्षकों की स्मृति अब भी हमारे मनों में निवास करती है। आधुनिक शब्दावली के अर्थ में उन शिक्षकों के तपोवन न तो स्कूल थे और न मठ। जिस प्रकार सूर्य ग्रहों को बलपूर्वक धारण करता है, उसी प्रकार वे प्रकाश और ज्ञान के केन्द्र थे।" (Gardener)

विश्वभारती पत्रिका न० १२ में गुरुदेव ने लिखा है कि शान्ति निकेतन में बना उनका विद्यालय प्राचीन गुरुकुल की प्रतिच्छाया है। वे कहते है—"अपने बालकों को आध्यात्मिक संस्कृति प्रदान करना ही शान्ति निकेतन स्थित स्कूल को चलाना मेरा उद्देश्य है। अपने मन में ऐसे स्कूल का विचार रखते हुए जो घर भी हो और मन्दिर भी हो, मैंने यह स्थान चुना जो नगर की समस्त विकृतियों से दूर है और उस पवित्र जीवन की स्मृतियों से व्याप्त है जो ईश्वर की सत्ता से एकात्मकता रखते हुए बहुत पहले बिताया जाता था।"

रवीन्द्रनाथ का उन प्राचीन गुरुकुलों के प्रति आकृष्ट होने का कारण यह था कि उनमें आध्यात्मिकता का वातावरण था और वर्तमान शहरी स्कूलों के दूषित वातावरण में बालकों की जो दुर्दशा होती है, उससे वे पूरी तरह अवगत थे। उनका विचार था कि जब तक बालक ऐसे प्रभावों के बीच में रहते हैं, जो उन्हें सत्य के मार्ग से विचलित करते हैं, उन्हें शिक्षा देने का प्रयत्न करना मूर्खता है। इस सम्बन्ध में रवीन्द्रनाथ के विचारों का उल्लेख करते हुए श्री जे० चट्टोपाध्याय ने (रवीन्द्रनाथ और उनका आश्रम-स्कूल) कहा है कि वे पुराने गुरुकुल के प्रशंसक इसीलिए थे कि गुरुकुल शहरों से दूर स्थित होते थे। शहरों के संघर्षपूर्ण जीवन में स्वार्थपरता और कृत्रिम साधनों से विलासितापूर्ण जीवन बिताने की प्रवृत्ति होती है। इसलिए बालकों को वहाँ से हटाकर ऐसी जगह रखना आवश्यक है जो उनके विकास के अनुकूल हो, जहाँ उनका आन्तरिक बल बढ़ाने की सम्भावनाएँ हों और मानवीय संस्कृति के बहुमूल्य तत्त्वों का उन्हें बोध हो सके।

गुरुकुलों में ब्रह्मचर्य और धर्मपालन पर जिस प्रकार बल दिया जाता था, वह रवीन्द्रनाथ को बहुत पसंद था। वे परीक्षा पास करने मात्र को शिक्षा नहीं

मानते थे। सच्ची शिक्षा के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार कराना, वे उचित मानते थे। इससे सिद्ध होता है कि वे प्राचीन गुरुकुल शिक्षा के पक्षपाती थे। परन्तु हमें यह न समझ लेना चाहिए कि उन जैसा महान् विचारक रूढ़िवादी था। वे प्राचीन शिक्षा की रूढ़ियों के समर्थक नहीं थे। वे उदारवादी चिन्तक थे। इसलिए वे पाश्चात्य शिक्षा की अच्छी बातों का ग्रहण कर लेना उचित मानते थे। उनकी शिक्षा-सम्बन्धी विचारधारा उनके साहित्य में सर्वत्र बिखरी हुई है। उसके आधार पर हम उनके शिक्षा-दर्शन का विवेचन कर रहे हैं।

(१) **प्रकृति-प्रेम**—प्राचीन गुरुकुल नगरों से दूर प्रकृति के अंचल में स्थित होते थे। यह बात श्री ठाकुर को बहुत पसन्द थी। इस विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने बताया है कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति का जन्म जंगलों में हुआ था। तात्पर्य यह है कि भारतीय धर्म, आचार-विचार, दर्शन और कलाएँ गुरुकुलों में विकसित हुईं। इन सबका ज्ञान प्राप्त करने का उपयुक्त स्थान अरण्य स्थित गुरुकुल थे। प्रकृति इस सभ्यता और संस्कृति को प्रेरणा प्रदान करती थी। यदि हमें भारत की सभ्यता और संस्कृति की पुनर्स्थापना करनी है तो हमें अपनी शिक्षा के केन्द्रों को जंगलों में ही स्थापित करना होगा। मशीनी युग की सभ्यता शहरों की देन है और इसका विकास पश्चिम में हुआ है। यह सभ्यता भारतीयता के प्रतिकूल है। हम, दुर्भाग्य से, इसी सभ्यता को अपना रहे हैं और सभी हमने अपने विद्याकेन्द्र नगरों में बना रखे हैं। वर्तमान शिक्षा का दोष यही है कि वह भारतीयता से शून्य है। इसी विचार को लेकर रवीन्द्रनाथ ने अपने स्कूल की स्थापना प्राचीन परम्परा के अनुसार की थी।

प्राचीन गुरुकुलों के आदर्श को ध्यान में रखते हुए श्री रवीन्द्रनाथ ने शिक्षा में प्राकृतिक वातावरण प्रस्तुत करने का समर्थन किया। उनका विचार था कि प्रकृति जीवनमय है। वे सर जगदीशचन्द्र बसु की खोजों से प्रभावित होकर कहते हैं कि इस महान् वैज्ञानिक ने प्राचीन ऋषियों के कथन को सिद्ध कर दिया है जिसके अनुसार वृक्षों में जीवन होता है। वृक्षों में जीवन का अनुभव करने का संस्मरण लिखते हुए उन्होंने एक स्थान पर कहा है कि हमारे घर की चहारदीवारी के निकट खड़े हुए कुछ नारियल के वृक्ष जो इस पृथ्वी पर आक्रमण करने वालों की सेना से बन्दी बनाये गये सैनिकों की भाँति प्रतीत होते थे, मानो यह कहते थे कि वृक्षों के समाज और मानव-समाज के बीच बन्धुत्व है। इसीलिए मेरे मन में जंगलों के आमंत्रण की शक्ति अनुभव होती थी। शिक्षा की दृष्टि से यह विचार महत्त्वपूर्ण है। शान्ति निकेतन जैसी संस्था का नगर से दूर जंगल की गोद में पनपना इस बात का प्रमाण है कि ठाकुर महोदय प्रकृति को शिक्षा का माध्यम मानते थे।

(२) **जीवन की सहजता**—प्राचीन गुरुकुल में परिवार और शिक्षालय दोनों का कार्य मिला-जुला होता था। यह बात रवीन्द्रनाथ को उपयोगी तथा उपयुक्त जँचती

थी। गुरुकुल में विद्यार्थी इस प्रकार रहता था मानो वह अपने परिवार में र हो। इसके विपरीत, शहरी स्कूलों में छात्रों को स्नेह नहीं मिलता। स्वयं भी ठाकुर को स्कूल की नीरसता का अनुभव हो चुका था। वे 'अपने स्कूल' (My School) के सम्बन्ध में लिखते हुए कहते हैं कि मुझे जीवन, प्रकृति अपने चारों ओर के वातावरण से सहज प्रेम है क्योंकि उसमें मेरे अपने प्रियजन और परिवार-जन रहते हैं। इस प्रकृत वातावरण से दूर हटाया जाना और स्कूल को भेजा जाना जो मेरे लिए एक प्रकार से प्रवास या देश निकाले के समान था, मुझे पसन्द न था और प्रतिदिन मुझे इससे भय लगता था। स्कूल की चहार दीवारी के बीच रहते हुए मुझे जीवन की सहजता का अनुभव नहीं होता था।

रवीन्द्र ठाकुर के अपने व्यक्तिगत अनुभवों ने उन्हें शहरी स्कूलों का विरोधी बना दिया। इन स्कूलों में विषयों की शिक्षा कृत्रिम होती है। भूगोल, भाषा, व्याकरण उन्हें इस प्रकार पढ़ाया जाता है कि शिक्षा के साथ उन्हें इनका कोई सम्बन्ध नजर नहीं आता। वह कहानी पढ़ना चाहता है परन्तु उसको इतिहास के नीरस तथ्य रटने पड़ते हैं। यह कृत्रिमता शिक्षा से दूर करना रवीन्द्रनाथ आवश्यक समझते थे। इससे उनका ध्यान प्राचीन गुरुकुलों की ओर गया। उनमें समय-चक्र, विषयों की नीरसता, रटाई और बन्धन न था। अपने स्कूल में उन्होंने प्राचीन गुरुकुल का वातावरण उत्पन्न किया। वे लिखते है (Personality)

"मेरे स्कूल में बच्चों ने वृक्षों की रचना का सहज ज्ञान प्राप्त कर लिया है। बिना स्पर्श किये हुए वे जान लेते हैं कि वृक्ष की अनाहून डाल पर कहाँ पैर जमाया जा सकता है। वे यह जानते हैं कि इन शाखाओं के साथ कहाँ तक खिलवाड़ किया जा सकता है और लघुशाखाओं पर बोझा न पड़े, इस प्रकार वे अपने भार को बाँटना भी जानते हैं। फलों को एकत्र करने में, विश्राम करने तथा पीछा करने वालों से अपने को छिपाने में मेरे बालक वृक्षों का उपयोग करना जानते हैं।"

स्पष्ट है कि श्री ठाकुर शिक्षा में जीवन की सहजता चाहते हैं। प्राचीन गुरुकुलों में इसी प्रकार तो बालक विचरण करते रहे होंगे।

(३) शान्ति की उपासना—रवीन्द्रनाथ ठाकुर का विचार था कि जंगलों का एकान्त जीवन संघर्ष से परे रह कर शान्ति अनुभव करता है। गुरुकुलों को शहरों से दूर वनों में, इसी कारण, स्थापित किया गया होगा। उन्होंने अपनी शिक्षा संस्था का नाम 'शान्ति निकेतन' रख कर पुरानी परम्परा का पालन किया है। शान्तिपूर्ण वातावरण में मनुष्य के आन्तरिक व्यक्तित्व का विकास हो सकता है। शहरों के कोलाहलपूर्ण जीवन में मनुष्य की आत्मिक शक्तियाँ दब कर कुंठित हो जाती हैं, वहाँ भेदभाव पैदा होते हैं। यही कारण है कि आज की शहरी शिक्षा मनुष्य-मनुष्य में भेद उत्पन्न करके जीवन को अशान्त बना रही है। इसके विपरीत, प्राचीन गुरुकुलों में शान्ति की अनुभूति ने मनुष्य में प्रेम और भ्रातृत्व की भावना जगायी थी। 'वसुधैव कुटुम्बकम्

वास्तव में रवीन्द्रनाथ को आध्यात्मिकता पर बड़ी आस्था थी। उन्हें यह देखकर बड़ा दुख होता था कि अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली में बालकों के बौद्धिक विकास पर तो जोर दिया जाता है परन्तु आध्यात्मिक भावों की उपेक्षा की जाती है। उनके मन में बौद्धिक, शारीरिक और आध्यात्मिक—सभी प्रकार का विकास आवश्यक है। केवल बुद्धि पर जोर देने से बालक की स्थिति एक जिराफ के समान हो जाती है जिसकी गर्दन शरीर के अनुपात में बड़ी होती है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार जिराफ पशु के रूप में अस्वाभाविक दिखाई देता है, उसी प्रकार केवल बुद्धि पर जोर देने से बच्चों का विकास असंतुलित हो जाता है। वर्तमान शिक्षा पद्धति का दोष यह है कि बच्चों के सर्वाङ्गीण विकास का ध्यान उसमें नहीं रखा जाता। इसके विपरीत, गुरुकुलों में छात्रों का सर्वाङ्गीण विकास हो पाता था। रवीन्द्रनाथ ने स्पष्ट लिखा है कि शान्ति-निकेतन में स्कूल चलाने का मेरा मुख्य उद्देश्य बालकों को आध्यात्मिक संस्कृति प्रदान करना है।

'रवीन्द्रनाथ के मत में पाश्चात्य ढंग के स्कूल फैक्ट्री के समान हैं जिसमें एक विशेष प्रकार के निर्जीव मनुष्य ढाले जाते हैं। खेद की बात यह है कि आजकल के भारतीय बालक प्राचीन भारतीय आध्यात्म को खोते जा रहे हैं। वर्तमान पीढ़ी लिम्बी पीढ़ी पर्वतों और प्राचीन इतिहास के शिखरों से बहने वाली धारा का मार्ग अवरुद्ध कर रही है। आगे चलकर भारत को वह पानी नहीं मिल सकेगा जो उसकी संस्कृति को उर्वर बनाता था, जिससे उसकी शक्ति और सुन्दरता बढ़ी थी। इसलिए मूल रूप में वे आश्रम पद्धति को शिक्षा में वापस लाना चाहते थे। उनका कहना है—"शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को सत्य की एकता का अनुभव कराना है। पहले जब जीवन में सादगी थी तो मनुष्य की प्रकृति के विभिन्न अंगों में समन्वय हो जाता था। जब जीवन जटिल हो गया तो बौद्धिक, शारीरिक और आध्यात्मिक पक्ष अलग-अलग हो गये और स्कूलों में बौद्धिक विकास पर ज्यादा बल दिया जाने लगा। इससे मानव प्रकृति के विभिन्न पक्षों में अलगाव पैदा हुआ और आध्यात्मिक पक्ष की शिक्षा में उपेक्षा की जाने लगी।" इस स्थिति में परिवर्तन लाने के लिए उन्होंने प्राचीन आश्रम का वातावरण अपने स्कूल में उत्पन्न किया। उनका विचार है कि आदर्श स्कूल एक प्रकार का आश्रम होना चाहिए जिसमें सभी मनुष्य शान्तिमय प्रकृति के बीच जीवन के उच्चतम आदर्श की पूर्ति के लिए एकत्र हों, जहाँ जीवन न केवल चिन्तन प्रधान हो वरन् क्रियाओं में जागरूक हो' 'जहाँ पर युवक और वृद्ध, अध्यापक और छात्र एक स्थान पर मिल कर भोजन करें और जीवन सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करें।

(६) अनुशासन तथा चरित्र का महत्त्व—रवीन्द्रनाथ ठाकुर को प्राचीन गुरुकुल के आदर्श प्रिय थे। इस बात का प्रमाण ब्रह्मचर्य के प्रति उनकी आस्था से मिलता है। वे शिक्षा को ब्रह्मचर्य व्रत और धर्मव्रत मानते थे। अनुशासन और चरित्र के विकास के लिए वे शिक्षा में दमन की नीति के विरोधी थे। उनका विचार था

कि बालकों को स्वतन्त्रता का अनुभव करा कर आत्मानुशासन का अभ्यास कराया जाना चाहिए। वे चाहते थे कि बच्चे स्वावलम्बी बनें। वे अपने हाथ से अपना काम करके आत्म-विश्वास पैदा करें। रवीन्द्रनाथ धार्मिक शिक्षा के समर्थक थे परन्तु इस प्रकार की शिक्षा में वे धार्मिक कृत्यों और कर्मकाण्ड का समावेश करने के विरोधी थे। उनका ईश्वर पर विश्वास था और ईश्वर की निकटता पाने का प्रयत्न ही वह धर्मपालन मानते थे। साथ ही वे बार-बार कहते थे कि ईश्वर के निकट पहुँचने का साधन पूजा-पाठ नहीं है, साधना-ध्यान में यह काम हो सकता है या मानवमात्र की सेवा में क्योंकि मनुष्य ही भगवान का मन्दिर है। सेवा और ध्यान से मन पवित्र होता है और चरित्र का बल बढ़ता है। अतः उन्होंने अपनी संस्था में इन बातों की ओर ध्यान दिया। छात्रों के चारित्रिक विकास में वे अर्थ और सामाजिक हित में सन्तुलन पैदा करने के पक्षपाती थे। अपने विद्यालय के सम्बन्ध में वे कहते हैं

"हमारे बच्चों में त्याग, मैत्री और निःस्वार्थ भावना से दूसरों की सहायता करने की प्रवृत्ति जितनी अधिक पायी जाती है, उतनी उन छात्रों में देखने को नहीं मिलती जो शिक्षा की सर्वोत्तम सुविधाएँ पाते हैं। ... बच्चों को देखकर वे समझ लेते हैं कि जीवन में नैतिक सिद्धान्तों की कितनी आवश्यकता है, आदि।"

गुरुकुल के सन्दर्भ में गांधीजी के विचार

गांधीजी ने अपने शिक्षा सम्बन्धी लेखों में कहीं भी प्रत्यक्ष रूप से यह नहीं लिखा है कि बुनियादी शिक्षा की कल्पना में मुझे गुरुकुल शिक्षा प्रणाली से प्रेरणा मिली है। फिर भी उनके मन में पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली के प्रति अच्छे विचार न थे और वे भारत के लिए एक ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली चाहते थे, जो उसकी अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं के अनुकूल हो। उनकी बुनियादी शिक्षा में गुरुकुल प्रणाली के कुछ तत्त्व परोक्ष रूप में आ गये हैं। हम उन पर विचार प्रस्तुत कर रहे हैं।

महात्मा गांधी के मन में बुनियादी शिक्षा का विचार उस समय आया जब वे दक्षिण अफ्रीका के टाल्सटाय फार्म में अपने बच्चों को स्वयं पढ़ाया करते थे। उन्होंने फिर सेवाग्राम और साबरमती आश्रम में बुनियादी शिक्षा का प्रत्यक्ष रूप से प्रयोग किया और उसकी सफलता देखी। इस बात के मन में 'परिवार-स्कूल' का विचार शुरू हो गया। बुनियादी स्कूल एक तरह से परिवार स्कूल है जिसमें गुरु अपने छात्र बच्चों के साथ रहता है और उन्हें पढ़ाता है। लगभग यही विचार गुरुकुल प्रणाली के पीछे भी वर्तमान है। बुनियादी स्कूल एक प्रकार की जीवन प्रणाली है, जैसे कि गुरुकुल है। वहाँ प्रत्यक्ष रूप से शिक्षण का कार्य इस तरह नहीं चलाया जाता जिससे स्कूल एक कारखाना बन जाता है और वह सब कुछ अस्वाभाविक होता है। गुरुकुल में जीवन की दिनचर्या प्राकृतिक रूप से हर समय चलती थी वह स्वाभाविक होता था। इस बात को गांधीजी ने अपनी बुनियादी शिक्षा में स्वीकार की और इस

अज्ञात पर स्वाभाविक सीखने की क्रिया को शिक्षण का प्रमुख आधार बनाया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन गुरुकुल प्रणाली और बुनियादी शिक्षा मे कुछ मौलिक समानताएँ हैं और गाधीजी ने देश की वर्तमान आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए उस पुरानी पद्धति को कुछ बदलकर नये रूप मे प्रस्तुत किया है।

स्वावलम्बन का सूत्र—हमारे प्राचीन गुरुकुल स्वावलम्बी हुआ करते थे। यद्यपि समय-समय पर शासक तथा राजा लोग गुरुकुलो को पर्याप्त आर्थिक सहायता दिया करते थे, तथापि वे शिक्षा सस्थाएँ आर्थिक मामलो मे आत्मनिर्भर होती थी। उनके पास भूमि और पशु की पूँजी काफी मात्रा मे होती थी जिससे वहाँ के कुलपति तथा आचार्यों का भरण-पोषण आसानी से हो जाता था। 'अनुदान' के लिए वे सरकार तथा राज्य का मुँह नही ताकते थे। 'शिक्षा' की इस स्वतन्त्रता के कारण नाना प्रकार के प्रयोग हो सकते थे और तत्कालीन अध्यापक के पास विचारो की स्वतन्त्रता का अधिकार था। यदि राज्य शिक्षा को अनुदान देता है तो वह स्कूलो को स्वतन्त्र नही रहने देता। अनिवार्य और मुफ्त शिक्षा की व्यवस्था राज्य करे तो वह शिक्षा 'राज्य' के प्रचार और नियत्रण का अग बन जाती है। गुरुकुल कभी भी राज्य के अधीन नही रहे।

गाधीजी शिक्षा की स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे। इसलिए उन्होने 'स्वावलम्बन' के सूत्र को बुनियादी शिक्षा का प्रमुख अंग बनाया। ऐसा उन्होंने भारत की वर्तमान आवश्यकताओ को देखकर किया था। जब भारत पराधीन था तो यह आवश्यक था कि शिक्षा की स्वतन्त्रता के लिए उसे स्वावलम्बी बनाया जाता। अग्रेजो ने अपनी शिक्षा-प्रणाली द्वारा ऐसा एक वर्ग उत्पन्न करने की चेष्टा की थी, जो परावलम्बी हो; नौकरी पाने के लिए उनका मुख देखता रहे और उनकी गुलामी सहन करे। आजादी के बाद भी शिक्षा का वही रूप है। पढने-लिखने के बाद हर भारतीय नौकरी चाहता है और सरकार की गुलामी करने को तैयार होता है। इससे विचारो की स्वतन्त्रता नष्ट होती है। इस विचार से गाधीजी को कष्ट हुआ और उन्होंने मनुष्य को स्वतन्त्र बनाने वाली स्वावलम्बी शिक्षा का सूत्रपात किया। यह शिक्षा पुराने गुरुकुलो की शिक्षा के समान ही है।

दस्तकारी का सूत्र—गाधीजी ने दस्तकारी को अपनी बुनियादी शिक्षा का केन्द्रीय विषय माना है। यह एक ओर हमारी वर्तमान आवश्यकताओ के अनुरूप है तो दूसरी ओर यह हमारी प्राचीन गुरुकुल प्रणाली के अनुरूप भी है। दुर्भाग्य से गुरुकुल प्रणाली के ह्रास के बाद से शिक्षा मे बौद्धिकता का तत्त्व बहुत अधिक बढ गया और अग्रेजों के शासन काल मे 'शिक्षा' जीवन की व्यावहारिकता से और अधिक दूर हट गयी। आज की शिक्षा केवल 'सफेदपोश' व्यक्ति तैयार करती है, जो दूसरो का शोषण करके जिन्दा रहता है क्योकि वह स्वावलम्बी नही होता। गाधीजी ने स्वावलम्बन के सूत्र को सफल बनाने के लिए 'दस्तकारी' का समावेश शिक्षा मे किया,

ताकि हर शिक्षित जन अपने आप केवल थोड़े से साधनों से रोजी के मामले में आत्म-निर्भर बन जाय।

दस्तकारी को शिक्षा का केन्द्रीय विषय मान लेने से शिक्षा-प्रणाली गुरुकुल के अत्यन्त निकट आ जाती है। अध्यापक केवल बौद्धिक ज्ञान प्राप्त करके बुनियादी शिक्षा का काम नहीं चला सकता। वह किसी दस्तकारी में अत्यन्त कुशल कारीगर होगा और साथ ही वह हर विषय का बौद्धिक ज्ञान भी प्राप्त करेगा तब वह एक आदर्श अध्यापक बनेगा। ऐसे अध्यापक की अपनी 'कर्मशाला' होगी जिसमें वह शिक्षण का कार्य करेगा। यह एक प्रकार का 'गुरुकुल' होगा जिसमें छात्र शिक्षा प्राप्त करेंगे। यहाँ यह भ्रम दूर कर देना आवश्यक है कि गुरुकुल में केवल वेदशास्त्र पढ़ाये जाते थे। गुरुकुलों में दस्तकारी का प्रमुख स्थान था। गोपालन, गोसंवर्धन, कृषि और बागवानी यहाँ की शिक्षा के प्रमुख अंग थे और गांधीजी ने इन्हीं को बुनियादी शिक्षा में प्रमुख स्थान दिया है। हमारा प्राचीन साहित्य बताता है कि गुरुकुलों में अनेक प्रकार की दस्तकारी सिखाई जाती थी, जैसे दमनवसनाङ्गराग (रंग, मंजन, मेंहदी, महावर बनाना), गंधयुक्ति (इत्रादि बनाना), तर्कुकर्म (कताई-बुनाई), तक्षण (बढ़ईगीरी व पत्थर तराशने का काम), वास्तुविद्या (घर बनाना), रूप्यरत्न परीक्षा (सोने, चाँदी, रत्नों की जाँच), धातुवाद, आकरज्ञान (खानों की विद्या), यन्त्रमातृका (यन्त्र बनाना) आदि। बुनियादी शिक्षा में दस्तकारी का समावेश गुरुकुल परम्परा का पालन कहा जा सकता है।

सादा जीवन उच्च विचार—प्राचीन गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली में जीवन की सादगी और विचारों की उच्चता पर बहुत अधिक जोर दिया जाता था। वह आदर्श बुनियादी शिक्षा में स्वीकार किया गया है। गांधीजी ने इस 'मशीन युग' में दस्तकारी को प्रधानता केवल इसलिए ही दी है कि दस्तकारी मनुष्य को विलासिता से दूर रखती है। मशीन के कारण उत्पादन बढ़ा और उत्पादन के साधन कुछ लोगों के हाथों में आगये जिससे समाज में कुछ अमीर लोग अनेक गरीबों का शोषण करते हैं। यह कुछ लोग विलासिता के दुर्गुण समाज में उत्पन्न करते हैं। दस्तकारी सादगी और सुन्दरता के साथ रचनात्मक कौशल का आधार है। आचार्य कृपलानी के मत में दस्तकारी आध्यात्मिकता का स्रोत है और यह उच्च विचारों को जन्म देती है। दस्तकारी के काम में लगा व्यक्ति कभी दुर्गुणों में नहीं फँसता। आचार्य विनोबा ने भी कहा है कि दस्तकारी प्रधान शिक्षा से ब्रह्म-विद्या आती है। सत्यकाम और उपमन्यु प्राचीन गुरुकुलों में गायों को चराते रहे और उन्हें ब्रह्म-विद्या प्राप्त हो गयी। श्रीकृष्ण भी गोचारण की कला में दक्ष थे और उन्होंने हमें गीता के उपदेश दिये। कबीर और नामदेव जैसे सन्त भी दस्तकारी को अपना कर इतने महान् पुरुष बन सके। बुनियादी शिक्षा में दस्तकारी का समावेश करके गांधीजी ने जीवन की सादगी और विचारों की महानता को वापस लाने का प्रयत्न किया। यह हमारे प्राचीन गुरुकुलों के श्रेष्ठ शैक्षिक आदर्श थे और उन्हें बुनियादी शिक्षा में स्वीकार किया गया है।

देश में इस समय जिस प्रकार अभाव का साम्राज्य बढ़ता जा रहा है, उसे देखते हुए प्राचीन गुरुकुल की इन्द्रियनिग्रह प्रधान तथा सादगीपूर्ण शिक्षा का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। जीवन-स्तर बढ़ाने के चक्कर में हम भौतिकता को बढ़ावा देते जा रहे हैं। इसी से समाज में भ्रष्टाचार फैलता जा रहा है। उपभोग और विलासिता हमारे जीवन के अङ्ग बन गये हैं जिससे अभाव अधिक कष्टकारक जान पड़ते हैं। यदि शिक्षा के माध्यम से इस चक्र को उल्टी दिशा में घुमाया जा सके, तो देश का लाभ होगा। बुनियादी शिक्षा इस कार्य में सहायक हो सकती है। बहुत से लोगों ने बुनियादी शिक्षा में आध्यात्मिकता और चरित्र विकास के लिए कोई स्थान नहीं देख पाया है और उसकी आलोचना की है परन्तु इसमें सादगी और उच्च विचारों को महत्त्व दिया गया है जिससे आध्यात्मिकता और चरित्र की पवित्रता अपने आप उत्पन्न हो सकती है।

अन्य बिन्दु—बुनियादी शिक्षा और गुरुकुल शिक्षा में कुछ अन्य समानताएँ भी हैं, जिन पर ध्यान देना आवश्यक है। जिस प्रकार प्राचीन काल में क्रियाशीलता को शिक्षा से अलग न करके विभिन्न दैनिक कार्यक्रमों के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी, वह 'मानुबंध' का एक तरीका था। बुनियादी शिक्षा में इस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। अध्यापक-छात्र सम्बन्ध का आधार जो गुरुकुलों में था, वही बुनियादी शिक्षा में है। दोनों एक रचनात्मक क्रिया में समान रूप से भाग लेते हैं। जिस प्रकार गुरुकुलों में आचार्य निरन्तर छात्रों का नेतृत्व करते हुए उनका पथ-प्रदर्शन करता रहता था, उसी प्रकार बुनियादी शिक्षा में अध्यापक छात्रों का सहायक परामर्शदाता होता है। इस समय हमारे देश में अध्यापक और छात्रों के सम्बन्ध निरन्तर बिगड़ते जा रहे हैं जिससे अनुशासनहीनता में वृद्धि हो रही है। इस समय यह आवश्यक है कि हम अपने अध्यापक-छात्र सम्बन्ध के प्राचीन आदर्श को अपना लें। बुनियादी शिक्षा में इस आवश्यकता का ध्यान रखते हुए अध्यापक-शिष्य सम्बन्ध को वही आधार दिया गया है।

प्राचीन काल में अध्यापक का जो महत्त्व था, वह नष्ट होता जा रहा है। यह एक दुखद घटना है। आज हमारे बीच में वाल्मीकि, वशिष्ठ और विश्वामित्र जैसे आचार्य नहीं रहे जिनके आगे समाज श्रद्धा से सिर झुकाता था। इस कमी को अब भारत में अनुभव किया जा रहा है। राष्ट्रीय शिक्षा-आयोग ने संकेत दिया है कि हमें 'पुराने शिक्षक' की महानता को वापस लाना है। जब तक भारतीय अध्यापकों में त्याग और चरित्र के आदर्श नहीं उभरते, देश में वह मूक क्रान्ति नहीं हो सकती जिसकी हम सभी कामना करते हैं। बुनियादी शिक्षक इस अभाव की पूर्ति करेगा। पर यह अध्यापक आध्यात्म बल तथा दस्तकारी के कौशल में उतना ही महान् होगा जितना हमारे प्राचीन ऋषि हुआ करते थे। इसका कारण यह है कि वह स्वावलम्बी होगा और स्वतन्त्र चिन्तन में वह विश्वास रखेगा। 'शिक्षण' उसका पेशा न होगा। दस्तकारी से उसकी आजीविका की समस्या हल होगी और 'शिक्षण' का

कार्य वह समाजसेवा के लिए करेगा। ऐसा अध्यापक शिक्षा का मर्म समझेगा और छात्रों को वास्तविक ज्ञान प्रदान करेगा।

गुरुकुलों में पुस्तकों की पढ़ाई और रटाई पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया जाता था। बुनियादी शिक्षा में भी पुस्तकों को ज्यादा महत्त्व नहीं दिया गया है। गांधीजी का विचार है कि अध्यापक स्वयं अपनी पुस्तक लिखेगा और इन्हीं पुस्तकों का अधिक प्रयोग वही करेगा। छात्र जो भी ज्ञान प्राप्त करेंगे, अध्यापक के द्वारा ही प्राप्त करेंगे। इस बात से यह स्पष्ट होता है कि हमारी वर्तमान शिक्षा में पुस्तकों को अनावश्यक महत्त्व मिल गया है जिसे दूर करने की आवश्यकता है और इसके लिए ही गांधीजी ने दस्तकारी को शिक्षा का माध्यम बनाया है।

आचार्य कर्वे के विचार

आचार्य कर्वे ने स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया है और उनके द्वारा स्थापित भारतीय महिला विश्वविद्यालय उनकी इस सेवा का प्रतीक है। इस संस्था के द्वारा दक्षिण की स्त्रियों में अभूतपूर्व जागृति हुई। इसकी स्थापना सन् १९१६ में हुई। अपने लघुरूप में यह विधवा स्त्रियों का पुनरुद्धार करने के लिए हुई थी तब से इसका निरन्तर विकास होता रहा। पूना स्थित इस संस्था का उत्तरोत्तर विकास होता गया। सन् १९३० में इसे बम्बई स्थानान्तरित कर दिया गया। वहाँ के एक करोड़पति ने अपनी माता की पुण्य स्मृति में इस संस्था को अतुल धनराशि प्रदान करके विश्वविद्यालय का रूप दे दिया। सन् १९५१ में इसे वैधानिक मान्यता प्राप्त हो गई।

मूल रूप में यह संस्था आचार्य कर्वे ने भारतीय पद्धति से स्त्रियों की शिक्षा सम्पन्न करने के लिए प्रारम्भ की थी। यह शिक्षा भारतीय परम्परा के अनुकूल है। कर्वे का विचार था कि पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली से स्त्रियों की शिक्षा का प्रबन्ध भारतीय संस्कृति के विरुद्ध है। पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली में पुरुषों और स्त्रियों की शिक्षा एक समान होती है, इसका परिणाम यह होता है कि स्त्री और पुरुष के बीच वैचारिक संघर्ष उत्पन्न होता है। दूसरे, भारतीय लोक जीवन में स्त्री-पुरुष के बीच जिम्मेदारियों का बँटवारा प्राचीन काल में कर दिया गया था और स्त्री को 'गृह लक्ष्मी' के रूप में प्रतिष्ठित करना उचित माना गया था। पाश्चात्य शिक्षा में ऐसी मान्यता नहीं है। इसलिए पाश्चात्य शिक्षा पाने वाली भारतीय नारी सच्ची गृहिणी नहीं बन सकती। इस विचार से आचार्य कर्वे ने अपनी संस्था में भारतीय स्त्री-समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप शिक्षा देने का प्रबन्ध किया। यहाँ पढ़ाये जाने वाले विषयों में संगीत, चित्रकला, नाट्यकला, गृह विज्ञान आदि प्रमुख हैं जो स्त्रियोपयोगी हैं। इस संस्था के अन्तर्गत छात्रावास, प्राथमिक विद्यालय, माध्यमिक विद्यालय और अध्यापक प्रशिक्षण महाविद्यालय चलते हैं। यहाँ की परीक्षाओं में प्राइवेट तौर पर महिलाएँ बैठ सकती हैं।

आचार्य कर्वे ने स्त्री शिक्षा में भारतीय संस्कृति के तत्वों का समावेश करना उचित समझा था। उनका विचार था कि स्त्री-शिक्षा का कार्य एक महिला को गृहिणी बनाना है। साथ ही गांधीजी की भाँति वे उन्हें स्वावलंबी बनाना चाहते हैं, हिन्दू स्त्रियों में विधवा स्त्री की दशा सबसे अधिक दयनीय होती है। अतः स्वावलम्बन का सूत्र उनकी शिक्षा की दृष्टि में बहुत अधिक महत्व का है। हमारे देश में स्त्री शिक्षा की कमी से स्त्रियों के समाज में एक प्रकार की निष्क्रियता आ गयी थी। घरों की चहारदीवारी में बन्द रह कर उनका व्यक्तित्व अविकसित रह जाता था। वे विधवा यदि न भी हो तो भी उनकी दशा हीन ही रहती थी। अतः आचार्य कर्वे ने समस्त भारतीय महिला समाज के लिए स्वावलम्बी बनाने वाली शिक्षा योजना को इस संस्था के रूप में खड़ा किया।

आचार्य कर्वे, वास्तव में, प्राचीन भारतीय शिक्षा के आदर्शों के अनुरूप ही स्त्री-शिक्षा की व्यवस्था करने में विश्वास करते थे। प्राचीन काल की गार्गी, मैत्रेयी जैसी विदुषी स्त्रियों की कल्पना उनके मन में काम कर रही थी। उन्हें यह देख कर महान क्षोभ हुआ था कि आधुनिक भारत में स्त्रियाँ निरक्षरता और अज्ञानता के कारण पतन के गर्त में गिरती जा रही हैं। आचार्य जी के मन में स्त्री शिक्षा की जो कल्पना थी, उसको साकार करने के लिए विशेष प्रकार की अध्यापिकाओं की आवश्यकता थी। इसलिए उन्होंने इस संस्था में अध्यापक प्रशिक्षण पर भी बल दिया।

एक अन्य महत्वपूर्ण बात इस संदर्भ में उल्लेखनीय यह है कि आचार्य जी सहशिक्षा के पक्षपाती न थे, जो आधुनिक यूरोपीय शिक्षा प्रणाली में उत्पन्न हुई है। यद्यपि वे चाहते थे कि शिक्षा-दीक्षा में भारतीय स्त्री पुरुषों से किसी प्रकार हीन न हो तथापि वे मनुष्यमात्र में वर्तमान कमजोरी से अवगत थे। उनका विचार था कि यौवन काल में स्त्री-पुरुष का सम्पर्क हानिकर होता है और चारित्रिक दुर्बलता उत्पन्न होने पर संकट खड़े हो सकते हैं। इसलिए *स्वामी दयानन्द की भाँति वे स्त्रियों की* शिक्षा को पुरुषों की शिक्षा से अलग रखने के समर्थक थे। भारतीय समाज में सतीत्व की पवित्रता के आदर्श को प्रतिष्ठा बनाये रखने में उनका विश्वास था। इसी दृष्टि से उन्होंने महिला विश्वविद्यालय की स्थापना की।

उपर्युक्त बातों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाल लेना उचित न होगा कि महर्षि कर्वे पूर्णतया रूढ़िवादी थे और आधुनिक युग की आवश्यकताओं को नहीं समझते थे। उनके मन में 'स्वावलम्बन' का महत्व वर्तमान था और वे स्त्री को सीमित क्षेत्र में रखना अनुचित समझते थे। वे जानते थे कि वय तथा अनुभव प्राप्त करने पर भावी समाज में स्त्रियों को पुरुषों के साथ मिलकर काम करना होगा। साथ ही उन्हें पुरुषों के साथ होड़ भी करनी होगी। उधर समाज में पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से विश्वविद्यालयों की उपाधियों का महत्व बढ़ता जा रहा था जो होड़ में सहायता पहुँचाती हैं। इसलिए वे महिलाओं को विश्वविद्यालय की उपाधि देना-दिलाना

आवश्यक समझते थे। इससे स्पष्ट है कि आचार्य कभी किसी प्रकार भी दण्डात्मक विचारों के न थे।

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. प्राचीन गुरुकुल पद्धति की प्रमुख विशेषताओं का स्पष्टीकरण कीजिए। भारत में वर्तमान परिस्थितियों के अनुकूल उन विशेषताओं को जिन लोगों ने अपने शैक्षिक प्रयोगों में प्रयोग किया है? वे प्रयोग कहाँ तक सफल हो सके हैं?

२. दयानन्द के शैक्षिक दर्शन की विवेचना कीजिए। क्या यह वर्तमान भारतीय परिस्थिति के लिए उपयुक्त है? भारत ने इसे क्यों नहीं स्वीकार किया?

३. यह कहना कहाँ तक उचित है कि भारतीय संस्कृति की अमरता का कारण प्राचीन भारतीय शिक्षा-प्रणाली की श्रेष्ठता है? प्राचीन भारत के शैक्षणिक सिद्धान्तों की चर्चा गुरुकुल प्रणाली के सन्दर्भ में कीजिए।

४. "भारत की राष्ट्रीय शिक्षा का मूल भारतीय संस्कृति तथा प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति में होना चाहिए।" इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं? गुरुकुल शिक्षा के प्रसग में अपने विचार स्पष्ट कीजिए।

५. प्राचीन गुरुकुल और गाधीजी के बुनियादी स्कूल में क्या समानताएँ और भिन्नताएँ हैं? बुनियादी शिक्षा कहाँ तक भारत की वर्तमान स्थिति के अनुकूल है?

६. रवीन्द्रनाथ टाकुर की विश्वभारती के शैक्षिक कार्यक्रम और व्यवस्था का सक्षेप में वर्णन कीजिए। उसमें तथा गुरुकुल में आपको क्या समानताएँ दिखाई देती हैं?

७. वर्तमान भारतीय शिक्षा प्रणाली में सुधार की माँग करने वाले शिक्षाविदों जैसे दयानन्द, रवीन्द्रनाथ और गाधी को आप प्रतिक्रियावादी (Reactionary) कहेंगे या प्रगतिशील (Progressive)? इस तकनीकी तथा प्रजातान्त्रिक युग के अनुकूल उनके विचार कहाँ तक सगत हैं?

विश्वविद्यालय की बी० एड० परीक्षा में पूछे गये प्रश्न

1. Describe the educational ideals of Gurkul System or of Shantiniketan, and show how improvement in your school

can be brought about by placing these ideals before your pupils (1962)

2 Write short notes on —

(f) Dayanand, Tagore, Gandhi or Karve as an educationist (choose only one of these) (1963)

(e) What you can take in your school from Gandhi, Karve or Dayanand ? (1964)

(ग) गुरुकुल शिक्षा व्यवस्था (१९६६)

(घ) श्री अरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय केन्द्र (१९६६)

(ङ) वर्धा शिक्षा व्यवस्था (१९६६)

(च) विश्वभारती (१९६३)

एक दूसरी सूक्ति है

रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवाः
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गंधा इव किंशुका।

वे लोग जिनके पास यौवन है, रूप है, बड़ा परिवार है परन्तु 'शिक्षा' नहीं, उसी प्रकार मान-सम्मान नहीं पाते जैसे गंधरहित टेसू के फूल।

एक सूक्ति इस प्रकार है

किं कुलेन विशालेन विद्याहीनस्य देहिनः
विद्यावान् पूज्यते लोके विद्याहीनः पशुर्भवेत्।

अशिक्षित मनुष्य का कुल बड़ा और ऊँचा भी हो तो क्या ? अशिक्षितजन पशु के समान हैं परन्तु शिक्षित जन की सारे समाज में पूजा होती है।

शिक्षा मनुष्य के लिए सब कुछ कर सकती है। पद्मपुराण में कहा गया है

विद्यया प्राप्यते सौख्यं यशः कीर्तिस्तथातुला
ज्ञानं स्वर्गः सुमोक्षश्च तस्माद्विद्यां प्रसाधय।

विद्या से सुख, यश, अतुल कीर्ति, ज्ञान, स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त होते हैं। इसलिए शिक्षा प्राप्त करने का पूरा यत्न करो।

इसी प्रकार 'भर्तृहरि' कहते हैं

विद्यानाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्न गुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरुणां गुरुः
विद्या बंधुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतं
विद्या राजसु पूज्यते नहि धनं विद्याविहीनः पशुः।

विद्या मनुष्य का बढ़ा हुआ सौन्दर्य है, उसका सुरक्षित और गुप्त धन है, *विद्या भोग, यश और सुख दिलाने वाली गुरुओं की गुरु है। विद्या ही सच्चा मित्र और* बंधु है, जब मनुष्य विदेश में हो, विद्या श्रेष्ठ देवता है, विद्या की पूजा राज-दरबारों में होती है, धन की नहीं। विद्याविहीन मनुष्य पशु के समान है।

शिक्षा का महत्त्व एक श्लोक में इस प्रकार बताया गया है—

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते
कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खेदम्।
लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिं
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या॥

शिक्षा माता के समान रक्षा करती है, पिता के समान शुभ कार्यों में मनुष्य को लगाती है, पत्नी के समान दुःख दूर करके आनन्द देती है, धन बढ़ाती है, दिशाओं-दिशाओं में नाम बढ़ाती है—शिक्षा एक ऐसा कल्प वृक्ष है जो मनुष्य को मनचाही वस्तु प्रदान कर सकती है।

यह सूक्तियाँ केवल कुछ उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत की गयी हैं जो शिक्षा के महत्त्व पर प्रकाश डालती हैं। निरक्षरता को इस देश में पाप और पशुत्व माना गया था। शिक्षा के अभाव में मनुष्य उस प्रकार ठोकरें खाता है और इसी प्रकार भटकता है, जैसे अंधेरे में एक दूसरे के द्वारा ले जाए गये अंधे भटकते हैं—ऐसी यहाँ मान्यता रही है।

भारतीय शिक्षा के प्रमुख आदर्श

प्राचीन भारतीय शिक्षा में कुछ मूल्यों को निश्चित रूप में स्वीकार किया गया था। इन मूल्यों पर शिक्षा को आधृत करके उसके प्रभाव को बढ़ाने की चेष्टा की गई थी। अतः उन आदर्शों तथा मूल्यों पर विचार करना आवश्यक है।

(क) चयनात्मकता—भारतीय शिक्षा का एक प्रमुख आदर्श चयनात्मकता है जिसका अर्थ यह है कि हर एक आम छात्र के लिए शिक्षा का द्वार नहीं खोल देना चाहिए। इसका कारण यह है कि हर एक मनुष्य में शिक्षा से लाभ उठाने की योग्यता नहीं है। आज की दुनिया में सार्वजनिक शिक्षा (Universal Education) का आदर्श अपनाया गया है जिसका अर्थ यह लगाया जाता है कि हर एक को बिना भेदभाव के शिक्षा पाने का अधिकार मिलना चाहिए। वास्तव में इस आदर्श का सच्चा अर्थ यह होगा कि यदि शिक्षा से लाभ उठाने की क्षमता है तभी यह अधिकार मिलना चाहिए। मनोविज्ञान में बुद्धि पर किए गये शोध कार्य से सिद्ध हुआ है कि ऐसे मनुष्य भी हैं जो अल्पबुद्धि होते हैं और वे शिक्षा से लाभ नहीं उठा सकते। ऐसे लोगों को सामान्य बुद्धि वाले जनों के साथ रख कर पढ़ाने में अनेक समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। इस दृष्टि से सार्वजनिक शिक्षा का आदर्श पूर्ण नहीं कहा जा सकता और हम धीरे-धीरे चयनात्मकता की ओर अग्रसर हो रहे हैं। प्राचीन काल में चुने हुए लोगों को ही शिक्षा देने का आदर्श शायद इसीलिए स्वीकार किया गया था। यूरोप में ग्रीक दार्शनिक प्लेटो द्वारा वर्णित शिक्षा में चयनात्मकता को जिस रूप में स्वीकार किया गया है, वह आपत्तिजनक है क्योंकि उसमें शिक्षा का अधिकार केवल शासकवर्ग को दिया गया है। भारत में चयनात्मकता का आधार कुछ दूसरे रूप में है, जो अपेक्षाकृत न्यायोचित है क्योंकि किसी वर्ग-विशेष के लिए शिक्षा का अधिकार सीमित न था। यह ठीक है कि 'वर्ण-व्यवस्था' भारत में थी और ब्राह्मण ही शिक्षा के अधिकारी माने जाते थे परन्तु 'वर्ण' स्थिर वर्ग न था। ब्राह्मण का अर्थ एक ऐसे व्यक्ति से है जिसमें बुद्धि हो और जो पठन-पाठन में रुचि रखता हो। इस प्रकार के व्यक्ति के लिए शिक्षा का द्वार खोलना न्याय है और ऐसे लोगों के लिए शिक्षा के द्वार बंद करना अन्याय नहीं है जो शिक्षा से लाभ नहीं उठा सकते। यह बात इस संदर्भ में न्यायोचित जान पड़ती है कि उस प्राचीन काल में शिक्षा बौद्धिक, शारीरिक और धार्मिक थी और शिक्षा के स्थान इतने विकसित न थे कि उनका अपव्यय किया जाए।

चयनात्मकता का आदर्श कई कारणों से अपनाया गया था। उसका मनोवैज्ञानिक आधार ऊपर स्पष्ट किया गया है। अब सामाजिक आधार पर विचार करें। प्राचीन भारतीय समाज को वर्णव्यवस्था के आधार पर बाँटा गया था और उसको सुगठित बनाने के लिए एक ऐसा वर्ग चुना गया जिसके हाथ में समाज का नैतिक तथा आध्यात्मिक नेतृत्व सौंप दिया गया। यह वर्ग 'ब्राह्मण' के नाम से पुकारा गया। इसका काम सामाजिक नियमों की रचना करना था। यह लोग अपना उत्तरदायित्व तभी पूरा कर सकते थे, जब उनका विशेष प्रकार से प्रशिक्षण हो। *इन विशिष्ट तथा चुने हुए लोगों के लिए शिक्षा के द्वार खोले गये। उस जमाने का ब्राह्मण अपनी कुछ* विशेषताओं के कारण 'ब्राह्मण' था, किसी कुल या जाति में जन्म लेने के कारण नहीं। यह बात बराबर ध्यान में रखने की है। महाभारत में युधिष्ठिर और यक्ष के संवाद में कहा गया है—ए यक्ष, सुनो। निश्चित रूप से केवल आचरण से ही किसी का 'ब्राह्मणत्व' प्रकट होता है, पवित्र धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन और वेदों के ज्ञान से नहीं। इसी प्रकार युधिष्ठिर और सर्प संवाद में भी कहा गया है कि शूद्र न तो आवश्यक रूप से शूद्र है और न ब्राह्मण, ब्राह्मण है। केवल वही ब्राह्मण है जिसमें कुछ विशेषताएँ हैं और जब उसमें वे गुण न हों, तो वह शूद्र है।

ऊपर दिए गये विवेचन से स्पष्ट है कि चयनात्मकता का यह सामाजिक आधार पूर्ण रूप से मनोवैज्ञानिक भी है। दूसरा आधार है, 'पात्रता' का। शिक्षा सुपात्र को दी जानी चाहिए। कहा गया है—विद्या सार्धम् म्रियेत न विद्यामूषरे वपेत, अर्थात् विद्या को लिये हुए मर जाना अच्छा है परन्तु उसे ऊसर में बोना अच्छा नहीं है। तात्पर्य यह है कि सुपात्र को ही शिक्षा देनी चाहिए। इस सम्बन्ध में 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् में कहा गया है :

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः।

वेदान्त में जो भी प्राचीन काल में गूढ़ तथा रहस्यमय सत्य बताया गया है, उसे न तो ऐसे व्यक्ति को प्रदान किया जाय जिसने अपनी वासनाओं को शान्त नहीं किया है और न अयोग्य पुत्र और अयोग्य शिष्य को।

इसी प्रकार मैत्रायणी उपनिषद् में एक स्थल पर विद्या (शिक्षा) एक ब्राह्मण के पास आकर कहती है कि मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारी अमूल्य निधि हूँ। किसी ऐसे दुष्ट को मुझे मत सौंपो ताकि मेरी शक्ति अक्षुण्ण बनी रहे। मनु ने भी अपनी स्मृति में कहा है कि विद्या उसी को देनी चाहिए जो पवित्र, संयमी और संसार की त्रुटियों से मुक्त हो। यदि किसी ब्रह्मवादी (शिक्षक) के पास जीविका न हो तो भी उसे ज्ञान किसी भी कुपात्र को नहीं देना चाहिए। प्राचीन काल में शिक्षक तब तक किसी छात्र को शिक्षा नहीं देता था जब तक वह यह अच्छी तरह सिद्ध न कर दे कि उसमें योग्यता, मानसिक और नैतिक बल है और शिक्षक इससे सन्तुष्ट न हो जाय। इस सम्बन्ध में कठोपनिषद् का वह प्रसंग उल्लेखनीय है जिसमें नचिकेता आत्मज्ञान प्राप्त

करने के लिए यम के पास जाता है और यम तभी उसे जीवन-मृत्यु का रहस्य बताते हैं, जब वे उसकी निष्कपटता और ज्ञान के प्रेम की जाँच कर लेते हैं। नचिकेता किसी भी प्रलोभन में नहीं पड़ता और केवल ज्ञान-पिपासा शांत करने का आग्रह यम से करता है। शिक्षा पाने की पात्रता के सम्बन्ध में अनेक आख्यान आए हैं, जैसे सत्यकाम जाबालि तथा उपकोशल, प्रजापति तथा इन्द्र और वैरोचन, याज्ञवल्क्य और जनक, शाकायन और बृहद्रथ के प्रसंग। जिस शिक्षार्थी में शांति, स्थिरता, आत्मसंयम, निग्रह, सतोष और समादित्व के साथ-साथ शुद्ध भोजन के प्रभाव से सत्व-शुद्धि (प्रकृति की शुद्धता), शिरोव्रत (अग्नि को सिर पर रखने का व्रत या केशहीन रहने का व्रत) पूरा कर लेने के गुण हों, वही शिक्षा पाने का अधिकारी है। इससे स्पष्ट होता है कि शिक्षा को केवल चुने हुए लोगों को देने का आदर्श भारतीय शिक्षा में स्वीकार किया गया था।

(ख) विचार और व्यवहार अथवा शिक्षा और जीवन की एकरूपता—प्राचीन भारतीय शिक्षा में इस बात पर अधिक बल दिया गया था कि व्यवहार और विचार के बीच किसी प्रकार की खाई न रहने पावे। आज की शिक्षा-प्रणाली के ठीक विपरीत छात्रों को शिक्षा काल में एक प्रकार का ऐसा प्रशिक्षण दिया जाता था जिसमें उन्हें जीवन के विविध पक्षों का ज्ञान हो जाय और यह प्रशिक्षण असली परिस्थितियों के बीच जीवन जीते हुए प्राप्त करना होता था। इसमें छात्रों को शिक्षा खोखली और नकली नहीं जान पड़ती थी। शिक्षा के सभी केन्द्रों में चाहे वे गुरुकुल हों या विहार या विश्वविद्यालय, छात्रों को रहना पड़ता था। जीवन का महत्त्वपूर्ण अंश इन शिक्षा-केन्द्रों में व्यतीत करके उन्हें अनुभव करते हुए ज्ञानार्जन करना पड़ता था। कठोपनिषद् में कहा गया है

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

आत्मा अथवा जीवन का रहस्य प्रवचन, वेदादि के अध्ययन और दूसरों के अनुभव सुनकर नहीं जाना जा सकता, उसे तो स्वयं अपने जीवन के माध्यम से ही समझा जाता है। इसलिए भारत की प्राचीन शिक्षा में जीवन को अवश्य ही प्रति-बिम्बित किया जाता था। भ्रमवश कुछ लोगों का यह विचार है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा संस्थाएँ, जैसे आश्रम, गुरुकुल, विहार तथा विश्वविद्यालय नगरों से बाहर वनों और एकान्त उपवनों में स्थित थे और उनका जीवन से सम्बन्ध न था। इस भ्रम का निवारण आवश्यक है। इन शिक्षा-केन्द्रों में रहने वाले ऋषिगण और आचार्य गुफाओं में बैठ कर आँख बन्द करके ध्यानस्थित रहने वाले जीव न थे, इन ऋषियों का ऐसा चित्र हमारे मन में व्यर्थ ही जम गया है। वास्तविकता तो यह है कि यह सभी लोग एक समाज बना कर रहते थे, वे अपने परिवार के साथ रहते थे, वहाँ स्त्रियाँ भी थीं और बच्चे भी। वे इस प्रकार संसार के प्राणी थे परन्तु संसार से कुछ अलग थे कि वे भोगविलास और धनलिप्सा से दूर रहते थे। यह लोग प्रायः नगरों में जाते रहते थे, राज-सभाओं और राजाओं के होने वाले उत्सवों में शिष्यों

सहित शामिल होते थे। उनके बच्चे शिष्यों के साथ हिल-मिल कर रहते, उनके सा वे लोग मिलकर परिश्रम करते, हर कार्य मे भाग लेते। वे धन और जीविका क चिन्ता से मुक्त रहते थे क्योंकि उनका भरण-पोषण राजाओ और छात्रों की दक्षिण पर निर्भर था। यह लोग चूँकि स्वस्थ विवाहित जीवन व्यतीत करते थे, उन कुण्ठा का शिकार नही बनते थे, जो मानसिक सन्तुलन को बिगाड देती हैं। प्राचीन शिक्ष का सम्बन्ध जीवन से जुड़ा था, यद्यपि शिक्षा संस्थाएँ नगरों से बाहर थी, आज हमार शिक्षा संस्थाएँ नगरो मे स्थित होते हुए भी जीवन से अलग हैं और उनकी अपन जिन्दगी इतनी खोखली है कि वह असली मानव जीवन से मेल नही खाती।

प्राचीन भारतीय शिक्षा-केन्द्रो के जीवन का जिसमे सादगी और उच्च चिन्त की प्रधानता थी, हमारे महाकवियो ने महाकाव्यों मे सुन्दर वर्णन किया है। कालिदा और भवभूति ने इनका सुरम्य रूप प्रस्तुत किया है जिनमे 'चेतन' और 'जड' क अद्भुत सगम हुआ है। पाराशर सहिता मे पाराशर मुनि के बद्रिकाश्रम का वैजो चित्रण है। महात्मा बुद्ध ने अपने सभी शिक्षा-केन्द्र प्रकृति की गोद मे स्थापित कि थे जिनमे उरुवेला, श्रावस्ती का जेतवन, पुब्बाराम, घोषिताराम और महावन प्रमुख थे। यदि शिक्षा-केन्द्रो के चारो ओर प्रकृति का वातावरण प्रधान था तो उसका य अर्थ नही था कि शिक्षा को जीवन से अलग रखा जाय। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने एक भाषण मे कहा था कि तत्कालीन आश्रमो और गुरुकुलों को इसलिए शहर से दूर रखा गया था ताकि वे शहर के जीवन को तटस्थ रूप मे देख सकें। इन जंगलो मे बने आश्रमो मे मानव-समाज था परन्तु वह मुक्त वातावरण मे साँस लेने वाला समाज था। इसमे शिक्षा मे जीवन से अलगाव की प्रवृत्ति नही पैदा होती थी उल्टे, इस मानव-समाज मे अधिक जीवन्तता के दर्शन हो सकते थे। यदि ऐसा न होता तो इन शिक्षा-केन्द्रो से भारत का वैदिक और ब्राह्मणकाल का साहित्य न उत्पन्न हुआ होता। इन जंगलों से ही सभ्यता और संस्कृति की अजस्र धारा बही थी जिसने सारे भारत को आप्लावित कर दिया था।

श्री रवीन्द्र ने जीवन और शिक्षा के सगम के इस प्राचीन आदर्श की पुन प्रतिष्ठा करने का जोरदार समर्थन किया है और शान्ति निकेतन उसका एक प्रमाण भी है। उनका कहना है कि इगलैण्ड के आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयो ने उस प्राचीन भारतीय आदर्श को अपनाया है और इसी से वे इतने महान् बन सके। आजकल के शहरी विश्वविद्यालय शहरी शोरगुल के बीच फँस कर अपनी शक्ति खो बैठे हैं। उनसे गम्भीर चिन्तन-प्रधान जीवन-दर्शन पैदा करने की आशा नहीं की जा सकती। यह बात दूसरी है कि वे आविष्कारो और यन्त्रो की सभ्यता पैदा कर रहे हैं।

. शिक्षा और जीवन के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध ... द्वारा उचित होगा। बाणभट्ट ने अपनी ... । जो वर्णन किया है ... की

सीमा के भीतर चारों ओर मुनि ही मुनि दृष्टिगोचर होते थे, जिनका अनुसरण उनके शिष्य वेद मन्त्रों का उच्चारण करते हुए तथा समिधा, कुश, पुष्प और मिट्टी ले जाते हुए करते थे। वेदों के पठन-पाठन में यहाँ के नवयुवक छात्र अत्यन्त कुशल थे। यहाँ से मन्त्रों को सुनते हुए उन्हें सब कुछ अपने आप याद हो जाता था। यहाँ की अनेक कुटियाँ वृक्षों के पत्तों से बनी थीं, आँगन समतल और रंग-चर्चित थे, जहाँ-तहाँ छात्र ध्यान में लीन और मन्त्रोच्चारण में व्यस्त थे, वन देवताओं की पूजा और योग का अभ्यास होता दीखता था। मूँज की मेखला, छाल के वस्त्र, समिधा सामग्री, मृग चर्म की सफाई और सजावट, कुश की शय्या, कमल के बीजों की सुमाला, रुद्राक्ष की मालाएँ और बांसों के ढेर लगाना आदि की तैयारी हर समय करते हुए लोग आश्रम में दिखाई देते थे। कहीं पर आश्रम में नवागत तपस्वियों का स्वागत सत्कार हो रहा था और कहीं पेड़ों में पानी सिंचन किया जा रहा था। कहीं यज्ञशाला और हवनकुण्ड का निर्माण हो रहा था तो कहीं श्राद्धकर्म और यज्ञ करने की कला का प्रत्यक्ष अभ्यास कराया जाता था और कहीं पर मन्त्रों की व्याख्या हो रही होती, आदि।

भारतीय संस्कृति का शुद्ध जीवन्त रूप इन आश्रमों में देखने को मिल सकता था। महाभारत में वर्णित कुलपति शौनक का नैमिष स्थित शिक्षा-केन्द्र अद्वितीय था जहाँ दस हजार छात्र पढ़ते थे। यहाँ पर धार्मिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक विषयों पर ऐसी विद्वत्तापूर्ण चर्चाएँ होती थीं कि दूर-दूर से जिज्ञासु आकर यहाँ ठहरते और शिक्षा प्राप्त करते थे। शौनक के आश्रम में अनेक विषयों के विशेषज्ञ थे, जैसे वेदविदों में श्रेष्ठ, यज्ञ करने में श्रेष्ठ, संहिता पाठ में कुशल, शिक्षा-भाषाविज्ञान, छन्द-शब्द-व्याकरण और धर्म वैशेषिक में निपुण, तर्क-न्याय और शास्त्रार्थ के ज्ञाता, विज्ञान और कला में चतुर, द्रव्य-गुण-भौतिकी और जीव-विज्ञान के पारगत विद्वान्। महर्षि कण्व का आश्रम जगद्विख्यात था जिसका उल्लेख महाभारत में हुआ है। कथासरित्सागर में कहा गया है कि इस आश्रम में राजा चन्द्रावलोक को महर्षि कण्व ने आखेट में पशुओं का वध करने से रोका था और अपनी कन्या इन्दीवरप्रभा का विवाह उसके साथ किया था। एक अन्य राजा के मन्त्री व्याघ्रसेन को यहाँ ऋषि ने निर्भीकता और साहस का पाठ पढ़ाया था। शकुन्तला का लालन-पालन इन्हीं कण्व ने किया। इनके आश्रम में दुष्यन्त आकर शकुन्तला से विवाह कर गए थे। कालिदास को अभिज्ञान शाकुन्तलम् में इस आश्रम के जीवन का सहज स्वाभाविक वर्णन है। ऐसे प्रसिद्ध आश्रमों की एक सुदृढ़ शृंखला भारत में थी। कुछ प्रसिद्ध आश्रम हैं—तमसा नदी के किनारे चित्रकूट पर्वत पर स्थित वाल्मीकि का आश्रम जिसका वर्णन रामायण और भवभूति के उत्तर रामचरित में आया है, वसिष्ठ और विश्वामित्र के आश्रम जिनमें रघुवंशी राजाओं ने शिक्षा पाई थी, भारद्वाज का आश्रम, सरयू और गंगा के संगम पर स्थित अगस्त्य मुनि का आश्रम जहाँ राम और पांडव गए थे और जिसका उल्लेख रामायण, महाभारत, उत्तर रामचरित, कादम्बरी

और कर्पूरमजरी मे है, गौतम का आश्रम जो मिथिला के निकट था और जहाँ राजा जनक प्राय जाते थे, व्यास का आश्रम जहाँ के स्नातको मे सुमन्त, वैशपायन, जैमिनि और शुक जैसे विद्वान् थे।

यदि इन आश्रमो मे जीवन और शिक्षा का अटूट सम्बन्ध न जोडा गया होता तो इनमे शिक्षा प्राप्त करने वाले लोगों मे वृहत्तर भारत का निर्माण करने की योग्यता न पैदा होती। यहाँ की शिक्षा ने बडे-बडे चिन्तक दार्शनिक, साधक, वीर योद्धा, कला-कुशल जन के साथ-साथ सामान्य जन के व्यक्तित्व को उभारने और विकसित करने मे महान् योगदान दिया था। ह्वनसांग ने इस शिक्षा मे उत्पन्न व्यक्तियों के सम्बन्ध मे लिखा है—जब यह लोग अपनी शिक्षा पूरी कर लेते हैं और तीस वर्ष की अवस्था प्राप्त कर लेते हैं तो उनका चरित्र निर्माण हो चुकता है और उनका ज्ञान परिपक्व हो जाता है। वे लोग ऐसे है जो प्राचीन ज्ञान मे निष्णात होते है और ज्ञान के प्रति इतनी लालसा रखते है कि एकान्त और सयम के जीवन मे ही वे सन्तुष्ट रहते है। वे ससार मे प्रवेश करते और उससे बाहर आते रहते हैं, जीवन व्यापार की गलियो मे गुजर कर भी वे उससे दूर रहते हैं। उन्हें सम्मान और असम्मान की जरा भी चिन्ता नहीं रहती, यद्यपि उनका यश दूर-दूर तक फैल जाता है। उनका परिवार सम्पन्नता का जीवन बिताता है परन्तु वे स्वय धूम-धाम कर और भिक्षा माँग कर जीवन बिता देने मे सकोच नही करते। परित्यक्त बने रहने मे उन्हें लज्जा नही आती और अपने सत्य के अन्वेषण पर उन्हे गर्व होता है। शासकगण उनका बडा सत्कार करते हैं परन्तु उन्हे अपने दरबारो मे बुला नही सकते।

इन शिक्षित जनो का प्रभाव सारे समाज पर पडा और सामान्य जन के जीवन स्तर मे उठाव आया। सभी विदेशी यात्रियों ने भारतीय जनो की नैतिकता की प्रशसा की है। इस शिक्षा ने सत्यप्रेमी, सादगी-पसन्द, ईमानदार, मितव्ययी, हृदय का शुद्ध निष्कपट, न्याय पर चलने वाला, वायदे का सच्चा, शान्तिप्रिय, निर्भीक, कर्तव्यपरायण व्यक्ति पैदा किये थे। यदि शिक्षा और जीवन का ऐसा सयोग न होता तो ऐसा व्यक्ति पैदा ही नहीं हो सकता था।

(ग) विद्यार्थी-जीवन का आदर्श—वर्तमान शिक्षा मे विद्यार्थी को किसी एक प्रकार का जीवन नहीं बिताना पडता। उसके लिए कोई आचार सहिता नहीं है परन्तु प्राचीन भारतीय शिक्षा मे विद्यार्थी के लिए अनेक आदर्श स्थिर कर दिये गये और उनके लिए एक विशेष प्रकार की जीवन-पद्धति निश्चित कर दी गयी थी। वास्तव मे ऐसा शायद इसीलिए किया गया था कि जीवन और शिक्षा का सम्बन्ध बना रहे।

विद्यार्थी के मन मे यह बात जमाना आवश्यक था कि वह एक 'विद्यार्थी' है। इसलिए विद्यार्थी-जीवन का प्रारम्भ 'उपनयन' सस्कार से होता था। 'उपनयन' शब्द का अर्थ है—(गुरु के) निकट ले जाना। अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण मे इस सस्कार के प्रारम्भ का उल्लेख है। प्रथा यह पडी कि विद्यार्थी बनने के लिए युवक

समिधा और अग्नि लेकर उपाध्याय के पास जाए । यह क्रिया इस बात का प्रमाण है कि वह शिक्षा प्राप्त करना चाहता है । वह आचार्य से कहता है कि मैं आपके पास आया हूँ, आप विद्यार्थी के रूप में मुझे स्वीकार करें । आचार्य उससे उसके वंश आदि की पूछ-ताछ करता है । इस अवसर पर उसे विद्यार्थी जीवन के कर्तव्य बताये जाते हैं, जैसे अग्नि में समिधा डालो, जल से आन्तरिक शुद्धि करो, सेवा करो, दिन में न सोओ, पत्थर के समान दृढ़ रहो आदि । विद्यार्थी के रूप में उसे स्वीकार करने के बाद आचार्य इन्द्र, वरुण और सरस्वती से प्रार्थना करता है कि उसे 'मेधा' प्राप्त हो । इसी अवसर पर वह यज्ञोपवीत धारण करता है ।

विद्यार्थी-काल में छात्र को अनिवार्य रूप से गुरुगृह में रहना पड़ता था । इस नियम से किसी को छूट नहीं दी जाती थी । इस बात का उल्लेख अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण, ऐतरेय, तैत्तिरीय और अन्य ब्राह्मणों में है । छान्दोग्य में छात्र के लिए 'आचार्यकुलवासिन्' और 'अन्तेवासिन्' विशेषणों का प्रयोग बताता है कि छात्र का गुरु के घर निवास करना एक आवश्यक शर्त थी । इस शर्त का उल्लेख मनु, हारीत, व्यास और वासिष्ठ संहिताओं में है । गुरुगृह निवास की विशेषता यह थी कि छात्र को पारिवारिक जीवन की भाँति यहाँ भी स्नेह और सुरक्षा का अनुभव होता था । यह एक ऐसी विशेषता थी, जो वर्तमान सावासीय शिक्षा संस्थाओं में नहीं पायी जाती ।

विद्यार्थी जीवन में छात्र को भिक्षावृत्ति करनी पड़ती थी । यह एक नियम था और चाहे जिस वर्ग का विद्यार्थी हो, उसे भिक्षा माँगने के लिए जाना पड़ता था । उद्देश्य यह था कि अध्यापक के भरण-पोषण का भार उस पर रहे, उसमें विनय का गुण उत्पन्न हो और समाज को यह अनुभव हो कि शिक्षा के प्रति उसकी जिम्मेदारी है । छान्दोग्य उपनिषद् अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण, आपस्तम्भ, मनु, व्यास और याज्ञ आदि में इस नियम का उल्लेख है । यदि स्वस्थ दशा में सात दिन तक कोई विद्यार्थी भिक्षा नहीं माँगता, तो उसे प्रायश्चित करना पड़ता था । मनु ने कहा है कि छात्र को पहले अपनी माता, बहन, मौसी या किसी ऐसी स्त्री से भिक्षा माँगनी चाहिए जो उसका अपमान न करे (शायद इसलिए कि पहली बार भिक्षा न पाने से ही उसमें हीनता का भाव पैदा हो जायगा) । साथ ही व्यास संहिता में कहा गया है कि नमक और बासी भोजन छोड़कर दैनिक भोजन मात्र स्वीकार करना चाहिए । चाहे जैसा सकट हो पर किसी हालत में भिक्षा के द्वारा धन संग्रह नही करना चाहिए । भिक्षा वृत्ति से जो कुछ प्राप्त हो, उसे छात्र अपने पास नहीं रख सकता था, उसे आचार्य के पास जमा करना पड़ता था ।

छात्र का एक कर्त्तव्य यह था कि वह यज्ञ की अग्नि को प्रज्वलित रखे । अग्नि को प्रज्वलित रखना इस बात का प्रतीक था कि छात्र को हर समय जिज्ञासा-रूपी अग्नि से मन को जाग्रत रखना चाहिए ।

अध्यापक की सम्पत्ति और घर की देखभाल करना छात्र का प्रमुख कर्त्तव्य समझा जाता था। छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित सत्यकाम की कथा में प्रकट होता है कि एक छात्र को किस प्रकार वर्षों गाय चरानी पड़ी थीं ? आरुणि तथा उपमन्यु की कथाओं में प्रकट है कि छात्र को गुरु के परिवार में रहकर उसकी खेती की देखभाल, पशुधन की रक्षा और गुरु की अनुपस्थिति में उसके बाल-बच्चों की देख-भाल भी करनी होती थी। पशु के लिए चारा-पानी, फूल, गोबर, मिट्टी और कुश आदि की व्यवस्था का भार उस पर होता था। यहाँ उसके चरित्र की घोर परीक्षा होती थी जैसा कि शुक्राचार्य के परिवार में रहने वाले कच और आचार्य की पुत्री देवयानी की कथा में प्रकट होता है। उसे बहुत बड़े धर्म-संकट से पार होना पड़ता था।

छात्र को मनसा वाचा कर्मणा अध्यापक की सेवा करनी पड़ती थी। मनु ने स्पष्ट बताया है कि छात्र को अपने अध्यापक के हित के लिए हर समय तत्पर रहना चाहिए। याज्ञवल्क्य संहिता में कहा गया है कि गुरु की सेवा के द्वारा छात्र अमरत्व प्राप्त कर सकता है। हारीत और व्यास संहिताओं में यही बात बताई गयी है। अपने अध्ययन और कार्य का त्याग करके भी विद्यार्थी को गुरु की सेवा में लगना चाहिए। छान्दोग्य में कहा है कि शिष्य को अध्ययन तभी करना चाहिए जब उसे अध्यापक के कार्य से छुट्टी (गुरोः कर्मातिशेषे वा) मिले।

अध्यापक के घर में निवास करते हुए छात्र का जीवन एक विशेष क्रम के अनुसार बीतता था। उसे उषा काल में उठना पड़ता था और तारों के विलीन होने से पहले संध्या कर्म कर लेना होता था। मनु के अनुसार इस कार्य में असफल होने पर प्रायश्चित करना जरूरी था। दूसरा काम छात्र का यह था कि वह दिन में तीन बार प्रार्थना करे। मन और शरीर की शुद्धि के लिए स्नान करने का नियम था। विष्णु संहिता में दो बार और वाशिष्ठ तथा कामन्दकीय नीतिसार में तीन बार स्नान करने का नियम बताया गया है। छात्रों के लिए वस्त्र-विन्यास निश्चित थे। द्विजाति के लिए धवल सूती या रेशमी वस्त्र पहनना अच्छा समझा जाता था। उत्तरीय के रूप मृगचर्म धारण करना पड़ता था, मेखला मूँज की बनती थी जो कमर में पहनी जाती थी, यज्ञोपवीत पहनना अनिवार्य था, हाथ में एक डन्डा रखना पड़ता था जो पवित्रता और प्रकाश का प्रतीक था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के लिए यह वेशभूषा अलग-अलग थी। छात्रों को सिर पर बाल न रखना परन्तु चोटी का रखना आवश्यक था या फिर जटाएँ रखनी पड़ती थीं। साथ में कमंडलु रखने का नियम था। अधिक वस्त्र पहनना, सजावट करना, रंग लगाना, आँख में अंजन धारण करना, तेल लगाना, मालिश करना, क्षौर कर्म, दर्पण में मुख देखना, फूलों की माला पहनना, सुगन्धि लेप करना, चन्दन लगाना, जूते पहनना, छाता ले चलना आदि छात्र के लिए वर्जित था। शरीर का आकर्षण न बढ़ने पाये, इसलिए वाशिष्ठ संहिता में यहाँ तक

लिखा है कि छात्र को अपने शील, इन्द्रियों और मानस भी साफ रखने चाहिए। इस वेद विधान के साथ रहने की स्थिति का तात्पर्य यह है कि विद्यार्थी जीवन में छात्र इन्द्रिय सुखों से दूर रहें और उनके मन में किसी प्रकार की वासना न उत्पन्न हो।

छात्रों के लिए भोजन के सम्बन्ध में भी नियम बने थे। इस प्रकार भोजन के रूप में अपने द्वारा प्राप्त भिक्षा का एक अंश लिया जाता था। हारीत, मनु और याज्ञवल्क्य संहिताओं में कहा गया है कि छात्र को जो भी भोजन मिले, उसका तिरस्कार किए बिना, वह उस भोजन को नमस्कार करे, उसे देखकर ही उसका स्वागत करते हुए प्रसन्नता प्रकट करे। मनु का कहना है कि पूजा के उपरान्त खाया गया भोजन शक्ति और वीर्य प्रदान करता है। मैत्रायणीय उपनिषद् में भोजन की प्रशंसा की गई है। उसमें सूर्य देवता की प्रशंसा के साथ-साथ भोजन की विभिन्न रूपों में स्तुति की गयी है। भोजन के सम्बन्ध में कई नियम हैं, जैसे पूर्वाभिमुख होकर भोजन करने से मनुष्य दीर्घायु होता है, जो दक्षिणाभिमुख होकर भोजन करने से यश मिलता है आदि। भोजन की मात्रा के सम्बन्ध में वाशिष्ठ संहिता कहती है कि विद्यार्थी को इच्छा भर भोजन करना चाहिए। एक बैल, विद्यार्थी और ब्राह्मण खाने के बाद ही काम कर सकते हैं। व्यास संहिता में एक बार का भोजन जो ब्रह्मचर्य के अनुकूल हो और मनु में दो बार का भोजन उचित बताया गया है। हर हालत में अधिक भोजन अनुचित बताया गया है। भोजन की अधिकता जीवन को क्षीण करने वाली बतायी गयी है। भोजन में चावल को शामिल न करने की सलाह दी गयी है। विद्यार्थी के लिए मांस, मधु, मिष्टान्न, पान तथा बासी भोजन वर्जित थे।

सोने के विषय में मनु, हारीत तथा शंख संहिताओं में कहा गया है कि विद्यार्थी को भूमि पर सोना चाहिए। अपने अध्यापक के सोने के बाद उसे सोना और उसके उठने से पहले जागना चाहिए। दिन में सोना बुरा तथा संध्या के समय सोना जीवन की हानि करने वाला बताया गया है।

विद्यार्थी जीवन में ब्रह्मचर्य की रक्षा करना सबसे बड़ा कर्तव्य समझा जाता था। इसलिए सभी संहिताओं ने छात्रों को स्त्रियों के सम्पर्क से दूर रहने का नियम निर्दिष्ट किया है। किसी प्रकार भी वीर्य का क्षय न करने का आदेश है। वीर्य को स्वास्थ्य और शक्ति के लिए आवश्यक मान कर उसकी रक्षा करने का निर्देश है। ब्रह्मचर्य को शिक्षा से ऊँचा दर्जा देते हुए कहा गया है कि केवल ब्रह्मचर्य साधन करके ही विद्यार्थी को समस्त विद्याएँ सिद्ध हो जाती हैं।

विद्यार्थी के लिए उच्चतम मानसिक और नैतिक अनुशासन की आवश्यकता बतायी गयी है। गोपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि छात्रों को जातीय गर्व, यश कामना, क्रोध, निद्रा, सौन्दर्य-प्रसाधन, कस्तूरी सुगंध तथा बालाओं से बच कर रहना चाहिए। अनुशासन की दृष्टि से कामना, तृष्णा, क्रोध, असत्य, भय, घृणा, मान, आलस्य, मद, मोह, चपलता, क्रूरता, असूया, डाह, व्यर्थ का विवाद, अश्लील

भाषण, अज्ञानता, कटु वचन, परनिन्दा, मद्यपान, स्त्रियों से वार्तालाप आदि से बचना आवश्यक है। छात्र को पक्षपातरहित, मृदुभाषी तथा उत्साही होना चाहिए। छात्र के लिए घुड़सवारी, हस्ति या अन्य सवारी, स्वर्ण या कमल को पैरों के नीचे लाना, नाचना, गाना, द्यूतक्रीडा, पशुहत्या आदि वर्जित हैं।

गुरु के प्रति आदर और उसकी आज्ञा का पालन करना छात्र की सबसे बड़ी जिम्मेदारी मानी जाती थी। महाभारत, मनु, गौतम, वशिष्ठ, विष्णु संहिताओं तथा शुक्रनीतिसार में बार-बार यह कहा गया है कि विद्यार्थी को शिक्षक का किसी प्रकार अपमान नहीं करना चाहिए। सभी गुरुजनों में अध्यापक ही श्रेष्ठ माना जाता था। उसकी सेवा से सभी विद्याएँ अपने आप सिद्ध हो जाती थीं। उसके नीचे आसन ग्रहण करना, उसके आगे झुक कर बात करना, विनयपूर्वक प्रश्न पूछना आदि नियमों का पालन छात्र को करना पड़ता था। भारतीय साहित्य में आदर्श छात्र की परम्परा राम, कृष्ण, अर्जुन, एकलव्य, उपमन्यु, आरुणि, सत्यकाम और कच जैसे व्यक्तियों के रूप में देखने को मिलती है।

(घ) अध्यापक का आदर्श—प्राचीन भारत में अध्यापक को बहुत ऊँचा स्थान प्रदान किया गया था। आजकल की तरह उस पर शासन, प्रशासकीय विभाग, राजनीति, अर्थ, पाठ्यक्रम, परीक्षा तथा नियमावली का कोई नियन्त्रण नहीं था। वह स्वतन्त्र चिन्तक था। राज्य और समाज उसे हर प्रकार की सुविधा प्रदान करते थे। साथ ही अध्यापन का कार्य बहुत पवित्र माना जाता था। इसलिए इस कार्य को ब्राह्मण वर्ग के लोग ही प्रायः अपनाते थे क्योंकि संयमी, अपरिग्रही, ब्रह्मविद्, विरागी, तत्त्वद्रष्टा और स्वाध्यायरत होते थे। मनु ने स्पष्ट लिखा है कि केवल ब्राह्मण ही शिक्षण कार्य करने के अधिकारी हैं, अन्य वर्णों को किसी भी दशा में यह पेशा नहीं अपनाना चाहिए। ब्राह्मणों को अध्यापन का अधिकार उनके गुणों के बल पर दिया गया था। साथ ही इस नियम के अपवाद भी थे। यदि ब्राह्मणेतर वर्ण के व्यक्ति में असाधारण ज्ञान हो तो उसे निःसंकोच सिखाने का अधिकार प्राप्त था। यहाँ वयोवृद्ध शूद्र द्विजाति की तुलना में सम्मान पा सकता था। राजा जनक और विश्वामित्र क्षत्रिय होते हुए भी कितनों को शिक्षा देते रहते थे। गौतम संहिता में कहा गया है कि ब्राह्मण विपत्ति पड़ने पर अब्राह्मण से कला और विज्ञान सीख सकता है।

प्राचीन भारत में अध्यापन को धनार्जन के साधन के रूप में 'पेशा' नहीं माना जाता था; वह कार्य 'विद्यादान' समझा जाता था और विद्यादान हर प्रकार के दान में श्रेष्ठ था। महाभारत में धन के बदले शिक्षा देना बुरा बताया गया है और उन अध्यापकों को शूद्र कहा गया है, जो धन के बदले शिक्षा प्रदान करते हैं। ऐसा करना 'उपपातक' समझा जाता था। विद्या देने के बदले जो इस लोक में धन लेता है, उसका परलोक बिगड़ जाता है। मालविकाग्निमित्रम् में कहा गया है कि जिसने केवल धनार्जन के लिए ज्ञान प्राप्त किया है, वह व्यापारी है और [illegible] करता है। इसीलिए जब राजा [illegible] देने के

लिए विष्णु शर्मा को शतशासन (अर्थात् धन) देने की बात कही तो तेजस्वी विष्णु शर्मा ने कहा—"नाहं शासनशतेनापि विद्याविक्रयं करिष्यामि।" (मैं धन लेकर विद्या नहीं बेचूँगा।)

इन सब बातों का यह तात्पर्य नहीं है कि अध्यापक धन नहीं लेता था। इस आदर्श को स्थापित करने का उद्देश्य यह था कि अध्यापक में धनलिप्सा पैदा न हो। धनलिप्सा से शिक्षण की क्षमता नष्ट हो जाती है। यह स्थिति हम आज भारत में प्रत्यक्ष देख रहे हैं। उस काल में अध्यापक निर्लोभी होता था। फिर भी उसे छात्रों से बहुत कुछ स्वीकार करने का अधिकार था। छात्रों को शिक्षा पूरी करने के बाद दक्षिणा के रूप में भूमि, सुवर्ण, गोधन, अश्व, छाता, जूते का जोड़ा, धान, शाक, वस्त्रादि जो भी उसे देने की सामर्थ्य हो, अध्यापक को देना चाहिए। कहा गया है—'दक्षिणा श्रद्धा ददाति, श्रद्धया आप्यति ज्ञान।' फिर भी अध्यापक को जो मिले, सन्तोषपूर्वक लेना चाहिए। 'रघुवंश' में कालिदास ने कौत्स की कथा में बताया है कि शिक्षा पूरी करने के बाद अपने गुरु से दक्षिणा माँगने की याचना करने लगा। निर्धन कौत्स को असमर्थ समझ कर गुरु ने उससे चले जाने के लिए आज्ञा दी। वह हठ करने लगा। गुरु को क्रोध आ गया और उन्होंने उससे कई लाख स्वर्ण मुद्राएँ माँगीं। कौत्स निराश नहीं हुआ। वह राजा रघु के पास जाता है परन्तु उनके कोष में इतना धन न था। राजा ने कौत्स—एक विद्यार्थी—की माँग पूरी करने के लिए कुबेर पर चढ़ाई की और उनका सारा कोष कौत्स को लाकर दिया। कौत्स ने सारा कोष गुरु को अर्पित किया परन्तु उन्होंने गिन कर स्वर्ण मुद्राएँ ले लीं। न कम न ज्यादा और शेष कौत्स अपने साथ ले गया। यह था भारतीय निर्लोभ शिक्षण का आदर्श।

अध्यापक को शिक्षा काल में विद्यार्थी से शुल्क नहीं मिलता था, उसकी 'सेवा' ही शुल्क थी। वह सेवा करता और बदले में शिक्षा पाता। सेवा करने के लिए वह प्राण तक देने को तैयार था। रघुवंश में राजा दिलीप वाशिष्ठ की गाय नन्दिनी की रक्षा के लिए अपना शरीर शेर को सहर्ष अर्पित करते हैं।

प्राचीन भारत में तीन प्रकार के अध्यापक थे—गुरु, आचार्य और उपाध्याय। 'गुरु' का स्थान सर्वोच्च था। 'गुरु' का अर्थ है भारी, जो ज्ञान में भारी हो और आचरण में श्रेष्ठ हो, और जो सारे संस्कारों को पूरा कराके वेदों की शिक्षा दे। ऐसे गुरु के लिए ही संभवतः महात्मा कबीरदास ने कहा है

गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूँ पाय,
बलिहारी गुरु आपणो जिन गोविंद दिया बताय।

आचार्य एक ऐसा शिक्षक था, जो केवल उपनयन संस्कार कराने के बाद वेदों की शिक्षा देता था। मनु और व्यास ने अपनी संहिताओं में बताया है कि एक ऐसा ब्राह्मण जो नित्यप्रति तपश्चर्या करता है और होम करता है और कल्प सहित वेदों तथा रहस्यों की शिक्षा देता है, आचार्य कहलाता है। आचार्य शब्द 'चर' धातु से बना है। अतः आचार्य वह है जो दूसरों को उत्तम आचरण में प्रशिक्षण देता है या

जो धर्म का स्रोत होता है (धर्मं आचिनोति इति आचार्य)। आचार्य स्वय उत्तम आचरण का आदर्श नमूना होता था और अपने शिष्यो को धर्माचरण मे प्रशिक्षण देता था। ऐसे गुरुओं और आचार्यों की श्रेणी मे आने वाले वसिष्ठ, विश्वामित्र, सान्दीपनि, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, परशुराम और कण्व आदि हैं जिनका उल्लेख रामायण और महाभारत मे है।

उपाध्याय का विशेषण उस अध्यापक को दिया जाता था जो केवल वेद का एक अंग ही पढ़ा सकता था। विष्णु सहिता मे लिखा है कि जो शुल्क लेकर सम्पूर्ण वेद तथा विना शुल्क के आंशिक वेद पढाता हो, वही उपाध्याय है। याज्ञ्य सहिता मे भी धन लेकर वेदाध्ययन कराने वाले को उपाध्याय कहा गया है। लगभग यही मत मनु का भी है।

तत्कालीन शिक्षक के लिए अनेक गुणों से युक्त होना आवश्यक बताया गया था। एक सफल शिक्षक मे निम्नलिखित गुण हो

प्रवृत्तवाक् चित्रकथः ऊहवान् प्रतिभावान्
आशुग्रंथस्य वक्ता च य स पंडित उच्यते।

अध्यापक को हाजिरजवाब होना चाहिए, छात्र जो भी प्रश्न पूछे, तुरन्त वह उत्तर दे सके। उसके पास चित्र-विचित्र कहानियो का कोष हो ताकि वह अपनी बात या विचार को कहानियो के माध्यम से स्पष्ट कर सके। उसमे ओजस्विता हो, कक्षा पर वह अपने तेज से प्रभाव डाल सके, विचारो को मौलिक ढग से प्रस्तुत करने की प्रतिभा हो, मुँहजबानी वह पुस्तक रचना करने मे समर्थ हो। ऐसा पण्डित कुशल अध्यापक होता है।

मुंडकोपनिषद मे कहा गया है कि अध्यापक को श्रोत्रिय होना चाहिए, तात्पर्य यह है कि अध्यापक वह हो सकता है जिसकी तीन पूर्व पीढ़ियाँ वेदो के ज्ञान मे निष्णात रही हो और वह ब्रह्मवेत्ता हो। ऋग्वेद मे अध्यापक की बौद्धिक क्षमता के बारे मे कहा गया है कि अध्यापक तभी बनना चाहिए जब वह निर्धारित पाठ्यक्रम पूरा कर ले और ब्रह्मचारी के सारे कर्तव्यों का पालन कर ले। शास्त्रार्थ मे उसे निपुण होना चाहिए। उसे घोर परिश्रम करना चाहिए और सर्वाङ्गीण ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त करना चाहिए। शिष्यो के साथ वह पुत्रवत् व्यवहार करे। उपनिषदों मे बताया गया है कि अध्यापक को अपनी शिक्षा के अनुरूप व्यवहार और आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए। उसे अपने छात्रों से कोई सत्य छिपाना नहीं चाहिए। छात्र के चरित्र और बुद्धिक्षमता के अनुकूल उसे सभी मूल बातें और सच्चा ज्ञान सिखाना चाहिए। उसमे 'विनय' का गुण होना आवश्यक है। शिष्य के प्रश्न पूछने पर यदि वह उत्तर देने मे असमर्थ हो तो उसे अपनी त्रुटि स्वीकार कर लेनी चाहिए। प्राचीन काल मे अध्यापक झूठे पाण्डित्य और ज्ञान का प्रदर्शन नही करता था। एक बार उद्दालक आरुणि के पास ५ ब्राह्मण विश्वान्तर विद्या सीखने आये, तो वह विद्या

प्रदान करने में असमर्थता प्रकट करते हुए उन्होंने उन्हें राजा अश्वपति के पास भेज दिया।

अध्यापक के ऊपर सबसे बड़ा उत्तरदायित्व छात्र के जीवन-निर्माण का होता था। वह एक प्रकार से जननी के समान छात्र को दूसरा जन्म देता था। *अथर्ववेद* में कहा गया है—आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्त। ब्रह्मचारी अपने गुरु को पिता के तुल्य मानता था, ऐसा प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है। अध्यापक को अपना कार्य सच्चे हृदय से करना चाहिए। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में स्पष्ट निर्देश है कि अध्यापक को अपने निजी स्वार्थ के लिए छात्र से कोई काम नहीं लेना चाहिए। अध्यापक को छात्र की अच्छी तरह देखभाल करनी चाहिए, उसे यह बताना चाहिए कि वह कौनसे गुण अर्जन करे और किन अवगुणों से दूर रहे, किन बातों की उपेक्षा करे और किन बातों को स्वीकार करे। उसे अपने छात्र को सोने, स्वास्थ्य तथा भोजन के नियम बताने चाहिए। उसे यह भी बताना चाहिए कि वह किन लोगों *के सम्पर्क में रहे, किन प्रदेशों का भ्रमण करे और किस प्रकार निर्भीक होकर रहे।* शिष्य द्वारा भूल करने पर अध्यापक सरलता से क्षमादान दे। कोई त्रुटि होने पर अध्यापक छात्र को निकाल भी सकता है परन्तु क्षमा-याचना करने पर उसे सदय हो जाना चाहिए।

अनेक यूरोपीय इतिहासकारों ने प्राचीन भारतीय शिक्षकों की प्रतिभा की प्रशंसा की है। उनका कहना है कि उस काल में जो कुछ भी शिक्षा दी जाती थी, उत्तम शिक्षकों द्वारा दी जाती थी। श्री सन्तोषकुमारदास के अपनी पुस्तक (The Educational System of Ancient Hindus) में हिन्दू शिक्षक के गौरव का वर्णन करते हुए कहा है—नैतिक और धार्मिक गुणों के कारण उस काल का अध्यापक वास्तव में शिक्षक कहलाने योग्य था। उसकी सादगी, उच्चविचार, संयमपूर्ण दिनचर्या, इन्द्रियनिग्रह, मानसिक सन्तुलन और सबसे अधिक उद्देश्यों की स्पष्टता और सच्चाई उसको सफलता दिलाने वाले प्रमुख गुण थे। यह ऐसे गुण थे जिनके कारण उसका सर्वत्र सम्मान होना अनिवार्य था। वे अपने छात्रों के समक्ष जीते-जागते आदर्श के रूप में वर्तमान रहते थे। उस युग में जब सरकार आजकल की तरह शिक्षा की व्यवस्था नहीं करती थी, एक उत्तम शिक्षा पद्धति को उन लोगों ने जन्म दिया। यों तो यूरोप में जेसुइट संगठन तथा बौद्धकाल में भिक्षु संगठन ने भी आदर्श शिक्षकों की एक महत्त्वपूर्ण परम्परा का निर्माण किया था परन्तु हिन्दूकालीन अध्यापकों की अद्भुत विशेषता यह है कि उनका जीवन अत्यन्त स्वाभाविक था; वे पारिवारिक जीवन व्यतीत करते थे, गृहस्थ बन कर भी वे शिक्षक बने रहे। इसके विपरीत, जेसुइट और बौद्ध शिक्षकों के जीवन में एक प्रकार की कृत्रिमता थी, ब्रह्मचर्य और अलगाव का जीवन बिताने के लिए पीछे उनमें नैतिक पतन का दोष उत्पन्न हो गया। हिन्दूकालीन शिक्षक योग और योग के समन्वय का आदर्श लेकर चला था, इसी ने उसे गौरव प्रदान करने वाली सफलता मिली थी। उनका मानसिक

जीवन संतुलित और स्वस्थ था, इसी से वे भारत को ऐसा जीवन-दर्शन दे गये जो आज भी हमे प्रेरित करता है।

(ड) शिक्षण-कला—बहुत से लोगो को यह जानकर आश्चर्य होगा कि प्राचीन भारतीय शिक्षा मे शिक्षण-कला को पूर्णता तक पहुँचाने का पूरा प्रयत्न किया गया था। केवल मौखिक रूप से यहाँ शिक्षण-कार्य नही होता था। अनेक यूरोपीय इतिहासकारो ने भ्रमवश यह लिख मारा है कि भारत मे शिक्षण केवल व्याख्यान और रटाई के बल पर चलता था। जिन विदेशियो ने प्राचीन भारत का भ्रमण किया है और यहाँ के शिक्षा केन्द्रो मे आकर अध्ययन किया है, उनके वर्णनो से इस बात का प्रमाण मिलता है कि भारतीय अध्यापक नाना प्रकार की शिक्षण-विधियो का प्रयोग करते थे। शिक्षण मे मनोवैज्ञानिकता का पूरा ध्यान रखा जाता था, शिक्षण के अनेक सूत्र थे और शिक्षण को एक कला माना जाता था। कई यूरोपीय यात्रियो ने जब भारतीय पाठशालाओ का अवलोकन किया तो उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि छोटे बच्चो की शिक्षण पद्धति मे यहाँ बडे सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक तत्त्वो का समावेश था। एक फ्रासीसी यात्री पियेतरा डीला वेले (Pietra della Valle) ने दक्षिण भारत के एक मन्दिर से सम्बद्ध पाठशाला मे छोटे बालको को पढते हुए देखा था और उसका वर्णन करते हुए उसने लिखा है कि मैंने एक विचित्र तरीके से छोटे बच्चो को गिनती सीखते हुए देखा। चार बच्चे थे और वे गिनती याद कर रहे थे। उनमे से एक बडे संगीतमय स्वर मे गिनती पढता और हर अंक को बालू मे लिखता और दूसरे बच्चे उसका अनुकरण करते। फर्श पर महीन बालू इसी उद्देश्य से बिछा दी गयी थी। ज्ञानेन्द्रियो द्वारा स्पर्श और गति के माध्यम से सीखना एक उत्तम उपाय कहा जा सकता है।

प्राचीन काल मे छात्र को पढाने मे पहले मानसिक रूप मे तैयार करने के लिए कुछ नियम निश्चित थे, जैसे रात्रि के अन्तिम प्रहर मे अरुणोदय से पूर्व उठना, स्नान करके होम करना, हलके शुद्ध वस्त्र धारण करना, उत्तर दिशा की ओर मुँह करके आचमन करना, हाथ जोडना, अध्यापक के चरणो का स्पर्श करना, गायत्री और प्रणव मन्त्र का उच्चारण करके अध्ययन प्रारम्भ करना आदि। यह सारी क्रिया केवल मानसिक तैयारी का साधन है। वैदिक शिक्षा मे अध्यापक मन्त्रो को पढ़ता और छात्र उसे दोहराते थे, मन्त्रो को इस प्रकार कठस्थ कराया जाता था। साथ ही सभी मन्त्रो की सूक्ष्म व्याख्या की जाती थी और अर्थ समझाया जाता था। वेदो मे कहा गया है कि द्विजाति में श्रेष्ठ जन को केवल वेदपाठ मे सन्तोष नहीं करना चाहिए। जो वेदो का अध्ययन उचित प्रकार से नही करता, उन पर समझ कर पूरा अधिकार नही करता, वह अपने परिवार सहित शूद्र बन जाता है। दक्ष संहिता मे वेदाध्ययन के पाँच पद बताए गए हैं—वेदो की श्रेष्ठता को स्वीकार करना, उन्हें अच्छी तरह समझना, अध्ययन करना, कंठस्थ करना और फिर शिष्यो को यह ज्ञान प्रदान करना। हर मन्त्र को पढ़ाने के लिए उसे हर 'पद', 'वाक्य' और 'प्रमाण' का स्पष्टी-

करण किया जाता था। इस विधि से ज्ञान प्राप्त करने वाले छात्र को 'पद वाक्य-प्रमाणज्ञ' कहा जाता था।

वेदों के मूल पाठ को पढ़ाने में पाँच पद आते थे, वे हैं—अध्ययन (जो कुछ पढ़ाया जाय, उसे सुनना), शब्द (अर्थों को समझना), ऊह (तर्क द्वारा सामान्य नियम निकालना), सुहृत्प्राप्ति (अध्यापक अथवा मित्र से उस नियम का समर्थन प्राप्त करना) और दान (उस नियम का प्रयोग)। कामंदकी में शिक्षण के सात पद इस प्रकार बताए गए हैं—

शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा
ऊहापोहार्थ विज्ञानं तत्वज्ञानञ्च धी गुण।

शुश्रूषा (सुनने की इच्छा), श्रवणं (जो कुछ पढ़ाया जाय, उसे सुनना), ग्रहण (जो कुछ पढ़ाया जाय उसे समझना), धारण (जो कुछ पढ़ाया जाय उसे याद करना), उहापोह (पठित विषय पर विचार-विमर्श), अर्थविज्ञानम् (सम्पूर्ण भाव को अच्छी तरह जानना), तत्वज्ञान (सार या तत्त्व को धारण करना)—यह सात पद वही हैं, जिन्हें हरबर्ट की पचपदी विधि में स्वीकार किया गया है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा में व्याख्यान विधि का प्रचलन नहीं था। उसके स्थान पर आधुनिक सेमीनार (उपनिषद्, गोष्ठी), सिम्पोजियम (परिचर्या) का ही चलन था। व्याख्यान विधि के दोषों को देख-समझ कर उस काल में इन विधियों का प्रयोग किया गया था, हमारे लिए यह सब कुछ नया नहीं है। इसी प्रकार सात्रेटीज की प्रश्नोत्तर विधि (डायलेक्टिक विधि) हमारे देश में बहुत प्राचीन काल से प्रयोग में आती रही थी। गुरुकुलों, आश्रमों और पाठशालाओं में प्रश्नोत्तरों द्वारा पढ़ाई होती थी। महाभारत की कथा में अनेक प्रसंग ऐसे हैं जिनमें इस विधि का परिचय मिलता है। युधिष्ठिर-यक्ष, युधिष्ठिर-सर्प तथा भीष्म-युधिष्ठिर के सम्वादों में यह विधि देखने को मिलती है। 'केन' और 'कठ' में तो इसी विधि द्वारा शिक्षा दिए जाने का उल्लेख है।

'स्वशिक्षा', 'स्वप्रयत्न' का तत्कालीन शिक्षण में वही महत्त्व था जो आज की शिक्षा में माना जाता है। छात्र के लिए स्वेच्छा और स्वप्रयत्न द्वारा शिक्षा पूरी करने का विधान था। मनु ने कहा है—

आचार्यात्पादमाधत्ते पादं शिष्य स्वमेधया
पादं सब्रह्मचारिभ्य पाद कालक्रमेण तु।

विद्यार्थी की समस्त शिक्षा चार अंगों में विभाजित की गई है। उसका एक अंग अध्यापक से, दूसरा शिष्य के निजी प्रयत्न से, तीसरा अपने सहपाठियों से और चौथा बीतते हुए समय के दौरान अनुभव करने से प्राप्त होता है। प्राचीन शिक्षण में शिष्य का व्यक्तिगत प्रयत्न महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। तैत्तिरीय उपनिषद् में वरुण अपने पुत्र भृगु को केवल कुछ सामान्य सकेत दे देते हैं और उसको अपने आप

उन्हें समझने और जानने का आदेश देते हैं। छात्रों में आलोचना और जिज्ञासा उत्पन्न करना शिक्षण का प्रमुख अंग था।

स्वाध्याय और स्वशिक्षा तीन प्रकार की हो सकती है। उत्तम प्रकार की स्वशिक्षा हंस, गाय और पृथ्वी की भाँति होती है, अर्थात् उत्तम स्वशिक्षा में छात्र हंस की भाँति विवेकपूर्वक ज्ञानार्जन करता है, अथवा गाय की भाँति जुगाली करता है अर्थात् जो कुछ पढ़ता है उस पर अनेक प्रकार से चिन्तन करते हुए विषय को आत्मसात करता है, अथवा वह पृथ्वी के समान परिश्रम के अनुरूप फल देता है, मध्यम प्रकार की स्वशिक्षा में छात्र तोते के समान रटता है और फूटे घड़े के समान ज्ञान रूपी जल को बहा देता है, अधम प्रकार की स्वशिक्षा वह है जिसमें छात्र भैंस के समान सीखे गए ज्ञान को गँदला बना देता है। सुभाषित में कहा गया है कि जो छात्र कंठस्थ करता है, लिखता है, निरीक्षण करता है, प्रश्न करता है और विद्वानों की संगति में रहता है, उसकी बुद्धि का विकास उसी प्रकार हो जाता है, जैसे कमल का विकास सूर्य की किरणों से होता है।

सिद्धान्तों, नियमों और सूक्ष्म विचारों का स्पष्टीकरण करने के लिए अध्यापक 'स्थूल से सूक्ष्म की ओर' या 'विशेष से सामान्य की ओर' जैसे सूत्रों का उपयोग करते थे। संस्कृत साहित्य में अलंकार-विधान का महत्त्व इसी दृष्टि से है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और दृष्टान्त का उपयोग शिक्षण में इन्हीं सूत्रों के अनुसार किया जाता था। विषय को स्पष्ट करने के लिए कहानियों, पशु-आख्यानों और दृष्टान्तों का उपयोग होता था। पंचतन्त्र और हितोपदेश के आख्यान इस बात का प्रमाण है। शिक्षण की नीरसता दूर करने में इन तत्त्वों से बड़ी सहायता मिलती रही होगी। प्राचीन अध्यापकों ने अपने अनुभवों के आधार पर ही यह उपाय निकाले होंगे।

भारत में व्याख्यान-प्रणाली से शिक्षा देने का चलन बाद में आरम्भ हुआ। जैन और बौद्ध धर्म के प्रचार से सम्बन्ध रखने वाली शिक्षा में व्याख्यानों का महत्त्व बढ़ गया था। उससे पहले भारत में व्यक्तिगत शिक्षण ही अधिक लोकप्रिय था। छात्र अध्यापक के पास अपनी कठिनाई लेकर उपस्थित होता था, प्रश्न करता था और अध्यापक उसे समझाता था। व्यक्तिगत भिन्नता के अनुरूप शिक्षण में परिवर्तन कर लेने की क्षमता अध्यापकों में होती थी। पाटलिपुत्र के राजा सुदर्शन के दुष्ट पुत्रों को पढ़ाने का दायित्व विष्णु शर्मा पर आ पड़ा। राजकुमार कबूतरबाजी के शौकीन थे। इस व्यसन के अतिरिक्त उन्हें कोई दूसरा काम पसंद न था। चतुर विष्णु शर्मा ने तुरन्त शिक्षण का ढंग बदल दिया। उसने उनको कबूतर पालने और रखने को ही कहा। फिर उसने हर कबूतर के पंख पर देवनागरी की वर्णमाला ... लिख दिया और अक्षरों की सहायता ... बाद में उसने कुछ कबूतरों ... वर्ण-माला, ... उन्हें

चित्रकारी, वास्तु और शिल्प तक सिखा दिया। शिक्षण में छात्र की आवश्यकता और रुचि के प्रयोग का यह अनुपम उदाहरण है।

भारत में योजना-विधि से पढ़ाई का ढंग प्रचलित था। 'यज्ञ' एक शैक्षिक योजना थी जिसमें सभी छात्र मिल-जुल कर सीखते थे। यज्ञ के लिए शारीरिक और मानसिक क्रियाएँ तथा प्रवृत्तियाँ निश्चित थी और छात्रों को सहयोगपूर्वक उन्हें पूरा करना पड़ता था। ग्रीस के साक्रेटीज की शिक्षण विधि जो 'डायलेक्टिक' विधि कहलाती है और जिसमें विरोधी के विचारों का खंडन करके अपने विचारों का प्रतिपादन अध्यापक करता था, बौद्धकाल में यहाँ प्रचलित थी। स्वयं महात्मा बुद्ध ने इसका प्रयोग किया था। एक बार ३००० छात्रों को शिक्षा देने वाला निगरोध नायक परिव्राजक बुद्ध जी की परीक्षा लेने आया और उनसे वह उनके निर्वाण सिद्धान्त की व्याख्या करने का आग्रह करने लगा। उसका विचार था कि बुद्ध जी के मत का खंडन हो सकेगा क्योंकि वे एकान्तवासी होने के कारण सभा में शास्त्रार्थ पद्धति से अनभिज्ञ होंगे। बुद्ध जी ने बड़ी चतुरता से निगरोध के सिद्धान्तों पर ही चर्चा आरम्भ की और उनका खंडन करते हुए अपने विचारों का प्रतिपादन किया।

व्याख्यान विधि का समुचित विकास बौद्धकाल में हुआ। ह्वेनसाग के वर्णनों से ज्ञात होता है कि नालंदा विश्वविद्यालय में व्याख्यान देने के लिए १०० मंच बने थे। उन मंचों से भाषण हुआ करते थे और उन भाषणों को विद्यार्थी सुनते थे। इनकी प्रसिद्धि सर्वत्र थी। छात्रों और आचार्यों के बीच व्यक्तिगत सम्पर्क भी रहता था। 'ट्यूटोरियल' की प्रथा उस समय थी। इत्सिग ने अपने वर्णनों में लिखा है कि किस प्रकार वह अध्यापकों के साथ बैठकर विचार-विमर्श करता था। छात्र पहले अध्ययन करके 'नोट्स' ले लेते थे और बाद में उनके आधार पर अध्यापक से विचार-विमर्श करते थे। वाद-विवाद और विचार-विनिमय शिक्षण की प्रमुख विधियाँ थी जिनका प्रयोग नालंदा विश्वविद्यालय में प्रतिदिन होता था। ह्वेनसाग ने ऐसी घटनाओं का उल्लेख किया है जिनसे वाद-विवाद के प्रयोग का प्रमाण मिलता है। एक बार ह्वेनसाग के अध्यापक शीलभद्र ने उसे योगशास्त्र के कुछ पहलू समझाने की आज्ञा दी। जब वह इस पर परिचर्चा करने लगा तो एक अन्य विद्वान् 'सिघरसामी' ने उसके विरुद्ध विचारों का प्रतिपादन करना आरम्भ किया। दोनों में वाद-विवाद हुआ और सिघरसामी को हारकर नालंद से भागना पड़ा।

भारत में 'शिक्षण' का एक उच्चकोटि का उपाय था—'मॉनीटोरियल' प्रणाली। इसका विकास गुरुकुलों में हुआ और बाद में मद्रास राज्य में इसका प्रयोग उस समय तक होता रहा जब तक अंग्रेज यहाँ आने लगे थे। बेल नामक अंग्रेज ने इस प्रणाली को बहुत उपयोगी समझा क्योंकि इससे अध्यापकों की कमी की समस्या दूर की जा सकती है और साक्षरता प्रसार में इसका उपयोग हो सकता है। बेल ने इंगलैंड में इस प्रणाली का विकास किया और वह इतिहास में बेल-लंकास्टर प्रणाली के नाम से प्रसिद्ध है। वास्तव में यह अपने शुद्ध रूप में भारत में ही विकसित हुई। इस

तत्कालीन शिक्षण में इन्द्रियनिग्रह पर अत्यधिक बल दिया जाता था। आज कल मनोविज्ञान मानवीय प्रवृत्तियों का दमन हानिकारक बताता है। इस दृष्टि से प्राचीन शिक्षा में छात्रों का जीवन जो अत्यधिक दमन और सहज प्रवृत्तियों के अवरोधन पर निर्भर था, कुछ अमनोवैज्ञानिक जँचता है परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान भी प्रवृत्तियों के उपशमन और शोधन को उचित मानता है। इस समय छात्रों को जिस प्रकार विलासितापूर्ण जीवन बिताने की खुली छूट दे दी जाती है, उसके भयकर परिणाम अब दृष्टिगोचर हो रहे हैं। प्राचीन भारत में शिक्षा संस्थाओं का वातावरण इस प्रकार नियोजित और नियन्त्रित होता था कि छात्रों की दुष्प्रवृत्तियों का स्वत शमन हो जाता था। उनके मन में यह बात अच्छी तरह जमा दी जाती थी—'सुखार्थिने कुतो विद्या, विद्यार्थिन कुतो सुखम्'। प्राचीन भारतीय शिक्षण-पद्धति में इन्द्रिय निग्रह पर बल देने का एक प्रमुख कारण यह था कि यूरोपीय शिक्षाविदों की भाँति भारतीय शिक्षाविदों ने यह कभी नहीं माना कि मनुष्य का मन शून्य है (Tabula Rasa के सिद्धान्त से वे सहमत न होते)। वे यह अवश्य मानते हैं कि ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से आने वाले प्रभाव मन पर पड़ते हैं परन्तु वे यह नहीं स्वीकार करते कि ज्ञानेन्द्रियों से आने वाले प्रभाव शुभ ही हैं, वास्तव में उनकी मान्यता यह है कि ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से आने वाले बाह्य प्रभाव उत्तेजक और बाधक होते हैं। उनका यह विचार था कि मनुष्य का मन सहज शक्ति-सम्पन्न है और यदि उसे ध्यान, प्रार्थना और सदाचार के द्वारा क्रियाशील बना दिया जाय, तो उसका उत्तम ढंग से विकास होगा। साथ ही इस विकास पर ज्ञानेन्द्रियों के उत्तेजन युक्त प्रभावों का कुप्रभाव न पड़ने पाये, इसलिए इन्द्रिय सुखों से छात्रों को दूर रखने का प्रयत्न किया जाता था। यही कारण है कि भारतीय शिक्षा में आध्यात्मिक तत्त्वों की प्रधानता बनी रही। शिक्षण में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि जैसे अष्टांगों का होना प्राचीन भारतीय मनोविज्ञान के उपर्युक्त विशेष दृष्टिकोण के कारण स्वाभाविक था। पातंजलि के योगसूत्र में इसका विवरण दिया हुआ है।

भारतीय शिक्षा के उद्देश्य

प्राचीन भारतीय शिक्षा के जिन आदर्शों का उल्लेख किया गया है, उनकी सम्प्राप्ति कोई सरल बात न थी। इन महान् आदर्शों की पूर्ति के लिए कुछ निश्चित और स्पष्ट उद्देश्य स्थिर किये गये थे। हमारे आचार्यों ने जीवन के रहस्य को समझा था, वे जानते थे कि मानव जीवन में भोग और त्याग का सन्तुलित समन्वय होना चाहिए, तभी जीवन की स्वस्थता कायम रह सकती है। इस सन्तुलन को बनाये रखने के लिए उन्होंने शिक्षा के उद्देश्य स्पष्ट किये हैं। उन पर संक्षेप में प्रकाश डालना आवश्यक है :

(१) सर्वाङ्गीण विकास—यहाँ कहा गया है—'विद्या ददाति विनयं' अर्थात् विद्या विनय प्रदान करती है। आम तौर पर 'विनय' को एक गुण माना जाता है।

सुभाषित रत्नावली मे कहा है—

> यस्यनास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रोक्तं किं करिष्यति
> लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ।
> वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे
> न च खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा ।

जिस व्यक्ति मे बुद्धि नही है, उसे शास्त्र वचन बताने से क्या लाभ हो सकता है । जैसे अन्धे को शीशा दिखाने मे कोई लाभ नही, उसी प्रकार बुद्धिहीन व्यक्ति को शिक्षा देने मे कोई लाभ नही है । (यही बात तो सिरिलबर्ट जैसे विद्वानो ने अपने बुद्धि परीक्षणो द्वारा सिद्ध की है ।) अध्यापक जड और बुद्धिवान् दोनों को समान रूप मे शिक्षा देता है, वह इन दोनो के ज्ञान मे वृद्धि या कमी करने मे समर्थ नही है ।

स्पष्ट है कि प्राचीन शिक्षा मे बुद्धि तत्त्व के महत्त्व को पहचान कर ही शिक्षा देने का विधान था । गुरुकुलो मे छात्रो की प्रारम्भिक परीक्षा लेकर ही उनकी भर्ती की जाती थी ।

शिक्षा मे वातावरण के नियन्त्रण पर विशेष बल दिया जाता था । उस युग मे आचार्यों ने इस बात को अच्छी तरह समझ लिया था कि परिवार का शिक्षा की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है । यदि परिवार मे बच्चे का लालन-पालन ठीक से न हो, तो उसका बौद्धिक तथा हर प्रकार का विकास अवरुद्ध हो जाता है । यही बात इधर फ्रायड आदि ने सामने रखी है परन्तु परिवार के वातावरण को किस प्रकार शिक्षा की दृष्टि से नियोजित किया जाय, इस पर यूरोपीय विद्वान् कोई स्पष्ट योजना बनाने मे सफल नही हो पाये है जबकि प्राचीन भारत मे इस बात पर विशेष ध्यान दिया गया । गर्भाधान से लेकर गुरुकुल मे जाने की आयु तक शिक्षा की दृष्टि से कई संस्कार निश्चित किये गये थे, जैसे गर्भाधान, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म इत्यादि । इन संस्कारो का उद्देश्य यह था कि बालक के आत्मसम्बोध (Self concept) और अहं के विकास (Ego development) मे कोई बाधा न पड़े और भावी शिक्षा के लिए पृष्ठभूमि तैयार हो जाय ।

प्राचीन भारतीय शिक्षा मे प्रौढ़न (Maturation), तैयारी का सिद्धान्त (Principle of Readiness) और विकास (Growth) आदि मनोवैज्ञानिक तथ्यो का पूरा ध्यान रखा जाता था । इसीलिए यहाँ औपचारिक शिक्षा आरम्भ करने की आयु निश्चित थी । चरक ने कहा था कि पाँच वर्ष की आयु के बाद विद्यारम्भ का समय ठीक रहता है । विष्णु पुराण के अनुसार पाँच वर्ष तक बच्चे को खेलना चाहिए और उसके बाद पढ़ाई आरम्भ की जाय । कुशाग्र बुद्धि बालको के लिए तीन वर्ष की आयु मे वर्णमाला और गणना का ज्ञान कराने की अनुमति थी । विद्यारम्भ की आयु निश्चित करने का उद्देश्य यह था कि कच्ची उम्र मे शिक्षा आरम्भ कर देने से मस्तिष्क पर अनुचित दबाव पड़ता है ।

तत्कालीन शिक्षण में इन्द्रियनिग्रह पर अत्यधिक बल दिया जाता था। आज कल मनोविज्ञान मानवीय प्रवृत्तियों का दमन हानिकारक बताता है। इस दृष्टि से प्राचीन शिक्षा में छात्रों का जीवन जो अत्यधिक दमन और सहज प्रवृत्तियों के अवरोधन पर निर्भर था, कुछ अमनोवैज्ञानिक जँचता है परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान भी प्रवृत्तियों के उपशमन और शोधन को उचित मानता है। इस समय छात्रों को जिस प्रकार विलासितापूर्ण जीवन बिताने की खुली छूट दे दी जाती है, उसके भयकर परिणाम अब दृष्टिगोचर हो रहे हैं। प्राचीन भारत में शिक्षा संस्थाओं का वातावरण इस प्रकार नियोजित और नियन्त्रित होता था कि छात्रों की दुष्प्रवृत्तियों का स्वतः शमन हो जाता था। उनके मन में यह बात अच्छी तरह जमा दी जाती थी—'सुखार्थिने कुतो विद्या, विद्यार्थिन कुतो सुखम्'। प्राचीन भारतीय शिक्षण-पद्धति में इन्द्रिय निग्रह पर बल देने का एक प्रमुख कारण यह था कि यूरोपीय शिक्षाविदों की भाँति भारतीय शिक्षाविदों ने यह कभी नहीं माना कि मनुष्य का मन शून्य है (Tabula Rasa के सिद्धान्त में वे सहमत न होते)। वे यह अवश्य मानते हैं कि ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से आने वाले प्रभाव मन पर पड़ते हैं परन्तु वे यह नहीं स्वीकार करते कि ज्ञानेन्द्रियों से आने वाले प्रभाव शुभ ही हैं, वास्तव में उनकी मान्यता यह है कि ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से आने वाले बाह्य प्रभाव उत्तेजक और बाधक होते है। उनका यह विचार था कि मनुष्य का मन सहज शक्ति-सम्पन्न है और यदि उसे ध्यान, प्रार्थना और शुद्धाचार के द्वारा क्रियाशील बना दिया जाय, तो उसका उत्तम ढंग से विकास होगा। साथ ही इस विकास पर ज्ञानेन्द्रियों के उत्तेजन युक्त प्रभावों का कुप्रभाव न पड़ने पाये, इसलिए इन्द्रिय सुखों से छात्रों को दूर रखने का प्रयत्न किया जाता था। यही कारण है कि भारतीय शिक्षा में आध्यात्मिक तत्वों की प्रधानता बनी रही। शिक्षण में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि जैसे अष्टांगों का होना प्राचीन भारतीय मनोविज्ञान के उपर्युक्त विशेष दृष्टिकोण के कारण स्वाभाविक था। पातंजलि के योगसूत्र में इसका विवरण दिया हुआ है।

भारतीय शिक्षा के उद्देश्य

प्राचीन भारतीय शिक्षा के जिन आदर्शों का उल्लेख किया गया है, उनकी सम्प्राप्ति कोई सरल बात न थी। इन महान् आदर्शों की पूर्ति के लिए कुछ निश्चित और स्पष्ट उद्देश्य स्थिर किये गये थे। हमारे आचार्यों ने जीवन के रहस्य को समझा था, वे जानते थे कि मानव जीवन में भोग और त्याग का सन्तुलित समन्वय होना चाहिए, तभी जीवन की स्वस्थता कायम रह सकती है। ... बनाये रखने के लिए उन्होंने शिक्षा के ... काश डालना आवश्यक ...

... अर्थात् ... जाता है।

'गर्व' का विलोम है 'विनय'। अभिमानशून्य होना विनय है। यह इस शब्द का संकुचित अर्थ है। विनय शब्द 'नी' धातु में वि उपसर्ग लगाकर बनाया गया है। इसका वास्तविक अर्थ है—"विशेष रूप से ले जाना" अर्थात् मनुष्य की सहज आन्तरिक शक्तियों को बहिर्गत करना। शिक्षा का उद्देश्य है—मनुष्य की प्रसुप्त शक्तियों का समुचित विकास करना। यह उद्देश्य आधुनिक वैकासिक मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के सर्वथा अनुकूल है। प्राचीन शिक्षा छात्रों के सर्वाङ्गीण विकास के लिए हर प्रकार की सुविधाएँ प्रस्तुत करती थी। विकास की दृष्टि से ही मनुष्य के जीवन को चार आश्रमों में विभाजित कर दिया गया और ब्रह्मचर्य आश्रम को शिक्षा के लिए अलग कर दिया गया। इस काल में ब्रह्मचर्य का पालन करके शारीरिक विकास को, शारीरिक सुखों और सांसारिक प्रलोभनों से दूर रख कर मानसिक विकास को और गुरुगृह में स्नेह प्रदान करके संवेगात्मक विकास को चरम सीमा तक पहुँचाने का प्रयत्न किया जाता था। यह सब इसलिए किया जाता था कि छात्रों के मन में किसी प्रकार का संघर्ष पैदा न होने पाये और उनके विकास में कोई अवरोध न उत्पन्न हो।

(२) ज्ञान-प्राप्ति—भारतीय शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य था—ज्ञान-प्राप्ति। 'विद्या' अर्थात् शिक्षा को ज्ञान-प्राप्ति का साधन माना गया है। विद्या दो प्रकार की बताई गई है। एक है—अपरा विद्या जिसके अन्तर्गत चारों वेदों और छः वेदांगों का अध्ययन आ जाता है। दूसरी विद्या है पराविद्या जिससे 'आत्मन्' का ज्ञान प्राप्त होता है। 'अपरा' और 'परा' दोनों प्रकार की विद्या महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इनके द्वारा अज्ञान का विनाश होता है परन्तु अपरा विद्या 'ज्ञान' नहीं प्राप्त करा सकती। पराविद्या 'आत्मन्' का ज्ञान कराती है और यही श्रेष्ठ है। अपरा विद्या केवल लौकिक है और पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करा सकती है, इसलिए यह श्रेष्ठ नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद में एक स्थल पर नारद सनत्कुमार से कहते हैं कि मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के साथ-साथ महाकाव्य, पुराण, व्याकरण, गणित, आध्यात्म, इतिहास, तर्कशास्त्र, नीति, धर्मशास्त्र, ज्योतिष और ललित कलाएँ—सभी कुछ सीखा है। मैं 'मंत्रविद्' तो हूँ पर 'आत्मविद्' नहीं। इसलिए मैं दुःखी हूँ।

सच्चे ज्ञान का अर्थ यह है कि मनुष्य को आत्मविद् होना चाहिए। इसलिए वेद-वेदांगों के अध्ययन का अर्थ ज्ञानार्जन नहीं है। छान्दोग्य में श्वेतकेतु की कथा से यही प्रकट होता है। श्वेतकेतु ने १२ वर्षों तक सभी वेदों का अध्ययन किया था परन्तु उसमें ज्ञान नहीं पैदा हुआ। शब्दज्ञानमात्र से आत्मज्ञान नहीं पैदा होता; पुस्तकों के पढ़ने, मंत्रों के रटने, उनकी व्याख्या करने, कर्मकांड की क्रिया जानने से कुछ नहीं होता। वृहदारण्यक और तैत्तिरीय उपनिषदों में इन सबको तुच्छ मूर्खता बताया गया है। 'आत्मज्ञान' क्या है? इसकी व्याख्या करना सहज नहीं है। प्राचीन साहित्य में इसकी व्यापक तौर से चर्चा की गई है। 'आत्मन्' का स्वरूप सहज बोधगम्य नहीं है।

अत: इस प्रसंग को उठाना अप्रासंगिक है। 'आत्मन्' के स्वरूप को समझाना और उसे समझने की शक्ति प्रदान करना प्राचीन भारतीय शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है।

(३) जीवन की पूर्णता—शिक्षा को सम्पूर्ण जीवन के लिए तैयार करने का साधन माना गया है। जीवन की पूर्णता चार बातों की सिद्धि पर निर्भर है, वे हैं, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यह जीवन के चार पुरुषार्थ हैं। इन्हें सिद्ध करने के लिए मनुष्य को तैयार करना भारतीय शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य था। पाश्चात्य देशों में जीवन केवल दो में से एक ही दिशा में ले चलने की प्रणाली थी और है, या तो मनुष्य सम्पूर्ण रूप में सुखवादी बनता है या फिर पूर्ण रूप से निग्रह और निवृत्ति की ओर अग्रसर होता है। जीवन की यह दोनों दिशाएँ एकांगी हैं और एक दिशा में जाना जीवन को असंतुलित बनाना है। भारत में जीवन की पूर्णता इन दोनों विरोधी मार्गों के बीच समन्वय करके उत्पन्न करने की चेष्टा की गई है, जिसका प्रमाण यह चार पुरुषार्थ हैं। भारतीय जीवन में लौकिकता और पारलौकिकता दोनों का सुन्दर समावेश भी है कि जहाँ मनुष्य धर्म और मोक्ष की साधना करके संयम और सुखोपभोग से दूर निग्रह की स्थिति में आता है, वहाँ 'अर्थ' और 'काम' की साधना करके सांसारिक सुखों का पूरा आनन्द भी लेता है। शिक्षा के माध्यम से इन पुरुषार्थों का महत्त्व छात्रों के सामने स्पष्ट किया जाता था।

महाभारत के शिक्षाप्रद प्रसंगों में कहा गया है—"धर्म, अर्थ और काम का समान रूप से सेवन करना। जो पुरुष इनमें से एक का ही सेवन करता है, वह कनिष्ठ है। इनमें से दो करने वाला मध्यम है और जो तीनों में लगा है वह उत्तम है।" "मनुष्य को केवल धर्मपरायण नहीं होना चाहिए और अर्थपरायण भी नहीं होना चाहिए, उसी तरह कामपरायण भी नहीं होना चाहिए। दिन के पूर्व भाग में धर्म, मध्य भाग में अर्थ और अन्तभाग में काम आचरण करना—यह शास्त्रकृत विधि है।"

इन पुरुषार्थों को सिद्ध करने के लिए भारतीय शिक्षा में कई स्तरों की ओर छात्र का ध्यान आकर्षित किया जाता था। महाभारत में कहा ही गया है कि प्रतिदिन मनुष्य इन पुरुषार्थों का साधन करे, प्रात: धर्म, दोपहर अर्थ, दिनान्त में काम का साधन किया जाय। मानव जीवन को चार आश्रमों के बीच गुजारने की शिक्षा एक दूसरा स्तर है। सम्पूर्ण जीवन के स्तर पर इन पुरुषार्थों का साधन करने के लिए ही आश्रम व्यवस्था बनायी गयी। इसके अनुसार जीवन के प्रथम खण्ड में अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में मनुष्य को धर्म साधन, अर्थ और काम साधन तथा मोक्ष के रहस्यों का परिचय आदि के बारे में बताया जाता था। जीवन की सम्पूर्णता प्राप्त करने का यह समय था। गृहस्थाश्रम जीवन का वह काल है जिसमें मनुष्य अर्थ और काम का साधन करे तथा वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में मोक्ष की ओर अग्रसर हो। समाज के स्तर पर भी इन पुरुषार्थों का साधन करने के लिए वर्ण व्यवस्था बनाई गयी। यद्यपि भारतीय समाज में हर व्यक्ति के लिए चारों पुरुषार्थों का साधन

आवश्यक माना गया था पर व्यक्तिगत क्षमता की दृष्टि से ब्राह्मणों के लिए धर्म तथा मोक्ष, क्षत्रियों के लिए काम और वैश्यों के लिए अर्थ का साधन आवश्यक था। इस प्रकार जीवन की पूर्णता प्राप्त करने के लिए हर प्रकार के वर्ण के लिए अलग-अलग तरह की शिक्षा का विधान था।

(४) चरित्र-निर्माण और अनुशासन - प्राचीन भारतीय शिक्षा का चौथा उद्देश्य था, मनुष्य का चरित्र-निर्माण तथा आन्तरिक अनुशासन की शक्ति पैदा करना। विद्यार्थी जीवन में छात्र जिस प्रकार का संयमपूर्ण तथा कठोर जीवन व्यतीत करता था, उसका वर्णन हम इसी अध्याय के पूर्व भाग में कर चुके हैं। उस वर्णन से पता चलता है कि हर छात्र को चरित्र निर्मल बनाने के लिए ही अनेक प्रकार के इन्द्रियजन्य सुखों से दूर रहना पड़ता था। धीरे-धीरे उसे ऐसा अभ्यास हो जाता था कि वह अपनी चित्तवृत्तियों और प्रवृत्तियों का स्वतः नियन्त्रण करने लगता था। यही सच्चा अनुशासन भी था। महाभारत में कई स्थलों पर कहा गया है—"शिक्षा से उत्तम चरित्र और आचरण उत्पन्न होता है।" युधिष्ठिर ने यक्ष से कहा था कि "हे यक्ष, सुनो! ब्राह्मण (विद्यार्थी) बनने के लिए उच्च नैतिक चरित्र जितना आवश्यक है, उतना 'जाति' अथवा 'विद्वत्ता' नहीं। अतः हर तरह से और विशेष रूप से ब्राह्मण को बड़ी सावधानी से चरित्र का निर्माण करना चाहिए। यदि किसी ब्राह्मण का चरित्र भ्रष्ट है, तो वह शूद्र है। वाशिष्ठ संहिता में कहा गया है कि जो मनुष्य शुद्ध आचरण विहीन है, उसे वेद भी पवित्र नहीं बना सकते। मनुस्मृति में लिखा है कि स्मृति और श्रुति के द्वारा जो सबसे बड़ा गुण मनुष्य में पैदा होता है, वह है चरित्र। उत्तम आचरण से हीन ब्राह्मण को वेद पाठ का श्रेय नहीं मिलता है। कौटिल्य कहते हैं कि अध्ययन और अनुशासन जो ज्ञानेन्द्रियों के नियन्त्रण पर निर्भर हैं, वासना, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष का त्याग कर देने से अधिक सबल बन जाते हैं। जो चरित्रहीन है और जिसकी इन्द्रियाँ उसके वश में नहीं हैं, वह शीघ्र ही नष्ट हो जायगा, चाहे चारों दिशाओं तक फैली हुई पृथ्वी का वह स्वामी हो। अत्रि ने कहा है कि पांच प्रकार के ब्राह्मण (विद्यार्थी)—प्रशंसक, चापलूस, धोखेबाज, क्रूर और लोभी कभी भी प्रशंसनीय नहीं हैं, चाहे ज्ञान में वे बृहस्पति के समान क्यों न हों। शुक्रनीतिसार में कहा गया है कि इन्द्रियों के हाथी को, जो भोग्य पदार्थों के बीच विनाशात्मक गति से दौड़-धूप करता रहता है, ज्ञान के अंकुश से अनुशासन में रखना चाहिए।

प्राचीन भारतीय शिक्षा में चरित्र पर अत्यधिक बल दिया गया था और चरित्र का अर्थ आत्मानुशासन था। इसके साथ ही चरित्र का सम्बन्ध कर्त्तव्यपालन से भी जोड़ा गया था। ऐसी कल्पना अन्यत्र मिलना कठिन है। भारत में कर्त्तव्य-पालन को 'ऋण की अदायगी' के समान आवश्यक माना गया था। विद्यार्थी जीवन में हर छात्र के मन में यह बात अच्छी तरह जमा दी जाती थी कि उसे तीन प्रकार ऋण अपने जीवन काल में अदा करने हैं। इन्हें अदा करना उसका परम कर्त्तव्य

अभ्यासार्थ प्रश्न

१. प्राचीन भारत में शिक्षा को क्यों अधिक महत्त्व प्रदान किया गया था ? तत्कालीन समय में शिक्षा के उत्तरदायित्व पर प्रकाश डालिए।
२. प्राचीन भारतीय शिक्षा सार्वजनीन थी अथवा चुने हुए लोगों के लिए ? अपने उत्तर के पक्ष में तर्क दीजिए।
३. शिक्षा और जीवन के पारस्परिक सम्बन्ध पर जोर देने से प्राचीन काल में भारत को क्या लाभ मिला ? कुछ उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।
४. प्राचीन भारतीय विद्यार्थी जीवन के आदर्श की विवेचना कीजिए। उस आदर्श को पुनः अपनाना कहाँ तक उचित है ?
५. आधुनिक अध्यापक और प्राचीन भारतीय अध्यापक की तुलना कीजिए। आप दोनों में से किसे पसन्द करते हैं और क्यों ?
६. शिक्षण-कला का क्या स्वरूप प्राचीन भारत में प्रचलित था ? उसमें तथा वर्तमान शिक्षण-कला में क्या भेद है ?
७. प्राचीन शिक्षण-कला किस सीमा तक मनोवैज्ञानिक थी ? कुछ उदाहरणों द्वारा स्पष्ट कीजिए।
८. प्राचीन भारतीय शिक्षा के प्रमुख उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए उनके महत्त्व पर प्रकाश डालिए।